# प्राक्कथन

साधारण विश्वास है कि कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प का स्थान बहुत गौण है। उनके गीत भावों के चरम उद्रेक के क्षणों में निःसृत हुए हैं, अतएव उनकी उक्ति स्वयं कलात्मक बन गई है; उस क्षेत्र में जागरूक प्रयोग नहीं किये गए हैं। परन्तु यह विचार भ्रामक है। इसमें संदेह नहीं कि कृष्ण-भक्ति काव्य में अनेक स्थानों पर संवेदनात्मक अनुभूति, कल्पना और कला के तत्वों का विन्यास इतना संश्लिष्ट है कि उसका विश्लेषण करने में ऐसा जान पड़ता है, मानों प्राण और शरीर को बलपूर्वक पृथक् किया जा रहा हो। लेकिन अरूप भावनाओं के रूप-निर्माण में कलागत उपकरणों का पूर्ण अभाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अरूप को रूपात्मक आधार प्रदान करने वाले उपादानों का अस्तित्व काव्य में अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि विषय-वस्तु और अभिव्यंजना का यह ऐकात्म्य कृष्ण-भक्ति-काव्य में सर्वत्र नहीं मिलता। प्रतिपाद्य के कल्पना-प्रधान और व्याख्यात्मक स्थलों पर भाव और कला के उपकरणों का अस्तित्व पृथक् और स्पष्ट दिखाई देता है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि इस परम्परा के कवि सचेत कलाकार थे; उनकी कला-दृष्टि ने अपने युग की कला-चेतना के निर्माण और विकास में नई मान्यताओं के प्रवर्तन तथा दिशा-निर्देश द्वारा महत्वपूर्ण योग दिया है।

अनेक आलोचकों तथा विद्वानों ने कृष्ण-भक्त कवियों के भक्ति-भाव तथा दर्शन का अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया है। परन्तु उनकी कला का सम्यक् अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। कुछ विशेष कवियों का अध्ययन प्रस्तुत करते समय उनकी काव्य-कला पर भी प्रसंगवश प्रकाश डाला गया है, परन्तु स्वतंत्र रूप से इस विषय पर कोई कार्य नहीं किया गया है। सूरदास ही ऐसे कवि हैं जिनके काव्य के अभिव्यंजना-पक्ष का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से किया गया है तथा डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने ग्रंथ 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में नन्ददास और परमानन्द दास की काव्य-कला की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त हितहरिवंश, नागरीदास, घनानन्द, भारतेन्दु; रत्नाकर इत्यादि कवियों की कला का संक्षिप्त अध्ययन स्फुट रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सूरदास से लेकर रत्नाकर तक समस्त प्रमुख कृष्ण-भक्त कवियों के अभिव्यंजना-शिल्प का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रबन्ध की भूमिका में विषय के सैद्धान्तिक पक्ष का निरूपण किया गया है। इसके अन्तर्गत अभिव्यंजना शब्द के विभिन्न अर्थ, काव्य में विषय-वस्तु और कलात्मक उपकरणों की स्थिति आदि का विवेचन किया गया है। यथावश्यकता इस विषय में पौरस्त्य और पाश्चात्य आचार्यों के मतों का विवेचन भी किया

गया है। इसके उपरान्त अभिव्यंजना के विभिन्न तत्वों का संक्षिप्त उल्लेख करके ही सन्तोष कर लिया गया है क्योंकि, आगे चलकर उनसे सम्बद्ध अध्यायों की भूमिका रूप में उनका विश्लेषण किया गया है। भूमिका के द्वितीय अंश में सूर से पूर्व व्रजभाषा में लिखे गए कृष्ण-भक्ति काव्य का संक्षिप्त मूल्यांकन किया गया है। इस सामग्री की प्रामाणिकता पूर्ण रूप से असंदिग्ध नहीं है, इसलिए उसे प्रवन्ध के मुख्य भाग के अन्तर्गत नहीं रखा गया है। तृतीय अंश में व्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

प्रवन्ध के प्रथम अध्याय में कृष्ण-भक्ति काव्य के प्रतिपाद्य के विभिन्न रूपों का विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में पहले इस बात का विवेचन है कि कृष्ण-भक्त कवियों के प्रतिपाद्य का सामान्य रूप क्या था, उसमें कला-तत्व का क्या स्थान रहा है और आलम्बन के परम्परागत तथा साधना के वंधे-बंधाये रूप ने उनके प्रतिपाद्य के रूप-निर्माण में क्या योग दिया है : अनुभूति और कल्पना-तत्व का उनके काव्य में क्या स्थान है, भक्ति-काव्य की सृजन-प्रक्रिया लौकिक काव्य की सृजन-प्रक्रिया से किस प्रकार भिन्न है तथा प्रतिपाद्य का यह रूप कृष्ण-भक्त कवियों की अभिव्यंजना-शैली के निर्माण में किस सीमा तक उत्तरदायी रहा है।

द्वितीय अध्याय में काव्य-भाषा की विशेषताओं की दृष्टि से आलोच्य कवियों की भाषा का अध्ययन किया गया है तथा व्रजभाषा की समृद्धि और परिष्करण में उनका जो योग रहा है, उसका विवेचन किया गया है। उनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों का अध्ययन-विवेचन भी इसी अध्याय में हुआ है। तृतीय अध्याय में भी कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भाषा-सज्जा के उपकरणों का विवेचन करते हुये आदर्श वर्ण-योजना तथा शब्दालंकारों के प्रयोजन के मानदण्ड निर्धारित किये गए हैं, और उन्हीं मानदण्डों पर आलोच्य कवियों की रचनाओं की परीक्षा की गई है। कृष्ण-भक्ति-काव्य में रीति, वृत्ति और गुणों का रूप निर्धारित किया गया है तथा उसमें प्रयुक्त विविध शब्द-शक्तियों और वक्रोक्ति के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय का विवेच्य विषय है : कृष्ण-भक्त कवियों की लक्षित चित्र-योजना। इसमें यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि इन कवियों की चित्र-कल्पना ने तत्कालीन चित्रकला को आधारभूमि प्रदान करके मध्यकालीन चित्रकला के रूप-निर्माण तथा विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। पंचम अध्याय में उनकी अप्रस्तुत-योजना के विविध रूपों, अलंकरण सामग्री तथा उपमान-योजना सम्बन्धी कौशल का विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में इन कवियों द्वारा प्रयुक्त छन्दों तथा उनके काव्य में प्राप्त वाह्य संगीत के तत्वों के विवेचन द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि प्रायः सभी प्रमुख कृष्ण-भक्त कवि 'वाग्गेयकार' थे जिन्होंने संगीत-विधान से संयुक्त काव्य-रचना की थी। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त शास्त्रीय संगीत तथा लोक-संगीत दोनों प्रकार की शैलियों का शोध प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है, साथ ही कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा में प्राप्त विविध नृत्यों के प्राचीन और सामयिक रूपों तथा उनके प्रभाव का विवेचन भी किया गया है।

सप्तम अध्याय में विविध काव्य-रूपों की दृष्टि से कृष्ण-भक्ति-काव्य का अध्ययन किया गया है।

उपर्युक्त सब प्रसंगों के विवेचन में लेखिका के मन में कोई पूर्व-निर्णीत धारणाएं नहीं थीं। उपलब्ध सामग्री के वस्तुपरक शोध द्वारा जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं वे ही स्वीकार किये गए हैं। कृष्ण-भक्ति का स्वर पूर्वमध्यकाल में सबसे ऊंचा था, इसलिए उस समय के सब कवियों की अभिव्यंजना-कला का विवेचन विस्तार से किया गया है। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त हरिदास, हितहरिवंश, ध्रुवदास, मीरांबाई और रसखान के शिल्प का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। रीतिकाल तथा आधुनिक काल में यह काव्य, परम्परा के अवशेष रूप में ही विद्यमान रहा, इसलिए उस समय के कवियों के अभिव्यंजना-शिल्प का विश्लेषण करते समय उनके परिवर्तित दृष्टिकोण और नये तत्वों के समावेश का मूल्यांकन करना ही मेरा प्रधान उद्देश्य रहा है। रीतिकाल के राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों, नागरीदास और घनानन्द, की रचनाओं का आधार मुख्य रूप से ग्रहण किया गया है तथा आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की रचनाओं के आधार पर इस प्राचीन परम्परा के अवशेष का मूल्यांकन किया गया है।

अष्टछाप के कवियों का विवेचन कहीं-कहीं पूर्णतः ऐतिहासिक क्रम के अनुसार नहीं हुआ है। प्रसंग-विशेष में विशिष्ट कवि के महत्व के अनुसार उसका स्थान निर्धारित किया गया है। अन्यत्र ऐतिहासिक क्रम के निर्वाह का प्रयत्न हुआ है, जिसके अनुसार विविध कवियों का स्थान इस क्रम से रखा जायगा : कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी।

प्रबन्ध के प्रकाशन और मुद्रण में सर्वश्री कन्हैयालाल मलिक, माधवजी तथा बालकृष्णजी से मुझे जो अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूं।

संगीत-सम्बन्धी अध्याय के लिखने में मुझे श्रद्धेय डा० जयदेवसिंह तथा स्नेही बन्धु डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट से जो सहायता मिली है उसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करती हूं। बन्धुवर ओझाजी, स्नातकजी और डा० ओमप्रकाश की सामयिक सहायताओं के लिए अनेक धन्यवाद ! यद्यपि मुझे ज्ञात है कि यह औपचारिकता उनके गले के नीचे नहीं उतरेगी। श्रीमती सावित्री कौशिक को उन सभी बातों के लिए धन्यवाद जिनका उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता।

दिल्ली-विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष तथा आचार्य डा० विश्वेश्वर-प्रसादजी की अमूल्य सहायताओं से उऋण होने के लिए मेरे पास शक्ति और सामर्थ्य नहीं है। उनके ऋण की गरिमा के योग्य सिद्ध हो सकूं, बस यही कामना है। दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष तथा आचार्य डा० नगेन्द्र ने अपने अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकालकर मुझे अमूल्य सुझाव दिये हैं, उसके लिए मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूं। उनके नैतिक सम्बल और प्रेरणा से ही मैं कुछ कर सकी हूं।

अपने पति, श्री आर० एन० सिन्हाजी से क्या कहूं ? जिस लगन और समय पर उनका अधिकार था, वह इस प्रबन्ध में लगा है। लेकिन इसमें दोष उन्हीं का है, क्योंकि उन्हीं की महत्वाकांक्षाओं ने मुझे महत्त्व दिया है।

विषय-निर्वाचन से लेकर प्रबन्ध की समाप्ति तक श्रद्धेय गुरुवर डा० दीनदयालु गुप्त से मुझको जो वात्सल्य और कृपा-भाव मिलता रहा है, उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन कैसे करूं? वास्तव में साहित्य के विद्यार्थी के रूप में गत बीस वर्षों से मैंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उन्हीं के चरणों में बैठकर, उन्हीं के वरद हस्त की छाया में कार्य किया है। उनके आशीर्वाद की कामना ले मैं श्रद्धापूर्ण कृतज्ञ-भाव से नतमस्तक हूं।

—सावित्री सिन्हा

हिन्दी-विभाग,
दिल्ली-विश्वविद्यालय,
दिल्ली.

# विषय-सूची

है। सृजन-प्रक्रिया के आन्तरिक तत्वों का निर्माण वस्तु के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोणों पर आधृत रहता है और वाह्य स्तर पर उसका सम्बन्ध अभिव्यंजना के विभिन्न तत्वों के साथ होता है।

काव्य के अभिव्यंजना-पक्ष के लिये हिन्दी में मुख्य रूप से तीन शब्द स्वीकार किये गये हैं—अभिव्यंजना, शिल्प और कला। प्रथम शब्द अंग्रेजी के एक्सप्रेशन, द्वितीय क्राफ्ट और तृतीय आर्ट का समानार्थी है। प्रस्तुत प्रवन्ध का शीर्षक है 'ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प' अर्थात् काव्य में व्यक्तीकरण की कला। काव्य में अभिव्यंजना-पक्ष के महत्व-निर्वारण से पहले अभिव्यंजना शब्द से तात्पर्य क्या है इसका विश्लेषण कर लेना उपयुक्त होगा।

## अभिव्यंजना की परिभाषा

हिन्दी में अभिव्यंजना शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के शब्द 'एक्सप्रेशन' के पर्याय-रूप में होता है। संदर्भ के पार्थक्य को ध्यान में रखते हुए इस शब्द के विभिन्न अर्थों को निम्नोक्त प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है[१]—

१. व्यंजना, प्रकाशन, वोधन, ज्ञापन, आविष्करण, ख्यापन, निरूपण।
२. निष्पीड़न, निष्कर्षण।
३. वदन, आस्य, आकृति।
४. कथन, वचन, उक्ति, वाक्य, पद, शब्द।
५. रीति, मार्ग, पद्धति, सरणि।

प्रथम वर्ग के शब्दों में व्यक्तीकरण का माध्यम निर्दिष्ट नहीं है। अनुभूतियों तथा भावनाओं का व्यक्तीकरण मनुष्य की प्रकृत और अनिवार्य आवश्यकता है जिसकी पूर्ति वह अपने विशिष्ट ऐन्द्रिय अनुवोध के आधार पर विभिन्न कलाओं के रूप में करता है। अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष तथा प्रधान माध्यम वाणी है परन्तु चित्र-कला, वास्तु-कला, नृत्य-कला, संगीत-कला इत्यादि में प्रयुक्त अभिव्यंजना में वाणी का स्थान या तो है ही नहीं अथवा वहुत ही गौण है। प्रथम वर्ग के शब्दों का प्रयोग साधारण कार्य-व्यापार, विभिन्न कलाओं तथा विज्ञान सभी क्षेत्रों में हो सकता है। कला-सम्वन्धी अभिव्यंजना के प्रसंग में वर्ग के पांचवें शब्द 'आविष्कार' का प्रयोग अपने सहज स्वीकृत रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। आविष्कार का अर्थ है खोज अथवा शोध। कलात्मक अभिव्यंजना के क्षेत्र में 'आविष्कार' को प्रसंग-गर्भित रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। अत्यन्त संक्षेप में कहा जा सकता है कि कलात्मक अभिव्यंजना मानव के मानस पर अंकित उन चित्रों का मूर्त रूप है जिनका आविष्कार वह व्यक्तीकरण के पहले ही कर चुकता है चाहे उन चित्रों की आधार-भित्ति ज्ञान अथवा भाव हो या इच्छा। अभिव्यंजना के तत्वों का आविष्कार उसे सचेष्ट और सयत्न होकर करना पड़ता है तथा वास्तव में कला का अस्तित्व आत्म-आविष्करण की प्रक्रिया का ही परिणाम है। अतः आविष्कार शब्द को अभिव्यंजना के सहज मान्य रूप में चाहे न ग्रहण किया जा

१. इंगलिश-संस्कृत कोश, पृष्ठ १२७—वी० एस० आप्टे

सके परन्तु कलात्मक प्रक्रिया में 'आविष्कार' का महत्वपूर्ण स्थान है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।

प्रथम वर्ग के शेष अर्थ हैं 'ख्यापन', तथा 'निरूपण'। 'ख्यापन' में वाणी के प्रयोग का संस्पर्श है। 'ख्यापन' का अर्थ है 'घोषणा' तथा 'प्रकटीकरण'। अतएव 'अभिव्यंजना' के पर्याय-रूप में इस शब्द को भी स्वीकार किया जा सकता है। 'निरूपण' का अर्थ केवल विवेचन मात्र नहीं है, 'आकृति', 'खोज', 'शोध' इसकी परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं और अभिव्यंजना के विविध तत्वों द्वारा व्यक्त काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण रूप ही आकृति है।

द्वितीय वर्ग के शब्दों के साथ अभिव्यंजना के वाच्यार्थ 'व्यक्तीकरण' को सहज रूप में ग्रहण करना कठिन है परन्तु लक्ष्यार्थ द्वारा उसे स्वीकार किया जा सकता है। ये शब्द हैं 'निष्पीड़न' और 'निष्कर्षण'। प्रथम शब्द का अर्थ है 'दबाकर निकालना' अथवा 'निचोड़ना' तथा द्वितीय का अर्थ है 'खींचकर निकालना'। दोनों शब्दों में ही यत्न का प्राधान्य है। जीवन के स्थूलतम अंगों से लेकर सूक्ष्मतम उपकरणों तक में अभिव्यंजना की प्रक्रिया में यत्न और चेष्टा का स्थान अवश्यम्भावी है। काव्य-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी यही बात बड़े ही उपयुक्त शब्दों में कही गई है।[1]

तृतीय वर्ग में जहां एक्सप्रेशन का अर्थ मुख अथवा वदन से लिया गया है वहां तात्पर्य मुख की आकृति से न होकर मुख पर व्यक्त भावों से है जो मनुष्य के व्यक्तित्व का आभास देने में समर्थ होते हैं। चतुर्थ वर्ग में अभिव्यंजना शब्द का प्रयोग अभिव्यंजना के प्रधान रूप वाणी के विविध अंगों के रूप में ही किया गया है। इनमें से मुख्य हैं वचन अथवा कथन, उक्ति, वाक्य, पद, शब्द। वचन तथा उक्ति तो अभिव्यंजना के सर्वप्रधान रूप हैं ही। वाक्य शब्द के तीन प्रकार के अर्थ हैं—

१. एक भाव अथवा विचार की सम्पूर्णाभिव्यक्ति।

२. तर्क।

३. विधि, नियम, सूक्ति, सूत्र, वचन।

वाक्य शब्द के तीनों ही अर्थ अभिव्यंजना के मुख्य तत्वों के अन्तर्गत आते हैं।

'शब्द' शब्द का प्रयोग भी दो प्रमुख अर्थों में किया जाता है—

१. ध्वनि, श्रवणेन्द्रिय का बोध-तत्व तथा आकाश की सम्पत्ति।

२. अक्षरों का समूह।

प्रथम वर्ग में एक विशिष्ट मानवेन्द्रिय का बोध-तत्व होने के कारण 'ध्वनि' स्वतः ही मानव-हृदय की प्रतिक्रियाओं के व्यक्तीकरण का साधन है। द्वितीय अर्थ में शब्द काव्य-अभिव्यंजना का प्रधान तत्व है।

पंचम वर्ग के अर्थों के अनुसार एक्सप्रेशन शब्द रीति, पद्धति अथवा मार्ग के रूप में लिया गया है। अभिव्यंजना का यह अर्थ भी काव्य-सम्बन्धी अभिव्यंजना में बहुत ही महत्व-

---

1. A poem is expressed in the most vivid sense of that word. It is pressed out of the poet, forced out of him.

Poetic Process, P. 12—George Whalley.

पूर्ण स्थान रखता है। एक विशिष्ट पद्धति का निर्धारण करके ही अभिव्यंजना का रूप-निर्माण होता है। विज्ञान तथा शास्त्र-सम्बन्धी अभिव्यंजना यदि निगमन तथा आगमन पद्धतियों के आधार पर रूप ग्रहण करती है तो कलात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति विविध शैलियों के आधार पर होती है। अतएव अभिव्यंजना और रीति को हम चाहे पर्यायवाची शब्दों के रूप में न ग्रहण करें परन्तु उनके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार विभिन्न प्रसंगों में अभिव्यंजना शब्द के विभिन्न अर्थ हैं जिनमें सन्दर्भ-सम्बन्धी पार्थक्य के विद्यमान रहते हुये भी एक मूलगत ऐक्य है। प्रत्येक प्रसंग में अभिव्यंजना का अर्थ किसी न किसी रूप में व्यक्तीकरण की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। प्रकाशन, बोधन, ज्ञापन आदि से यदि अभिव्यंजना-क्रिया के समग्र रूप का बोध होता है तो आविष्करण, निष्पीड़न, निष्कर्षण आदि उसकी प्रक्रिया के किसी अंश का अर्थ वहन करते हैं। कथन, उक्ति, वचन, शब्द इत्यादि शब्दों का अभिव्यंजना से सम्बन्ध तो स्वतः स्पष्ट है। मानवीय अनुभूतियों के व्यक्तीकरण का प्रमुख माध्यम वाणी है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस क्षेत्र में अन्य इन्द्रियां सर्वथा निष्क्रिय हैं। वाणी यदि ध्वनि की वाहक है तो श्रवणेन्द्रिय ग्राहक। नेत्रों की भाव-व्यंजकता से कौन अपरिचित है? संगीत का स्वर, नृत्य की गति, वास्तु-कला का शिल्प, चित्रकला की स्निग्ध रंगीनियां केवल वाणी के माध्यम से ही नहीं व्यक्त होतीं, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अभिव्यंजना के क्रियात्मक तथा व्यवहारात्मक रूप में वाणी का उपयोग अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है। अतः अभिव्यंजना शब्द के समग्र रूप में अर्थ-संकोच अस्वाभाविक नहीं है। विविध ललित कलाओं तथा काव्य-कला में मुख्य अन्तर यह है कि काव्य-रचना के माध्यम शब्द हैं जिनका प्रयोग केवल कला में ही न होकर मनुष्य के सभी कार्य-कलापों में भावों और विचारों के आदान-प्रदान के साधन रूप में किया जाता है। रीति अभिव्यंजना की सरणि है जिस पर कलाकार की कल्पना सयत्न मार्ग बनाती है। इस प्रकार अभिव्यंजना शब्द के विभिन्न अर्थों में मूल अन्तर अर्थ-विस्तार अथवा अर्थ-संकोच का ही है। इस शब्द के विकास में इन दोनों का अनुक्रम क्या है, यह निश्चय करना भाषा-विज्ञान का कार्य है।

## काव्य में अभिव्यंजना-तत्व का स्थान

'अभिव्यंजना' शब्द के विभिन्न भंगों का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अभिव्यंजना व्यक्तीकरण की चेतन प्रक्रिया है। कवि की अनुभूतियों का विस्तार और संप्रेषण केवल मानसिक और अमूर्त स्तर पर नहीं हो सकता, रूपात्मक स्थिति की प्राप्ति उसके लिये अनिवार्य होती है। कवि की अनुभूतियां, गृहीत सत्य की यथावत् रक्षा करते हुये जो रूप ग्रहण करती हैं उसी के माध्यम से सहृदय उसका रसास्वादन करते हैं। कृति के रूपात्मक आधार पर ही कलाकार, कृति तथा सहृदय में गत्यात्मक सम्बन्धों की स्थापना होती है। ग्रन्थिल, जटिल और संश्लिष्ट सत्यानुभूति का संगठन और उसकी यथावत् अभिव्यक्ति सरल कार्य नहीं है। हर्बर्ट रीड के शब्दों में काव्य-प्रक्रिया को दो विभागों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रथम संवेदनात्मक अनुभूति के चरम क्षणों में 'सत्य' की अखंडता को

रक्षा, द्वितीय उस अखण्ड सत्य की शब्दों द्वारा अभिव्यंजना ।[1] प्रथम सोपान कृति के रूपात्मक अस्तित्व प्राप्त करने से पूर्व की अवस्था है । भौतिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश से गृहीत वस्तु-तत्व के द्वारा कवि की संवेदना तथा कल्पना उसकी प्रतिकृति का निर्माण करती है । इस स्थिति में कल्पना का महत्व केवल अमूर्त स्तर पर ही होता है । इन अन्तःक्रियाओं का अस्तित्व इतना सत्य है कि क्रोचे जैसे चिन्तक ने प्रक्रिया की इसी स्थिति को सम्पूर्ण सृजन-प्रक्रिया मान लिया है । क्रोचे की मान्यताओं का विस्तृत विश्लेषण आगे के पृष्ठों में किया जायेगा । कल्पना-प्रधान कृति में सृजनात्मक कल्पना प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, मूर्त तथा अमूर्त के समीकरण की प्रक्रिया होती है । प्रक्रिया के इस व्यक्तिपरक अंश में कलाकार के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण योग रहता है । कवि के जन्मजात संस्कार तथा परिवेश के प्रभाव द्वारा निर्मित व्यक्तित्व उसकी कृतियों के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इस व्यक्ति-परक स्थिति में भी सृजन-प्रक्रिया कलाकार के चेतन मन तथा अचेतन मन दोनों से सम्बन्ध रखती है ।

प्रक्रिया की वस्तुपरक स्थिति में कवि अपनी मनःसृष्टि को भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है । भाषा के प्रमुख उपकरण हैं शब्द । शब्द में अनेक विशिष्ट शक्तियां अन्तःस्थ रहती हैं । ध्वनि, अनुभूति, गुण, अर्थ इत्यादि उनमें अन्तर्निहित रहते हैं । इस स्थिति में तकनीक का प्रमुख स्थान रहता है । अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने तथा अपने भावों के अनुरूप अभिव्यंजना का निर्माण करने की क्षमता कवि में होनी चाहिये । इस स्थिति में मस्तिष्क और लेखनी साथ-साथ चलते हैं, कल्पना और शिल्प सूत्रबद्ध होते हैं । यह कल्पना कवि के 'आत्म-दर्शन' को शब्दों के द्वारा रूपात्मक आधार प्रदान करती है । इस प्रकार काव्य-सृजन में तन्त्र अथवा विधा सम्बन्धी तत्वों की उपेक्षा करना पूर्ण रूप से असम्भव है । विधा को साधारणतः काव्य का बाह्य अंग माना जाता है । विधा के समुचित प्रयोग के लिये कला-शिल्प सम्बन्धी अभ्यास अनिवार्य होता है । कवि में शब्द-चयन, प्रमाणित तथा परि-मार्जित शब्दावली का ज्ञान तथा उनके उपयुक्त प्रयोग की क्षमता, लोकोक्ति, मुहावरों, वर्णयोजना, उक्ति-वैचित्र्य इत्यादि अभिव्यंजना के विभिन्न तत्वों के समुचित प्रयोग की क्षमता होना आवश्यक है । शिल्प-विधान की इस स्थिति में व्यक्तिपरक रूप में प्राप्त अमूर्त भावनाओं और प्रतिमूर्तियों के भी अनेक संशोधन और परिवर्तन होते हैं जिसके द्वारा कला का सौन्दर्यगत मूल्य और भी बढ़ जाता है । ऐसी भी स्थिति आ जाती है जब इन उपादानों का प्रयोग साधनमात्र न रहकर साध्य का रूप धारण कर लेता है । साध्य-रूप में ग्रहण किये जाने पर उनका उद्देश्य चमत्कारवादी हो जाता है । अभिव्यंजना का आदर्श रूप वही होता है जहां वह सृजन में सहायक तत्वों के रूप में प्रयुक्त होती है । इन भौतिक उपादानों के माध्यम से व्यक्त हुये बिना अमूर्त अनुभूतियों का अस्तित्व कुछ अर्थ नहीं रखता ।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि अभिव्यंजना की क्रिया जागरूक प्रयोगों की स्थिति है जिसके द्वारा कवि की अमूर्त भावनायें परिवर्तित, संशोधित और कुछ सीमा तक परिष्कृत

---

1. Form in Modern Poetry, P. 44—Herbert Read.

होकर मूर्त रूप धारण करती हैं। निम्नलिखित रूपरेखा से विषय-वस्तु तथा अभिव्यंजना में भेद की स्थापना पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायेगी—
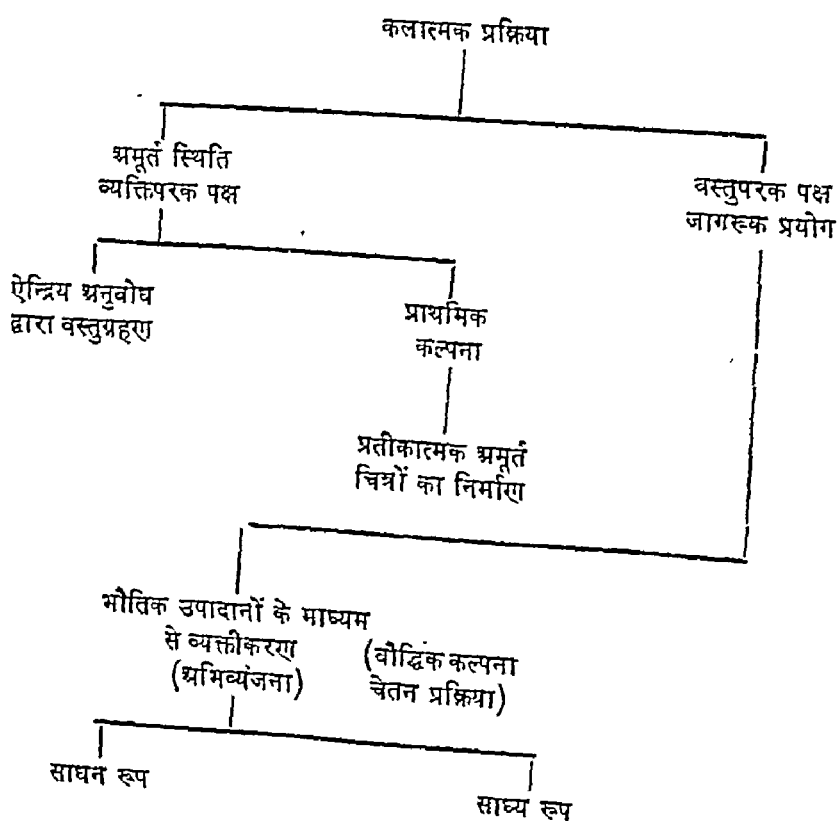
इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र के अन्तर्गत काव्य-सम्बन्धी अभिव्यंजना को बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में ही ग्रहण किया गया है। भौतिक उपादानों के जिस संगठन द्वारा कवि अथवा कलाकार अपने अभिप्रेत की अभिव्यक्ति करता है वही अभिव्यंजना है। इन उपादानों में अन्तःस्थ व्यंजक शक्तियों को संकलित तथा संगठित करके कवि अपनी भावनाओं को आबद्ध करता है। इस संगठन द्वारा आविर्भूत रूपात्मक विन्यास ही कलाकृति का आयाम है और यही अभिव्यंजना है। काव्य में विषय-वस्तु और उसके व्यंजक उपादानों का विन्यास इतना संश्लिष्ट होता है कि कुछ दार्शनिकों ने उसे पूर्ण रूप से अविभाज्य और अखण्ड सिद्ध किया है। इस क्षेत्र में सर्व प्रमुख नाम इटली के दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे का है। काव्य विभाज्य है अथवा अविभाज्य इस प्रश्न को लेकर हिन्दी-जगत् में काफी वाद-विवाद हुआ है और हिन्दी के प्रमुख आचार्य आलोचकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यंजना-पक्ष का स्वतन्त्र और पृथक् अस्तित्व होता है यह बात पूर्ण रूप से मान लेने के पूर्व क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा उससे सम्बद्ध मतों का विवेचन समीचीन होगा।

## क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

क्रोचे के अनुसार साधारण अनुभूति तथा कलात्मक अनुभूति, अथवा आध्यात्मिक तथ्य और भौतिक तथ्य में एक तात्विक अन्तर है। कला की प्रक्रिया आध्यात्मिक अथवा आत्म-दर्शन की प्रक्रिया है, यह आत्मदर्शन स्वयमेव अभिव्यक्त होता है। अभिव्यंजनात्मकता के अभाव में सहजानुभूति नहीं, केवल ऐन्द्रिय-अनुबोध मात्र होता है। सहजानुभूति अखण्ड होती है, उसको खण्ड-खण्ड नहीं किया जा सकता। अन्तःज्ञान की इस स्थिति की अभिव्यक्ति के लिये विचार की अपेक्षा नहीं होती, वह सहजोपलब्ध होता है। क्रोचे के अनुसार यह उक्ति अविश्वसनीय इसलिये लगती है कि हम अभिव्यंजना शब्द को केवल वाणी के अर्थ में ग्रहण करते हैं, परन्तु चित्रकला, वास्तु-शिल्प तथा अन्य ललित कलाओं में जहां अभिव्यंजना का माध्यम केवल वाणी नहीं है, इस तथ्य की अनुभूति पूर्ण रूप से की जा सकती है कि अभिव्यंजना को अनुभूति से पृथक् नहीं किया जा सकता। सहजानुभूति का आध्यात्मिक आलोक अवचेतन की अव्यक्त, अस्पष्ट स्थिति से चेतन मन की चितनाविष्ट स्थिति को प्राप्त करता है परन्तु उसका रूप उसके पहले ही पूर्ण रहता है। प्रातिभ ज्ञान अथवा सहजानुभूति और अभिव्यंजना एकात्म हैं। उनका आविर्भाव और तिरोहण एक साथ और एक समय में होता है, उनका परिच्छेदन अथवा विभाजन करना असम्भव है। सहजानुभूति की स्थिति में भावनायें स्वयं ही सुन्दर, मधुर और उपयुक्त सांचों में ढल जाती हैं और अपने आप व्यक्त हो जाती हैं। यह साधारण विश्वास है कि कला के प्रेरक तत्व तो प्रत्येक व्यक्ति के अवचेतन में अव्यक्त रूप में पड़े रहते हैं, कलाकार अथवा कवि कला-शिल्प की क्षमता के कारण उन्हें व्यक्त करने या मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। क्रोचे के अनुसार यह धारणा भी भ्रमात्मक है। आत्म-चिन्तन के एकाग्र क्षणों में भावनायें स्वतः रूप ग्रहण करती हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिये क्रोचे ने दो कलाकारों के उदाहरण दिये हैं। प्रसिद्ध चित्रकार माइकेल एंजेलो ने कहा है कि चित्रकार तूलिका से नहीं मस्तिष्क से चित्र बनाता है।[1] लेनोर्डो के शब्दों में "प्रतिभावान व्यक्तियों का मन वाह्य-चेष्टाओं के अभाव के समय में ही आविष्कार तथा सृजन में सबसे अधिक क्रियाशील होता है।"[2]

कलाकार कलाकार इसलिये होता है कि साधारण मनुष्य जिस वस्तु के अंश मात्र का आभास भर कर सकने में समर्थ होता है, कलाकार उसकी पूर्णानुभूति करता है। साधारण व्यक्ति की अनुभूतियां संवेदना और ऐन्द्रिय अनुभूति तक ही सीमित रह जाती हैं, सृजन के क्षणों का आत्मदर्शन उनमें नहीं आने पाता। कलाकार अपनी शक्ति द्वारा सहजानुभूति की इस स्थिति को प्राप्त करता है। सहजानुभूति का रूप व्यंजक होता है अतएव बौद्धिक व्यापार से इसका स्वतन्त्र और स्वाधीन अस्तित्व रहता है। यह स्थिति रूपबद्ध स्थिति है। इस प्रकार प्रतिकृति की सीमा में आवद्ध अनुभूति ही अभिव्यंजना है और दोनों अविभाज्य हैं।

---

1. One does not paint with the hands but with ones brain.
2. The minds of men of lofty genius are most active in invention when they are doing the least external work.

Aesthetic, P. 10—B. Croce.

## अभिव्यंजनावाद की परिसीमायें

क्रोचे द्वारा स्थापित आत्मदर्शन की यह आध्यात्मिक प्रक्रिया पूर्णतः ग्राह्य नहीं हो सकती। उनके सिद्धान्तों में भौतिक उपादानों में निहित क्रियात्मक शक्ति की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त जिन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सन्दर्भों में मनःसृष्टि का निर्माण होता है उसकी भी क्रोचे ने पूर्ण उपेक्षा की है। चित्रकार की तूलिका, वास्तुशिल्पी की टांकी, कवि की भाषा किसी आध्यात्मिक अथवा नैसर्गिक शक्ति से प्रेरणा प्राप्त कर अनायास ही व्यक्त नहीं हो जाती। यह पूर्णता कलाकृति में तभी आती है जब कि विषय-वस्तु को व्यक्त करने के लिये सयत्न प्रयास किया जाता है। अभिव्यक्ति-क्रिया की इस स्थिति में अनेक नये तथा सूक्ष्म तथ्य तो प्रकट होते ही हैं प्रायः अनेक नई अनुप्रेरणायें भी प्राप्त होती हैं। विविध अनुशोधनों तथा संशोधनों के द्वारा कलाकृति का रूप 'अनुभूत रूप" की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जित, परिष्कृत और सुन्दर हो जाता है। वास्तव में अखण्ड सौन्दर्यानुभूति ही काव्य का सार-तत्व है। परन्तु महानतम कलाकार को भी अखण्ड सौन्दर्यानुभूति की यह स्थिति भौतिक उपादानों के सम्पर्क द्वारा ही प्राप्त होती है।

## हिन्दी आचार्यों की दृष्टि में अभिव्यंजनावाद

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद में प्रतिपादित काव्य-प्रक्रिया तथा अभिव्यंजना और विषय-वस्तु के एकात्म्य दोनों ही दृष्टिकोणों का पूर्ण खण्डन किया है। इस प्रसंग में शुक्ल जी के विचारों को उद्धृत करना आवश्यक है। क्रोचे द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रक्रिया के सम्बन्ध में शुक्ल जी के तीन मुख्य आक्षेप हैं :

(१) "क्रोचे ने कल्पना-पक्ष को प्रधानता देकर उसका रूप ज्ञानात्मक कहा है। हमारे यहां रससिद्धान्त के अनुसार उसका मूल रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है। कल्पना में उठे हुये रूपों की प्रतीति (Perception) मात्र को 'ज्ञान' कहना उसे ऊंचे दर्जे को पहुँचाना है।"[१]

× × ×

(२) "मूर्त भावना अथवा कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया नहीं है। जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुये रूप कहता है वे वास्तव में वाह्य जगत् से प्राप्त किये हुये रूप हैं। इन्द्रियज ज्ञान के जो संस्कार मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी भाव के धक्के से यों ही, भिन्न-भिन्न ढंग से अन्वित होकर जागा करते हैं। यही मूर्तभावना या कल्पना है। इस अन्वित रूप-समूह को आध्यात्मिक सांचा कहना और पृथक्-पृथक् रूपों को उस सांचे में भरा जाने वाला मसाला बताना वितण्डावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?"[२]

× × ×

(३) "अभिव्यंजनावाद बेलबूटों और नक्काशियों के सम्बन्ध में तो बिल्कुल ठीक

१. चिन्तामणि, भाग २, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ १८०-१८१—आ० रामचन्द्र शुक्ल
२. वही, पृष्ठ १८३

घटता है, पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से यह बहुत दूर रहता है। यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथ्य, सच्ची भावानुभूति नहीं, तो उसका मूल्य मनोरंजन करनेवाली सजावट या खेल-तमाशे के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं। अभिव्यंजनावाद के प्रतिपादक ने उसका मूल्य दूसरी दुनिया में ढूंढ़ निकालने की चेष्टा की है।"[1]

काव्य-प्रक्रिया सम्बन्धी इन तीनों आक्षेपों को एक-एक करके देखना आवश्यक है।

रूप-प्रतीति को ज्ञान बताने का मुख्य कारण यह है कि पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र में अनुभूति की अपेक्षा कल्पना-तत्व को काव्य की प्रक्रिया में अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। रूप-प्रतीति की यह स्थिति साधारण संवेदना की स्थिति नहीं है, यह तो मानना ही पड़ेगा। आचार्य शुक्ल ने यहां 'ज्ञान' शब्द का अर्थ पूर्णतया रूढ़ रूप में ग्रहण किया है। रूप-प्रतीति की स्थिति को ज्ञान मानते हुये भी क्रोचे ने उसे मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय से अधिक सम्बद्ध माना है। रूप-प्रतीति की जिस प्रक्रिया का उसने उल्लेख किया है, उसमें हृदय का योग मस्तिष्क की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस प्रसंग में ज्ञानात्मकता का अर्थ केवल रूप-व्यंजकता से है, ज्ञान के अलौकिक तत्व का समावेश उसमें नहीं है। ज्ञान से तात्पर्य पूर्ण रूपात्मक स्थिति की अनुभूति से ही है। क्रोचे द्वारा मान्य काव्य-सृजन की प्रक्रिया पर किंचित ध्यान देने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्रोचे की रूप-प्रतीति न तो साधारण ऐन्द्रिय संवेदन है और न उसका प्रयोग ज्ञान के उस रूढ़ अर्थ में किया गया है जिसके द्वारा अध्यात्म-साधक योगी को परम-ज्योति के दर्शन होते हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य शुक्ल का यह तर्क बिल्कुल दुर्बल पड़ जाता है।

क्रोचे ने संवेदना तथा सहजानुभूति में स्पष्ट भेद माना है। काव्यानुभूति की स्थिति सहजानुभूति की स्थिति है, ऐन्द्रिय संवेदनमात्र की नहीं। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति की प्रक्रिया प्रज्ञानात्मक (Cognitive) है, ऐन्द्रिय संवेदन की नहीं। साधारण अर्थ में संवेदनशीलता और कलाकार की अखंड संवेदना में स्पष्ट अन्तर है। प्रज्ञानात्मक स्थिति में संवेदना का रूप व्यंजक है। हम सहजानुभूति की अखंडता को मानें या न मानें, यह प्रश्न दूसरा है परन्तु सृजन-प्रक्रिया का जो विश्लेषण क्रोचे ने किया है[2], उसे साधारण संवेदना मानकर ही नहीं छोड़ा जा सकता और न उसे ज्ञान के रूढ़ अर्थ में लिया जा सकता है।[3] कल्पना-तत्व के प्राधान्य के कारण शुक्ल जी ने 'सहजानुभूति' का रूप मूलतः ज्ञानात्मक मान लिया है। उनके विवेचन-विश्लेषण से ऐसा जान पड़ता है कि क्रोचे ने काव्य के मूल तत्व अनुभूति अथवा भाव की उपेक्षा की है, परन्तु

---

१. चिन्तामणि, भाग २, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ १७०—आ० रामचन्द्र शुक्ल

2. Every one can experience the internal illumination which follows upon his success in formulating himself his impressions and feelings, but only so far as he is able to formulate them. Feelings or impressions, then pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit."

Aesthetic, P. 14—B. Croce.

3. Matter is emotivity—Aesthetic, P. 16—B. Croce.

बात ऐसी नहीं है। यद्यपि काव्य-प्रक्रिया को 'आध्यात्मिक क्रिया' कहने का लोभ वह नहीं संवरण कर पाये हैं परन्तु उन्होंने भौतिक उपादानों का पूर्ण रूप से निषेध नहीं किया है। उनमें अन्तर्निहित भावात्मकता की स्वीकृति ही इस बात का प्रमाण बनने के लिये यथेष्ट है।

एक प्रश्न और उठता है कि क्या मानव-मन की ईहात्मक तथा अनुभूत्यात्मक स्थितियां एक दूसरे की पूर्णतया विरोधी हैं? कला-प्रक्रिया के संश्लिष्ट विन्यास में क्या एक की अवस्थिति दूसरी के निषेध से ही सम्भव हो सकती है? सहजानुभूतिमूलक ज्ञान व्यंजक ज्ञान है। सहजानुभूतिमूलक ज्ञान दूसरे शब्दों में अनुभूतिमूलक ज्ञान ही है क्योंकि उसके मूल में अखंड-संवेदना की अवस्थिति है। डा० नगेन्द्र ने भी एक स्थल पर दोनों का प्रयोग साथ-साथ किया है।[1] श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु को भी सहजानुभूति को अनुभूतिवाद से सम्बद्ध करने में विशेष आपत्ति नहीं है।

'आत्मा के कारखाने' की बात भी इतनी हास्यास्पद नहीं है जितनी कि शुक्ल जी ने बना दी है। कल्पना अथवा मूर्त भावना आत्मा की अपनी क्रिया है। इसे शुक्ल जी दार्शनिकता का मजहबी पुट मानते हैं जिसका प्रयोग आवश्यकता पड़ने पर अव्यक्त और अनिर्वचनीय का सहारा लेने मात्र के लिये किया गया है। मेरे विचार से आचार्य शुक्ल ने यहां भी क्रोचे के साथ न्याय नहीं किया है। आत्मा के खजाने से निकले हुये सांचों में 'द्रव्य' को मसाले के रूप में भरने की स्थिति तो तब कल्पनीय थी जब क्रोचे ने 'आकृति' और 'वस्तु' की स्थिति पृथक्-पृथक् मानी होती। उसके अनुसार तो सहजानुभूति कृतिबद्ध (रूपबद्ध) ज्ञान है। मेरे विचार में आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के सिद्धान्तों को नगण्य सिद्ध करने के लिये प्रक्रिया का विश्लेषण ही उल्टे रूप में किया है। उनके द्वारा किया हुआ आध्यात्मिक क्रिया का अर्थ काव्यानुभूति की सूक्ष्म मानसिक क्रिया के ज्ञानमूलक अध्यात्म-दर्शन के अधिक निकट आता है। उनके विवेचन के अनुसार क्रोचे के सिद्धान्तों के अनुसार काव्य-प्रक्रिया इस रूप में होगी। कवि अथवा कलाकार ध्यानावस्थित होकर चिन्तन करता है। अलौकिक दृश्यों के रूप में आकृतियां उसके सामने साकार होने लगती हैं और तब बाह्य-जगत् से 'मसाला' ग्रहण कर उन आकृतियों में डाल कर कलाकार अपनी कृति का निर्माण करता है। यदि क्रोचे के अनुसार काव्य-प्रक्रिया यही है तब तो वितण्डावाद है अवश्य परन्तु उसके सिद्धान्त इतने खोखले नहीं हैं। सहजानुभूति की प्रज्ञानात्मक स्थिति तथा उसकी आध्यात्मिकता दोनों ही सत्य हैं। क्रोचे काव्यानुभूति को स्वयं प्रकाश्य मानता है और बाह्य-जगत् की भावात्मकता को स्वीकार करते हुये उनके अन्वित रूप-समूह द्वारा निर्मित पूर्ण चित्र को ही अभिव्यंजना। ऐसी भी स्थिति सम्भव है जब बाह्य-जगत् के प्रति बोध-ज्ञान और संवेदना के अभाव में भी

---

१. जहां तक कला की अनुभूति या सहजानुभूति का प्रश्न है कोई भी उसकी अखंडता में सन्देह नहीं करता, वह अखण्ड है।

—अलंकार और अलंकार्य, पृ० १२, अलीगढ़ विश्वविद्यालय में दिया गया अभिभाषण

२. सहजानुभूति को अनुभूतिवाद से सम्बद्ध करने में हमें विशेष आपत्ति नहीं है। दोनों को हम एक भी नहीं मान सकते। परन्तु दोनों में जो समानता है, उसी से दोनों को सम्बद्ध किया जा सकता है।

—काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ३४—लक्ष्मीनारायण सुधांशु

सहजानुभूति की संभावना हो सकती है। जहां काव्य अथवा कला का रूप पूर्णतया आत्मपरक होता है वहां अनुभूतियों की ही अभिव्यंजना होती है। ऐसी स्थिति में सहजानुभूति प्रत्यक्ष और स्थूल सत्य की न होकर सत्य की संभावनाओं की होती है। दीवानी मीरा की दर्दभरी अनुभूतियां सहजानुभूति की इसी कोटि के अन्तर्गत आयेंगी। ये सांचे भी खोखले नहीं, अनुभूतिमूलक तथ्यों से भरे रहते हैं। 'सांचे' और 'वस्तु' का अस्तित्व अलग नहीं है कि सांचों में मसाले को भरकर उनसे उसकी प्रतिकृतियां बनाई जा सकें जैसे नन्हे बालक गिलासों और कटोरियों में मिट्टी और बालू भरकर अपनी सृष्टि पर आह्लादित होते हैं। 'आत्मा के कारखाने' में केवल शून्य सांचों का निर्माण नहीं होता प्रत्युत् वस्तु-जगत् के रूप, रंग से संयोजित पूर्ण प्रतिकृतियों का निर्माण होता है। 'आध्यात्मिक क्रिया' का तात्पर्य स्थूलता से परे सूक्ष्म मानसिक स्तर से ही है जहां ईहा तथा अनुभूति के योग से प्रज्ञानात्मक सहजानुभूति के वे चरम क्षण आते हैं जिनमें कवि का अस्तित्व भौतिक स्थूलताओं का अतिक्रमण कर एक नैसर्गिक आनन्द से अभिभूत हो उठता है। मेरे विचार में सहजानुभूति की यह स्थिति उस मुक्तावस्था से बहुत भिन्न नहीं है जिसका प्रतिपादन शुक्ल जी ने किया है—"मैं इस दशा को हृदय की मुक्त दशा मानता हूँ—ऐसी मुक्त दशा जिसमें व्यक्तिबद्ध घेरे से छूट कर वह अपनी स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया में तत्पर रहता है। इस दशा को प्राप्त करने की प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, चाहे इस दशा को आप आनन्द कहिये या न कहिये। आनन्द कहियेगा तो उसके पहले 'अलौकिक' लगाना पड़ेगा।"[1] इस व्यक्तिबद्ध (स्थूल) घेरे से छूटना ही क्रोचे के अनुसार काव्य-प्रक्रिया का सूक्ष्म मानसिक स्तर है और स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया में भावानुभूति के साथ कल्पना का भी स्पष्ट आभास मिलता है। प्रज्ञान और अनुभूति के इस योग की अपार्थिवता सिद्ध करने के लिये उन्हें भी अलौकिक शब्द का प्रयोग करना पड़ा है। शुक्लजी का 'अलौकिक आनन्द' और क्रोचे की 'आध्यात्मिक सहजानुभूति' मेरी धारणा में एक दूसरे के बहुत निकट हैं। कला तथा साहित्य के शाश्वत उपादानों को समझ और पहचान कर भी क्रोचे ने उन पर दार्शनिकता का जो आवरण चढ़ाया है, वही इस भ्रम के लिए उत्तरदायी है।

(३) "बेलबूटे और नक्काशियों के सम्बन्ध में तो अभिव्यंजनावाद ठीक घटता है परन्तु काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से वह दूर रहता है" शुक्ल जी की यह उक्ति भी क्रोचे के सिद्धान्तों को खण्ड रूप में ग्रहण करने पर आधृत है। बेलबूटे और नक्काशी की कला से तात्पर्य कला के शिल्प-विधान से ही हो सकता है। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति ही स्वयं प्रकाश्य है, रूपबद्ध है। जहां अनुभूति ही रूपमयी है वहां शिल्पविधान का महत्व क्या है? सहजोक्ति में कला प्रधान है या भाव, यह विवादरहित तथ्य है। शिल्प-विधान चेतन मन की क्रिया है जिसे क्रोचे की काव्य-प्रक्रिया में बहुत ही गौण स्थान प्राप्त है। उन्होंने वाग्वैचित्र्य को अभिव्यंजनावाद की एक विशेषता माना है परन्तु जहां क्रोचे उक्ति को ही कला मानता है वहां उसका तात्पर्य विचित्र उक्ति से नहीं सहज उक्ति से ही अधिक

---

१. चिन्तामणि, भाग २, पृष्ठ २०६—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

है। क्रोचे ने तो वाह्य रचना की सत्ता 'सहजानुभूति की पुनरुद्बुद्धि के विभावक' तथा 'स्मृति के सहायक' आदि के रूप में ही स्वीकार की है। उसे केवल आनुषंगिक माना है, काव्य का अनिवार्य अंग नहीं।

डा० नगेन्द्र के अनुसार क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक हैं जिन्होंने अपने ढंग से आत्मा की अन्तःसत्ता की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने क्रोचे द्वारा प्रतिपादित कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के पांच चरणों का उल्लेख किया है। (१) अरूप संवेदन (२) अभिव्यंजना अर्थात् अरूप संवेदनों की आंतरिक समन्विति—सहजानुभूति (३) आनन्दानुभूति (सफल अभिव्यंजना के आनन्द की अनुभूति) (४) आंतरिक अभिव्यंजना अथवा सहजानुभूति का शब्द-ध्वनि, रंग, रेखा आदि भौतिक तत्वों में मूर्तीकरण और (५) काव्य, चित्र इत्यादि—कलाकृति का भौतिक मूर्त रूप। इन पांचों में मुख्य क्रिया दूसरी है। उनके अनुसार क्रोचे वैचित्र्यवादी तथा आलंकारिक नहीं है। "उसके प्रतिपाद्य का मूल आधार है उक्ति जिसमें वक्र और ऋजु, वक्रता और वार्ता का भेद नहीं है।" उनकी मान्यतायें इस विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता से बिलकुल भिन्न हैं। उनके विचार से क्रोचे के अनुसार वक्रोक्ति भी सहजोक्ति ही है क्योंकि अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करने के लिए वही एकमात्र उक्ति हो सकती थी। आचार्य शुक्ल की भांति वे क्रोचे के सिद्धान्तों को बेल-बूटे और नक्काशी से सम्बद्ध कवि-व्यापार प्रधान नहीं मानते प्रत्युत उनकी दृष्टि में क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति ही काव्य की आत्मा है। सहजानुभूति 'आध्यात्मिक सृजन' और 'आन्तरिक क्रिया' है, 'प्रातिभ-अन्तःस्फुरण' है। उसका वक्रता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। सहजानुभूति का अर्थ उन्होंने भी लगभग उसी रूप में लिया है जिस रूप में हर्बर्ट रीड ने, जिनके मत का उल्लेख पहले किया जा चुका है।[१] सहजानुभूति अखण्ड है। वस्तु-तत्व और रूप आकार अथवा अलंकार्य की पृथक् सत्ता उसमें नहीं है। (सहृदय द्वारा) कला की सहजानुभूति अविवेच्य है—अनिर्वचनीय है।

'अभिव्यंजनावाद' में बेलबूटे और पच्चीकारी को प्रधान मानकर आचार्य शुक्ल ने उसे आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा था। क्रोचे की 'उक्ति' तथा कुन्तक की 'वक्रोक्ति' को एक रूप में ग्रहण करके उन्होंने अपना यह निष्कर्ष दिया था। उनके रसवादी दृष्टिकोण में क्रोचे की कला सम्बन्धी स्थापनायें वितण्डावाद के अतिरिक्त कुछ न थीं परन्तु रसवादी आलोचना की परम्परा के प्रमुख आलोचक डा० नगेन्द्र ने अभिव्यंजनावाद की आत्मा सहजानुभूति को 'प्रतिपादित' रूप में स्वीकार करते हुए क्रोचे के सिद्धान्त के उस दुर्बल स्थल को स्पर्श कर लिया है जिसका "समाधान क्रान्तदर्शी आचार्य कुन्तक ने एक सहस्र वर्ष पूर्व ही प्रस्तुत कर दिया था।" कुन्तक के साथ क्रोचे के विचारों में उन्होंने साम्य की स्थापना शुक्ल जी की भांति वैचित्र्यवाद के आधार पर नहीं की प्रत्युत तत्वदर्शी क्रोचे के सिद्धान्तों के अमूर्त स्थलों का पूरक मान कर की है। व्यावहारिक दृष्टि से क्रोचे के सिद्धान्त अपूर्ण हैं। कुन्तक के मन्तव्य में सहजानुभूति अखण्ड है। परन्तु फिर भी काव्य-सौन्दर्य को हृदयंगम

---

१. देखिये पृष्ठ—४, ५

करने के लिए व्यवहार रूप में विषय-वस्तु और अभिव्यंजना के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है।[1]

निष्कर्ष यह है कि जहां तक विषय-वस्तु और अभिव्यंजना के तादात्म्य का प्रश्न है क्रोचे के विचारों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य की आलोचना तथा उसके विश्लेषण के लिये अभिव्यंजना के तत्वों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रस्तुत प्रबन्ध में यही दृष्टिकोण स्वीकार करके कृष्ण-भक्ति काव्य के अभिव्यंजना-शिल्प का विवेचन किया गया है। अभिव्यंजना के जिन तत्वों के आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है उनका उल्लेख इस प्रकार है—

(१) भाषा

अ—शब्द-समूह।

आ—मुहावरे और लोकोक्तियां।

इ—वर्णयोजना, शब्दालंकार, गुण, रीति, वृत्ति तथा शब्द-शक्तियां।

(२) उपलक्षित चित्रयोजना (Indirect Imagery)

(३) लक्षित चित्रयोजना (Direct Imagery)

(४) संगीत और छन्द।

(५) काव्य-रूप।

इन सब तत्वों का परिचयात्मक विश्लेषण उनसे सम्बद्ध अध्यायों की भूमिकाओं में किया जायेगा।

## (ख) सूरदास से पूर्व कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प की स्थिति—एक विहंगावलोकन

डा० शिवप्रसाद सिंह के शोध के फलस्वरूप अभी हाल में ही सूरदास के समय से पहले का व्रजभाषा काव्य प्रकाश में आया है। 'सूर-पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य' नामक उनके शोध-प्रबन्ध में उपलब्ध साहित्य के व्याख्यान के साथ ही कुछ अनुपलब्ध साहित्य भी प्रकाश में लाया गया है और सूरदास के पहले व्रजभाषा कवियों के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। नामदेव, कबीर और रैदास की अनुभूतिपरक रचनाओं को लेखक ने कृष्ण-भक्ति काव्य के विकास का एक सोपान माना है। इस निर्णय को स्वीकार करने के पक्ष तथा विपक्ष दोनों ही ओर से अनेक तर्क दिये जा सकते हैं। परन्तु यह प्रश्न यहां पर अप्रासंगिक है।

संतमत के कवियों के अतिरिक्त उन्होंने कृष्ण-भक्ति काव्य के विकास में संगीतकार कवियों का महत्वपूर्ण योग स्वीकार किया है। उनके शब्दों में "संगीतज्ञ कवियों ने न केवल अपनी स्वर-साधना से भाषा को परिष्कार और मधुर अभिव्यंजना प्रदान की, तथा

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, वक्रोक्ति और अलंकार, पृष्ठ १३३—डा० नगेन्द्र

अप्रतिम नाद-सौन्दर्य से कविता को अधिक दीर्घयुगी बनाया परन्तु अपनी सम्पूर्ण संगीत-प्रतिमा को आराध्य कृष्ण के चरणों पर लुटा भी दिया। गोपाल नायक और बैजू बावरा के पदों में आत्मनिवेदन, गोपी-प्रेम तथा भक्ति के विविध पक्षों का बड़ा ही विशद और मार्मिक चित्रण हुआ है। गोपाल नायक की बहुत कम रचनायें प्राप्त हुई हैं। गोपाल नायक के एक पद में रास का चित्रण इस प्रकार मिलता है—

> कांधे कामरी गो अलाप के नाचे जमुना तीर नाचे जमुना तीर
> पीछे रे पांवरे लेति नाचि लोई मांगवा—
> भुव आली मृदंग बांसुरी बजावे गोपाल बैन बतरस ले अनन्द।"[1]

(राग कल्पद्रुम)

बैजू बावरा का उल्लेख भी इस प्रसंग में किया गया है तथा रागकल्पद्रुम में संकलित उनके पदों के आधार पर उन्हें ब्रजभाषा का कवि सिद्ध किया गया है। रागकल्पद्रुम की ये रचनायें शुद्ध ब्रजभाषा में हैं—

> आंगन-भीर भई ब्रजपति के आज नन्द महोत्सव आनन्द नयो।
> हरद दूब दधि अक्षत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मंगलचार नयो।
> ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरषित विमानन पुष्प बरस रंग ठयो।
> धन धन बैजू संतन हित प्रकट नन्द जसोदा ये सुख जो दयो।

(राग कल्पद्रुम)

इन दोनों ही कवियों की रचनाओं में निहित संगीत-तत्त्व परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों की संगीत-साधना की पृष्ठभूमि से जान पड़ते हैं, परन्तु जहां तक अभिव्यंजना-शैली का प्रश्न है ये रचनायें परवर्ती रचनाओं के सामने पासंग भर भी नहीं ठहरतीं।

इन रचनाओं के अतिरिक्त शोधकर्ता ने निम्नलिखित अप्रकाशित पुस्तकों का परिचय-परीक्षण भी प्रस्तुत किया है—

कृष्ण-भक्ति काव्य

| ग्रन्थ | लेखक | |
|---|---|---|
| १. प्रद्युम्नचरित | अग्रवाल कवि | (लेखक ने इनके रचना-काल का उल्लेख नहीं किया है) |
| २. महाभारत कथा | विष्णु दास | |
| ३. स्वर्गारोहण | " | |
| ४. रुक्मिणी मंगल | " | |
| ५. स्वर्गारोहण पर्व | " | |
| ६. स्नेह लीला | " | |
| ७. गीता भाषा | थेघ नाथ | |

१. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० २९८—डा० शिवप्रसाद सिंह

कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी अप्रकाशित ग्रन्थों को लेखक ने जिस रूप में हमारे सामने रखा है, उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। उनके मतों को उद्धृत करके विषय-विस्तार करने से कुछ लाभ नहीं होगा। जो कुछ भी सामग्री प्रकाश में आई है उसके अध्ययन द्वारा ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

तत्कालीन ब्रजभाषा के दो रूप थे (१) अपभ्रंश-मिश्रित ब्रजभाषा (२) तद्भव-प्रधान ब्रजभाषा। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा तत्कालीन ब्रजभाषा का रूप परिनिष्ठित नहीं हो पाया था। प्रथम कोटि की भाषा के उदाहरण रूप में डूंगर कवि की एक रचना उद्धृत की जा रही है—

रितु वसन्त उल्हणी विविह् वणराय फलह सह्व।
कंटक विकट करीर पन्त पिकखंत किंपि नहु।
धाराहर वर धवल वारि वरसंत घोर घन।
कुरलतंउ चातक कंठ न वूडइ इक्कु कन।
* * *
औषधि मूल मंत्री सर्प नहि मानहि दुर्जन।
सर्प डसी वेदना एहि दिट्ठइ हुई, गुंजन।
लागइ दोष अनन्त कियइ संसर्ग एनि परि।
तवडी जल हरइ घड़ी पीटियइ सुफल्लरि।[1]

द्वितीय कोटि की रचनाओं के उदाहरण रूप में विष्णुदास रचित 'सनेह लीला' की ये पंक्तियां ली जा सकती हैं—

महलन मोहन करत विलास।
कहां मोहन कहां रमन रानी और कोऊ नहि पास।
रुकमन चरन सिरावत पिय के पूजी मन की आस।
जो चाहे थी सो अब पायो हरि पति देवकी सास।
तुम विन और कौन थो मेरी धरति पताल अकास।
पल सुमिरन करत तिहारौ ससि पूस परगास।[2]

इन कवियों की रचनाओं में प्रवुद्ध कला-चेतना का पूर्ण अभाव है। अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से ये अत्यन्त साधारण कोटि की रचनायें हैं। उनकी शैली अधिकतर वर्णनात्मक और विवरणात्मक हैं। अप्रस्तुत योजना, लक्षित चित्र-योजना वाग्वैदग्ध्य आदि तत्त्व बहुत ही कम हैं।

विषय-वस्तु के क्षेत्र में कुछ ऐसे तत्व अवश्य मिलते हैं जिन्हें परवर्ती कृष्ण-भक्ति काव्य का पूर्वाभास कहा जा सकता है। यह प्रभाव मुख्य रूप से दो क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है: (१) लोक संस्कृति के चित्रण में (२) शास्त्रीय संगीत के समावेश में।

---

१. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० १५७—डा० शिवप्रसाद सिंह
२. वही, पृ० १५१

गोस्वामी विष्णुदास रचित रुक्मिणी मंगल की ये पंक्तियां प्रथम वर्ग के उदाहरण रूप में ली जा सकती हैं—

मोतियन चौक पुराय के कियो आरती माय ।
अति आनन्द भयो है नगर में घर घर मंगल साजें ।
मन मोहन प्रभु व्याह कर आये पुरी द्वारिका राजे ।।
अंगन तन में भूषन पहिने सब मिलि करत समाज ।
बाजें बाजन कानन सुनियत, नौबत घन ज्यूं बाज ।।
नर नारिन मिलि देत बधाई सुख उपजै दुखभाज ।
नाचत गावत मृदंग बाजत रंग बसावत आज ।।[1]

दूसरे वर्ग की रचनाओं के अन्तर्गत गोपाल नायक और बैजू बावरा की रचनायें रखी जा सकती हैं। डा० सिंह ने इन रचनाओं को काव्य-कल्पद्रुम से संकलित किया है। संगीत-कला के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु भाषा और साहित्य की दृष्टि से उसमें संकलित पदों को प्रामाणिक माना जा सकता है या नहीं यह प्रश्न विवादरहित नहीं है। यदि उन्हें प्रामाणिक मान लिया जाय तो गोपाल नायक और बैजू बावरा के पदों को परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों के ध्रुपद शैली में रचित पदों का पूर्वरूप माना जा सकता है। शास्त्रीय संगीत के तत्वों का उल्लेख तथा ध्रुपद शैली के अनुकूल पद-योजना इन रचनाओं में प्राप्त होती है—

सप्त स्वर तीन ग्राम इकइस मूर्छन बाइस सुर्त
उनचास कोट ताल लाग डाट
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट[2]

तथा

मार्ग देसी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साध पावै ।
सो पंचम मध दर पावै[3]

बैजू बावरा के पदों की योजना भी ध्रुपद शैली की श्वास-साधना के निमित्त की हुई जान पड़ती है—

चोलियो न खोलियो ले आऊं हूं प्यारी को,
सुन हौं सुघर वर अब हौं पै जाऊं हूं ।
मानिनी मनाय के तिहारे पाय ल्याय के,
मधुर बुलाय के तो चरण गहाऊं हूं ।
सुन री सुन्दर नारि काहे करत एती रार,
मदन डारत पार चलत पल तुम्हाऊं हूं।

१. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३६१ (परिशिष्ट)—डा० शिवप्रसाद सिंह
२. वही, पृ० २२१
३. वही, पृ० २१६

मेरी सीख मान कर मान न करो तुम,
हे जू प्रभु प्यारे सो बहियां गहाऊं हूं।[1]

बधाई के लोक गीत भी उनके नाम से प्राप्त होते हैं—

आंगन नीर भई ब्रजपति के आज नन्द महोत्सव आनन्द भयो।
हरद दूब दधि अक्षत रोरी लै छिरकत परस्पर गावत मंगलचार नयो।
ब्रह्म ईस नारद सुर नर मुनि हरषित विमानन पुष्प बरस रंग ठयो।
धन धन बैजू संतन हित प्रकट नन्द जसोदा ये सुख जो दयो॥[2]

अधिकतर कवियों ने दोहा चौपाई और छप्पय का प्रयोग किया है। कुछ पदों के ऊपर गौरी, धनाश्री और पूर्वी रागों का उल्लेख भी हुआ है।

इस सामग्री के अध्ययन के उपरान्त सूरदास से पूर्व ब्रजभाषा-काव्य के अस्तित्व की स्वीकृति में आचार्य शुक्ल का अनुमान आंशिक रूप में ही सत्य माना जा सकता है। सूरदास के काव्य-सौष्ठव पर विचार करते हुये आचार्य शुक्ल ने लिखा था "इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं, यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांग पूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की उक्तियां सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूर-सागर किसी चली आती हुई गीति काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"[3]

इन कृतियों के प्रकाश में आने पर भी कलाकार के रूप में सूर अपने पूर्व स्थान पर ही शोभित हैं। इस काल के दर्जनों कवियों में से एक भी ऐसा नहीं है जो अष्टछाप के अन्य कवियों के समकक्ष भी खड़ा रह सके, सूरदास की तो बात ही दूर है। जहां तक पूर्व-परम्परा की स्थापना का प्रश्न है यह तथ्य उसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है जैसे हम यह कहें कि छायावादी कविता के बीज द्विवेदी-युग की रचनाओं में भी पाये जाते हैं।

सूर-पूर्व ब्रजभाषा-काव्य में गीति काव्य की मौखिक परम्परा भी स्थापित की जा सकती है, ब्रजभाषा का अस्तित्व भी माना जा सकता है पर उसमें कला-सौष्ठव का कोई ऐसा ठोस आधार नहीं मिलता जिसके कारण यह कहा जा सके कि सूरदास के पदों की प्रगल्भता और काव्यांगपूर्णता का कोई पूर्व आधार हिन्दी-जगत् में विद्यमान था। कला के क्षेत्र में नये मार्गों का उद्घाटन सूरदास, नन्ददास और उनके समकालीन भक्तों ने ही किया। उनकी कला-चेतना का प्रादुर्भाव तत्कालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ था। कला के पुनरुत्थान-युग में उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित होकर विकसित हुई। उत्तराधिकार रूप में उन्हें जो परम्परा प्राप्त हुई थी वह पूर्ण अविकसित थी, भाव, भाषा, शैली किसी भी दृष्टि से मध्यकालीन कृष्ण-भक्त-कवियों पर उनका ऋण नहीं स्वीकार किया जा सकता।

---

१. वही, पृ० २२३
२. वही, पृ० ,,
३. सूरदास, पृष्ठ १५८—रामचन्द्र शुक्ल

## (ग) कृष्ण- ाव्य-परम्परा के विकास का संक्षिप्त परिचय

कृष्ण-काव्य-परम्परा के विकास का प्रमुख श्रेय आचार्य वल्लभ और उनके पुत्र विट्ठलदास जी को है। आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित 'पुष्टि मार्ग' को आधार बनाकर श्री विट्ठलदास द्वारा स्थापित अष्टछाप के कवियों ने हिन्दी में अमर कृष्ण-भक्ति-काव्य की रचना की। पुष्टि मार्ग की अनुभूतिमूलक साधना के कारण इन कवियों ने कृष्ण के व्यक्तित्व के लीला-प्रधान अंशों को ही ग्रहण किया है। राजनीतिज्ञ कृष्ण उनके आलम्बन नहीं हैं। कृष्ण के व्यक्तित्व में उन्होंने शक्ति के साथ माधुर्य और प्रेम का समन्वय कर दिया। अलौकिक आलम्बन में सहज और मधुर मानव का आरोपण उन्होंने जिस मनोवैज्ञानिक कौशल से किया है उसमें सार्वभौम उपादानों का समावेश हुआ है।

ऐतिहासिक क्रम से अष्टछाप के कवियों का उल्लेख इस प्रकार है—कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी। सूरदास प्रधान रूप से वात्सल्य और शृंगार रस के कवि हैं, परमानन्ददास जी के काव्य में वात्सल्य का अनुपात महत्वपूर्ण है। अन्य कवियों की रचनाओं में शृंगार रस का ही प्राधान्य है, उसमें वात्सल्य या तो है ही नहीं या अत्यन्त गौणरूप में प्रयुक्त है। इन सभी के प्रतिपाद्य में साहित्यिकता, पार्थिव अनुभूतियों और आध्यात्मिकता का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। विभिन्न कवियों के व्यक्तित्व के अनुसार तीनों तत्वों का अनुपात उनकी रचनाओं में भिन्न-भिन्न है। साहित्यिक महत्व की दृष्टि से सूरदास के बाद नन्ददास का नाम आता है। उनकी अभिव्यंजना में सचेष्ट कलाकार का शिल्प है।

पूर्व-मध्यकाल के इन पुष्टिमार्गी कवियों के बाद परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण योग राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य हितहरिवंश तथा उनके शिष्यों और अनुयायियों ने दिया। राधावल्लभ सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति अन्य सम्प्रदायों से भिन्न थी। इस मत के सिद्धान्तों के अनुसार राधा ही परम इष्ट हैं तथा कृष्ण की मान्यता इसीलिए है कि वे राधा के प्रियतम हैं। वे इष्ट नहीं हैं। भक्तजन राधा की सखी रूप में होते हैं। वे सखी रूप में उनके साथ परकीया गोपियों के समान स्वतन्त्र रूप से सम्बन्ध स्थापित नहीं करते और न राधा के प्रति उनका सपत्नी भाव होता है। इस सम्प्रदाय में हितहरिवंश के अतिरिक्त ध्रुवदास की कला का महत्वपूर्ण स्थान है।

किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के बन्धनों से मुक्त मतवाली मीरा और रसखान की रचनाओं का भी पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य में बड़ा महत्व है। मीराबाई द्वारा रचित कई ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। नरसी जी का मायरा, गीत-गोविन्द की टीका, पद तथा गर्वा-गीत उनकी प्रमुख रचनायें मानी जाती हैं। उनका साहित्य तथा उसका रूप दोनों ही संदिग्ध हैं। उनके काव्य में गिरधरगोपाल के प्रति उनकी आकुल भावनायें निर्बाध रूप से व्यक्त हुई हैं। जहां भावनायें उन्मुक्त हुई, आकांक्षायें उच्छृंखल होकर असंयत हो जाती हैं पर मीरा के काव्य की सबसे बड़ी सफलता यही है कि भावनाओं की निर्बाधता में असंयत और अनियन्त्रित शृंगार की स्थूलताओं का समावेश नहीं होने पाया है। उनकी कला का एक

अपूर्व ही सौंदर्य है जो कला सम्बन्धी परिपक्वताओं से वंचित रहने पर भी पूर्ण है।

मुसलमान कृष्ण-भक्त कवि रसखान का नाम इस परम्परा में अमर है। उनके व्यक्तित्व में प्रधान प्रेम-तत्व ने लौकिक आलम्बन के अस्थायित्व के कारण अलौकिक कृष्ण का सहारा लिया और उनकी भावनायें भक्त हृदय के सुन्दर उद्गारों के रूप में व्यक्त हो उठीं। भावनाओं की तीव्रता और उत्कटता के साथ ही साथ उनके काव्य का कलापक्ष भी प्रौढ़ और सबल है। 'प्रेम वाटिका' तथा 'सुजान रस सागर' उनके दो छोटे-छोटे ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं।

उत्तर मध्यकाल में भी कृष्ण-काव्य-परम्परा विभिन्न सम्प्रदायों के संरक्षण में पल्लवित और पुष्पित होती रही। पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) में कृष्ण-भक्ति-पद्धति में नैसर्गिक आलम्बन के प्रति मानवीय भावनाओं का जो उन्नयन हुआ उसमें राग और साधना का अपूर्व सामंजस्य था। इस परम्परा में रागतत्व के प्राधान्य के कारण ही १६वीं शती तक आते-आते भक्ति-युग की परिष्कृत माधुर्य भावना लौकिकता में रंजित होने लगी। उत्तर-मध्यकालीन कृष्ण-काव्य परम्परा में आलम्बन और साधना दोनों पक्षों में अपार्थिव अंश केवल नाममात्र को ही शेष रह गया।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य में शृंगारिक तत्वों का इतना प्राधान्य हो गया कि उसके फलस्वरूप ब्रह्म की असीमता भी मानवीय क्रिया-कलापों में लिपट कर रह गई। साहित्य की रूढ़ परम्पराओं के अनुसार 'ब्रह्म की प्रेमिकाओं' पर भी नायिका-भेद के विविध रूपों का आरोपण किया गया। हिन्दी-काव्य-जगत में सत्रहवीं शताब्दी के उपरान्त कृष्ण और गोपिकाओं के नाम पर शृंगारपरक ऐहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रधान हो उठी।

उत्तर मध्यकाल में वल्लभ सम्प्रदाय का कोई उल्लेखनीय कवि नहीं हुआ। केवल ब्रजवासीदास ने सूरसागर के आधार पर अपने ग्रन्थ 'ब्रजविलास' की रचना की। राधावल्लभ सम्प्रदाय के हित वृन्दावनदास ने 'लाड़ सागर' और 'ब्रजप्रेमानन्द सागर' ग्रन्थों की रचना की। इसके अतिरिक्त निम्बार्क सम्प्रदाय के घनानन्द, नागरीदास, हठीजी, भगवत रसिकजी, रूप रसिकजी, सहचरिशरण ने कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी रचनायें लिखीं, जिनमें उस युग की काव्य-चेतना की समस्त विशेषताओं का समावेश हो गया है।

प्रतिपाद्य के प्रति उनके दृष्टिकोण और उनकी अभिव्यंजना-कला का विवेचन आगामी अध्यायों में किया जायेगा।

आधुनिक काल नये संदेशों और नये जीवन-दर्शन से युक्त सामने आया। मध्यकालीन सामन्तीय व्यवस्था बीत चुकी थी। बौद्धिक जागरण और विज्ञान के इस युग में धार्मिकता और विशेषकर उपास्य के प्रति रागात्मक वृत्ति के उन्नयन को अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता का नाम दिया गया। उत्तरमध्यकाल में कृष्ण-भक्ति में निहित शृंगार-तत्व ने लौकिक शृंगार का रूप धारण कर लिया था, आधुनिक काल में केवल उसका अन्धकार पक्ष ही अवशिष्ट रह गया। भक्ति के नाम पर भ्रष्टाचार, अन्धविश्वास और पाखण्ड ने तत्कालीन सुधारवादी और बौद्धिक प्रवृत्तियों को अपने विरुद्ध आवाज उठाने की चुनौती दी। सूक्ष्म रागात्मक वृत्तियों पर आश्रित भक्ति बौद्धिक और ऐहिक जीवन-दर्शन के भार के नीचे दब

गई। उसकी विकृति ही शेष रह गई।

मध्यकाल में भक्ति ने एक आन्दोलन का रूप ग्रहण किया था। वह जनता के व्यक्तिगत और समष्टिगत संघर्षों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने आई थी। आधुनिक काल में उसका क्षेत्र 'व्यक्ति' की सीमा में ही संकीर्ण हो गया। परिवार के संसर्ग और वैयक्तिक संस्कार इत्यादि कारणों से 'धर्म' तत्व एक संकीर्ण दायरे में ही शेष रह गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न इत्यादि कवियों ने कृष्ण-भक्ति-काव्य की रचना की, जिनकी प्रेरणा स्थूल रूप में तीन प्रकार की मानी जा सकती (१) परम्परा-पालन, (२) कृष्ण-चरित के गान द्वारा प्राचीन गौरव की स्थापना तथा (३) वैयक्तिक संस्कारजन्य आस्था। वल्लभाचार्य के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित कृष्ण-काव्य-परम्परा उत्थान और पतन के विविध सोपानों पर चढ़ती-गिरती आधुनिक काल तक चलती आई। वल्लभ-सम्प्रदाय के ही निष्ठावान् भक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसमें पुनः माधुर्य भक्ति की परिष्कृति और सूक्ष्मता के समावेश का प्रयत्न किया, परन्तु अब इस प्रकार की भक्ति का समय बीत चुका था, देश के सामने यथार्थ नग्न मुंह बाए खड़ा था, पाश्चात्य देशों का बुद्धिवाद भारत की आध्यात्मिकता को चुनौती दे रहा था, जिसके सूक्ष्म तन्तु बाह्य स्थूलताओं के सामने हार मान चुके थे। साहित्य में व्यावहारिक भाषा के अभाव के फलस्वरूप ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ले रही थी, ऐसी स्थिति में ब्रजनायक से सम्बद्ध काव्य-परम्परा और ब्रजभाषा दोनों के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में ब्रजभाषा-कृष्ण-भक्ति-काव्य के कलापक्ष का विश्लेषण इन्हीं तीनों युगों के प्रमुख कवियों की रचनाओं के आधार पर किया गया है। उन कवियों तथा उनकी रचनाओं की तालिका इस प्रकार है—

### १. पूर्वमध्यकाल

| कवि | ग्रन्थ |
|---|---|
| सूरदास | सूरसागर, ना० प्र० स०, वेंकटेश्वर प्रेस |
| | साहित्य लहरी |
| नन्ददास | नन्ददास ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास |
| | नन्ददास ग्रन्थावली—सं० उमाशंकर शुक्ल |
| परमानन्द दास | परमानन्द सागर—सं० गो० ला० शुक्ल |
| अष्टछाप के अन्य कवि | (१) कुम्भनदास, चतुर्भुजदास |
| | छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी के पद |
| | विद्या-विभाग कांकरौली द्वारा प्रकाशित |
| | (२) डा० दीनदयालु गुप्त के संग्रहालय के पद |
| प्रभुदयाल मित्तल (सम्पादक) | अष्टछाप परिचय |
| हितहरिवंश | हितचौरासी |
| ध्रुवदास | ब्यालीस लीला |

## प्रथम अध्याय

# कृष्ण-भक्त कवियों का प्रतिपाद्य

### प्रतिपाद्य का सामान्य रूप

काव्य के संश्लिष्ट विन्यास में विषय-वस्तु और अभिव्यंजना के तत्त्वों का इतना तादात्म्य होता है कि इनके बीच पार्थक्य की रेखा आसानी से नहीं खींची जा सकती। अनुभूति-प्रधान कृतियों में यह विश्लेषण और भी दुष्कर होता है, क्योंकि भावावेश के चरम क्षणों की उक्तियां कला-उपकरणों के जागरूक प्रयोग के विना ही कलात्मक होती हैं। भक्ति-काल के विवेच्य कवियों का नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपनी अनुभूत्यात्मकता के लिये ही अमर हो गया है। मधुर मानव कृष्ण के प्रति विविध भक्त कवियों की अनुभूतियों के चरम क्षण उनके काव्य में संकलित हैं, ऐसी स्थिति में अभिव्यंजना के विभिन्न उपकरणों का विवेचन-विश्लेषण दुस्साध्य-सा ज्ञात हो सकता है, परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है।

### जागरूक कला-चेतना

कृष्ण-भक्त कवियों की कला-चेतना साधारण अनुमान से कहीं अधिक जागरूक थी। यह सत्य है कि काव्य में अनुभूति-तत्त्व की बड़ी प्रधानता होती है, पर अनुभूतियों को परिपार्श्व प्रदान करने के लिये अन्य तत्त्व भी अनिवार्य होते हैं। केवल भावोद्रेक की चरम अभिव्यक्ति ही को कला मानना उसके एक ही अंग को महत्व देना होगा। उद्रेक की तीव्र अनुभूति अलौकिक संवेदनात्मकता और मार्मिकता के कारण अविस्मरणीय और अनुपम चाहे हो, पर तद्जन्य आवेश चिरस्थायी नहीं रहता। मीरा की आत्म-विस्मृति में भी जीवन के अन्य उपकरणों के सहारे के विना अनेक स्थलों पर एकरसता का दोष आ गया है। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की रचनायें अनुभूति की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुये भी उतनी एकरस और संकीर्ण नहीं हो पाई हैं। यों तो जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में व्यापकता का अभाव था ही और 'मधुरावृत्ति' को प्रधानता देने वाले जीवन-दर्शन में जीवन के व्यापक और बौद्धिक तत्त्वों का अभाव होना स्वाभाविक भी था पर इन रचनाओं की अनुभूत्यात्मकता उस अर्थ में सीमित नहीं है जिस अर्थ में केवल भावोद्रेक के क्षणों को ही कला का स्वयं-प्रकाश्य रूप माना जाता है।

## पौराणिक तथा दार्शनिक आधार

कृष्ण-भक्ति काव्य का एक दार्शनिक आधार था, जिसने कृष्ण-काव्य-परम्परा के प्रतिपाद्य को भागवत जैसे परिपक्व ग्रन्थ की सीमा में जकड़ कर संकीर्ण बना दिया है। डा० बल्देव उपाध्याय के शब्दों में "वैष्णव धर्म के अवान्तरकालीन समस्त सम्प्रदाय भागवत के ही अनुग्रह के विलास हैं। विशेषतः वल्लभ-सम्प्रदाय तथा चैतन्य-सम्प्रदाय, जो वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के साथ-साथ भागवत को भी अपना उपजीव्य मानते हैं।"[1]

वैष्णव सम्प्रदायों के जिन भक्ति-सिद्धान्तों से प्रेरित होकर कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी रचनायें लिखीं उनके आचार्यों ने अपने मत के अनुकूल ढाल कर भागवत की अनेक टीकायें लिखीं तथा अपने सिद्धान्तों को भागवतमूलक सिद्ध करने का प्रयास किया। वल्लभाचार्य द्वारा रचित सुबोधिनी टीका में शुद्धाद्वैत मत के अनुसार भागवत के सिद्धान्तों की विवेचना की गई तथा भागवत के दशम स्कन्ध पर गम्भीर और विवेचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई। निम्बार्क मत के संरक्षण में शुकदेवाचार्य ने 'सिद्धान्त प्रदीप' में सम्पूर्ण भागवत का विवेचन किया तथा अन्य आचार्यों ने दशम स्कन्ध के रासलीला आदि प्रसंगों की सरस व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। चैतन्य-मत के आचार्य सनातन गोस्वामी ने 'वृहद् वैष्णव तोषिणी' में भागवत के दशम स्कन्ध की आध्यात्मिक टीकायें प्रस्तुत कीं। जीव गोस्वामी ने क्रम-संदर्भ में सम्पूर्ण भागवत की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की तथा उसके गूढ़ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये षट्संदर्भ नामक ६ संदर्भों की पृथक् रचना की। विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारार्थ दर्शिनी भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

भागवत का अध्यात्म-पक्ष पूर्ण अद्वैत तथा व्यवहार-पक्ष विशुद्ध भक्ति है। उसमें अद्वैत-ज्ञान के साथ भक्ति का सामंजस्य किया गया है। विशुद्ध भक्ति की प्राप्ति भक्त का साध्य तत्त्व है। ज्ञान की महत्ता है परन्तु भक्ति के अभाव में वह सारहीन है।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।[2]

भक्ति से विरहित ज्ञान का आभास भूसा कूटने के समान होता है। धान को कूटने से चावल निकलता है पर पुआल को कूटने से क्या एक दाना चावल भी हमें मिल सकता है?

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥[3]

मुक्ति की तुलना में भक्ति की महत्ता की स्थापना का भाव भी भागवत की प्रवृत्तिमूलक अध्यात्म-साधना में विद्यमान है।

---

१. भागवत सम्प्रदाय, पृ० १४७—डा० बल्देव उपाध्याय
२. भागवत, १२।१२।५२
३. भागवत, १०।१४।४

## आलम्बन का परम्परागत रूप

इन कवियों को आलम्बन का एक बना बनाया रूप भागवत तथा अन्य पुराणों के माध्यम से प्राप्त हुआ। डा० हरवंशलाल शर्मा ने कृष्ण-भक्ति-परम्परा के प्रमुख कवि सूरदास पर भागवत का पूर्ण प्रभाव माना है साथ ही अन्य पुराणों के कथा सूत्रों को भी उसमें विद्यमान माना है।[1] डा० मुंशीराम शर्मा ने वेद और पुराण-साहित्य में हरि-लीला के तत्त्वों का निर्देशन करते हुये ब्रह्मवैवर्त, भागवतपुराण, वायुपुराण और पद्मपुराण का विशेष रूप से निर्देश किया है। कृष्ण और राधा के रूप-वर्णन में पद्मपुराण का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। कुछ उदाहरणों द्वारा इस तथ्य की पुष्टि करना अनुपयुक्त न होगा।

"पद्मपुराण में श्रीकृष्ण-लीला सम्बन्धी ऐसी सामग्री प्राप्त होती है जिसको पुष्टि मार्ग का आधार माना जा सकता है वृन्दावन, द्वारिका, गोकुल, मथुरा, द्वादश वन इत्यादि पुष्टि-मार्ग में आध्यात्मिक प्रतीकों के रूप में ग्रहण किये गये, प्रायः इसी प्रकार का निर्देश पद्मपुराण में भी मिलता है।" यहां पर मेरा अभीष्ट केवल आलम्बन के स्वतः निर्णीत और परम्परा-मुक्त रूप की ओर संकेत करना ही है। "पद्मपुराण के ६९वें अध्याय के ८८वें श्लोक से लेकर १०२ श्लोकों तक श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन है जिसमें नवीन नीरद-श्रेणी के समान स्निग्ध-मंजु कुंडल, विकसित इन्दीवर के समान कान्ति, अंजनाभा के समान चिकना श्याम शरीर, स्निग्ध नील कुटिल एवं सौरभ-सम्पन्न कुन्तल, मयूर-मुकुट, मणि-माणिक्य के किरीट-भूषण, चन्द्र के समान मुखमंडल, मस्तक पर गोरोचन से युक्त कस्तूरी का तिलक, नील इन्दीवर के समान विशाल नेत्र, सुचारु उन्नत एवं सौंदर्य-सम्पन्न नासिका का अग्रभाग, वक्षस्थल पर श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि और मोतियों का हार, हाथ में कंकण और केसर, कटि में किंकिणी, कर्पूर अगरु कस्तूरी चन्दन गोरोचनमय दिव्य अंगराग से चित्रित शरीर, गम्भीर नाभि, वृत्ताकार जानु, कमल करतल और पाद-पद्म के तलुवे ध्वज वज्र और अंकुश के चिह्नों से शोभित, चन्द्रकिरण-समूह के समान चमकते हुए नख, कोटि कंदर्पों के सौंदर्य को भी जीत लेने वाली तिरछी ग्रीवा, कपोल और कंधों पर स्फुरित कांचन कुंडल, अपांग दृष्टि, आनन्द हास्य, कुंचित अधरों पर रखी हुई मंजु स्वर वाली वंसी का वर्णन है।"[2]

पद्मपुराण में कृष्ण का बिल्कुल वैसा ही रूप मिलता है जिसका चित्रण कर कृष्ण-भक्ति-परम्परा के कवि अमर हो गये हैं।

"श्रीकृष्ण पीताम्बरधारी हैं। उनके वक्षस्थल पर वनमाल है। सिर पर मोर मुकुट है, मुखमंडल करोड़ों चन्द्रों की आभा के समान है। कर्णिकार का अवतंस धारण किये हैं, चन्दन की खोर के बीच कुंकुम विन्दु लगा हुआ है, भाल पर तिलक है। कान में सूर्य के समान चमकते हुए कुंडल हैं, दर्पण के समान आभायुक्त कपोलों पर प्रस्वेद विन्दु हैं, उन्नत भ्रू के साथ लीलामय अपांग राधा की ओर लगे हुये हैं, ऊंची नासिका है, जिसके अग्रभाग पर मुक्ता विस्फुरित हो रहा है। दशनों की ज्योत्स्ना से पक्व विम्बाफल के समान लाल

---

१. सूर और उनका साहित्य, पृ० २०७—डा० हरवंशलाल शर्मा

२. भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृष्ठ ४२३-२४—डा० मुन्शीराम शर्मा

ओष्ठ शोभायमान हो रहे हैं। हाथों में केयूर, अंगद और रत्न-मुद्रिका है, वाम हाथ में कमल और मुरली है, कटि में कांचीदाम है और पैरों में नूपुर हैं, रतिकेलि के रसावेश में नेत्र चंचल हो रहे हैं।"[1]

इसी प्रकार कृष्ण-भक्त कवियों की राधा के स्वरूप-चित्रण का भी परम्परागत आधार उक्त प्रकार के स्थलों में मिलता है।

"उसकी कांति तप्त स्वर्ण की प्रभा के समान है। नीली चोली पहिने है। पट्टांचल से अर्ध-आवृत कोमल कान्त मुख मण्डल है। चकोरी के समान चंचल नेत्र श्रीकृष्ण के वदन-चन्द्र पर लगे हुये हैं। अंगुष्ठ और तर्जनी के द्वारा गृहीत पर्ण-चूर्ण समन्वित पूगफल श्रीकृष्ण को समर्पित कर रही है। उसके पीनोन्नत पयोधरों के ऊपर मुक्ताहार शोभित हो रहा है। वह किंकिणी जाल से मंडित क्षीण कटि वाली तथा पृथुश्रोणी है। रत्नों के ताटंक, मयूर, मुद्रा और कंकण धारण किये है। पैरों की उंगलियों में रत्नों के मंजीर हैं। वह लावण्य की सार, और सर्वावयव सुन्दरी है। आनन्दरस में मग्न प्रसन्न नवयुवती राधा की सेवा में चामर और व्यंजन लिये उसी के समान आयु और गुणवाली सखियां लगी हुई हैं।"

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि सिद्धान्त तथा साधना दोनों ही पक्षों में कवियों के पास एक सुदृढ़ आधार था जो काफी बड़ी सीमा तक कृष्ण-भक्ति काव्य की अभिव्यंजना शैली के रूप-निर्माण के लिये उत्तरदायी है।

## भक्तिभाव की अभिव्यक्ति में कला-तत्व का स्थान

अपार्थिव आलम्बन के प्रति पार्थिव भावनाओं के उन्नयन के फलस्वरूप प्रतिपाद्य के प्रति भक्त कवियों के दृष्टिकोण में दार्शनिक, कवि और रहस्यवादी के दृष्टिकोणों का एक अद्भुत सम्मिश्रण हो गया है। पहले कहा जा चुका है कि मानव वस्तु-जगत् से सम्पर्क स्थापित कर उसे सत्य रूप में ग्रहण करता है। उसका मस्तिष्क उसे वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक का व्याख्यात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है तथा उसकी सौन्दर्य-चेतना उसे वस्तु-जगत् से एकात्म कर कलाकार का दृष्टिकोण प्रदान करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन भक्त कवियों का वस्तु-जगत् क्या है और उसके प्रति उनके दृष्टिकोण का विश्लेषण किस प्रकार किया जा सकता है ?

## अपार्थिव आलम्बन के रूप-निर्माण में राग और कल्पना का संयोग

अपार्थिव आलम्बन के पार्थिवकरण में राग तत्व के साथ-साथ कल्पना तत्व का भी यथेष्ट योग रहता है। स्थूल जगत् और जीवन के उपकरणों, आदर्शों और मान्यताओं के प्रतीक रूप में ही पार्थिव आलम्बन का रूप-निर्माण होता है—मध्यकालीन भक्त कवियों को कृष्ण के विभिन्न स्वरूपों में से उनका लीलाप्रधान रूप ही मुख्य रूप में मान्य हुआ, इसी प्रकार साधना के पक्ष में उनके व्यक्तित्व का स्वतःस्फुरण भी आधारहीन नहीं था। उपास्य के रूप के समान ही साधन पक्ष भी उन्हें भागवत में बना बनाया मिल गया था। उनकी

---

१. भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृष्ठ ४२८—डा० मुन्शीराम शर्मा

अनुभूतियाँ अज्ञात अपार्थिव के प्रति रहस्यानुभूतियों के रूप में नहीं व्यक्त हुईं, बल्कि भागवत-धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार कृष्ण का लीला-गान करने के लिये उनकी वाणी मुखर हुई। आचार्य शुक्ल ने भी भारतीय भक्तिमार्ग को रहस्यवाद से भिन्न माना है। उनके मत में भारतीय भक्तिमार्ग को रहस्यवाद कहना ठीक नहीं। भाव की उपलब्धि और उत्कर्ष के लिये यत्र-तत्र उसमें रहस्य भावना का उपयोग होता आया है पर 'रहस्य' उसकी स्थायी वृत्ति या नित्य लक्षण नहीं है।[1] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्होंने कृष्ण-भक्ति-परम्परा में माधुर्य भाव को रहस्यवाद के माधुर्य भाव से नितान्त भिन्न माना है—सूफियों और ईसाई भक्तों में माधुर्य भाव रहस्यवाद का एक अंग है पर कृष्णोपासकों में वह भगवान की विज्ञात नर-लीला का एक अंग है × × × उनके श्रवण कीर्तन और ध्यान में जो मधुर रस है वह लीला रस है, अर्थात् भक्त लोग राधा और कृष्ण के परस्पर प्रेम की भावना द्वारा मधुर रस में लीन होते हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी काव्य में नायक और नायिका के प्रेम-व्यापार को पढ़-सुनकर पाठक या श्रोता शृंगार रस में मग्न होता है।[2]

## साधारण कलाकार और भक्त कवियों के दृष्टिकोण में अन्तर

साधारण कलाकार और कृष्ण-भक्त कवियों के दृष्टिकोण में तात्विक अन्तर है। कृष्ण की लीला में विभोर होना उनकी साधना का अन्तिम लक्ष्य था, कृष्ण के रूप और उनके प्रति अनुभूतियों की अभिव्यक्ति यदि भागवत के माध्यम के बिना हुई होती तब तो 'वस्तु जगत्' को अमूर्त्त रूप देकर कलाकार के दृष्टिकोण को ही प्रधान माना जा सकता था, परन्तु यहां स्थिति यह नहीं है। कृष्ण अथवा राधा का रूप और उनकी लीलायें उन्हें एक विशिष्ट रूप में भागवत के माध्यम से प्राप्त होती हैं, विभिन्न कवि अपने-अपने सम्प्रदायों की मान्यताओं के चौखटे में चढ़ाकर भागवत से सामग्री ग्रहण करते हैं और उन्हें उसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। इस मतवादी आग्रह और संकीर्णता के होते हुये भी काव्य-तत्व का अभाव इन रचनाओं में इसलिये नहीं आने पाया कि कृष्णभक्ति का रूप ही राग प्रधान है। इस प्रकार इस आधार के विद्यमान रहने के कारण ऐसा जान पड़ता है कि भक्त कवियों के आलम्बन कृष्ण न होकर उनकी लीलायें हैं; अपनी लौकिक अनुभूतियों के उन्नयन द्वारा जिनमें उन्होंने नये प्राण फूंक दिये हैं।

कृष्ण की लीलाओं का वर्णन ही भक्तों का मुख्य लक्ष्य है। इस बात का प्रमाण हमें भक्तों की साधना में गोप अथवा गोपी-भाव ग्रहण करने के अनिवार्य प्रतिबन्ध में भी मिल जाता है। अपने आनन्दांश के खोजी भक्त गोपी स्वरूप बनने की अभिलाषा करते हैं और उन्हीं की लीलाओं का अनुकरण करते हैं। उन्हें बिना गोपी अथवा गोप बने भगवान के साथ आनन्दास्वाद नहीं मिल सकता। भक्ति में गोपियों का स्वरूप उन भक्तों का भी है जो या तो सिद्ध होकर भगवान की कृपा से रास के पूर्ण आनन्द के अधिकारी हो गये हैं अथवा जो अभी सिद्धि-प्राप्ति के मार्ग पर लगे हुये हैं।[3] इस प्रकार इस भक्ति-परम्परा की साधना

---

१. सूरदास, पृष्ठ ६६—रामचन्द्र शुक्ल

२. सूरदास ,, ६६ ,,

३. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, पृष्ठ ५०६—डा० दीनदयालु गुप्त

में भाव-प्रयोग की दिशायें तथा पद्धतियां भी निर्धारित और निर्देशित हैं।

## साधना में बौद्धिक विश्वास और राग-तत्व का संयोग

साधना-पद्धति में भाव-तत्व के विषय में यह विशिष्ट निर्देशन यद्यपि पूर्ण अनुभूति-मूलक है परन्तु गोपियों का यह माध्यम भक्त और भगवान के बीच में आ जाता है। भगवान के प्रति बौद्धिक विश्वासजन्य राग की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष न होकर गोपियों के माध्यम से होती है, फलस्वरूप गोपियों के प्रति बौद्धिक विश्वास भी अनिवार्य हो जाता है। भक्त गोप-गोपियों के व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य करके तब 'सत्य' की अनुभूति करता है। इसलिये इस स्तर पर भी भक्त कवियों द्वारा अनुभूत सत्य प्रत्यक्ष और मूर्त्त स्तर पर न होकर अप्रत्यक्ष और कल्पना के स्तर पर होता है।

इस प्रकार आधारभूत प्रतिपाद्य में अध्यात्म और राग-तत्व के सम्मिश्रण के कारण इन कवियों के दृष्टिकोण में भी दार्शनिक की व्याख्यात्मकता तथा कवि की अनुभूत्यात्मकता का सम्मिश्रण है।

## भक्ति-काव्य की सृजन-प्रक्रिया

उक्त सिद्धान्त के अनुसार भक्त-कवियों की काव्य-प्रक्रिया का रूप साधारण प्रक्रिया से कुछ भिन्न होगा। उसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (१) अपने स्थूल व्यक्तित्व का गोप अथवा गोपियों के व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य (जो केवल अनुभूति और कल्पना के स्तर पर ही सम्भव है) (२) कल्पना-स्तर से उपास्य के प्रति अनुभूति की प्राप्ति। साधारण रूप में इस प्रकार की स्थिति कदाचित् मिस्मैरेज़्म के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, परन्तु भक्तों के लिये वह सहज ही सम्भव हो सकी क्योंकि वह स्थिति पूर्ण कल्पनात्मक और अमूर्त नहीं थी भागवत में आधारभूत रूप में विद्यमान थी। कृष्ण-भक्त-कवियों की रचनाओं पर भागवत का प्रभाव इतना अधिक है कि कभी-कभी तो सूरसागर जैसे ग्रन्थ पर भी भागवत के अनुवाद होने का भ्रम होने लगता है। भागवत में प्रतिपादित दार्शनिक विचार तथा साधना-पद्धति इन भक्तों के जीवन के अंग बन गये थे। यही कारण है कि कल्पना में 'स्त्री' बनकर स्त्रियोचित भावों का व्यक्तीकरण उन्होंने इतनी कुशलता के साथ किया है। पूर्व मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों में मीरा ही एक अपवाद है जिनकी भावनायें प्रत्यक्ष आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त हुई हैं अन्यथा सभी कवियों ने सामान्यतः गोपी का माध्यम स्वीकार किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन भक्त-कवियों के प्रतिपाद्य में अनुभूति के साथ ही कल्पना-तत्व का भी प्राचुर्य है बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कल्पना और बौद्धिक विश्वास के आधार पर ही उनकी अनुभूति को मार्ग मिला है। आचार्य शुक्ल का भी यही मत है "स्त्री यदि माधुर्य भाव से उपासना करेगी तो वह अपने को गोपिका रूप में रखकर श्रृंगार के आनन्द का अनुभव काव्य की रसानुभूति के ढंग पर कर सकती है परन्तु जहां पुरुष उक्त भाव से ध्यान करेगा वहां श्रृंगार आलंकारिक आरोप मात्र रहेगा।"[1]

---

१. सूरदास (भक्ति का विकास), पृष्ठ ६८—रामचन्द्र शुक्ल

भक्त कवियों के काव्य में केवल अनुभूति तत्व ही प्रधान नहीं है बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि अपनी मार्मिक और कलापूर्ण अभिव्यंजना-सौष्ठव के कारण ही भागवत के दर्शन-तत्व में प्रच्छन्न रागतत्व इन कवियों की वाणी में मौलिक रूप में मुखर और तीव्र हो उठा है। आचार्य शुक्ल ने भी लगभग इसी प्रकार की मान्यता स्वीकार की है कि "उसमें लीलापक्ष अर्थात् बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रही है। उसमें केलि, विलास, रास, छेड़छाड़, मिलन की युक्तियों आदि बाहरी बातों का ही विशेष वर्णन है। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना कम है। वियोग-वर्णन में कुछ संचारियों का समावेश मिलता है, पर वे रूढ़ और परम्परागत हैं; उनमें उद्भावना बहुत थोड़ी पाई जाती है।"[1]

निष्कर्ष यह है कि अपार्थिव आलम्बन के मानवीकरण में जिन मानव-सहज साधारणताओं और लौकिकताओं का आरोपण किया गया है उनका आधार उनकी स्वतः अनुभूत लौकिक अनुभूतियां ही हैं जिनमें अनेक स्थलों पर जीवन के पूर्ण भोग का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। उनके प्रतिपाद्य का मुख्य आधार है श्रीमद्भागवत, यह आधार इतना दृढ़ और व्यापक है कि जिसके कारण कृष्ण-भक्त कवि नूतन प्रतिपाद्य का आविष्कार नहीं कर पाये हैं और कदाचित् यह उनका ध्येय भी नहीं था। उन्होंने तो केवल श्रीमद्भागवत की व्यापक दार्शनिक पृष्ठभूमि की अभिव्यक्ति लौकिक अनुभूतियों के सहारे, अपार्थिव आलम्बन का पार्थिवकरण कल्पना के सहारे किया है और इस प्रकार उनकी पार्थिव अनुभूतियों के अपार्थिव के प्रति उन्नयन की कलात्मक अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में हुई है। दृष्टिकोण के वैविध्य की दृष्टि से भक्त-कवियों के प्रतिपाद्य को मुख्य रूप से इन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—अनुभूत्यात्मक (अ) राग-प्रधान (आ) अनुभूतिप्रेरित कल्पना-प्रधान
२—दार्शनिक (व्याख्यात्मक)
३—विवरणात्मक
४—चमत्कारवादी तथा रीतिबद्ध

## प्रतिपाद्य का अनुभूत्यात्मक रूप

भक्त-कवियों के अनुभूत्यात्मक प्रतिपाद्य की स्पष्ट रूप से दो श्रेणियां बनाई जा सकती हैं। (१) राग-प्रधान (२) अनुभूति-प्रेरित कल्पना-प्रधान। प्रथम वर्ग का तात्पर्य उन स्थलों से है जहाँ नन्द-यशोदा, राधा और गोपियों के साथ अपने हृदय का तादात्म्य करके कवि उनके हृदय के भावों की अनुभूति कर सके हैं और बिना किसी अप्रस्तुत-विधान इत्यादि के ही उनकी व्यंजना कर सके हैं। सूरदास के काव्य में बाह्यार्थ विधान की प्रधानता मानते हुए भी आचार्य शुक्ल ने उनके काव्य में आभ्यन्तर पक्ष के उद्घाटन का महत्व स्वीकार किया है और कहा है कि "प्रेम दशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यंजना गोपियों के वचनों द्वारा होती है।" कृष्ण-भक्ति-परम्परा के प्रायः सभी सम्प्रदायों में दाम्पत्यासक्ति को प्रधान स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्यासक्ति और

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७५—रामचन्द्र शुक्ल

सख्यासक्ति को भी जो महत्ता प्रदान की गई उसके फलस्वरूप उपर्युक्त भावों के क्षेत्र में भी इन भक्त-कवियों ने मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना की है। भागवत का आधार होने के कारण उनके साहित्य की भाव-भूमि वस्तुपरक अवश्य हो गई है परन्तु इन अनुभूत्यात्मक स्थलों पर उनकी दृष्टि पूर्णतः आत्मपरक है। यह दृष्टिकोण मुख्य रूप से वात्सल्य और शृंगार रस के प्रसंगों में मिलता है। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वे स्थल आते हैं जहाँ गोपियों (आश्रय) का तादात्म्य कृष्ण तथा उनकी लीलाओं (आलम्बन) के साथ कल्पना के माध्यम से होता है। अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिये कुछ उद्धरणों का विश्लेषण करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा—

> जसुमति मन अभिलाष करै
> कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगै कब धरनी पग द्वै क धरै।
> कब द्वै दाँत दूध के देखौं कब तोतरे मुख बचन झरै॥
> कब मेरो अंचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
> कब धौं तनक तनक कछु खैहै अपने कर सौं मुखहिं भरै।
> कब हँसि बात कहैगो मोसों जा छवि तें दुख दूरि हरै॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण में कृष्ण के विकास के प्रति यशोदा के अदम्य उत्साह और उत्सुकता का चित्र सूर ने अनुभूति के माध्यम से ही खींचा है। कल्पनाप्रधान दृष्टिकोण के उद्धरण स्वरूप निम्नलिखित पद लिया जा सकता है—

> सोभित कर नवनीत लिये।
> घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।
> चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये।
> लट लटकन मनु मत्त मधुपगन माधुरी मधुर पिये॥[2]

इस पद में कृष्ण के रूप की अनुभूति में कल्पना का प्रचुर और सार्थक प्रयोग किया गया है। रागप्रधान स्थलों में अनुभूति ही स्वयं अभिव्यक्ति बन गई है परन्तु कल्पना-संयुक्त अनुभूतियों में यह चरम स्थिति नहीं रहती। डा० मनमोहन गौतम ने अपने ग्रन्थ 'सूर की काव्य कला' में सूर की कला की आधार भूमि का निर्देश करते हुये कहा है—"उनकी मधुर, अलंकृत और अर्थ-सौरस्यपूर्ण पदावली का कारण उनकी रसानुभूति की विह्वलता और रसानुभूति की अतिशयता है। जब वे अपने आराध्य के सौन्दर्य-सागर में डुबकियाँ लगाने जाते थे तो उनके अंगों में उन्हें सागर के सभी अंगों का दर्शन होने लगता था और वे एक अद्भुत सांगरूपक प्रस्तुत कर जाते थे।"[3]

उक्त पंक्तियों को लिखते समय लेखक की दृष्टि में निम्नोक्त अथवा इसी प्रकार का कोई पद होगा, ऐसा जान पड़ता है—

---

१. सूरसागर, पद ६६४—नागरी प्रचारिणी सभा
२. सूरसागर, पद ७१७—नागरी प्रचारिणी सभा
३. सूर की काव्य-कला, पृष्ठ ३८—डा० मनमोहन गौतम

देखो माई सुन्दरता को सागर।
बुधि विवेक मन पार न पावत, मगन होत मन नागर।।
तनु अति स्याम अगाध अम्बु-निधि कटि-पट पीत-तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत, भंवर परति सब-भंग।।
नैन मीन मकराकृति कुण्डल भुज सरि, सुभग भुजंग।
मुक्ता-माल मिली मानो, द्वै सुरसरि एक संग।।
कनक खचित मनिमय आभूषण मुख, स्रमकन सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट भयो ससि, श्री अरु सुधा समेत।।
देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं विचारि विचारि।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा, रहीं प्रेम पचि हारि।।[1]

सबसे पहली बात तो यह है कि सागर में निमज्जित, उसकी शक्ति से अभिभूत व्यक्ति में इस विश्लेषण की सामर्थ्य और चेतना कहां? 'डुबकियां लगाने' की स्थिति प्रायः अभिभूत हो जाने की स्थिति है वहां सागर के अंगों का विश्लेषण सम्भव ही नहीं हो सकता। यहां तो कवि का अभीष्ट सागर की अथाहता और कृष्ण के अथाह सौन्दर्य में साम्य-स्थापन मात्र है। 'सुन्दरता को सागर' के अंग-प्रत्यंग की साकारता अतिशय अनुभूति का परिणाम न होकर जागरूक कल्पना का ही परिणाम है। यहां दृष्टि सागर के तट पर खड़े उसमें तैरते मत्स्य और मकर की गतिविधि तथा तरंगों का उत्थान-पतन देखने वाले की ही नहीं, समुद्र से सम्बद्ध पौराणिक उपाख्यान के विश्लेषक की भी है, जो अनुभूतिजन्य नहीं, बुद्धिगम्य मात्र है और स्थूल कल्पना पर आधृत है। अनुभूत्यात्मक दृष्टिकोण के यही दो रूप प्रायः सबकृष्ण-भक्त-कवियों की रचनाओं में मिलते हैं।

## सूरदास की रचनाओं में अनुभूत्यात्मक अंश

प्रतिपाद्य के प्रति अनुभूत्यात्मक दृष्टिकोण का मन्तव्य स्पष्ट कर चुकने के बाद इस बात पर विचार करना भी समीचीन जान पड़ता है कि इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन विभिन्न कवियों की रचनाओं में किन प्रसंगों में किया गया है। सूरसागर के प्रथम स्कन्ध के विनय-पदों की याचना और आत्मनिवेदन में रागप्रधान अनुभूतियों का व्यक्तीकरण हुआ है। इसके उपरान्त नवम स्कन्ध तक व्याख्यात्मक और विवरणात्मक प्रसंग प्राप्त होते हैं। अनुभूत्यात्मक स्थल इन प्रसंगों में कम ही हैं। दशम स्कन्ध में यह दृष्टिकोण फिर प्रधान हो जाता है। कृष्ण-कथा को विभिन्न घटनाओं और प्रसंगों के बीच से विकसित करके सूर ने उनके सम्पूर्ण जीवन को ही अपनी वाणी में साकार कर दिया है। अनेक स्थलों पर उनमें वर्णनात्मक विस्तार है। कृष्ण के रूप-वर्णन, बाल-लीला के अनेक प्रसंग, मुरली-स्तुति, राधा-कृष्ण लीला के वर्णन, रास-पंचाध्यायी, गोपी-गीत, दान-लीला, पनघट-लीला, मुरली प्रसंग, मान-लीला प्रसंग, कृष्ण के मथुरा गमन, तथा भ्रमर-गीत प्रसंग में यही दृष्टिकोण प्रधान है। जहां आवश्यकता और प्रसंग के अनुकूल अनुभूति और कल्पना-तत्व का अनुपात मिलता है। दशम

---

१०. सूरसागर, पृष्ठ ४८३, द० स्कन्ध, पद ६२८

स्कन्ध उत्तरार्ध में फिर आख्यानबद्ध विवरण आरम्भ हो जाते हैं।

**नन्ददास—रासपंचाध्यायी**

नन्ददास के अनेक ग्रन्थों में से रास पंचाध्यायी में कलाकार की दृष्टि ही प्रधान है। इसका विषय-संकलन भागवत से किया गया है लेकिन आधार ग्रन्थ के वे स्थल जिनसे अनुभूति-पक्ष पर आघात पहुंच सकता था छोड़ दिये गये हैं। नन्ददास के ग्रन्थों में भागवत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन पूर्णतया मौलिक ढंग से हुआ है। उनकी कला-चेतना ने भागवत के अनावश्यक विस्तार और अनावश्यक प्रसंगों का यत्नपूर्वक निवारण किया है तथा गीति-तत्व प्रधान अंशों को ही ग्रहण किया है। उसमें प्रबन्ध तत्व गौण हैं तथा अतिप्राकृत तत्वों के समावेश से विषय की अन्विति में किसी प्रकार का आघात नहीं पहुंचा है।

अन्य ग्रन्थ

सिद्धान्त पंचाध्यायी में प्रतिपाद्य का रूप अंशतः व्याख्यात्मक तथा अंशतः कल्पना-रंजित अनुभूत्यात्मक है। रूपमंजरी एक प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमें 'गिरधर कुंवर सदा सुखदायक' के प्रति परकीया भाव से उपासना का प्रदिपादन किया गया है। 'रूप-मंजरी' प्रेमी हृदय की प्रतीक है। स्वप्नदर्शन के द्वारा उसके हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होता है और वह उनसे मिलने के लिए उद्विग्न हो जाती है। अन्त में उसकी विरह-साधना से कृष्ण प्रसन्न होते हैं। 'रूप-मंजरी' में आख्यानात्मक अंश बहुत थोड़ा है। इसकी रचना का उद्देश्य था प्रेम-पद्धति का वर्णन और विवेचन करना। प्रारम्भ में इसी उद्देश्य की स्थापना करने में कवि का दृष्टिकोण व्याख्यात्मक हो गया है जिसका विस्तृत उल्लेख दार्शनिक प्रतिपाद्य के अन्तर्गत किया जायगा। पुष्टिमार्ग के प्रेममूलक साधना पक्ष का विश्लेषण करने के लिए इस आख्यान की रचना हुई है स्वयं कवि अपने हृदयस्थ प्रेम का वर्णन करता है—

**जो कुछ मो उर-अन्तर आहीं।**
**परम प्रेम-पद्धति इक आहीं नंद जथा मति बरनत ताही।**

विरह की उत्कटता और तीव्रता के वर्णन में अनुभूति अत्यन्त सघन और तीव्र हो गई है।

नन्ददास के भ्रमर गीत में यद्यपि दार्शनिक दृष्टि प्रधान है परन्तु दार्शनिक तर्क-वितर्क के रूप में प्रसंग का विकास करते हुए भी उसमें भावुकता का समावेश हुआ है। गोपियों के प्रेम की शक्ति, विरह की कातरता तथा वियोगजन्य सूक्ष्म संचारियों का चित्रण भावमयी भाषा में किया गया है। अनुभूतिपरक दृष्टि से उन्होंने प्रतिपाद्य को रससिक्त और रसोत्पादक बनाया तथा कल्पनामयी अनुभूति के द्वारा विप्रलम्भ शृंगार के अनुभावों का चित्र खींचकर उसे सजीव बना दिया है। साथ ही साथ दर्शन की धारा के प्रवाह में व्याख्यात्मक दृष्टि भी सन्निहित है। रुक्मिणी मंगल आख्यानक काव्य श्रीमद्भागवत के ५२, ५३ तथा ५४ अध्यायों पर आधृत है। प्रस्तुत कृति में भी अनुभूति और कल्पना का संयोग हुआ है। रुक्मिणी के पूर्व-राग तथा तद्जन्य कामदशाओं का चित्रण बड़ी सजीवता के साथ किया गया है। कृति की विस्तृत आलोचना अनुकूल प्रसंग के अन्तर्गत की जायेगी। अन्य कवियों की भांति

नन्ददास की पदावली में भी यह दृष्टि मुख्य रूप से वात्सल्य और शृंगारपरक प्रसंगों में ही व्यक्त हुई है। कल्पना और अनुभूति के सहारे नन्ददास ने वात्सल्य और शृंगार के सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं।

अष्टछाप के अन्य कवियों ने मुक्तक पदों की ही रचना की है। यह अनुभूत्यात्मक दृष्टिकोण उनकी रचनाओं में भी मुख्य रूप से इन्हीं दो प्रसंगों में मिलता है। कृष्ण और राधा की लीलाओं के वर्णन में जहां अनुभूति की प्रधानता है उनके रूप-चित्रण में सौन्दर्य विधायक कल्पना-दृष्टि प्रधान है।

## चतुर्भुजदास

प्रस्तुत प्रसंग में सूरदास और नन्ददास से इतर कृष्ण-भक्त कवियों के वर्ण्य-विषय का परिचय देते हुए उनमें रागात्मक दृष्टिकोण का निर्देश कर देना समीचीन होगा। श्री चतुर्भुजदास के पद तीन वर्गों में विभाजित हैं। (१) वर्षोत्सव पद—जिसके अन्तर्गत निम्नोक्त शीर्षक के पद हैं :—

१. मंगलाचरण, २. जन्म-समय, ३. पलना, ४. छठी, ५. राधाष्टमी, ६. दान-प्रसंग, ७. दशहरा, ८. रास, ९. दीपमालिका, १०. कानजगाई, ११. दीप-दान, १२. हटरी, १३. गोवर्धन-पूजा, १४. गोवर्द्धनोद्धरण, १५. गोपाष्टमी, १६. प्रबोधिनी, १७. श्रीवल्लभ वंशोद्गान, १८. वसंत, १९. केलि, २०. फूलमंडनी, २१. आचार्य जी की वधाई, २२. अक्षय तृतीया, २३. रथ-प्रसंग, २४. पावस-वर्णन, २५. हिंडोरा, २६. पवित्रा, २७. राखी की प्रशस्ति आचार्यजी की वधाई के अतिरिक्त प्रायः सभी पदों में रागात्मक तत्त्व ही प्रधान हैं। उनकी शैली यद्यपि किन्हीं किन्हीं प्रसंगों में विवरणात्मक है परन्तु उनमें निहित गीति-तत्व का आधिक्य उन्हें इतिवृत्तात्मक और नीरस नहीं बनने देता। अतएव केवल वर्णनात्मक शैली के ही कारण उन्हें सूरदास और नन्ददास के उन पदों के अन्तर्गत रखना उचित न होगा जिनमें केवल आख्यानबद्ध इतिवृत्तात्मकता है। चतुर्भुजदास के पदों का दूसरा वर्ग है लीला-पदों का। जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित शीर्षक हैं : जगावनो, मंगला, कलेऊ, बाल-लीला, उराहनो, मिपान्तर दर्शन, वन-गमन, वन-क्रीड़ा, वेणु-गान, स्वरूप-वर्णन (श्री प्रभु को, श्री स्वामिनी जी को और युगलस्वरूप) आवनी, आसक्ति, गोदोहन, ब्यारू, आरती, मान, युगल-रस वर्णन, सुरतान्त, वंचिता, उद्धव-संदेश। जैसा कि विविध शीर्षकों से ही प्रमाणित है इन पदों में कृष्ण और राधा की विविध लीलाओं का वर्णन है और स्वभावतः इनमें कवि का दृष्टिकोण पूर्णतः रागात्मक है।

पदों का तीसरा वर्ग है प्रकीर्ण पदों का, जिनमें 'भक्ति की प्रार्थना' और 'यमुना जी के पद' हैं। दोनों प्रसंगों के पदों का इस प्रसंग के प्रतिपाद्य में कोई महत्त्व नहीं है।

## छीतस्वामी

छीतस्वामी के पदों का विभाजन भी इन्हीं तीन आधारों पर किया गया है। शीर्षक में कुछ परिवर्तन अवश्य हैं, उनका उल्लेख इस प्रकार है :—

(१) वर्षोत्सव पद

मंगलाचरण, राधाष्टमी-बधाई, रास, गो-क्रीड़ा, श्री गुसाईं जी की बधाई, वसन्त, धमार, फाग, फूल-मण्डनी, हिंडोरा, पवित्रा, राखी।

(२) लीला पद

जगावनो, कलेऊ, शृंगार, क्रीड़ा, छाक, भोजन, व्रत-चर्चा, स्वरूप-वर्णन (प्रभु-स्वरूप वर्णन, स्वामिनी-स्वरूप तथा युगल-स्वरूप वर्णन), आसक्ति-वचन, आसक्ति की अवस्था, भक्त-प्रार्थना, वेणुनाद, आवनी, आरती, मान और मानापनोद, परस्पर-सम्मिलन, शयन, सुरतान्त, खण्डिता।

(३) प्रकीर्ण पद

श्री महाप्रभु जी, श्री गुसाईं जी, श्री गिरराज जी, श्री यमुना जी, श्री बलभद्र जी के पद।

प्रथम दो वर्ग के पद ही प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। तृतीय वर्ग के पदों का दृष्टिकोण भिन्न है।

**गोविन्द स्वामी**

गोविन्द स्वामी के पदों के वर्ण्य विषय इस प्रकार हैं :—

वर्षोत्सव—मंगलाचरण, जन्माष्टमी, पलना, राधाष्टमी, दान, वामन-जयन्ती, दशहरा, रास, हटरी, गोवर्धन-धारण, भाईदूज, गोपाष्टमी, प्रबोधिनी, श्री गिरधर जी उत्सव, गुसाईं जी उत्सव, वसन्त, धमार, डोल, फूल-मण्डनी, नामनवमी, श्री महाप्रभु जी उत्सव, अक्षय तृतीया, जलक्रीड़ा, स्नान-यात्रा, रथ, वर्षा, हिंडोरा, पवित्रा, रक्षाबन्धन।

गोविन्द स्वामी के दूसरे वर्ग के पद हैं : नित्यक्रम, (सेवा समय) के। इसके अंतर्गत निम्नलिखित शीर्षक हैं :—

जगावनो, कलेऊ, मंगला, शृंगार, मंथन, छाक, भोजन. राजभोग, भोग, सन्ध्या, ब्यारू, शयन, मान, पौढ़वो, बाललीला, उराहनो।

प्रकीर्ण पद के अन्तर्गत तीन शीर्षक हैं—ब्रज-सुषमा, श्री वल्लभ कुल आश्रय।

गोविन्द स्वामी के अधिकांश पदों में व्यक्त दृष्टिकोण प्रायः रागात्मक ही है।

**कुम्भनदास**

कुम्भनदास के पदों का वर्ण्य विषय भी लगभग इसी प्रकार का है। वर्षोत्सव पद के अंतर्गत निम्नलिखित शीर्षक हैं—

मंगलाचरण, जन्म-समय, बधाई, पलना, छठी, राधाष्टमी, बधाई, श्याम-सगाई, दान-प्रसंग, दानलीला, दशहरा, रास, धनतेरस, गोक्रीड़ा, दीपमालिका, गोवर्द्धन पूजा, गोवर्धनोद्धारण, श्री गुसाईं जी की बधाई, वसन्त, धमार, फाग, डोल, फूल-मण्डनी, श्री महाप्रभुजी की बधाई, अक्षय तृतीया, रथयात्रा, वर्षाऋतु वर्णन, हिंडोरा, पवित्रा, राखी।

लीला पद

कलेऊ, माखन चोरी, क्रीड़ा, ब्रजभक्त प्रार्थना, परस्पर हास-वाक्य, मुरली हरण, प्रभु-

स्वरूप-वर्णन, श्री स्वामिनी-स्वरूप वर्णन, युगल-स्वरूप-वर्णन, छाक, भोजन, आवनी, आसक्ति-वर्णन, आसक्ति-वचन, मान, परस्पर-मिलन, शयन, सुरतान्त, खण्डिता, विरह।

प्रकीर्ण पद

आवनी, छाक, भोजन, प्रभु-स्वरूप-वर्णन, युगल-स्वरूप-वर्णन, हिंडोरा, आसक्ति, दान, विरह, श्री यमुना स्तुति, सीकरी, टोंड को घना, पद, विनय।

**परमानन्ददास**

परमानन्ददास कृत 'परमानन्द सागर' में पदों के विषय इस प्रकार हैं:—

मंगलाचरण, जन्माष्टमी की वधाई, नन्द-महोत्सव, छठी पूजन, पलना के पद, अन्न प्राशन, कनछेदन, नामकरण, करवट (शकटासुर उद्धार), भूमि पर वैठाने के पद ( तृणावर्त लीला), देहुली-उल्लंघन, ऊखल के पद, मृत्तिका-भक्षण, माता की अभिलाषा, वाल-लीला, पतंग उड़ायबे के पद, माखन-चोरी, बलदेव जी के पद, भोजन के लिये आह्वान, दधि मन्थन, गोदोहन, गोचारण, उराहने के पद, श्रीराधा जू की वधाई, श्री राजाजी के पलना के पद, दान-लीला के पद, विजयादशमी के पद, मुरली के पद, रास समय के पद, रूपचतुर्दशी, धनतेरस के पद, गोवर्धन लीला, इन्द्रमान भंग, गोपाष्टमी के पद, देववोधिनी के पद, व्याह के पद, वसंत पंचमी धमार, रामनौमी, श्री आचार्य श्री की वधाई, स्वामिनी श्री के आसक्ति वचन, संख्यता सूचक पद, स्वामिनी जी की उत्कृष्टता, मानापनोदन, अभिसार, मथुरागमन, मथुरा प्रवेश, नन्द का गोकुल प्रत्यागमन, गोपिन के विरह के पद, भ्रमरगीत, व्रजभाषा, माहात्म्य, आत्म-प्रवोध, हिंडोला, होली, फूल-मण्डनी, अन्नकूट, वल्लभाचार्य और उनके पुत्रों की जन्म वधाइयां, व्रजभक्तों की महिमा, यमुना का माहात्म्य, भगवान का माहात्म्य, आत्मदीनता तथा विनय, दीपमालिका, रामजन्म।

**कृष्णदास**

विभिन्न कीर्तन-संग्रहों में संकलित कृष्णदास के पदों का विस्तृत परिचय डा० गुप्त ने अपने ग्रन्थ में दिया है जिसका उल्लेख इस प्रकार है[1] :—

कृष्णदासजी के पद

वर्षोत्सव अंश—१

जन्माष्टमी की वधाई के, ढाढ़ी के, बाल-लीला के, श्री राधाजी की वधाई के, दान के, मुरली के, रास के पद, पालना के, कानछेदन के, चन्द्रावली जी की वधाई के, श्रीराधा जी की ढाढ़ी के, नवरात्रि के, करखा के।

वर्षोत्सव अंश—२

रूपचतुर्दशी के, देव प्रवोधिनी के, गुसाईंजी की वधाई के, संक्रान्ति, फूलमण्डनी, गनगौर, आचार्यजी के पालना के, वीरी के, रथयात्रा के, कुसुम्बी घटा के, मान के पद, गुसाईं जी के हिंडोरा के, झूला उतारिवे के, इन्द्रमान-भंग के, व्याह के, गोकुलनाथ जी की वधाई के,

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय: पृ० ३२०-२१

राजभोग, संवत्सरोत्सव, आचार्यजी की वधाई के, कलेऊ के, चन्दन के, मल्हार के, श्याम घटा के, हिंडोरा के, रक्षाबन्धन के, राखी के।

कीर्तन संग्रह भाग १—२

वसन्त के, धमार के, डोल के।

कीर्तन संग्रह भाग—३

यमुनाजी के, खण्डिता के, झूल्हे के, राजभोग सम्मुख के, आरती के, ग्यारू के, मान के, वैष्णव नित्य नियम के, आसरे के, मंगला समय के, शृंगार के, छाक के, खसखाने के, आवनी शयन के, पौढ़वे के, विनती के।

प्रस्तुत प्रबन्ध में पूर्व मध्यकालीन कृष्णभक्त कवियों की अभिव्यंजना-शैली की विवेचना करने के लिये अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हित-हरिवंश तथा उस सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख भक्तों की रचनाओं का आधार भी ग्रहण किया गया है। श्री हितहरिवंश जी द्वारा रचित चौरासी पदों के संकलन का नाम है 'हित चौरासी'। 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' में डा० विजयेन्द्र स्नातक ने 'हित चौरासी' के प्रतिपाद्य का विश्लेषण किया है उसी के आधार पर कृति का एक परिचय यहां दिया जाता है। उनके अनुसार 'हित चौरासी' एक मुक्तक पद रचना है जिसमें भाववस्तु का कोई व्यक्त कोटिक्रम नहीं है। श्री रूपलाल गोस्वामी ने हित चौरासी के पदों को 'समय-प्रबन्ध' में इस प्रकार वर्गीकृत किया है—

१—सुरतान्त समय अर्थात् मंगला–१६ पद
२—शैया समय के–१६ पद
३—रास के–१७ पद
४—वनविहार के–३ पद
५—स्नान शृंगार के–४ पद
६—राजभोग (शैया विहार) के–२ पद
७—वसंत वर्णन के–२ पद
८—होरी वर्णन के–२ पद
९—फूलडोल झूलन का–१ पद
१०—मलार के–४ पद
११—संभ्रम मान के–१३ पद[1]

इस वर्गीकरण द्वारा प्रतिपाद्य का रूप पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। डा० स्नातक के शब्दों में 'हित चौरासी का वर्ण्य-विषय मुख्य रूप से अन्तरंग भावना से सम्बन्ध रखता है। शृंगार रस की पृष्ठभूमि पर उन विषयों को इन पदों में हितहरिवंश जी ने प्रस्तुत किया है जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के मेरुदंड हैं।'[2]

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : पृ० ३०९—डा० विजयेन्द्र स्नातक
२. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : पृ० ३१०—डा० विजयेन्द्र स्नातक

## श्री हरिराम व्यास तथा ध्रुवदास

व्यास-वाणी का प्रतिपाद्य माधुर्य-भक्ति और निकुंज लीला का वर्णन है। इस मुख्य विषय की स्थापना के लिये भक्ति के अन्तराय, भक्ति के साधक अंग, भक्ति-पथ के आकर्षण-विकर्षण, भक्तों की मनःस्थिति तथा विविध कोटियों का वर्णन भी किया गया है। माधुर्य-भक्ति का सार है राधाकृष्ण के नित्य विहार का शृंगारमयी पद्धति से सांगोपांग वर्णन। राधा कृष्ण वृन्दावन और सहचरी इन चारों को प्रेम द्वारा एक ही सूत्र में अनुस्यूत करके निकुंज लीला का वर्णन विधेय माना जाता है। राधा वल्लभीय सम्प्रदाय में तो इसी को प्रधान माना जाता है, यही वृन्दावन रास है। यही प्रेम लक्षणा भक्ति का चरम लक्ष्य है—व्यास वाणी में इसी को प्रमुख रूप में गाया गया है।[1]

ध्रुवदास की 'व्यालीस लीला' में कुछ सिद्धान्त कथन हैं अवश्य पर प्रधान रूप से उनके प्रतिपाद्य में भी अनुभूति तत्व का ही प्राधान्य है। 'व्यालीस लीला' में प्रतिपादित विषयों को डा० स्नातक ने १५ शीर्षकों में विभक्त किया है—

१—वृन्दावन-माहात्म्य और धाम का राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्थान।

२—भक्त महानुभावों का संक्षिप्त परिचय।

३—प्रेम और काम की स्थिति (सैद्धान्तिक विवेचन)।

४—प्रेम और नेत्र की स्थिति, प्रेम और मान की स्थिति, प्रेम और विरह की स्थिति।

५—निकुंज लीला और नित्य विहार (व्यापक रूप से आद्योपान्त वर्णन है)

६—निकुंज लीला में सखियों का स्थान और सखियों का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन।

७—युगल ध्यान का महत्व और राधावल्लभीय रूप।

८—विविध लीलाओं का रसपरक वर्णन ( दान-लीला, मान-लीला, वन-विहार आदि )।

९—राधाकृष्ण के प्रेम की विभिन्न दशाओं का माधुर्यपरक वर्णन (शृंगार पूर्ण)

१०—श्री राधा का स्वरूप और नामावली।

११—रसोपासना के विविध उपादान और उनकी स्वरूप-स्थापना।

१२—रसोपासना में विधि-निषेध की स्थिति।

१३—रस-भक्ति में नख-शिख, ऋतु-वर्णन और नायक-नायिका वर्णन की अनिवार्यता।

१४—इष्टाराधना और अनन्य भक्ति का रूप। राधावल्लभीय सिद्धान्त दृष्टि।

१५—नैतिक आचार, मर्यादा और जीवन का व्यवहार पक्ष।[2]

व्यालीस लीला के प्रतिपाद्य के इन शीर्षकों को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि कवि का दृष्टिकोण प्रधान रूप में अनुभूत्यात्मक ही है। कहीं-कहीं व्याख्यात्मक स्थल हैं जिनका निर्देश प्रतिपाद्य के प्रति व्याख्यात्मक दृष्टिकोण के अन्तर्गत किया जायेगा।

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : पृ० ३८५—डा० विजयेन्द्र स्नातक

२. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : पृ० ४३२—डा० विजयेन्द्र स्नातक

प्रतिपाद्य के प्रति मीरांबाई और रसखानि का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से अनुभूत्यात्मक है। रसखानि की रचनाओं में प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन भी है और गोपियों के माध्यम से कृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की भावना भी। परन्तु मीरां की रचनाओं में प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन है, उनकी माधुर्य भावना उनके हृदय की कहानी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरांबाई के अतिरिक्त प्रायः सभी भक्त कवियों ने राधा-कृष्णोपासना को एक विशिष्ट आधार के माध्यम से ग्रहण किया है। साम्प्रदायिक धर्म-भावना के दायरे में बाँधकर जो साहित्य प्रस्तुत किया गया है उसमें भक्त कवियों की स्वयं-बीती की अभिव्यक्ति साधारण अर्थ में नहीं हुई है। कृष्ण और गोपियों के चित्रण में कवियों का भौतिक व्यक्तित्व नहीं, उनकी आस्था, कल्पना और विविध पुराणों द्वारा अर्जित विश्वास ही प्रधान है। अतएव उनके साहित्य में भक्त और कलाकार की मिश्रित अनुभूति का चित्रण है। भक्त की स्थिति में वे गोपियों की मर्मव्यथा को अपनी वाणी में उतार सके हैं; कृष्ण तथा राधा के रूप-वैभव और व्यापक सौन्दर्य-तत्व का अनुभव करने में समर्थ उनका कलाकार शक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक अमर चित्रों का निर्माण कर सका है।

## प्रतिपाद्य का दार्शनिक रूप

परिमाण और कला की दृष्टि से भक्त कवियों के प्रतिपाद्य का यह अंग अधिक महत्व नहीं रखता परन्तु अपने विशिष्ट सम्प्रदायों की मान्यताओं और सिद्धान्तों को काव्य द्वारा व्यक्त करने का प्रयास प्रायः सभी कवियों ने किया है। ऐसे स्थलों पर उनका दृष्टिकोण व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक हो गया है। ब्रह्म, जीव, माया, संसार इत्यादि तत्वों को दार्शनिक पृष्ठभूमि में रखकर चित्रित करते समय उनका दृष्टिकोण कवि अथवा कलाकार का न होकर दार्शनिक का होता है। अष्टछाप के कवियों ने वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद के अनुयायी होने के नाते उनके सिद्धान्तों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया, अन्य सम्प्रदाय के कवियों ने भी इस प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। हितहरिवंशजी के पदों में इस प्रकार की व्याख्या का पूर्ण अभाव है। इन कवियों में से केवल ध्रुवदासजी की 'ब्यालीस लीला' के कुछ स्थलों में ही व्याख्यात्मक दृष्टिकोण प्राप्त होता है जिसका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा। आलोच्य कवियों के व्याख्यात्मक दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिये मुख्यतः अष्टछाप के कवियों के उदाहरण ही लिये जा रहे हैं जिनका विस्तृत विवेचन डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में किया है।

कृष्ण भक्त कवियों के आलम्बन के दो रूप हैं। (१) पार्थिव अथवा मधुर मानव-रूप। (२) अपार्थिव अथवा ब्रह्म-रूप। ब्रह्म का विवेचन करते समय इन कवियों का दृष्टि-कोण प्रायः व्याख्यात्मक ही रहा है। उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियां लीजिये—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत युगल स्वरूप।

सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि *माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्री पति नारायन सब हैं अंश गुपाल ॥[१]

ब्रह्म इन्द्र इन्द्रादिक, देवता ताको करत विचार।
पुरुषोत्तम सब ही को ठाकुर इहलीला अवतार ॥[२]

नामरूप गुन भेद तें, सोइ प्रकट सब ठौर।
ता बिन तत्व जु जान कछु कहै सो अति बड़बौर ॥[३]

तन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल-दल-नैन।
जगकारन करुनार्णव गोकुल जाको ऐन ॥[४]

हो प्रभु सुद्ध तत्वमय रूप, एक रूप पुनि नित्य अनूप
रज गुन तम गुन ए सब डरे, तुम कहुं दूर परें ते परे।
हम रज गुन तम गुन के भरे, अंध दुर्गन्ध गर्वमद मरे
कहँ तुम निज आनन्द रस भरे, कहँ हम लोभ मोह मद भरे ॥[५]

अन्य कवियों ने कृष्ण का चित्रण प्रायः मानव रूप में ही किया है जिसमें अनुभूत्यात्मक दृष्टिकोण प्रधान है।

चतुर्भुजदास रचित वर्षोत्सव वर्ग के अन्तर्गत श्री वल्लभ वंशोद्गान (पद संख्या ५३-६८ तक) मुख्यतया व्याख्यात्मक हैं। उदाहरण के लिये—

प्रकटे रसिक श्री विट्ठल राई।
भक्तहित अवतार लीनों बहुरि ब्रज में आइ।
सिव ब्रह्मादिक ध्यान धरत हैं निगम जाकों गाइ
सेस सहस्र मुख रटत रसना, जस न वरन्यो जाइ ॥[६]

* * *

रसिकराई श्री वल्लभसुत के भजहु चरन कमल सुखदाइक।
देव लोक भुव लोक रसातल उपमा को नाहिन कोउ लाइक ॥
चार पदारथ महलनि पावें अष्ट महासिधि द्वारे पाइक।
वदन-इन्दु वरषत निसि वासर वचन सुधारस भक्ति वधाइक ॥
छीत स्वामी गिरधरन श्री विट्ठल पावन पतित, निगम जस गाइक।[७]
श्री विट्ठल जू के चरन कमल भजि मन ! जो चाहत परमारथ ॥

१. सूर सारावली : पृ० ३४—वें० प्रे०
२. डा० दीनदयालु गुप्त के पद संग्रह के पद नं० ३०७
३. मानमंजरी पंचमंजरी : पृ० ६९, नन्ददास, सम्पादक—बल्देवदास, करसनदास
४. —वही— ,, ,, ,,
५. दशम स्कन्ध २७ अध्याय, नन्ददास, सम्पादक, उमाशंकर शुक्ल ३१५ पाठ भेद
६. चतुर्भुजदास : पृ० ३३, पद सं० ६५, वि० वि० कां०
७. जीवनी और पद संग्रह : पृ० १८, पद ४८, छीत स्वामी—वि० वि० कां०

देवी देव देवता हरि बिनु सब कोऊ जपत आपने स्वारथ।
श्री भागवत भजन रस महिमा श्रीमुख वचन कहे जो जथारथ
तीनहुँ लोक विदित यह मारग जीव अनेकहिं किये कृतारथ।
कुम्भनदास सरन आये बिनु खोये दिन पाछिले अकारथ ॥[1]

तथा—

प्रनमामि श्रीमद्विट्ठलम्।
वेद धर्म प्रमान कारन जीव मात्र सुखकरम्।
कृष्ण निर्मल भक्ति तत्वादि शेष वर्नत तत्परम् ॥
दास उव तत्र मनसि मायिक मोह संसयखंडनम्।
श्री वल्लभ आत्मनमखिल तत्वं पुरान सुति रस पारजम्।
कल्याननिधि गोविन्द दास प्रभु कलि नय नासनम् ॥[2]

श्री परमानन्ददास ने उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त गंगा तथा यमुना-माहात्म्य वर्णन में भी इसी दृष्टिकोण का प्रयोग किया है। गुरु तथा ईश्वर विषयक अभेद के प्रतिपादन में इसी दृष्टि का प्राधान्य है।

परमानन्द को ठाकुर जै वल्लभ ते सुन्दर स्याम ॥[3]

*　　　　*　　　　*

वंदौ सुखद श्री वल्लभ चरन।
अमल कमल हू ते कोमल कलिमल हरन।
करत वेद विचार जाको अभय असरन सरन ॥[4]

अथवा—

सेवक की सुख-रासि सदा श्री वल्लभराज कुमार।
दरसन ही प्रसन्न होत, मन पुरुषोत्तम अवतार।
सुदृष्टि चितै सिद्धान्त बतायो, लीला जग-विस्तार।
इहि तजि आन ज्ञान कहँ धावत भूले कुमति विचार।
चत्रभुज प्रभु उद्धरे पतित श्री विट्ठल कृपा उदार।
जाके कहत बाहो भुज दृढ़ करि गिरधर नन्द दुलार ॥[5]

प्रकीर्ण वर्ग के पदों के अन्तर्गत यमुना के माहात्म्य-वर्णन सम्बन्धी पदों में यह दृष्टिकोण प्राप्त होता है परन्तु इस प्रकार के पदों की संख्या बहुत कम है। पुष्टि मार्ग में ब्रज की प्रकृति के अंग-प्रत्यंगों का बहुत महत्व है, इन प्राकृतिक उपकरणों के प्रति भक्तों की दृष्टि

१. कुम्भनदास—जीवनी और पद-संग्रह, पृष्ठ ३२, पद सं० ६३, वि० वि० कां०
२. गोविन्द स्वामी साहित्य—विश्लेषण वार्ता और पद संग्रह : पृष्ठ ४७, पद ६६
३. परमानन्द सागर : सम्पादक गो० ना० शुक्ल
४. वही　　,,　　,,
५. परमानन्द सागर : सम्पादक गो० ना० शुक्ल

रागात्मक भी रही है और व्याख्यात्मक भी। निम्नलिखित पंक्तियां इसी व्याख्यात्मक दृष्टिकोण का द्योतन करती हैं—

यह कलि परम सुभ, जन धनि, श्री विट्ठलनाथ-उपासी।
जो प्रकटे ब्रजपति, श्री विट्ठल तो सेवक ब्रजवासी॥
ब्रज-लीला भूल्यो चतुरानन बल टोरयो ब्रजवासी।
अब लों सठ अवगनत अभागे गनत परस्पर हांसी॥
आत्मा हेत आप भये हैं हित दीपो नर-प्रकासी।
देखियतु लोक भानु अवलौकिक ज्यो गंगा सरिता सी॥
घर हरि-दरसन हरि-जसु गावत भक्ति-मुक्ति सी दासी।
ववत न कछू चत्रुभुज वैभव भजनानंद उपासी॥[1]

श्री गोविन्द स्वामी, कुम्भनदास, छीत स्वामी इत्यादि के पद भी उपर्युक्त प्रसंगों में ही व्याख्यात्मक हैं। चतुर्भुजदास जी की रचनाओं के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। स्थानाभाव के कारण शेष कवियों की रचनाओं में से एक-एक उद्धरण देकर ही हमें संतोष करना होगा।

ध्यान मुनि जन धरत जाकों भक्ति दृढ़ विस्तरन
होत मन कर्म वचन चारों भजे एक ही वरन
परमानन्द के उर वसौ निरन्तर अखिल मंगल करन।[2]

यमुनाजी के पद—

तू जमुना गोपालहि भावै।
जमुना जमुना नाम उच्चारत धर्मराज ताको न चलावै।
जो जमुना को दरसन पावै अरु जमुना जलपान करै।
सो प्रानी जमलोक न देखै चित्रगुप्त लेखौ न धरै।
जे जमुना को जान महात्तम वार-बार परनाम करै।
ते जमुना अवगाहन मज्जन चिंता ताप तनके जु हरै॥[3]

गंगाजी के पद

गंगा तीन लोक उद्धारक।
ब्रह्म कमंडल तें तुम प्रगटी सकल विस्व की तारक।
दरसन-परसन पान किए हैं तुम कीने जीव कृतारथ।
परमानन्द स्वामिनी के संगम आपुन भई सुखारथ॥[4]

श्री हितहरिवंश के पदों में इस प्रकार की दार्शनिक व्याख्यायें बिल्कुल नहीं हैं। यद्यपि इन प्रसंगों का अनुपात रागात्मक प्रतिपाद्य की तुलना में बहुत कम है परन्तु प्रतिपाद्य

---

१. चतुर्भुजदास : पृ० १७१, पद सं० ३५६, वि० वि० कां०
२. परमानन्द सागर : पद ५७३, राग भैरव
३. परमानन्द सागर : पृ० २०१, पद ५७६
४. ,, : पृ० २०३, पद ५८४

के इस वैविध्य के कारण कृष्ण-भक्त कवियों की अभिव्यंजना-शैली में भी वैविध्य आ गया है। अतएव इन प्रसंगों का महत्व अभिव्यंजना की आधारभूमि के रूप में कम नहीं है।

आलम्बन की दार्शनिक व्याख्या तथा माहात्म्य-वर्णन के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर यह व्याख्यात्मक दृष्टि अधिकतर सूरदास तथा नन्ददास की रचनाओं में ही मिलती है। इन कवि द्वय के अतिरिक्त अन्य कवियों ने प्रायः लीला-गान के ही पद लिखे हैं, शुद्धाद्वैतवाद तथा पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धति का विवेचन-विश्लेषण अधिकतर सूरदास और नन्ददास ने ही किया है परंतु उनके लिए भी कहीं वह पूर्णरूप से साध्य नहीं बन गया है। अन्य कवियों की रचनाओं में भी यह छाप यदाकदा दिखाई दे जाती है।

शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार जीव, जगत, संसार और माया विषयक सिद्धान्तों के व्यक्तीकरण में कवियों का दृष्टिकोण अधिकतर व्याख्यात्मक रहा है परन्तु मोक्ष की कल्पना अनुभूत्यात्मक स्तर पर ही की गई है प्रत्युत यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वल्लभाचार्य की मान्यता में इस सुख की अनुभूति ही मोक्ष की अनुभूति है। भक्त जब चरमविरह में आत्म-विस्मृति कर देता है, उस समय भक्त और भगवान का एकीकरण हो जाता है।[1]

इस अनुभूतिमयी तन्मय स्थिति का दार्शनिक महत्व होते हुये भी उसकी व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति कोई भक्त हृदय कैसे कर सकता था? यही कारण है कि कृष्ण के सान्निध्य और मिलन की कल्पना उत्कट भावना के स्तर पर ही हुई है। अन्य दार्शनिक प्रसंगों में व्याख्या की प्रधानता है। जीव, जगत, माया और संसार सम्बन्धी प्रसंगों में सूरदास, नन्ददास और कतिपय स्थलों में परमानन्ददास द्वारा प्रस्तुत की हुई व्याख्याओं के कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

जीव सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं की व्याख्या

पहले हों ही हों तब एक।
अमल अमल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।
सो हों एक अनेक भाँति करि सोभित नाना भेष।
ता पाछे इन गुननि गाये ते हों रहि हों अवशेष॥[2]

तथा—

कबहूँ सुर कबहूँ नर होई, कबहूँ राव रंक जिय सोई।
जीव कर्म करि बहु तन पावे, अज्ञानी तिहि देखि भुलावे।
ज्ञानी सदा एक रस जाने, तन के भेद भेद नहिं माने।
आत्म सदा अजन्म अविनासी, ताको देह मोह बड़ फाँसी॥[3]
तुम परमेश्वर सबके नाथ, विस्व समस्त तिहारे हाथ।
तुमतें हम सब उपजत ऐसें, अगिनि तें विस्फुलिंग गन जैसे॥

१. अ० ब० सम्प्रदाय : पृ० ४७०—डा० दीनदयालु गुप्त
२. सूर-सागर द्वितीय स्कन्ध : पृ० ३६—वें० प्रे०
३. सूर-सागर स्कन्ध : पृ० ५४—वें० प्रे०
४. १० स्कन्ध भागवत, द्वितीय अध्याय—नन्ददास : पृ० २६३—उमाशंकर शुक्ल

रास पंचाध्यायी और सिद्धान्त पंचाध्यायी के अनुभूतिपरक प्रतिपाद्य में भी अध्यात्म-तत्व को स्पष्ट करने के लिये नन्ददास ने इस प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं—

काल करम माया अधीन ते जीव बखाने,
विधि-निषेध अरु पाप-पुण्य तिनमें सब साने।
परम धरम परब्रह्म ज्ञान विज्ञान प्रकासी,
ते क्यों कहिये जीव सहस श्रुति शिखा निवासी ॥[1]

तथा—

सुद्ध प्रेममय रूप पंचभूतन तें न्यारी,
तिन्हें कहा कोउ कहै ज्योति-सी जग उजियारी।
जे रुकि गई घर अति अधीर गुनमय सरीर बस,
पुन्न पाप प्रारब्ध रच्यो तन नाहिं पच्यो रस ॥[2]

जगत-सम्बन्धी मान्यताओं की व्याख्या

नाभि कमल नर नारायण को सो वेद गर्भ अवतार।
नाभि कमल में बहुतहि भटक्यो तऊ न पायो पार।
तब आज्ञा भई यह हरि की अज करो परम तप आप।

* * *

जहाँ आदि निजलोक महाविधि रमा सहस संयूत।
आन्दोलत भूलत करुणानिधि रमा सुखद अति पूत ॥[3]

* * *

नाम रूप गुण भेद तें सोइ प्रकट सब ठौर।
ता बिनु तत्व जु आन कछु कहै सो अति बड़ बौर ॥[4]

* * *

एकहि वस्तु अनेक ह्वै जगमगात जगधाम,
ज्यों कंचन ते किंकिणी कंकण-कुण्डल नाम।[5]

संसार सम्बन्धी मान्यताओं की कलात्मक और मार्मिक अभिव्यक्ति में अनुभूत्यात्मक दृष्टिकोण का प्राधान्य है। संसार के प्रति राग का निषेध और उसकी नश्वरता की मार्मिक अभिव्यक्ति में भक्त कवियों की संवेदना तथा कला का अभूतपूर्व संगम हुआ है। विभिन्न रूपकों के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति की गई है परन्तु संसार सम्बन्धी मान्यताओं की स्थापना में अनेक स्थलों पर व्याख्यात्मक दृष्टिकोण भी ग्रहण किया गया है। उदाहरण के लिये सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

१. सि० प० नन्ददास : पृ० १८४—उमाशंकर शुक्ल
२. रास पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय : पृ० १६
३. सूरसागर सूर सारावली : पृ० २, वें० प्रे०
४. मानमंजरी—पंचमंजरी : पृ० ६६, दोहा सं० २, बल्देवदास करसनदास
५. अनेकार्थ मंजरी, कमलाचरण : पृ० २—बल्देवदास करसनदास : पृ० १३१—व्रजरत्नदास

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया ।
तुम जाने बिन जीव सब उत्पत्ति प्रलय समाहिं,
शरण मोहिं प्रभु राखिये चरण कमल की छांहि ॥[1]

यह धन जोबन दिवस चारि को पलटत रंग ज्यों पान ।[2]

ऐ पर यह औसर है जैसो, बहु अनरथ फल अवर न ऐसो,
मति भ्रष्ट सब धर्म विधुन्सक, निर्दय महा विरच पद हिंसक ।
नश्वर देह सबै कोउ जानै ता कहुँ अजर अमर करि मानै,
रच्यो पांच भौतिक करि देह, अन्त समय कृमि विष्टा खेह ।
ऐसे नाशवान इहि देह तिन सों करि कै परम सनेह,
भूत होत आचरत न डरै, पलकि-पलकि नरकन में परै ।[1]

नन्ददास ने माया के प्रसंग में यही व्याख्यात्मक दृष्टिकोण ग्रहण किया है—

दस इन्द्रिय अरु अहंकार महतत्व त्रिगुन मन,
यह सब माया कर विकार कहें परमहंस गन।
सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस,
विश्व विभव प्रतिपाल, प्रलय कारक आयसु वस ॥[१]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के कुछ कवियों का दृष्टिकोण भी कुछ स्थलों पर विवेचनात्मक है, परन्तु ये स्थल बहुत थोड़े हैं। ध्रुवदास की 'ब्यालीस लीला' में से केवल उन्हीं स्थलों में व्याख्यात्मक दृष्टिकोण मिलता है जहां किसी का माहात्म्य-वर्णन अथवा सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। मन-शिक्षा लीला, भजन सत लीला, वृन्दावन सत लीला, सिद्धान्त-विचार-लीला इत्यादि इसी प्रकार के प्रसंग हैं। विभिन्न लीलाओं के मध्य में प्रेम-तत्व के माहात्म्य-वर्णन में भी यही दृष्टि प्रधान हो गई है। कुछ उदाहरणों द्वारा ध्रुवदास की व्याख्यात्मक दृष्टि का परिचय देना आवश्यक जान पड़ता है—

व्रत तप निगम नेम जप संजम,
करहु कलेस कोटि किन भारी।
इनमें पहुँच नाहिं काई की
परे रहत ज्यों द्वार भिखारी।
जोग जज्ञ फल मेंड़ करत हैं
तीरथ सब कर लीने भारी।
धर्म-मोक्ष कोऊ पूछत नाहीं
इन मग सिद्धै कौन विचारी ॥[२]

इसी प्रकार वृन्दावन के माहात्म्य और स्वरूप प्रतिपादन में भी यही व्याख्यात्मक दृष्टि मिलती है—

आदि अन्त जाको नहीं नित्य सुखद वन आहि।
माया त्रिगुन प्रपंच की पवन न परसत ताहि ॥[३]
वृन्दाविपिन सुहावनो रहत एकरस नित्त
प्रेम सुरंग रंगे तहाँ एक प्रान द्वै मित्र ॥[४]

परिमाण की दृष्टि से यद्यपि इन व्याख्यात्मक स्थलों का महत्व अधिक नहीं है, तथा इन स्थलों का मूल्य कला की दृष्टि से भी अधिक नहीं ठहरता, परन्तु अनेक ऐसे स्थल भी हैं जहां दार्शनिक की तार्किक और व्याख्यात्मक शैली का गुम्फन कलात्मक शैली के साथ इतने कुशल रूप में किया गया है कि समझना कठिन हो जाता है कि कवि कलाकार के रूप में बिम्ब-ग्रहण कर रहा है अथवा दार्शनिक-रूप में व्याख्या प्रस्तुत कर रहा है। इस तथ्य को

---

१. सिद्धान्त पंचाध्यायी—नन्ददास : पृष्ठ १८३
२. जीवदशा सवैया सं० ३३
३. वृन्दावन सत लीला : पद २५
४. —वही— : पद २६

ध्यान में रखते हुए अभिव्यंजना-शिल्प की दृष्टि से इन व्याख्यात्मक स्थलों की आधार-भूमि भी एक पृथक् स्थान रखती है।

## रीतिबद्ध, चमत्कारवादी तथा पांडित्यपूर्ण दृष्टिकोण

रीतिबद्ध, चमत्कारवादी और पांडित्यपूर्ण प्रतिपाद्य से अभिप्राय उसके उस रूप से है जहां भक्तिपरक रागात्मकता गौण और अभिव्यंजना-कौशल प्रधान हो गया है और जहां कवियों का उद्देश्य भक्ति-भावना की स्थापना न होकर चमत्कार-प्रदर्शन अथवा लक्षण ग्रन्थों का निर्माण ही रहा है, जिसमें उन्होंने अधिकतर एक रीतिबद्ध और परम्परा-मुक्त शैली का प्रयोग किया है। कृष्ण-भक्त कवियों में से केवल सूरदास और नन्ददास की कुछ रचनायें ही इस कोटि में आती हैं। आचार्यत्व और कवि-शिक्षा की प्रवृत्ति के प्रति यह जागरूकता दोनों कवियों में भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त हुई है, अतएव केवल इन्हीं रचनाओं के आधार पर विषयगत प्रवृत्तियों की स्थापना करना कठिन है। वास्तव में इन रचनाओं से तो उन प्रवृत्तियों का बीजारोपण मात्र हुआ है, जो आगे चलकर रीतिकाल में पल्लवित और पोषित हुई।

इस परम्परा का सर्वप्रथम ग्रंथ है 'साहित्य लहरी'। डा० ब्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त प्रायः सभी विद्वानों ने थोड़े-बहुत मतान्तर के साथ इसे सूरदास का प्रामाणिक ग्रन्थ माना है। डा० वर्मा का कथन है कि सूरसागर का एक-एक पद भक्त कवि की अनन्य भाव-संभूत भक्ति-भावना का व्यंजक है। भक्ति-बाह्य किसी विषय को सूर फूटी आंखों से नहीं देखना चाहते अतः साधारण से भी हीन ग्रंथकारों की भांति अपने चिर तन्मयकारी रससागर में साहित्य लहरी जैसी नीरस शुष्क सरिता लाकर मिलाने की उन्होंने कभी कल्पना भी की होगी, ऐसा नहीं सोचा जाना चाहिए।[1]

डा० वर्मा ने अपने कथन की पुष्टि में तर्कपूर्ण प्रमाण दिये हैं जिनको सहसा काटा नहीं जा सकता परन्तु ग्रन्थ की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता पर स्वतन्त्र रूप से विचार इस प्रसंग में गौण है। कृष्ण-भक्त कवियों के प्रतिपाद्य का प्रधान गुण है अनुभूत्यात्मकता, परन्तु रीतिबद्ध कविता के आरम्भ का यह आभास केवल सूरकृत साहित्यलहरी में ही नहीं, नन्ददास की भी अनेक रचनाओं में मिलता है। रूप और प्रतिपाद्य की दृष्टि से यद्यपि साहित्यलहरी का अपना पृथक् स्थान है लेकिन जहां तक भाव-संभूत भक्तिरस में व्याघात का सम्बन्ध है, सूरसागर में भी ऐसे अनेक स्थल मिल जाएंगे जहां सूर की दृष्टि केवल वस्तु-परिगणन अथवा चमत्कार-प्रदर्शन पर ही अटक कर रह गई है।

साहित्य लहरी अथवा दृष्टकूटों में सूर की दृष्टि पूर्णतः चमत्कारवादी है तथा साथ ही साथ उसमें काव्यांगों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें पांडित्य-प्रदर्शन का उद्देश्य भी निहित है। हो सकता है कि इसके प्रणयन में कवि की मूल प्रेरणा उस युग में उठती हुई साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना में निहित हो। इसमें ११८ पद हैं, दो पदों को छोड़कर प्रायः सभी में किसी न किसी नायिकाभेद तथा अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अधिकतर पदों की अंतिम पंक्ति में उनका उल्लेख कर दिया गया है। कुछ

१. सूरदास : पृष्ठ ११३—डा० ब्रजेश्वर वर्मा

पद ऐसे भी हैं जिसमें किसी शास्त्रगत शब्द का प्रयोग तो नहीं किया गया है लेकिन उनका वर्ण्य विषय कोई न कोई काव्यांग ही रहा है।

सूरसागर तथा सूर सारावली में भी कुछ दृष्टकूट पद हैं, जिनके प्रतिपाद्य में इसी चमत्कारमूलक शब्द-क्रीड़ा और प्रदर्शनप्रधान पांडित्य की प्रवृत्ति मिलती है।

नन्ददास की अनेक कृतियों में इस दृष्टि का परिचय मिलता है। नन्ददास की 'अनेकार्थ मंजरी,' 'मान मंजरी,' 'विरह मंजरी' तथा 'रस मंजरी' इसी प्रवृत्ति की परिचायक हैं। चारों ही ग्रन्थ अलग-अलग परम्परा के हैं। यद्यपि उनकी मूल प्रवृत्तियां एक ही हैं। 'रसमंजरी' का विषय नायक-नायिका भेद है जिसका आधार भानुदत्त कृत संस्कृत ग्रंथ 'रसमंजरी' है। इसके मुख्य वर्ण्य विषय हैं—नायक-नायिका भेद, हाव-भाव, हेला, रति इत्यादि। माधुर्य भक्ति में अन्तर्निहित लौकिक तत्वों के कारण इन लौकिक शास्त्रीय मान्यताओं का समावेश कृष्ण-भक्ति-काव्य में हुआ है।

रसमंजरी में नन्ददास जी ने पहले नायिकाओं के धर्म के अनुसार तीन भेद किये हैं—स्वकीया, परकीया, सामान्या। फिर प्रत्येक की अवस्था के अनुसार मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तीन भेद किये हैं। मुग्धा के नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा, ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना ये चार भेद किये गये हैं। इसके उपरान्त मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद किये गये हैं। मुग्धा के विषय में केवल इतना कह दिया गया है कि ये स्पष्ट नहीं होते। इसके अनन्तर तीनों प्रकार की नायिकाओं के नौ भेद प्रस्तुत किये गये हैं तथा मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तीनों पर घटाते हुये उनके लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। नायिका-भेद समाप्त करने के बाद नायक के चार भेद बताकर उनके लक्षण बताये गये हैं। नायक-भेद इस प्रकार हैं—धृष्ठ, शठ, दक्षिण तथा अनुकूल। अंत में हाव-भाव हेला और रति के लक्षण देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। रसमंजरी में माधुर्य भक्ति की पवित्र तथा मार्मिक अनुभूतियों की अपेक्षा स्थूल श्रृंगारिकता अधिक है। डा० दीनदयालु गुप्त के शब्दों में 'ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने श्रृंगार-भाव के ज्ञान को भगवत-भक्ति-ज्ञान के लिये आवश्यक बताया है और सब प्रकार के रतिभाव को भगवान की ओर प्रेरक भी कहा है। परन्तु लक्षणों के वर्णन में (उदाहरण भाग तो इस ग्रन्थ में हैं ही नहीं) मानव की लोकरंजित श्रृंगारिक प्रवृत्ति प्रत्यक्ष सामने आने लगती है।' इस स्थूल श्रृंगारिकता के अस्तित्व को डा० गुप्त ने सिद्धान्त की दृष्टि से पूर्णतया संगत निर्धारित किया है क्योंकि 'माधुर्य भक्ति के अन्तर्गत पर-पुरुष-भक्ति में तो लोक की मर्यादा का कोई ध्यान ही नहीं किया जाता।'

'नन्ददास जैसे माधुर्य भक्ति के उपासकों ने इन श्रृंगारिक भावों को कृष्ण को नायक मानकर प्रकट किया है और कहा है कि जैसे अग्नि में पड़कर सब वस्तुएं भस्म होकर शुद्ध हो जाती हैं उसी प्रकार बुरे भाव भी भगवान के संसर्ग से भस्म होकर शुद्ध हो जाते हैं।'

वास्तव में रसमंजरी में वर्णित नायक-नायिका भेद यह सिद्ध करता है कि नन्ददास आचार्य भी थे। यह तथ्य स्मरणीय है कि इस ग्रन्थ में नन्ददास आचार्य रूप में ही आये हैं। चमत्कारवादिता और प्रदर्शनप्रियता इसमें नहीं है।

उक्त परम्परा का दूसरा ग्रन्थ है—विरह मंजरी जिसमें कवि ने विप्रलम्भ श्रृंगार का

वर्णन बारहमासे की पृष्ठभूमि में किया है। जहां तक विरह-भावना के वर्णन का सम्बन्ध है वहां कवि की दृष्टि अनुभूत्यात्मक ही है, विरह-व्यंजना बड़े ही सुन्दर शब्दों में हुई है—

भादों अति दुख ऐन, कहियौ चंद गोविन्द सौं
घन अरु घन के नैन होड़न बरसत रैन दिन।[१]

परन्तु वर्णन-शैली में वाक्-वैदग्ध्य और चमत्कार भी मिलता है। कहीं-कहीं उनकी उक्तियां अतिशयोक्तिपूर्ण हो गई हैं—

माह मास के कदन कर, मास रह्यौ नहिं देह,
स्वांस रहे घट लपटि के बदन चहन के नेह॥[२]

इसके अतिरिक्त चन्द्र को दूत बनाकर विरहिणी ने उसे अपने प्रिय के पास भेजा है। नन्ददासजी ने विरहमंजरी में कृष्ण का विरह चार प्रकार का बताया है (१) प्रत्यक्ष, (२) पलकान्तर, (३) वनान्तर, (४) देशान्तर।

अनुभूति-पक्ष में सफल होते हुये भी नन्ददास के साहित्यशास्त्री और आचार्य रूप की मौलिक उद्भावनायें 'विरह-मंजरी' में स्पष्ट देखी जा सकती हैं। 'विरह-मंजरी' में चमत्कार-प्रदर्शन ही काव्य नहीं बन गया है परन्तु शैली-चमत्कार यथेष्ट मात्रा में है।

पांडित्य और चमत्कार-प्रधान दृष्टि से लिखे हुए नन्ददास के दो सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'अनेकार्थ मंजरी' और 'नाममाला' अथवा 'मानमंजरी'। इन दोनों ही ग्रन्थों को लिखते हुये कवि के सामने एक ध्येय है। उन्होंने संस्कृत भाषा न जानने वाले व्यक्तियों के लिये 'अनेकार्थ संस्कृत कोष को भाषा में लिखा' और उनके इसी प्रयास से ब्रजभाषा को मानो समृद्धि का एक दृढ़ और निर्दिष्ट मार्ग प्राप्त हो गया। संस्कृत शब्दों से परिपुष्ट होकर ब्रजभाषा ने लोकबोली से साहित्य की परिनिष्ठित भाषा का जो रूप प्राप्त किया उसमें नन्ददास के इन कोष-ग्रन्थों का बड़ा योग रहा होगा। इस ग्रन्थ में विशेष रूप से द्रष्टव्य यह है कि कवि ने एक शब्द के पर्यायवाची शब्दों को दोहाबद्ध करने के साथ-साथ छन्द के अन्तिम चरण में उस शब्द को भगवान के नाम के साथ सम्बद्ध किया है। उदाहरण के लिए—

अवि

अवी शैल, अवि मेष पुनि, अवि सविता को नाम
अवि रक्षक सब जगत कौं, एकै सुन्दर श्याम॥५४॥

वयस

वयस विहंगम को कहत, वयस कहिय पुनि काल।
वयस जु जीवन जात है भज लै मदन गोपाल॥[३]

इस कोष-ग्रन्थ में आचार्यत्व और चमत्कार-दृष्टि का अद्भुत समावेश है।

'नाममाला' अथवा 'मानमंजरी' में भी भाषा-पांडित्य, चमत्कार तथा काव्य-

---

१. नन्ददास-ग्रन्थावली : ब्रजरत्नदास—विरह मंजरी : पृ० १६७, दो० ५५
२. —वही— " " दो० ६२
३. वही, पृ० ५२, अनेकार्थ ध्वनि मंजरी, पद २६

सौष्ठव का अपूर्व संगम है। इसकी रचना अमरकोष के आधार पर हुई है। उसी ग्रन्थ के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। कथानक और कोश का गुम्फन कवि ने बड़े ही कलापूर्ण ढंग से किया है। प्रत्येक दोहे की प्रथम पंक्ति में एक शब्द पर्यायवाची शब्द हैं और दूसरी में उसी शब्द का प्रयोग कर दूती के द्वारा राधा के मान और शृंगार का वर्णन किया गया है। इसी कारण इस ग्रन्थ के दो नाम दिये गये हैं—

गूँथनि नाना नाम को अमरकोस के भाय,
मानवती के मान पर मिले अर्थ सब आय।[1]

ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य यहां भी संस्कृत से अनभिज्ञ जनता को संस्कृत का ज्ञान कराना बताया गया है। दोनों ही अभीष्टों की पूर्ति बड़ी कुशलता के साथ की गई है। शब्दों के चमत्कार में निहित भाव को निकाल लेने पर पाठक की वृत्ति चमत्कृत ही अधिक होती है। डा० गुप्त ने सम्पूर्ण नाममाला का गद्य रूपान्तर अपनी पुस्तक 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में किया है। प्रतिपाद्य के प्रति इस दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए उसका उल्लेख मेरे विचार से इस प्रसंग में अनुपयुक्त न होगा, अतएव 'मानमंजरी' के कथानक का कुछ अंश यहां उद्धृत किया जाता है—

प्रारम्भ

(मान)

अहंकार, मद, दर्प, पुनि गर्व, स्मर, अभिमान।
मान राधिका कुँवरि को, सबको करु कल्यान।[2]

(सखी)

वयसा, सुमुखी सखी पुनि हितू सहचरी आहि।
अली कुँवरि वृषभान की चली मनावन ताहि॥[3]

राधा का मान सबका कल्याण करने वाला है। राधा की (सखी) उसे मनाने जाती है और वह विचक्षण तिय मार्ग में अपनी (बुद्धि) से विचार करती है। राधा को प्रसन्न करने के लिये उसने (सरस्वती) रूपी वाणी का प्रयोग किया। कृष्ण की आतुरता देखकर वह (शीघ्र) ही वृषभानु के घर पहुंची। उपर्युक्त उद्धरण में जो शब्द कोष्ठबद्ध हैं उन्हीं शब्दों के पर्याय प्रस्तुत करते हुए कवि ने कथानक को बांधा है। उसके उपरान्त सुवर्ण, रूपा, उज्ज्वल, शोभा, किरण, मयूर, सिंह, अश्व, हस्ती, सिद्धि, नवनिधि, मुक्ति, राजा, इन्द्र, देव, अमृत, भृत्य, दासी, अंतःकरण इत्यादि शब्दों के पर्याय प्रस्तुत करते हुए राजा वृषभानु के वैभव का वर्णन करते हैं। शब्द-चमत्कार और मान-वर्णन के साथ ही अनेक स्थलों पर आलंकारिक प्रयोग भी किये गये हैं। वृषभान के भवन पर पहुंचकर उसने ऐसा (अंजन) लगाया जिससे वह अदृश्य हो जाय और उसके उपरान्त वृषभान के गृह का शृंगार और सजावट देखने का

१. न० ग्र०, पृ० ७६, नाममाला, दोहा ३—ब्रजरत्नदास
२. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ ७७, दो० ५—ब्रजरत्नदास
३. ,, ,, ,, दो० ६, ,,

पूर्ण अवसर उसे प्राप्त हो गया। इस प्रसंग के आलंकारिक वर्णन द्रष्टव्य हैं। कवि कहता है—

हीरा

निष्क, पदिक, अरु वज्र पुनि, हीरा वर्न जु ऐन।
सकुची तिय मन निरखि तन, नृप भवन छवि मैन ॥३८॥

भवन में हीरे जड़े हैं, दूती के मन में शंकाजन्य संकोच हुआ कि कहीं इन नेत्र रूपी हीरों से भवन उसे देख न रहा हो। इस प्रकार के आलंकारिक प्रयोग राधा के मान-द्योतक रूप-वर्णन में बड़े कौशल के साथ सँजोये गये हैं—

(केश)

अलक सिरोरुह चिकुर कच कुंचित कुटिल सुढार।
कुन्तल कवरि ललाट जनु चन्दहिं गई दरार॥

राधा की अलक उसके मुख-चन्द्र पर ऐसी लग रही है मानों चन्द्रमा में दरार पड़ गई हो।

इसी विधान के द्वारा कवि सम्पूर्ण कथानक का निर्वाह करता है। दूती मानिनी नायिका को कृष्ण तक ले जाने में सफल हो जाती है। डा० गुप्त ने नाममाला के काव्य-सौष्ठव का वर्णन इन शब्दों में किया है :

"इस ग्रन्थ से नन्ददास के भाषा-पांडित्य तथा काव्य-कौशल दोनों का परिचय मिलता है। कोश-ग्रन्थ में जिस खूबी के साथ कथानक को सटाया है वह वास्तव में एक कलात्मक कार्य है। कथानक के वर्णन सजीव और कवितामय हैं। कवि की कल्पनाशक्ति अनेक स्थलों पर उत्प्रेक्षा और उपमा रूप में प्रकट होकर पाठक के मनोराज्य में अपूर्व काव्यानन्द का संचार करती है। सखी के वाक्चातुर्य, शिक्षा और उपालम्भ में सने वाक्य नन्ददास की वर्णन-शक्ति की महत्ता और वर्णन की प्रभावोत्पादकता के द्योतक हैं। छन्दों के अन्तिम चरणों में ही कथानक का सिलसिला चलता है। उसी में कवि की काव्यमयी मधुर भाषा का परिचय मिलता है। बीच-बीच में 'भई तवे की बुन्द' जैसे मुहाविरों के प्रयोग ने भी भाषा में जान डाल दी है।"[१]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रतिपाद्य के इन रूपों में भक्त-कवियों की दृष्टि अभिव्यंजना-प्रधान हो गई है। अभिव्यंजनागत चमत्कारों पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित रही है, भावपक्ष गौण पड़ गया है। आगे चलकर हिन्दी में अभिव्यंजना-शैली का जो विकास-प्राप्त रूप मिलता है इन ग्रन्थों के रचनाकाल को उसका आरम्भकाल माना जा सकता है। भक्त-कवियों की कला-चेतना काफी जागरूक थी। इन कृतियों में प्रयुक्त अभिव्यंजनावादी दृष्टि से इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

### प्रतिपाद्य का विवरणात्मक रूप

प्रतिपाद्य के प्रति विवरणात्मक दृष्टिकोण भी प्रधान रूप से इन्हीं दो कवियों की रचनाओं में मिलता है। ये स्थल कला की दृष्टि से अधिक महत्व के नहीं हैं। यों तो कृष्ण-

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ७७४—डा० दीनदयालु गुप्त

भक्ति-परम्परा के प्रायः सभी सम्प्रदायों पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव है परन्तु अष्टछाप के कवियों पर विशेषकर सूरदास और नन्ददास की रचनाओं में भागवत का प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में दिखाई देता है। भागवत की सामग्री विविधरूपा है। डा० हरवंशलाल ने उसका विभाजन इस प्रकार से किया है :

१. घटनात्मक

जिनका लक्ष्य भागवत-तत्व-निरूपण द्वारा भक्तिरस का परिपाक है। अतएव भागवतकार ने घटनात्मक स्थलों पर भी भगवान् के दिव्य मंगल स्वरूप की कई बार स्तुति कराई है। जैसे भौमासुर वध तथा वाणासुर संग्राम के समय वेद स्तुति आदि। इन घटनाओं में अलौकिक घटनाओं का भी सम्मिश्रण है, जैसे स्वर्ग से कल्पवृक्ष लाना, देवकी के मृतक पुत्रों को लाना आदि।[१]

२. उपदेशात्मक

भागवत के उपदेशात्मक भाग में हमें श्रीकृष्ण योगेश्वर उपदेष्टा और ज्ञानी के रूप में मिलते हैं। ये उपदेश दो प्रकार के हैं—साधारण तथा विशेष। इन उपदेशों में दो वातों की व्याख्या हुई (१) परमतत्व की ओर (२) ज्ञान भक्ति कर्म की।[२]

३. स्तुत्यात्मक

भागवत का स्तुत्यात्मक भाग भी वड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा भी कृष्ण के वास्तविक रूप की व्याख्या की गई है।[३]

४. गीतात्मक

श्रीमद्भागवत का चौथा भाग गीतात्मक है। इन गीतों में ग्रन्थकार का हृदय साक्षात् रूप से द्रवित होता हुआ प्रतीत होता है। उसकी अन्तरात्मा इन गीतों में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित है। ये हृदय के वे स्वतःप्रवाही स्रोत हैं जिनका अवरोध कवि के वश की वात नहीं थी।[४]

विवरणात्मक दृष्टि के लिये क्षेत्र केवल प्रथम वर्ग की रचनाओं में ही है। कृष्ण-भक्त कवियों ने अधिकतर भागवत में कृष्ण की लीला के वर्णनों से युक्त प्रसंगों को ही अपनी रचनाओं का आधार वनाया है। केवल सूरदास और नन्ददास ने उसके घटनात्मक स्थलों का सांगोपांग वर्णन किया है। अन्य कवियों ने अगर कहीं यह विषय ग्रहण भी किया है तो उसे वड़े ही संक्षेप में वर्णित किया है। सूरसागर प्रथम स्कन्ध से लेकर नवम स्कन्ध तक अधिकतर घटनात्मक ही है। विनय के पदों में वीच-वीच में आये हुये व्याख्यात्मक स्थलों की मात्रा वहुत कम है। सूरदास की दृष्टि कृष्ण की वाल और किशोर लीला पर ही अधिक रमी है। इसलिये इन घटनात्मक स्थलों को उन्होंने चलता कर दिया है। भाषा, काव्य-सौष्ठव

---

१. सूर और उनका साहित्य, पृष्ठ २०१—डा० हरवंशलाल
२. ,, ,, पृष्ठ २०२ ,,
३. ,, ,, पृष्ठ २०२ ,,
४. ,, ,, पृष्ठ २०२ ,,

अथवा भाव-सौन्दर्य किसी भी दृष्टि से ये रचनायें अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। दशम स्कन्ध में भी इस प्रकार के घटनात्मक स्थल चलते कर दिये गये हैं।

नन्ददास की रचनाओं में गोवर्धन-लीला, श्यामसगाई, और सुदामा-चरित का रूप विवरणात्मक है। 'भाषा दशम स्कन्ध' में अनेक स्थलों पर विवरणात्मकता आ गई है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन दोनों कवियों की रचनाओं के ये विवरणात्मक स्थल पूर्ण रूप से महत्वहीन हैं, कहने का तात्पर्य केवल यह है कि इन स्थलों में अधिकतर उनकी दृष्टि वर्णनात्मक ही रही है।

प्रतिपाद्य के इन्हीं विभिन्न रूपों की आधारभूमि पर कृष्ण-भक्त कवियों की काव्यकला का विकास हुआ है। बल्कि यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि इसी वैविध्य के कारण उन्हें विविध काव्यांगों के क्षेत्रों में अपनी कला का सौष्ठव दिखाने का अवसर प्राप्त हुआ।

## उत्तरमध्यकाल में काव्य के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण

प्रायः सभी पूर्वमध्यकालीन भक्त-कवियों ने कृष्णलीला-गान को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख कवि अधिकतर रीतिकाल में हुये हैं। उनकी रचनाओं में शृंगार रस की उष्णता और ऊहा का चमत्कार मिलता है। रीतिकालीन अन्य काव्य-परम्पराओं की भांति ही कृष्ण-भक्ति-काव्य में भी शृंगारिक भावनाओं, चमत्कार, अलंकरण की अतिशयता का प्राधान्य हो गया। यही कारण है कि चाचा वृन्दावनदास, घनानन्द, नागरीदास, रसिकदेव इत्यादि कवियों की रचनाओं में मांसल उष्णता और कृत्रिम अभिव्यक्ति का प्राधान्य हो गया है।

काव्य के प्रतिपाद्य के प्रति इस दृष्टिकोण के परिवर्तन के लिए अनेक तथ्य उत्तरदायी थे। उनका विवेचन यहां सम्भव नहीं होगा। इस काल के दो प्रतिनिधि कवियों के वर्ण्य-विषयों के उल्लेख से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इन कवियों के प्रतिपाद्य के बाह्य रूप में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। हां, समय के प्रभाव के कारण स्थूल तत्वों का आधिक्य अवश्य हो गया। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख कवि चाचा वृन्दावनदास-कृत कुछ रचनाओं के शीर्षक इस प्रकार हैं—

अष्टयाम समय प्रबन्ध, ब्रजप्रसाद बेली, वृन्दावन अभिलाष बेली, राधाप्रसाद बेली, श्रीकृष्ण सगाई, श्रीकृष्ण प्रति यशुमति शिक्षा, राधा जन्मोत्सव, श्रीकृष्ण विवाह, उत्कंठा, लाड़िली की मेंहदी छवि उत्कर्ष, राधा लाड़ सागर, ब्रजप्रेमानन्द सागर, प्रेम पहेली, राधा रूप नाम उत्कर्ष, जमुना स्तव अष्टक, बारहमासा विहार बेली, कुंज सुहाग पच्चीसी, शृंगाराष्टक, मंगल घोड़ी चढ़न, गौनाचार, भ्रमरगीत, पदबन्ध छद्म शोड्षी।

लाड़सागर के दस प्रकरण इस प्रकार हैं—

राधाबाल-विनोद, कृष्णबाल-विनोद, विवाह-उत्कंठा, कृष्ण-सगाई, कृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा, विवाह-मंगल, लाड़िली जू का गौनाचार, लाल जू को महिमानी को बरसाने जाइबो, राधा-छवि-सुहाग, जसुमति मोद प्रकास।

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख कवि नागरीदास द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या अनुमान से ७३ मानी जाती है, परन्तु वास्तव में ये नाम भिन्न-भिन्न प्रसंगों या विषयों के छोटे-छोटे

पद्यात्मक वर्णन मात्र हैं। ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

सिंगार सार, गोपीप्रेम प्रकाश, पद-प्रसंग माला, ब्रज वैकुण्ठतुला, ब्रजसार, भोर लीला, प्रातरस-मंजरी, विहार चन्द्रिका, योजनानन्दाष्टक, जुगल रस-माधुरी, फूल विलास, गोधन आगमन, दोहन आनन्द, लगनाष्टक, फाग विलास, ग्रीष्मविहार, पावस-पचीसी, गोपी वैन विलास, रासरसलता, नैनरूप रस, शीतसार, इश्क चमन, मजलिस मण्डन, अरिलाष्टक, सदर की मांझ, वर्षा ऋतु की मांझ, होरी की मांझ, कृष्णजन्मोत्सव भक्ति, प्रिया जन्मोत्सव कवित्त, सांझी के कवित्त, रास के कवित्त, चांदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्द्धन धारन के कवित्त, होरी के कवित्त, फाग गोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्ति मगदीपिका, तीर्थानन्द, फागविहार, वालविनोद, वनविनोद, सुजानानन्द, भक्तिसार, देहदशा, वैराग्य वल्लरी, रसिक रत्नावली, कलिवैराग्य वल्लरी, अरिल्लपचीसी, छूटकविधि, पारायण विधि प्रकाश, शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चचरियां, रेखता, मनोरथ मंजरी, रामचरित-माला, पदप्रबोध माला, जुगल भक्ति विनोद, रसानुक्रम के दोहे, शरद की मांझ, सांभः फूल वीनन सम्वाद, वसंत वर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, निकुंज विलास, वनजन प्रशंसा, छूद्रक दोहा, पदमुक्तावली, वैन विलास, गुप्त रस प्रकाश।

दोनों ही कवियों के वर्ण्य-विषय में शृंगार-प्रधान युग-दर्शन का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। साहित्यिक दृष्टि से इनमें भक्त-कवियों की रचनाओं का पिष्ट-पेषण ही हुआ है फिर भी शैली और भाव दोनों ही क्षेत्रों में युगानुसार परिवर्तन हुआ ही है। शृंगार के क्षेत्र में स्थूलता के साथ ही उर्दू के प्रभावस्वरूप उन्होंने फ़ारसी काव्य का आशिकी रंग-ढंग भी दिखाया है। अनुभूत्यात्मक प्रतिपाद्य में से अपार्थिव तत्व बिल्कुल ही पृथक् हो गया है। इन कवियों के हाथ में मधुर मानव अपार्थिव कृष्ण रसिक पार्थिव छैला वन गये हैं और उनके प्रति भक्तों की भावनाओं में भी यथानुपात स्थूलता का समावेश हो गया है।

उत्तरमध्य युग में कृष्ण-भक्ति काव्य में दार्शनिकता के नाम पर केवल वाह्याडम्बर ही शेष रह गया। राधावल्लभ और सखी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में दार्शनिकता ने कुरूप और विकृत रूप धारण किया। रास की आध्यात्मिक अनुभूति, भक्तों द्वारा स्त्रीवेश धारण करके स्वांग करने तक ही सीमित रह गई।

## व्याख्यात्मक दृष्टि

उपदेश और महिमागान के रूप में लिखे हुये स्थलों में दार्शनिक तत्वों का समावेश हुआ है। वृन्दावनदास जी के निम्नलिखित प्रसंगों में दार्शनिक का दृष्टिकोण ही प्रधान है—

सत्संग महिमा, मनउपदेश वेली दोहे, करुणा वेली, कृपा-अभिलाष-वेली, ज्ञान-प्रकाश-वेली, मन-प्रवोध-वेली, मन-चेतावन-बारहमासी, विमुख उद्धारन वेली इत्यादि।

इस प्रकार का विवेचन थोड़े-बहुत अन्तर के साथ प्रायः सभी कवियों ने किया है, उनका उल्लेख पिष्ट-पेषण मात्र होगा। पूर्व-मध्यकाल में जो चामत्कारिक दृष्टि कुछ कवियों और प्रतिपाद्य के कुछ ही स्थलों तक सीमित थी रीतिकालीन कृष्ण-भक्ति-कवियों के लिये वही साध्य बन गई।

उत्तरमध्य काल में विभिन्न परिस्थितियों और प्रेरणाओं के फलस्वरूप आलंकारिक चमत्कार और स्थूल शृंगारिकता का प्राधान्य हो गया। जिस प्रकार से शृंगार के लौकिक क्षेत्र में स्थूलता के निषेध की आवश्यकता ही नहीं समझी गई उसी प्रकार कृष्ण-भक्ति काव्य में भी उसका समावेश बिना किसी हिचक के हुआ। धर्म के नाम पर लिखे गये काव्य में स्थूलता की यह अति धर्म और काव्य दोनों में विकार की चरम सीमा तक पहुंच गई है। रीतिकालीन कवि की दृष्टि विलास और उपभोग-प्रधान थी इसीलिये उसकी रचनाओं में पुण्यप्रेम भाव की परिष्कृत सूक्ष्मताओं का अभाव है, तत्कालीन कृष्ण-काव्य परम्परा के कवि भी उसके अपवाद नहीं हैं।

कला सम्बन्धी अभिव्यंजना की दृष्टि से उत्तरमध्य काल भाषा-अलंकरण का काल माना जाता है। अभिव्यंजना को भक्ति-युग में प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति के साधन रूप में ही स्वीकार किया गया था। रीतिकाल में भक्ति-काव्य का अपार्थिव शृंगार जहां पार्थिव स्थूलताओं में परिणत हुआ वहीं उसमें प्रयुक्त अभिव्यंजना के समन्वित रूप ने चमत्कार-प्रदर्शन का रूप धारण कर लिया। यह चमत्कार अभिव्यंजना के सभी तत्वों के क्षेत्र में प्रदर्शित हुआ। अतिशय अलंकृति तथा चमत्कार-प्रदर्शन की यही प्रवृत्ति अन्य ललित कलाओं के क्षेत्र में भी दिखाई पड़ती है। वास्तव में उस युग की जीवन-दृष्टि ही सौन्दर्य के कृत्रिम उपादानों के बाह्य आकर्षण की ओर उन्मुख थी।

रीतियुग के कृष्णभक्त कवियों ने किसी व्यापक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति नहीं की अतएव प्रकृति तथा मानव-जीवन से विविध उपमान उन्होंने विलासिता के रंग में रंजित करके ही लिये हैं। उनके काव्य में विलास और वैभव के समस्त उपकरण एकत्रित हो गये हैं। जीवन के व्यापक और शाश्वत उपादानों की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होने वाले उपमान और प्रतीक भी इन कवियों के हाथों विरह तथा मिलन के स्थूल आलम्बन अथवा उद्दीपन के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं।

वास्तव में रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों के प्रतिपाद्य को श्रेणियों में विभक्त करना सम्भव नहीं है। उसका मूल स्वर है विलास, वैभव और शृंगारिकता—इन तत्वों का विवेचन यथाअवसर किया जायेगा।

### आधुनिक कृष्ण-भक्ति-काव्य—समन्वित दृष्टिकोण

आधुनिक काल के आरम्भ में धार्मिक और सांस्कृतिक रूढ़ियां भारतीय जन-चेतना पर अन्धविश्वासों के रूप में ही छाई हुई थीं तथा नव जागृति के स्पर्श से वे छिन्न-भिन्न होने लगी थीं। प्रबुद्ध मानस-संस्कृति के गरिमापूर्ण और पारलौकिक अंशों को विवेक से संतुलित करके उसे गौरव रूप में वहन करता है परन्तु शिथिल और पराभूत जन-मानस में यही तत्व रूढ़ि, परम्परा और अन्धविश्वास के रूप में ही लिपट कर रह जाते हैं। रीतिकाल में भारतीय जन-चेतना का प्राय: यही रूप शेष रह गया था। नवयुग की बौद्धिक तथा तार्किक दृष्टि ने अन्धविश्वासों के रूप में अवशिष्ट भारतीय संस्कृति और धर्म के अतिप्राकृत तत्वों का निषेध और खंडन किया। पुनरुत्थान के विभिन्न आन्दोलनों के कारण जिन नैतिक और बौद्धिक मान्यताओं की स्थापना हुई उनकी प्रबलता में अवतारवाद, बहुदेववाद आदि सिद्धांतों

का खंडन तो हुआ ही, भारतीय युग-नायकों और महानायकों के व्यक्तित्व के उन अंशों की भी आलोचना हुई, जो नये जीवनादर्श के मापदण्ड पर खरे न उतरते थे। फलस्वरूप, भारतीय संस्कृति के उदात्त और महान दृढ़ स्तम्भ भी युग के प्रवल प्रहारों से हिल उठे। ऐसी स्थिति में कृष्ण-भक्ति को संरक्षण कहां प्राप्त हो सकता था जिसकी माधुर्योपासना के नाम पर मन्दिरों में यौवन और विलास का दौर चलता रहता था, तथा रंगीले नवावजादे 'कन्हैया' वनने की साध रखते थे। विलास की प्रतिक्रिया नैतिकता में हुई और तर्क तथा वुद्धि की कसौटी पर कसकर कृष्ण, उनकी लीलाओं तथा उनके प्रति भक्ति की धज्जियां उड़ाई जाने लगीं।

उधर राजनीतिक पराभव के साथ ही साथ सांस्कृतिक परतन्त्रता की वेड़ियां भी जनता के मन और मस्तिष्क को कसने लगी थीं। पाश्चात्य सभ्यता के नये चश्मे में से देखने वाले व्यक्तियों को भारतीय संस्कृति के सभी तत्वों में रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास की विकृतियां ही दृष्टिगोचर होती थीं। उस युग के स्रष्टा और द्रष्टा कलाकार ने सव देखा और समझा। इन सांस्कृतिक वेड़ियों को तोड़ डालने के लिये उसकी लेखनी मुखर हुई और उसने इन सभी अवांछनीय तत्वों के निराकरण का वीड़ा उठाया। राम, कृष्ण, सीता, राधा इत्यादि के व्यक्तित्वों की नये रूप में प्रतिष्ठा हुई जिसमें प्राकृत और उदात्त तत्वों का प्राधान्य था। कृष्ण और राम भगवान के पद से उतरकर महामानव के पद पर प्रतिष्ठित हुये। भक्ति का परम्परागत रूप प्रायः समाप्त हो गया। वैयक्तिक संस्कारों के फलस्वरूप ही भक्ति-सम्प्रदायों के चिह्न शेष रह गये।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कृष्ण-भक्ति सम्वन्धी रचनाओं पर रीतिकाल का प्रभाव कम, भक्तिकाल का प्रभाव अधिक है। यह तथ्य स्मरणीय है कि भारतेन्दु उस अर्थ में भक्त नहीं थे जिस रूप में सूरदास अथवा अन्य भक्त कवि थे। बौद्धिक युग के चेता कलाकार के रूप में उन्होंने अपने दायित्व का निर्वाह जिस रूप में किया उससे यह स्पष्ट है कि 'भक्त' उनके व्यक्ति का एक अंश मात्र था, माधुर्य-साधना की परिष्कृति और सूक्ष्मता की पुनः स्थापना का अन्तिम प्रयास उनकी रचनाओं में मिलता है। भक्तसर्वस्व, प्रेमसरोवर, प्रेममालिका, प्रेममाधुरी, प्रेमतरंग इत्यादि में अनुभूति तत्व का प्राधान्य है। कार्तिक स्नान, वैशाख माहात्म्य आदि में उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और व्याख्यात्मक है। 'देवी छद्म लीला' आख्यानात्मक तथा होली और हिंडोरा जैसे प्रसंग विवरणात्मक हैं। चमत्कारपूर्ण तमाशे भी भारतेन्दुजी ने किये हैं लेकिन वे कृष्ण-भक्ति-काव्य के अन्तर्गत नहीं आते। केवल एक प्रसंग मानलीला फूल बुझौवल में यह पूर्ण चामत्कारिक दृष्टिकोण मिलता है जिसके इक्तीस दोहों में किसी न किसी फूल के नाम का उल्लेख हुआ है।

रत्नाकर तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' ने आख्यानात्मक काव्य लिखा है, वियोगी हरिजी की रचनाओं में प्रेमजन्य भावातिरेक तो है, लेकिन आज के बुद्धियुग का व्यक्ति कहां तक पृथ्वी को छोड़ सकता था।

इस प्रकार व्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-साहित्य का इतिहास लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों का दीर्घ इतिहास है। आश्चर्य की वात है कि उसके प्रवर्तन तथा समापन दोनों का ही श्रेय मुख्य रूप से वल्लभाचार्य के 'पुष्टिमार्ग' में दीक्षित महानुभावों (सूरदास तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) को है।

द्वितीय अध्याय

# कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा (१)

## शब्द-समूह

### काव्य-भाषा में शब्द का महत्व

शब्द भाव-प्रकाशन के मूल माध्यम हैं। जिस कवि का शब्द-कोष जितना समृद्ध होता है उसी के अनुसार उसकी भाषा-शैली भी समृद्ध होती है। कवि अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के निमित्त शब्द-ग्रहण कर उनके संकलन तथा कांट-छांट द्वारा उन्हें ऐसा रूप प्रदान करता है कि शब्दों का बाह्य रूप चाहे वही रहे परन्तु उसमें एक नये व्यंजक अर्थ का समावेश हो जाता है। अभीष्ट की अभिव्यक्ति के लिए कवि अर्थ-सौन्दर्य और शब्द-सौन्दर्य का सह-विन्यास करता है। उसकी भाषा में शब्द और अर्थ एकात्म होकर एक दूसरे को सौन्दर्य-प्रदान करते हैं। यदि शब्द भावों को यथोचित रूप से व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं तो उनका अर्थ-संकेत दूषित माना जाएगा। प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति में कौन शब्द कितना उपयुक्त है यह जानना कवि का प्रथम कर्तव्य होता है। एक ओर उसे शब्दों की व्युत्पत्ति, उनके विभिन्न अर्थ तथा उनकी प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है, दूसरी ओर अभिप्रेत की अभिव्यक्ति में समर्थ विषयानुकूल तथा प्रसंगानुकूल शब्दों के प्रयोग का अभ्यास भी उसके लिए जरूरी होता है।

### गद्य और काव्य-भाषा का अन्तर

साधारण बोलचाल की भाषा तथा काव्य-भाषा में एक सैद्धान्तिक अन्तर है। प्रथम में प्रयुक्त शब्दों का लक्ष्य केवल कथनमात्र होता है, उनका प्रयोग अधिकतर अभिधार्थ में ही किया जाता है। शब्द के रूढ़ तथा निश्चित अर्थ से अधिक उसमें कोई ध्वनि अथवा संकेत निहित नहीं रहता। काव्य में सहृदय तथा कवि का सम्बन्ध बौद्धिक और रागात्मक दोनों ही स्तर पर होता है। इसलिये वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक गद्य में जिन तत्वों का सयत्न निषेध किया जाता है, काव्य में वही तत्व बहुत महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि काव्य में प्रयुक्त शब्द किसी निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति द्वारा हमारी भावनाओं को झंकृत ही नहीं करते प्रत्युत अपने में अन्तर्निहित प्रसंग-गर्भित लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यार्थ के द्वारा एक वातावरण की सृष्टि करके उसका संप्रेषण सहृदय तक करते हैं। बाह्य-जगत के साथ रागात्मक सम्पर्क के फलस्वरूप अनेक चित्र कवि की कल्पना में उद्भूत होकर एकरूप हो जाते हैं और जिन शब्दों के

द्वारा कवि उनकी अभिव्यक्ति करता है, उनमें अन्तर्निहित भाव जितने प्रभावोत्पादक होते हैं, कोश में दिये गये उन शब्दों के निर्दिष्ट और निश्चित अर्थों में उतनी सामर्थ्य नहीं होती। काव्य-शैली में एक-एक शब्द वीणा के स्वर के समान झंकृत होता है और सहृदय पर अपनी झंकारों की प्रतिध्वनि छोड़ जाता है। जिस विशिष्ट अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कवि शब्द-विशेष के द्वारा करता है उसकी प्राप्ति उसे अनवरत शब्द-साधना द्वारा होती है। हृदय में अंकित अनेक चित्र कल्पना के सहारे रूप ग्रहण करना चाहते हैं। भाव अथवा अर्थ और वाह्य जगत से गृहीत अभिव्यंजना के माध्यम (विभिन्न उपमान तथा प्रतीक आदि) उसकी कल्पना-दृष्टि में विद्यमान रहते हैं। कवि अपनी अभिरुचि तथा आवश्यकता के अनुसार दोनों का समन्वय करता है। सर्वश्रेष्ठ काव्य वही है जिसमें दोनों तत्वों का प्रयोग संतुलित रूप में किया जाता है। अपरिभाष्य अनुभूतियों (अर्थ) और पारिभाषित शब्दों में निहित निश्चित तत्व का सफल तादात्म्य ही श्रेष्ठ काव्य की कसौटी है। साहित्य का वाह्य रूप ऊपर से आरोपित नहीं होता। उसमें विभिन्न सम्बद्ध एकांकों का जटिल प्रवन्धन होता है जिनके व्यावहारिक आधार-स्तम्भ शब्द हैं। शब्द स्वयं भी विभिन्न ध्वनियों तथा संकेतों का संश्लिष्ट रूप होता है।

व्यावहारिक गद्य तथा काव्य का अन्तर शब्दों के वाह्य रूप में नहीं प्रत्युत् उनकी योजना-पद्धति में है। कविता का लक्ष्य काल्पनिक प्रतिकृतियों द्वारा, तथ्यों की नहीं अनुभूत्यात्मक सत्यों की अभिव्यक्ति करना होता है। कविता के शब्द कवि-हृदय के भावनात्मक तथा अनुभूत्यात्मक तत्वों के सम्पर्क तथा संसर्ग से एक नई शक्ति ग्रहण करके उसे अपने में अन्तर्निहित कर लेते हैं। शब्दों का वाह्य रूप वही होता है परन्तु उनका अन्तर एक नया रूप ग्रहण कर लेता है। कविता में शब्द प्रसंग गर्भित होते हैं। वे पूर्ण रूप से भावनाओं में ही रंजित हो जाते हैं। परिचित शब्दावली में कल्पना-चित्रों द्वारा नवीन अर्थ-वोध प्रदान करके कवि अपनी सृजनात्मक शक्ति का प्रयोग करता है जिसके द्वारा उसकी भावनाओं तथा अनुभूतियों के साथ सहृदय का साधारणीकरण करता है। यदि कवि की कल्पना-शक्ति दृढ़ और सबल हो तो पदावली के एक-एक शब्द का उसके साथ ऐकात्म्य हो जाता है। इस समीकरण और विभावक एकरूपता के अभाव में शब्द, शब्दमात्र रह जाते हैं, प्रसंग गर्भित प्रतीक का रूप नहीं धारण कर पाते। शब्दों की सत्ता अपने आप में न काव्यात्मक है, न अकाव्यात्मक। शब्दों की काव्यात्मकता इस तथ्य पर निर्भर रहती है कि कवि किस सीमा तक अपने शब्दों तथा काल्पनिक प्रतिकृतियों का समीकरण कर सका है।

## ऐतिहासिक दृष्टि से शब्दों के विभिन्न रूप

ऐतिहासिक दृष्टि से शब्द मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव और देशज। इनके अतिरिक्त विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न भाषाओं के साहित्य से आदान-प्रदान के द्वारा अनेक विदेशी शब्द भी किसी भाषा में स्थायी रूप से स्थान प्राप्त कर लेते हैं। कुशल कवि का कौशल यही है कि वह अपनी लेखनी की छैनी से उन्हें भी अपने में मिला ले। किसी भी कवि की भाषा केवल तत्सम, तद्भव या किसी एक ही शब्द रूप द्वारा निर्मित नहीं हो सकती। हर प्रकार के शब्दों का प्रयोग करके कवि अपनी भाषा को व्यापक रूप देता है।

तत्सम-बहुल भाषा का प्रयोग ही यदि साध्य बन जाय तो भाषा काव्य-भाषा न बनकर एक ओर पहेलिका-सी बन जाती है तो दूसरी ओर उसमें कर्णकटुत्व दोष आ जाता है। आदर्श भाषा में इन सभी प्रकार के शब्दों का एक मिश्रण-सा रहता है। भाषा की तत्समता उसे गरिमापूर्ण बनाती है तो तद्भव शब्द उसे सहजता प्रदान करते हैं। भाषा चाहे तद्भव-प्रधान हो अथवा तत्सम, उसकी सबसे अनिवार्य विशेषतायें हैं औचित्य और संतुलन। अरस्तू ने सम्पूर्ण शब्द-समूह को आठ भागों में विभाजित किया है। उसके अनुसार प्रत्येक शब्द निम्नलिखित वर्गों में से किसी एक के अन्तर्गत आ जाता है।[1]

१. प्रचलित शब्द (Current)
२. अप्रचलित शब्द (Strange)
३. लाक्षणिक शब्द (Metaphorical)
४. आलंकारिक (Ornamental)
५. नवनिर्मित (Newly coined)
६. व्याकुचित (Lengthened)
७. संकुचित (Contracted)
८. परिवर्तित (Altered)

प्रथम दो वर्ग के शब्द अपने आप में स्पष्ट हैं, शेष की परिभाषाएं टिप्पणी के अन्तर्गत दी जा रही हैं।[2]

अरस्तू के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का प्रमुख ध्येय अपने प्रतिपाद्य को प्रभावोत्पादक बनाना है। इस अभीष्ट की पूर्ति के लिये कवि शब्दों के साथ हर प्रकार की स्वतन्त्रता ले सकता है। जहाँ तक शब्द-चयन का सम्बन्ध है उन्होंने काव्य में असाधारण और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त माना है। काव्य-भाषा के विषय में उनका अभिमत उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलंकारशास्त्र' में उल्लिखित है।[3]

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, पृष्ठ ५५, अनुवादक—डा० नगेन्द्र

2. Metaphorical word—Application of an alien name by transference either from genus to species or from species to genus or from species to species. Ornamental—A newly coined word is one which has never been even in local use, but is adopted by the poet himself. A word is lengthened when it's own vowel is exchanged for a longer one or when a syllable is inserted. A word is contracted when some part of it has been removed. An altered word is one in which part of ordinary meaning is left unchanged and part is re-cast.

3. The diction of prose and the diction of poetry are distinct. One virtue of diction may be defined to be clearness. If our language does not express our meaning it will not do it's work. It ought to be neither low nor dignified but suitable to the subject. Diction is made clear by nouns and verbs used in their proper sense. Deviation from the ordinary idiom makes diction more impressive and as men are differently impressed by foreigners so are they affected by styled. Hence we may give a foreign air to our language. For men admire what is far from them. In the case of metrical composition there are many things which produce this effect. We must speak naturally and not artificially. The natural is persuasive the artificial is the reverse. Synonyms are most useful for the poets.

Rhetorics III I.8.—II—7
(from Basic works of Aristotle).

ग्रे के अनुसार किसी युग में प्रचलित समसामयिक शब्द उस युग की काव्य-भाषा के शब्द नहीं हो सकते। तत्सम शब्दों में प्रचलित शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक गहनता होती है। ड्राइडन ने प्रतिपाद्य के उपयुक्त शब्दों का प्रयोग ही उचित माना है। जब किसी प्राचीन शब्द का प्रयोग उसकी ध्वनि तथा औचित्य के आकर्षण की दृष्टि से किया जाता है और वह शब्द बोधगम्य होने के साथ-साथ अभीष्ट प्रभावोत्पादन की शक्ति भी रखता है तो उसका ही प्रयोग श्रेष्ठ है परन्तु यदि प्राचीन तत्सम शब्दों के प्रयोग से कविता दुरूह और दुर्बोध हो जाती है तो कविता एक शब्द-संग्रह का रूप ग्रहण कर लेती है।

कहीं-कहीं पुरातन शब्दावली का प्रयोग प्रतिपाद्य के साथ बिल्कुल भी मेल नहीं खाता परन्तु कविता में नये शब्दों के प्रयोग की कसौटी भी बोधगम्यता, सहजता और औचित्य ही होती है। प्रत्येक जीवित भाषा में अनवरत रूप से नये शब्दों का निर्माण और विकास होता रहता है। कविता में उनका निषेध असम्भव है। कविता में तत्सम तथा अन्य प्रकार के शब्दों के प्रयोग का अनुपात कई तथ्यों पर निर्भर रहता है। कवि प्रतिपाद्य के उपयुक्त अभिव्यंजना का रूप-निर्माण करता है। कुछ सीमा तक यह सत्य जान पड़ता है कि गम्भीर, विशद, व्यापक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि से युक्त साहित्य में पुरातन शब्दावली के प्रयोग से एक भव्यता आ जाती है परन्तु नये और पुराने शब्दों का अथवा जनभाषा और प्राचीन भाषा के शब्दों का प्रयोग वैयक्तिक रुचि और संस्कार पर ही अधिक निर्भर रहता है। तुलसीदास तथा जायसी दोनों ने अपने महाकाव्यों में व्यापक सिद्धान्तों का समावेश किया परन्तु दोनों की शब्दावली में आकाश-पाताल का अन्तर है। तुलसी की भाषा के पीछे उनके अगाध पांडित्य और गम्भीर दार्शनिक का आभास मिलता है परन्तु जायसी की प्रेमाभिभूत सौन्दर्य-भावना सीधी, सरल, जनपदीय भाषा में ही व्यक्त है।

## विन्यास की दृष्टि से शब्द-भेद

विन्यास की दृष्टि से काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द दो प्रकार के होते हैं—समस्त और असमस्त। समस्त शैली की पदावली प्रयास-साध्य होती है, इसमें प्रायः भाव भाराक्रान्त हो जाता है। इस शैली में शब्द इतने प्रधान हो जाते हैं कि भाषा का रूप तो अस्वाभाविक हो ही जाता है भाव भी शब्दजाल में भटक जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि शब्द कवि के आधीन नहीं, कवि शब्द के आधीन हो गया है। असमस्त शब्दों से युक्त भाषा में भाव और अभिव्यंजना का ऐकात्म्य बड़े स्वाभाविक रूप से हो जाता है; न भाषा जटिल होने पाती है और न भाव-सौन्दर्य विकृत होता है।

## शब्द-निर्माण

जब कवि का भावोद्रेक नूतन-पुरातन, समस्त-असमस्त किसी प्रकार की पदावली में अपने मनोनुकूल व्यंजना-शक्ति नहीं प्राप्त करता तो वह नये शब्दों का निर्माण कर डालता है। शब्द-निर्माण-कला भी कवि-प्रतिभा की परिचायक होती है। जहाँ इस कला का प्रयोग चमत्कार-वृद्धि की प्रेरणा से किया जाता है वहां भाषा का सहज प्रसाद गुण चला जाता है। सूरदास के दृष्टकूट के पदों में प्रयुक्त शब्दावली इसी का प्रमाण है।

अनेक बार कवि शब्दों को काव्य-भाषा के उपयुक्त बनाने के लिये उनका रूप परिष्कृत करता है, तथा शब्द के प्रकृत रूपों को परिवर्तित करके उनका प्रयोग करता है। इस रूप से निर्मित शब्दों द्वारा भावोत्कर्ष तथा रूप-सौन्दर्य, काव्य के दोनों ही पक्षों की सम्वृद्धि होती है परन्तु यदि इस निरंकुश प्रयोग में अस्पष्टता आ गई तो उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष हो जाता है। भावव्यंजकता और चित्रमयता शब्दों का सर्वप्रधान गुण है।

## पूर्वमध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की शब्द-योजना

ब्रजभाषा के विकास तथा रूप-निर्माण में कृष्ण-भक्त कवियों का विशेष हाथ रहा है। साधारण भाषा को गरिमा प्रदान करने के लिये उन्होंने संस्कृत के शब्दों का सहारा लिया, बोली को सँवारने के लिये तद्भव शब्दों को कांट-छांटकर प्रतिपाद्य के अनुकूल मसृण और कोमल बनाया तथा विदेशी शब्दों को अपनी ध्वनियों में ढालकर उनके प्रयोग द्वारा भाषा को व्यापकता प्रदान की।

तत्सम शब्दों का प्रयोग इन कवियों ने अधिकतर व्याख्यात्मक तथा कल्पनाप्रधान अप्रस्तुत योजनाओं के चमत्कारवादी स्थलों पर किया है। लीला-प्रधान अनुभूत्यात्मक और विवरणात्मक स्थलों में प्रधानता तद्भव शब्दों की है और विदेशी शब्दों का पुट प्रायः सर्वत्र ही विद्यमान है, परन्तु उन पर ब्रजभाषा का रंग इस प्रकार चढ़ाया गया है कि उनका विदेशीपन प्रायः बिल्कुल छिप गया है। आलोच्य कवियों की भाषा के रूप-निर्धारण में कुछ मौलिक कठिनाइयाँ हैं। विभिन्न कवियों की रचनाओं के संकलन पृथक्-पृथक् स्थलों से प्रकाशित हुए हैं जिनमें भाषा-सम्बन्धी नीति का पार्थक्य है। संस्कृत के तत्सम और विदेशी शब्दों के क्षेत्र में तो संदेह होने का अवकाश नहीं है परन्तु अर्धतत्सम और तद्भव शब्दों के रूप-निर्धारण में कठिनाई पड़ती है। अनेक संकलनों में अर्धतत्सम और तद्भव शब्दों को तत्सम रूप प्रदान कर दिया जाता है, अतएव शब्द-रूपों के निर्धारण में भ्रान्ति का बहुत अवकाश रहता है।

अभिव्यंजना-शैली पर कवि के व्यक्तित्व का इतना प्रभाव होता है कि एक विशेष वर्ग के कतिपय कवियों की अभिव्यंजना-शैली को सामान्य रूप से वर्गीकृत करना अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता परन्तु कृष्ण-भक्त कवियों के प्रतिपाद्य के समान ही उनकी अभिव्यंजना-शैली में भी इतनी एकरूपता है कि इस प्रकार का वर्गीकरण अनुचित और अवैज्ञानिक नहीं जान पड़ता। सब कवियों का सामान्य आधार अधिकतर एक है। केवल व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य-जन्य पार्थक्य उनमें आ गया है। आश्चर्य की बात जान पड़ती है परन्तु यह सत्य है कि तत्सम, तद्भव इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में प्रतिपाद्य के विभिन्न स्थलों पर सामान्य रूप से हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से किसी भी भाषा में तत्सम शब्दों का स्थान सबसे प्रथम होता है। अतः कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दों का विवेचन ही सबसे पहले किया जा रहा है।

## कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्द

आलोच्य कवियों ने तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रधानतः तीन मुख्य उद्देश्यों से किया

है। (१) भाषा को समृद्ध और व्यापक बनाने के लिये, (२) शब्द-क्रीड़ा के लिये, (३) व्याख्यात्मक और कल्पनाप्रधान अंशों के अनुरूप भाषा को गरिमापूर्ण तथा परिष्कृत बनाने के लिये।

प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिये कृष्ण-भक्त कवियों ने निम्नलिखित स्थलों पर तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रधान रूप से किया है—

१—व्याख्यात्मक स्थलों में।

२—कल्पनाप्रधान अलंकार-विधान में।

३—आलम्बन के विराट और गरिमापूर्ण रूप-चित्रण में।

४—स्तोत्र पद्धति की रचनाओं में।

इन प्रसंगों के कुछ उदाहरण विभिन्न कवियों की रचनाओं से उद्धृत करना यहां पर अप्रासंगिक न होगा।

### व्याख्यात्मक स्थलों में तत्सम शब्दों का प्रयोग

प्रतिपाद्य के विवेचन के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्याख्यापरक दृष्टिकोण अधिकतर सूरदास और नन्ददास ने ही ग्रहण किया है। इन स्थलों पर प्रयुक्त तत्सम शब्द अधिकतर सैद्धान्तिक और दार्शनिक जगत से सम्बन्ध रखते हैं। सिद्धान्त-कथन में शब्दों का रूप प्रायः पारिभाषिक है तथा साधना-पक्ष के वर्णन में अधिकतर अपेक्षाकृत सरल तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रथम वर्ग के शब्दों की ध्वनियां कठिन और अप्रचलित हैं। दूसरे वर्ग में व्रजभाषा के माधुर्य में खप जाने वाले संस्कृत शब्द प्रयुक्त हुये हैं। दोनों ही कवियों की रचनाओं में से कुछ उद्धरण दिये जाते हैं—

### सिद्धान्त-कथन

१—अद्भुत राम नाम के अंक
धर्म अंकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति वधू ताटंक।
मुनि मन हंस पच्छ जुग जाकें बल उड़ि ऊरध जात।
जनम मरन काटन कौं कर्तरि तीछनि बहु विख्यात।
अंधकार अज्ञान हरन कौं रवि ससि जुगल प्रकाश।
वासर निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहूं लोक सुखकरन, हरनदुख, वेद पुराननि साखि।
भक्ति-ज्ञान के पंथ सूर ये, प्रेम निरन्तर भाखि॥[1]

२—रूप गंध रस शब्द (स्पर्श) जे पंच विषय वर।
महाभूत पुनि पंच पवन पानी अम्बर धर॥
दस इन्द्रिय अरु अहंकार मह तत्व त्रिगुन मन।
यह सब माया कर विकास कहैं परम हंस गन॥

१. सूरसागर, स्कन्ध १, पद संख्या ९०—ना० प्र० स०

जागृति स्वप्न सुषुप्ति धाम पर-ब्रह्म प्रकासैं।
इन्द्रिय गन मन प्रान इनहिं परमातम भासैं॥[1]

दोनों ही उद्धृत पदों में प्रयुक्त शब्दावली में अधिकतर संस्कृत शब्दों के मूल रूप को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है। व्रजभाषा की ध्वनियों के अनुकूल रूप प्रदान करने के उद्देश्य से कुछ परिवर्तन किये गये हैं। लेकिन वे अधिक महत्व के नहीं हैं। इसके विपरीत साधना-पक्ष के विवेचन-विश्लेषण में प्रयुक्त तत्सम शब्दों का रूप सहज और सुगम है तथा उनमें परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता अपेक्षाकृत अधिक ली गई है—

ऐसो कब करिहो गोपाल।
मनसानाथ मनोरथदाता, हो प्रभु दीन दयाल।
चरनन चित्त निरन्तर अनुरत, रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन गर अंचल कर माल॥
ईहिं विधि लखत, झुकाइ रहे यम अपने हो भय भाल।
सूर सुजस रागी न डरत मन सुनि जातना कराल॥[2]

जो प्रभु जोति जगत मय कारन करन अभेव।
विघन हरन सब सुभ करन नमो नमो ता देव॥[3]

एकै वस्तु अनेक हैं, जगमगात जगधाम।
जिमि कंचन तें किंकनी कंकन, कुंडल नाम।[4]

उचरि सकत नहि संस्कृत, अर्थ ज्ञान असमर्थ।
तिन हित नन्द सुमति जथा, भाषा कियो सुअर्थ।[5]

इस प्रकार के अनेक उद्धरण सूर और नन्ददास की रचनाओं में से निकाले जा सकते हैं।

## कल्पना-प्रधान स्थलों में प्रयुक्त तत्सम शब्द

तत्सम शब्दों के प्रयोग के दूसरे स्थल हैं कल्पना-प्रधान स्थल, जहाँ विभिन्न कवियों ने अधिकतर संस्कृत काव्य-शास्त्र के आधार पर और परम्परागत उपमानों तथा प्रतीकों के सहारे अप्रस्तुत योजनायें की हैं। इन तत्सम शब्दों का रूप साहित्यिक है। अपनी भाषा की क्षमता के कारण ही वे राधा-कृष्ण के अनेक सजीव और अमर चित्र खींच सके हैं। इन स्थलों पर शैली का अलंकार इन्हीं तत्सम शब्दों पर निर्भर है—

१—सोभा कहत कही नहिं आवै।
अंचवत अति आतुर लोचन-पुट, मन न तृप्ति कौं पावै।

---

१. श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, दोहा० सं० ३, ४६, पृष्ठ ३८, नन्ददास ग्रन्थावली—व्रजरत्नदास
२. सूरसागर स्कन्ध १, पद संख्या १८१, पृष्ठ ५६—ना० प्र० स०
३-५. अनेकार्थ ध्वनि मंजरी, पृष्ठ ४१, न० ग्र०—व्रजरत्नदास

सजल मेघ घनश्याम सुभग वपु, तड़ित वसन वनमाल ।
सिखि-सिखंड वनधातु विराजत, सुमन सुगंध प्रवाल ।
कछुक कुटिल कमनीय सघन अति गो-रज मंडित केस ।
सोनित मनु अम्बुज पराग-रुचि-रंजित मधुप सुदेस ।
कुंडल-किरन कपोल लोल छवि, नैन-कमल-दल-मीन ।
प्रति-प्रति अंग अनंग-कोटि-छवि, सुनि सखि परम प्रवीन ।
अधर मधुर मुसक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन ।
सूरदास जहँ दृष्टि परत है होति तहीं लवलीन ।[1]

२—रुचिर दृगंचल चंचल अंचल में झलकत अस
सरस कनक के कंजन, खंजन जाल परत जस ।
कबहुं परस्पर छिरकत मंजुल अंजुल भर भरि ।
अरुन कमल मंडली फाग खेलत रस रंग अरि
कमलनि तजि तजि अलिगन मुख कमलन आवति जब ।
छवि सों छवीली वाल छिपति जल में बुड़कनि तब ॥[2]

(धनाश्री)

वैभव मूरति मैं जब निहारी।
खंजन कमल कुरंग कोटि सत ताही छिनु रारे जू वारी ।
विद्रुम अरु वंधूक विम्ब सत, कोटि त्याग करि जिय में विचारी ।
दारयो दामिनी कुंद कोटि सत दूरि किये रुचि गर्व टारी ।
तिल प्रसून सत कोटि, मधुप सत कोटि, हीन परे मन मारी ।
धनुष कोटि सत मदन कोटि सत कोटि चंद न्योछावर उतारी ॥[3]

(विलावल)

मंजुल कल कुंज-देस राधा हरि विसद वेस,
राका-कुमुद वंधु सरस जामिनी ॥
सांवल दुति कनक अंग, विहरत मिलि एक संग
मानों नील नीरद मधि लसति दामिनी ।
अरुण पीत पट दुकूल, अनुपम अनुरागमूल
सौरभ सीतल अनिल मंद मंद गामिनी
किसलय-दल रचित सैन, बोलत पिक चारु बैन
मान-सहित प्रति पद प्रतिकूल कामिनी ।

---

१. सूरसागर, स्कन्ध १०, पद ४७८, पृ० ४२३, ना० प्र० स०
२. रास पंचाध्यायी, पृ० ३५-३६, न० ग्र०—ब्रजरत्नदास
३. चतुर्भुजदास, पृ० १०३, पद १८२, वि० वि० कांकरोली

मोहन मन्मथन मार, परसत कुचनि विहार,
वेपथु जुत वदति नेति नेति भामिनी ।[1]

देखो माई ! मानो कसौटी कसी ।
कनक-वेलि वृषभान-नन्दिनी, गिरधर उर जु वसी ।
मानो स्याम तमाल कलेवर सुन्दर अंग मालती घुसी ।
चंचलता तजि के सौदमिनि, जलधर अंग लसी ।
तेरो वदन सुधार सुधानिधि, विधि कौने नांति हँसी ।
कृष्णदास सुमेरु-सिंधु तें, सुरसरि धरनि धँसी ।५१।[2]

अष्टछाप के कुछ कवियों की रचनाओं से संकलित उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने उपास्यदेव कृष्ण और देवी राधा के रूप-चित्रण में उन्होंने जिन उपमानों का संकलन किया है वे प्रायः परम्परागत हैं। परम्परा के इस परिपालन में उसमें प्रयुक्त शब्दावली का परम्परित होना ही स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रतिपाद्य के कल्पना-प्रधान स्थलों में संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य हो गया है।

परमानन्द दास जी के काव्य की विशेषता है चरम अनुभूतियों की अत्यन्त सहज अभिव्यक्ति। तत्सम शब्दों का प्रयोग उन्होंने तद्भव-बहुल भाषा को गरिमा प्रदान करने के लिये किया है। तत्सम-प्रधान भाषा का अनुपात परमानन्द सागर में बहुत कम है।

(राग-सारंग)

कान्ह कमल-दल नैन तिहारे
अरु विसाल बंक अवलोकनि हठि मनु हरत हमारे।
तिन वर बनी कुटिल अलकावलि मानहुं मधुप हुंकारे।
अतिसै रसिक रसाल रस भरे, चित तै टरत न टारे।
मदन कोटि रवि कोटि-कोटि ससि, ते तुम ऊपर वारे॥[3]

### विराट और गरिमापूर्ण आलम्बन के चित्रण में प्रयुक्त तत्सम शब्द

आलम्बन के विराट और गरिमापूर्ण रूप के चित्रण में भी प्रायः सभी कवियों ने तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिकता से किया है। उदाहरण के लिये शुकदेव जी के रूप-चित्रण में प्रयुक्त नन्ददास की कुछ पंक्तियां यथेष्ट होंगी—

नीलोत्पल-दल स्याम अंग नव-यौवन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख कमल मनो अलि अवलि विराजै॥
ललित विसाल सुभाल दिपत जनु निकर निसाकर।
कृष्ण भगति प्रतिबन्ध तिमिर कहु कोटि दिवाकर॥

---

१. कुम्भनदास, पृ० २३, पद ३६, वि० वि० कां
२. अष्टछाप-परिचय पृ० २३६, पद ५१—प्रभुदयाल मित्तल
३. परमानन्द सागर, पृ० १५३, पद ४५२—गोवर्धननाथ शुक्ल

कृपा-रंग-रस-ऐन नैन राजत रतनार ॥
कृष्ण-रस।सव-पान-अलस कछु घूम घुमारे ॥
उन्नत नासा अधर विम्व सुक की छवि छीनी ।
तिन बिच अद्भुत भांति लसति कछुं इक मसि मीनी ॥[1]

## स्तोत्र पदों में प्रयुक्त तत्सम शब्द

प्रायः सभी कृष्ण-भक्तों ने अपने स्तोत्र पदों में तत्सम-बहुल भाषा का प्रयोग किया है। स्तोत्र पदों में विराट के प्रति श्रद्धा और अपने प्रति तुच्छता की भावना व्यक्त होती है। भक्त उपास्य की गरिमा से अभिभूत होता है। उस गरिमा की अनुभूति के लिये उसके उपयुक्त अभिव्यंजना की आवश्यकता होती है। भाषा में यह गरिमा लाने के लिये इन भक्त कवियों ने स्तोत्र पदों में सर्वत्र ही संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। अरस्तू की यह मान्यता कि अप्रचलित और प्राचीन शब्दावली के द्वारा भाषा को गरिमा प्राप्त होती है, कृष्ण-भक्त कवियों की इन रचनाओं पर सोलहों आने सत्य उतरती है।

व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य के अतिरिक्त सभी कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा में एक आश्चर्य-जनक समानता है। उदाहरण के लिये निम्नोक्त पदों को लिया जा सकता है—

१—हरि हर संकर नमो नमो।
अहिसायी, अहि अंग विभूषन, अमित दान, वल विषहारी
नीलकंठ वरनील कलेवर, प्रेम परस्पर कृतहारी।
चन्द्र चूड़ सिखि चंद सरोरुह जमुना प्रिय गंगाधारी।
सुरभि रेनु, तन भस्म विभूषित वृप-वाहन बन वृषचारी।
अज अनीह अविरुद्ध एकरस, यहै अधिक ये अवतारी।
सूरदास सम, रूप नाम गुन अंतर अनुचर अनुसारी ॥[2]

२—विघ्न-हरन चक्रधरन चरन कमल वंदे।
कमला-पति कमल-लोचन मोचन दुख द्वन्द्वे ॥
ज्यों ज्यों हरि गोप भेख अरि-निकंदे।
गोविन्द प्रभु नंद सुवन जसुमति जदुनन्दे ॥[3]

३—राधिका-रवन, गिरिधरन गोपीनाथ,
मदन मोहन कृष्ण नटवर विहारी।
रास क्रीड़ा-रसिक व्रजजुवति-प्राणपति
सकल दुखहरन गो गननि चारी ॥

---

१. रास पंचाध्यायी, ३, ४, ५, ६, ७; नन्ददास ग्रन्थावली—व्रजरत्नदास
२. सूरसागर, १० स्कन्ध, १७१ पद, ना० प्र० स०
३. गोविन्द स्वामी पदावली, पृ० १५, वि० वि० कां

सुख-करन, जग-तरन, नन्द नन्दन नवल
गोपी-पति-नारि-वल्लभ मुरारी
'छीत स्वामी' सकल जीव उद्धरण-हित
प्रकट वल्लभ-सदन दनुज-हारी ॥[1]

४—जय जय तरुन घनस्यामवर, सौदामिनी रुचिवास
विमल भूवन तारिकागन तिलक चन्द विलास ।
जय नृत्य मान संगीत रस बस, मानिनी संग रास ।
वदन-स्नम जल-कन विराजित मधुर ईषद् हास ।
वन्यो अद्भुत भेष गावत मुरलिका उल्लास ।
कृष्णदास नमित चरन हरिदासवर्य निवास ॥[2]

कहीं-कहीं तो ये स्तोत्र पूर्ण रूप से संस्कृत में ही लिखे गये हैं । जैसे—

रागभैरव

यस्तु तत्पद-पद्म-मकरन्द लुब्ध
हृदि संचरीकतुं संत-नरेशम् ।
निज व्रज-वल्लभी-भव्य वृंद मध्यस्थ-
मति चतुरता संस्पृष्ट निवहृत उरोजम् ॥
तादृशीभि विविध रासादि-लीला-
सुकंठ धृतललित करयुग-सरोजम् ॥
'चत्रुभुज'मखिल जगदाधार-रूपया
निज कृपया निर्दशित सुरूपम् ॥
भक्ति जन-दुख-विध्वंस-कृति तत्परं
पालिता शेष यदुवंश-भूपम् ।[3]

इस तत्समप्रियता के कारण कहीं-कहीं संस्कृत के नाम पर भाषा के साथ बलात्कार भी किया गया है—

नंद नंदन वृषभानु नंदिनी संग सरस रितुराज विहरत वसन्ते ।
इत सखा संग सोभित श्री गिरधर उत जुवती जूथ मधि राज्य हसन्ते ।
सूरजा तट परम रमनीक पवन सुखद मारुत मलय मृदु वहन्ते ।
विविध सुरनि गावत सकल सुन्दरी ताल कठतालवाजी सरस मृदंगे ।

---

१. छीतस्वामी, पृ० २३—वि० वि० कां
२. अष्टछाप परिचय, पृ० २४०, कृष्णदास, पद ६६—प्रभुदयाल मित्तल
३. चतुर्भुजदास, जीवन झांकी पद संग्रह, पृ० १६८-१६९—वि० वि० कां

वीन बेना अमृत कुंडली किन्नरी झांझ बहु भाँति आवत उपंगे।
चन्दन सु वन्दन अबीर बहु अरगजा मेद गोरा साख बहु घसन्ते।

ऊपर लिखे पद में भाषा-विषयक शुद्धियों पर ध्यान न देकर केवल तुकबन्दी के लिये पंक्ति के अन्तिम शब्दों को एक ही रूप में ढाल दिया गया है और 'घसन्ते' शब्द में तो सच-मुच ही ऐसा जान पड़ता है मानों ऊटपटांग प्रयोग द्वारा संस्कृत का उपहास किया जा रहा है।

हरिदास द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दों में अष्टछाप के कवियों की सी विशेषतायें ही मिलती हैं—

जपित मन मृदंग रास भूमि सुकान्त अभिनै सुनत गति त्रिभंगी
धापि राधा नर्टति ललिता रसवती, नागरी गाइते प्रनामि तान तुंगी
रसद विहारी वन्दे वल्लभा राधिका निशि दिन रंग-रंगी
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज विहारी संगीत-संगी।

इसके अतिरिक्त प्रपंच, अचल, समाधि, मनुष्य, तृष्णा, अलौकिक, सम्पुट, प्रीति, द्रव्य, संग्रह, ब्याज, कनक इत्यादि शब्द शुद्ध तत्सम रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

हितहरिवंश की भाषा का एक ही रूप है। उसमें तत्सम और तद्भव शब्दों का मधुर समन्वय है। डा० स्नातक के अनुसार "ब्रजभाषा का जैसा समृद्ध और प्रांजल रूप हितहरिवंश जी की वाणी में प्रस्फुटित हुआ है वैसा किसी अन्य भक्त-कवि की रचना में नहीं हुआ। सूरदास की भाषा में ब्रजभाषा का आंचलिक पुट है। लोक-भाषा के अधिक समीप होने के कारण मसृण और परिष्कृत शब्दों की ओर उनका झुकाव नहीं है × × × नन्ददास की भाषा में हितहरिवंश के समान समृद्धता नहीं है।"[1] मेरे विचार से 'हित चौरासी' के केवल चौरासी पदों की भाषा के एक रूप तथा सूर और नन्ददास के बृहत् साहित्य में प्रयुक्त भाषा के विविध रूपों की तुलना करना समीचीन नहीं है।

नन्ददास और सूरदास की भाषा की मसृणता में कौन सन्देह कर सकता है? हित-चौरासी के समानान्तर सूरदास तथा नन्ददास द्वारा रचित प्रसंगों की भाषा किसी प्रकार हितहरिवंश की भाषा से कम समृद्ध और प्रभावशालिनी नहीं है। यदि विद्वान लेखक का तात्पर्य 'समृद्धि' से चित्रात्मकता और सजीवता का है तब भी हितहरिवंश में सूर और नन्ददास के चित्रों की ही आवृत्ति है। उनसे विशिष्ट और पृथक् रंगों और रेखाओं का उनमें पूर्णतः अभाव है। हितहरिवंश द्वारा प्रयुक्त भाषा का रूप हमें सूर या नन्ददास में ही नहीं, अष्ट-छाप के अन्य कवियों की रचनाओं के श्रृंगारपरक स्थलों में भी मिल सकता है। स्थानाभाव के कारण उनका तुलनात्मक विवेचन यहां पर कठिन है। लेकिन भाषा की इस एकरूपता को हितहरिवंश का दोष मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि उनके प्रतिपाद्य का क्षेत्र भी अत्यंत

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृष्ठ ३२८—विजयेन्द्र स्नातक

संकीर्ण है। निम्नलिखित पद में तत्सम-बहुल शब्दावली का उदाहरण देखा जा सकता है। हितहरिवंश ने अधिकतर कल्पना-प्रधान स्थलों पर तथा आराध्या के रूप-चित्रण में तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुलता से किया है—

> खंजन मीन मृगज मद मेटत कहा कहौं नैनन की बातैं,
> वंक निशंक चपल अनियारे अरुण स्याम सित रचे कहाँ तें।
> डरत न हरत परायो सर्वस मृदु मधु मिव मादिक दृग पातें।[1]

तथा—

> नागरी निकुंज ऐन किसलय दल रचित शयन
> कोक-कला-कुशल कुमरि अति उदार री
> सुरत रंग अंग-अंग हाव भाव भृकुटि भंग
> माधुरी तरंग मथत कोटि मार री ॥[2]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के दूसरे प्रमुख कवि ध्रुवदास की भाषा का भी उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है।

ध्रुवदास ने अधिकतर व्याख्यात्मक स्थलों पर तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। अनेक स्थलों पर ब्रजभाषा की प्रकृति के प्रतिकूल शब्दों को भी बिना किसी परिवर्तन के प्रयुक्त किया गया है। कटुवर्ण, द्वित्व और संयुक्ताक्षरों का प्रयोग कवि ने मुक्त रूप से किया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

बुद्धि, तृष्णा, तितिक्षा, मत्सर, त्रिगुण, प्रपंच, प्रबंध, सर्वोपरि, विवश, लज्जित, अनन्य, निषेध, दृढ़ता, शुद्ध, प्रतिबिम्ब, चन्द्रिका, नृप, मंत्री, गयन्द, तुरंग, दृग, त्रिषित, बुद्धि, अद्भुत, विश्राम, मृदुता, उज्ज्वल, गोप्य, विस्तार, ऐश्वर्यता, उन्नत, श्रम, तरुणि, कदम्ब, मणि, अर्थ, असित।

## तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा-समृद्धि का प्रयास

भाषा की समृद्धि और व्यापकता के उद्देश्य से तत्सम शब्दों का प्रयोग जिन कृतियों में किया गया है वे हैं नन्ददास की 'अनेकार्थ ध्वनि मंजरी' तथा 'नाममाला'। अनेकार्थ-मंजरी के मुख्य भाग में निम्नलिखित शब्दों के पर्यायवाची शब्द संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्तियों के उपयोग के लिये लिखे गये हैं।[3]

गो, सुरभी, मधु, कलि, आत्मा, अर्जुन, धनंजय, पत्र, पत्री, बरही, धाम, काम, वाम, भव, कं, कल्प, कर, दर, वर, वृष, पतंग, दल, पल, वस, अल, वयस, जीव, मार, सार, कलभ, नभ, वसु, पटु, तुरंग, कुरंग, आत्मज, कबंध, हंस, पयोधर, भूधर, बाण, वरुण, गोत्र, तन,

---

१. हित चौरासी, ३६।७३—हितहरिवंश

२. हित चौरासी, ३८।७७ ,,

३. उचरि सकत नहिं संस्कृत अर्थ ज्ञान असमर्थ।
तिन हित नन्द सुमति मथा, भाषा कियो सुअर्थ।
—नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६—व्रजरत्नदास

बाल, जाल, काल, ताल, व्याल, जलज, तम, गुन, अवि, बन, धन, बरन, पोत, बुध, अनंत, क्षय, राजिव, लोक, शुक, खग, कलाप, ब्रह्म, उडु उडुप, मंद, वारन, स्यन्दन, पंथी, कौसिक, पुष्कर, अम्बर, संबर, कम्बल, नग, नाग, करन, द्विज, अज, सिव, विरोचन, वलि, वृक, रज, कुश, कम्बु, कूट, खर, कुज, हरिनी, धात्री, सिवा, रसना, रंभा, माया, इला, जोती, सुमना, इडा, अजा, निशा, विधि, जृंभ, हस्त, कृत्तांत, मित्र, सारंग, हरि, ध्रुव, सुमन, बिटप, दान, रस, स्नेह।[1]

इन शब्दों के विश्लेषण करने से एक बात तो यह स्पष्ट है कि कवि ने प्रायः कोमल अर्थों के व्यंजक शब्दों को ही लिया है। दूसरा द्रष्टव्य तथ्य यह है कि शब्दों के शुद्ध संस्कृत रूप ग्रहण करने का उनका बिलकुल आग्रह नहीं है। उन्होंने संस्कृत शब्दों को ब्रजभाषा की ध्वनियों में ढालकर ही उन्हें अपनाया है।

'नाममाला' अथवा 'मानमंजरी' में भी रचना का उद्देश्य अमरकोश के आधार पर कोश-ग्रन्थ तैयार करना तथा उसके द्वारा राधिका का मानवर्णन करना है।[2] उसमें निम्न-लिखित शब्दों के पर्याय दिये गये हैं—

मान, सखी, बुद्धि या प्रज्ञा, सरस्वती, शीघ्र, धाम, सुवर्ण, रूपा, उज्ज्वल, शोभा, किरण, मयूर, सिंह, अश्व, हस्ती, सिद्धि, नवनिधि, मुक्ति, राजा, इन्द्र, देव, अमृत, भृत्य, दासी, अन्तःकरण, अंजन, हीरा, मोती, मंगल, शुक्र, लक्ष्मी, माता, नमस्कार, सीढ़ी, शय्या, तकिया, बेटी, फूल, बंसी, श्रवण, केश, ललाट, नेत्र, अधर, दशन, बृहस्पति, मुख, ग्रीवा, हाथ, उरोज, किंकिणी, नूपुर, अम्बर, कीर, दर्पण, वीणा, अन्तरध्यान, पान, समय, पानी, भय, चरण, हरिद्रा, भौंह, क्रोध, क्षेम, संज्ञा, स्त्री, ब्रह्मा, सुन्दर, युधिष्ठिर, अर्जुन, गंगा, दीर्घ, शरीर, कमल, चन्द्रमा, मेघ, भौंर, दामिनी, सेना, धनुष, प्रत्यंचा, प्रिया, लता, मित्र, पुत्र, मनुष्य, जोगीश्वर, वेद, शेष, धर्मराज, कुबेर, वरुण, दुर्गा, गणेश, धूर्त, कुरंग, पाप, पाषान, नौका, रुधिर, राक्षस, धूरि, महादेव, सूर्य, मिथ्या, निकट, चन्दन, मीन, सागर, मर्कट, बलभद्र, पृथ्वी, वाण, वैश्वानर, मूर्ख, विज्ञ, अपराध, प्रेम, पर्वत, भुजंग, पीड़ा, असुर, संध्या, कानन, विष, पपीहा, रजनी, आकाश, अल्प, नख, संग्राम, मकरी, मार्ग, कृपा, खड्ग, दिशा, नदी, तात, विवाह, मदिरा, स्वभाव, अन्धकार, वृक्ष, पत्र, पवन, ध्वनि, आज्ञा, अति, समूह, दुःख, अर्द्धरात्रि, वज्र, लज्जा, उपानह, अटा, हिमकर, वीथी, उपवन, वसन्त, खग, पीपर, पाकर, आम्र, महुआ, दाड़िम, कदली, बिल्व, तमाल, कदम्ब, किंसुक, बहेरा, नारियल, सुपारी, कैंवाच, मिर्च, पीपर, हर्रे, सौंठि, विद्रुम, दाष, केसरि, जूथी, राजवल्ली, मालती, संजीवनी, दुपहरी, गुंजा, केतकी, लवंग, एला, माधवी, नागवल्ली, बट, सरोवर, कालिन्दी, तरंग, उपकण्ठ बेत, कोकिला, इन्द्री, माला, जुगल।

उक्त दो कोश-ग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा को परिनिष्ठित रूप प्रदान

---

१. नं० ग्रं०, पृष्ठ ४६-६४—ब्रजरत्नदास

२. गूंथनि नाना नाम को अमरकोष के भाय।
मानवती के मान पर मिले अर्थ सब आय ॥३॥
वही, पृष्ठ ७६

करने के लिये भक्त कवियों की चेतना कितनी जागरूक थी। आज राष्ट्रभाषा के निर्माण में हिन्दी को शक्ति प्रदान करने के लिये जो कार्य किये जा रहे हैं, इन कोश-ग्रन्थों की रचना का, व्रजभाषा को काव्य-भाषा का रूप प्रदान करने में, इसी प्रकार का योग माना जा सकता है।

सूरदास के चमत्कारवादी और रीतिवद्ध ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी' तथा 'सूरसागर' के कुछ पदों में तत्सम शब्दों के व्रजभाषा में प्रयोग का तीसरा रूप प्राप्त होता है। दृष्टकूट पदों की रचना में सूर ने भी अमरकोष का सहारा लिया है। इन पदों में पर्यायवाची शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों की खींचतान के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। इस दृष्टकूट शैली के द्वारा भी व्रजभाषा का शब्दकोष व्यापक बना।

तत्सम शब्दों के प्रयोग के इन विभिन्न रूपों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व मध्यकाल व्रजभाषा के परिष्करण और विकास का युग है। भक्त कवि केवल कृष्ण के गुणगान करने में ही लिप्त नहीं रहे, भक्ति द्वारा उनकी आत्मा के परिष्करण और उन्नयन ने उनकी कला-चेतना को वह जागरूकता प्रदान की जिसके फलस्वरूप वे अपने काव्य और संगीत में भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रख सके तथा अपने युग में देश में पनपती हुई विदेशी संस्कृति से होड़ ले सकने में समर्थ हो सके। तत्सम शब्दों के ये विभिन्न प्रयोग भाषा-विषयक उसी जागरूक चेतना के उदाहरण रूप में लिये जा सकते हैं। इनकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि इन शब्दों का प्रयोग अधिकतर विषय, भावना और रस के अनुकूल हुआ है।

## अर्ध-तत्सम शब्द

संस्कृत के शब्दों को व्रजभाषा की ध्वनियों के अनुकूल ढालने के प्रयास के फलस्वरूप कृष्ण-भक्त कवियों ने अनेक शब्दों को इतना नया रूप दे दिया है कि उनका मूल अंश कुछ ही मात्रा में शेष रह सका है। इन शब्दों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतर ये परिवर्तन उन शब्दों में किये गये हैं जिनका उच्चारण कठिन था अथवा जिनकी ध्वनि की कर्कशता और कठोरता व्रजभाषा की मधुर प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती थी। इन शब्दों को अरस्तू के शब्द-विभाग 'परिवर्तित' शब्दों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन कवियों के हाथों में आकर संस्कृत के ये शब्द व्रजभाषा के शब्द बन गये। इस प्रकार के शब्द-निर्माण में सबसे बड़ा योग नन्ददास का है और उसके बाद सूरदास का स्थान माना जा सकता है। नन्ददास की कला-चेतना सूरदास की अपेक्षा अधिक जागरूक थी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भाषा की संगीतात्मकता, लय और माधुर्य की रक्षा के लिये इन शब्दों की रचना हुई है। कृष्ण-भक्त कवियों ने कर्णकटु शब्दों को मधुर, कठिन शब्दों को सरल बनाकर तथा संयुक्ताक्षरों के स्थान पर सम्पूर्ण वर्णों से युक्त शब्दों का निर्माण किया। ये अर्ध-तत्सम शब्द इसी प्रयास के परिणाम हैं। प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में इन अर्ध-तत्सम तथा तद्भव शब्दों की बहुलता है इसलिये उदाहरण रूप में प्रत्येक कवि की रचनाओं में से कुछ ही शब्दों का संकलन यहां किया जाता है।

कुम्भनदास

रतन, हरषि, कीरति, चरन, मारग, कटारि, निमिख, उतपति, दसमी, कौतुक, दच्छिन, तिय, सिथिल, निसंक, सक्र, करनफूल, कंकन, बिहवल, दीठि, छिनु, न्याउ, नछित्र, उदौ (उदय) दिसि, पूरन, कटाच्छ, हिदै (हृदय), सींवा (सीमा)।

सूरदास

अगिनि, अभरन, अरथ, ईस्वरता, कृतघन, तृस्ना, थान, थिति, दरपन, निस्चै, निहकाम, परतीति, परमान, मारग, लच्छमी, सुभाइ।

परमानन्ददास

अतिसै, सहस, पूरक, ग्यानिनु, सुभ, स्रीमुख, त्यजी, स्याम, स्रवनन, सर्वसु, रच्छा, महातम, सनेह, वाचा, घेन, वंस, कंसौ (केशव), भगत, चंद, हिरनकसिपु, पदम, उलंघन, वरावा, प्रापत, असीस, हुलसौ, चिन्तामनि, स्तुति, मरजादा, समर, वितीते, परनाम।

कृष्णदास

भेख, प्रनत, हृदै, तिलकु, सोभित, विस्व, स्रम सबदावली, सरद, स्वेत, कुनकारी (क्वणित), अतिसय, कीरति-बाला, कुनित, विस्राम, छिनु, गुपत, निसि, सत, गेंदुक, लोय (लोक), सत (सत्य), सुकीरति, दोति, छुद्र।

नन्ददास

जोति, सरवर, उमगि, वीरुध, धरम, वछ, मच्छ, कच्छ, सहस, आतमाराम, तुसार, मुरछि, अतिसय, नियन, असर्घा, स्मृती, सरद, जीवनमूरि, पख (पक्ष)।

चतुर्भुजदास

नच्छित्र, रासि, कुनित, सब्द, पच्छिल, आकास, पच्छिम, विरध, रिपि, जाम (याम), वरिखा, विसेखे, छिनु, आवेस, किन्नरेस, सिथिल, स्रवननि, संकरषन, सेत, दच्छिना, अच्छित, बैंनी (वेणी), महोच्छव, छिनु, सिंगार, विस्य।

छीत स्वामी

रवन, धूय, सरदचंद, हास, समृति, सिंगार, रिचा, सुछंद (स्वच्छन्द), सेस, पूरन, विध, घनि, उचारन, स्रवन, प्रफुलित, सूद्रादिक, मुतिनि, छयो (क्षयो), पदारथ, ततच्छितु, परोजनि, सिखर, मूरति, भगन, ससि, मारग।

गोविन्द स्वामी

पूरन, कलस, तरुन, असीस, परिपूरन, पित्रनि, प्रतिग्या, वरन, सब्द, आचारज, गुपत, धुजा, महोच्छत, अच्छति, रासी, घोख, विसद, सोडस, पीतल, सिज्या, छोमा, जंत्र, परवत, दसन, अरुन, जुगल, नाइक, तमोल।

हितहरिवंश

दिसवि, धुनी, (ध्वनि), पूत, मीत, क्रीड़त, अलप, गात, उकति, समें, फटिक, विलोकि, परसत, जीति, दोति (द्युति), पिय, खन, सलभ, अछिम, वसन।

उपरिलिखित शब्दों की तालिका पर एक विहंगावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत-शब्दों का रूप-परिवर्तन कृष्ण-भक्त कवियों ने उन शब्दों को ब्रजभाषा की ध्वनियों के अनुकूल ढालने के लिये ही किया है। कहीं-कहीं शब्दों के इस परिवर्तित रूप के अर्थ में अन्तर पड़ जाने की आशंका भी बनी ही रहती है। उदाहरण के लिए परमानन्द की यह पंक्ति—

बालक हते निगड़ में राखे कारागृह में बास।[1]

'हते' शब्द ब्रजभाषा की क्रिया 'है' का रूप भी है, जिसका अर्थ है 'थे'। प्रस्तुत पंक्ति में हते का अर्थ है 'हत्या की'। पूरी पंक्ति का अर्थ है 'बालकों की हत्या की तथा बेड़ियों में जकड़कर बन्दीगृह में डाल दिया।' आख्यान पौराणिक और प्रसिद्ध है इसलिए बालकों को कारागृह में डालने का अर्थ नहीं लगाया जा सकता, परन्तु यदि काल्पनिक आख्यान होता तो 'हते' शब्द का यह प्रयोग पाठक को भ्रम में डालने के लिये काफी था। इसी प्रकार स्वच्छन्द का रूपान्तर सुछंद तथा गृह का रूपान्तर ग्रह भी भ्रामक हो सकता है।

संस्कृत शब्दों के इस रूप-परिवर्तन में ब्रजभाषा-कवियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता का व्यवहार किया है। उनकी इस उदारता के कारण ही ब्रजभाषा इतने शब्दों को आत्मसात् कर सकी। तत्सम शब्दों का प्रयोग गरिमा और गाम्भीर्य के लिये उपयुक्त होता है, ये कवि उनका उपयोग करने में नहीं चूके हैं परन्तु दूसरी ओर 'ब्रजबोली' के तद्भव शब्दों के सीमित घेरे में ही बंधकर उन्होंने अपनी वाणी पर बन्धन नहीं लगाया है। तद्भव शब्दों से युक्त ब्रजभाषा के सीमित शब्द-समूह की समृद्धि उन्होंने इन अर्ध-तत्सम शब्दों का योग देकर की है। आज 'राष्ट्रीय और राष्ट्रिय', 'उदात्तता' और 'औदात्य' इत्यादि शब्दों की शुद्धि और अशुद्धि के प्रश्न को लेकर वाद-विवाद उठाने वालों के लिये ब्रजभाषा कवियों की यह नीति आँखें खोलने वाली शक्ति सिद्ध हो सकती है। भाषा की समृद्धि के सचेष्ट प्रयास में केवल शब्द-कोश में उद्धृत शब्द और अर्थ सहायक नहीं हो सकते। पारिभाषिक शब्दों के लिये यह तथ्य लागू हो सकता है, परन्तु काव्य-भाषा अपने विकास के लिये केवल 'पाणिनि' का मुँह नहीं ताक सकती। कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त अर्ध-तत्सम शब्द इस बात को सिद्ध करने के लिये काफी हैं।

### तद्भव शब्द

कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा में तद्भव शब्दों की संख्या सबसे अधिक है। प्रतिपाद्य के कुछ अंशों को छोड़कर प्रायः अधिकतर पदों में व्यावहारिक भाषा का ही प्रयोग किया गया है। जहाँ प्रतिपाद्य में अनुभूति की प्रधानता रहती है वहाँ भाषा में स्वाभाविकता और मार्मिकता का होना उसका सर्वप्रधान गुण माना जाता है। इसीलिये कृष्ण-भक्त कवियों के अनुभूत्यात्मक प्रतिपाद्य में तद्भव शब्दावली का ही प्राधान्य है। तद्भव शब्दों से तात्पर्य उन शब्दों से है जो मूलतः तो संस्कृत में थे परन्तु समय के साथ अनेक परिवर्तनों का सामना करते-करते हिन्दी की अपनी निजी सम्पत्ति हो गये हैं। वास्तव में इन्हीं शब्दों से किसी भाषा के शब्द-कोष का निर्माण होता है क्योंकि इनका निर्माण जनभाषा की प्रकृति के अनुसार समय

१. परमानन्द सागर, पृष्ठ १६५, पद ४८३—सं० गोवर्धननाथ शुक्ल

के मापदण्ड पर बड़ी स्वाभाविकता के साथ होता है। तद्भव शब्द-रूपों से इन कवियों की रचनायें भरी पड़ी हैं। अतएव विभिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ तद्भव शब्दों की संकलित सूची यहां प्रस्तुत की जा रही है।

कुम्भनदास

निरखति, उबटि, नौतन, हुलास, नसाये, खटरस, अघाति, ललचाति, गामति, कान्हर, पूत, सांकरी, अनवीगे, तिरिया, टीको, अवधर, चंद, बैस, लसै, बिजन, पाइनु, तिय, उद्दिप्त, हिदै, परधनो, अवेर, सांवरे, झरोखा, पहार, काछै, काछनी।

सूरदास

अंधियार, अकारथ, अचरज, आज, अहिवात, आखर, आग, उछाहु, उछाह, उनहार, कोख, गाजन, चौथ, दीठि, ताती, पखेरु, पत्ती, सखिया, सुवा, हिय, बीजु, बसीठ, पुरइन, पावस, पाहन।

परमानन्ददास

पाथरि, माती, रोरिये, गहने, निवही, तंबोर, बिछोह, बांचना, गात, पाती, बसन, तिहारे, नास सुहावनी, आस, बाढ़ो, रिस, मौचों, सवार।

कृष्णदास

पांति, आरति, बरुहा, अफून, कुमकुमा, दुराव, बिलसि, न्यौछावर, नाई, न्हारा, जमांई, पेली झेली, पहेली, ललस, कसोटी, तैं, चाय, भाय, सोहत, रहसि, आंच, सरवस, निखि, ऊंची, ठगौरी, गौरवन, फुहारें, चेरो।

नन्ददास

बानक, फटिक, राच्यो, पाहन, ओपी, पट्ट, मदार, उलहे, चांदने, सुहथ (स्वहस्त), काछैं, हथ, पटुकी, छादन, तूल, निरवधि, फरनी, आन, कैक, छांही, सूरि, मग, मरहठ, अमराय, उलहे, लीह, उनहारी, बिजन, साहर, तिन (तृण)।

चतुर्भुजदास

ग्वारु, मौतिन, थार, फुनि, लगुन, अखारो, भुए, सोहना, मोहना, फंद, सलौनो, पेखति, वारति, छेग, नासवे, ऊने, अंचरा, मटुला, सांझ, वारे-वारे, अंधियारो, उवार, फुनि; फुनि, चूम्यो, जाम, धरी, अंचर, जोंट, मौख, गवन।

छीत स्वामी

ललचाई, घात, वाचे, राचे, नेह, सगुन, पहिरे, झंजार, परस, गहि, गाई, लड्याऊं, फुनि, टेर, वारनो, सैन, पैने, थार, ओदनु, पौछति, निरखि, लाड़, खांचे, कांछे; कांछ, हरखना, झांई, अंकवार, मज्जु, दुलरी, बांक, भुरि, निरखना, सपति (शपथ), सचु, काछिनी, अंचरा, कान्ह, सोहन, जतनि, सांचे, उनीदे, मांझ, निसैनी, टेक, ठानी।

गोविन्द स्वामी

मांझ, दूज, पूत, आपदा, पाति, तपोत, परसि, राजत, वारति, सुछंद, निहारन, डीठि,

दूध, हरदी, रावलि, सजा, थार, नांतर, पराई, सैनावैनी, आंक, सुवंग, उघटत, थोरी, रीझै, अंगुरी, धौस, उडयाइ, उमगि, गह्यौ, दर्स, धुज, सिंघासन, काम, सुहाग, उनहार।

हितहरिवंश

फटकि, परस, अंचरा, नाये, छपति, विलोनि, घार, निरखि, पास, दीति, पिय, पंजर, संजयत, वसन, जुत, चतुर, विराने, सुघंग, मथत, लर, तूलैं, लजाती, मोलनि, अंकोर, सचु, रंगीलोई, अपुनपो, मांही, सहेली।

## व्रजभाषा के शब्द

कवियों के शब्द-समूह का चौथा स्रोत है व्रजभाषा का अपना शब्द-भांडार। इस प्रकार के शब्द संस्कृत के तत्सम, अर्घ-तत्सम तथा तद्भव शब्दों के साथ मिलकर व्रजभाषा के मौलिक और विशिष्ट रूप को सुरक्षित करने में सहायक होते हैं। सभी कवियों ने इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी भाषा को सजीव और प्राणोपम बनाया है। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दों की तालिका यहां उद्धृत की जाती है।

कुम्भनदास

नगारे, गज, ठोढ़ा, गुलगुली, लली, चोलना, झंगुलिया, तुर्रा-पटा, ढिग, पूठन, उपरेठा, खरमंडा, वासौंदी, सखरी, पिठौर, अंगोछि, वीड़ा, गुजरेटी, ठटियां, गटियां, ग्वैंडे, ऐंडे, भैंड़े, पैंडे, वरियाई, राटि, घौरी, घुमरि, टिपारो, पीरे, वेसार, खुभी, चच्यो, जूनी, वागा, पाग, पिछौटा, कुलह, टैंटी, महेरी, सिदौसी, आरोगत, ओदन, विटिया, उलटे, करसी, छुलि।

सूरदास

औचट, खुनुस, घींच, गौड़िया, चिरिया, उद्भावै, टकरोरत, हूकी, तालवेली, नौआ, वगदाइ, वोहनी, मूड़, साँझ, मांड़ी, डोंगर, वाइ, मूर्खी, फफेरी, झौकट, भौड़ा, सिकहर, सौंतुख, हांक, हेलुआ, खरिक, वाखरि, नरजी, अचगरी, ढ़ौरी, वागरि।

परमानन्ददास

वहोरि, पुराई, डपडोल, वधायो, पटा, मामतो, कचतर, सिंघारन, खटमालन, रैया, भाडवंद, पहौंची, छांछी, वाछी, एंमुली झंगुलिया, लरिकां, ढोठा, पेखर, चवाई, झुझुवा, टेरना, थोंद, घोद, पिरायेंगे, दोहनी, ढ़ढ़ोरि, खोटि, भाट, ढ़ाड़ी, ढाड़िन, भोट, झंझोटा, वोहनी, अरैरी।

कृष्णदास

पांय, खिसाय, वसहा, तर, कछु, एजू, झकोरे, मुर्हांह, निहाल, छिपारो, ओढ़नी, छैल छिकनिया, टकटोलति, झूमत, पट, तनसुख, टेढ़ी, घुरवा।

नन्ददास

डगरी, गौहन, चोप, वूवरी, छिलछिल, सिरावहु, अहुरि, वहुरि, अटत, अलवल, भोंगी भोंगी, रली, मलकनि, छेकि, नैंनुक, विथुरत, आलात, सैंनी, ननु, अरवर, छिछै, छिया, विररो, चटसाट, फुटक, खुभी, उमकै, तोह, ठौनि, वारी, टटावक, ओती, घूंघरि, सौघो, फरी

गिलि, अहरनि, नाट, भुलकि, पहपटिया, नौहरि, उनसौंही, नहुरं, दुकाय, भर, लवा, उयबानी, निहौरि, करैरी, ऐंपरि, बिरराई, अनौ, वई, होइनि, बीरी, वागं, चुचात, इत्यादि।

चतुर्भुजदास

वधैया, खेव, डगर, धाई, गोहनी, ढाल, ठाठिली, पेखती, पतीजे, महुला, पिछोरा, वड, बोरा, औंचका, लली, ताई, वरियाई, वागो, तनसुख, उघटति, गांग, उपरेता, डढ़ि, पिछौरी, घूमरि पछौंड़े, हटरी, वडडे, मुंडवारो, छाक, मौर, वधाये, चौवा, सिहाय, वूका, पाग, ढरकि, बार, विछुवन, ज्योनारि, मुरिकें, मत्यो, सौंधे, दमामा, खंज, मनलरी, नियरे, टिपारो, पाग वागो, सूथन, छपैरी, तनी, दहावे, सिरायों, लुगैयां, पैंजनी, नेंकु, पिछौरा, चुनरी।

छीत स्वामी

लीपो, चौक, पुरखो, चोजनि, बाखरि, वाझौ, सौंधी, मडहा, बूका, फुनि, माडत, अघोटी, पाग, कुलही, उनेदन, खसत, छेनी, छोरा।

गोविन्द स्वामी

अतरु, अवरी, बडडे, पान्यों, पनारि, वाछरु, भतो, तेज, अलहीये, खरुवे, उसरो, मुरकी, भवैं, अचगरो, कुअटा, अघौटी, घौरी, कौद, कांकरी, हटको, हलावेली चिकनिया, भंगुली, भंगुला उपटेना, पाग, पगिया, सूथन, वागा, लहरिया, टिपारा, अतरौटा, कठुला, करनेटी, हंसुली, कांवरी, कुल्हैया।

हरिदास

तद्भव और व्रजभाषा के शब्द : मुहांमुही, वयार, लावनि, दोहनी, निहरी, वलैया, चिहारी, गहरु, लाही, अतरौटा, पूरइन रूसनो, औली, बूका, रावती।

ध्रुवदास

अंकवारी, अतरौटा, खुटिला, गांस, तरवनि, दरीची, द्यौस, पियराई, नाठी, फटिक, जेहरि, ठगोरी, कसनी, कांकरेजी, छोहरा, चेटक, बिसरि, बिहावी, सुथराई, सुहो, हरद, हुलास, लौट, पत्यात, पतरी, पांवड़ा, बीरी, रवनक।

**विदेशी शब्द**

मुसलमानों के राज्य-स्थापन और मत-प्रचार के फल-स्वरूप भारतवर्ष में फ़ारसी राजभाषा के रूप में स्थापित की गई। शासन-केन्द्र होने के कारण दिल्ली और आगरे में फ़ारसी तथा अन्य विदेशी भाषाओं के गढ़ बन गये। इस प्रकार व्रजभाषा-क्षेत्र पर इन विदेशी भाषाओं का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। उत्तरी भारत में फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द जनसाधारण की बोलचाल की भाषा के अंग बनकर प्रचलित हो गये परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि केवल सूरदास ने ही इन शब्दों का प्रयोग बिना किसी हिचक के स्वतन्त्रतापूर्वक करके अपनी भाषा की व्यावहारिकता में वृद्धि की। विदेशी शब्द भी संस्कृत के तत्सम शब्दों की भांति ही अपने मूल रूप तथा अर्ध-तत्सम दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त विदेशी शब्दों की एक लघु सूची यहां प्रस्तुत की जाती है।

अमीनी, कसब, खसम, जवाब, मुजरा, मुहकम, मुहर्रिर, मुसाहिब, कुलफ, लहरी, खता खवास, गुलाम, जमानत, मसक्कत, दामनगीर, दलाली, मेहमान, सरदार, कुलहि, खराद, खानाजाद, ताज, बेसरम, दाग, कुमैत ।[1]

अन्य कवियों की भाषा में विदेशी शब्दों का व्यवहार बहुत ही न्यून है। उनके प्रयोग का अनुपात प्रायः उसी प्रकार माना जा सकता है जिस प्रकार आज की भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी शब्दों का है। परमानन्ददास, नन्ददास तथा अन्य सभी कवियों की रचनाओं में विदेशी शब्दों का प्रयोग अत्यन्त विरल है। प्रायः इन सभी कृतियों में से विदेशी शब्दों का संकलन करने में बहुत प्रयास करना पड़ता है। कुछ शब्द जैसे 'अबीर', 'कुलही', 'चंग' इत्यादि ऐसे हैं जो देशज शब्दों में घुलमिल गये हैं।

सूरदास की भाषा पर विचार करते हुए डा० प्रेमनारायण टंडन ने लिखा है: "अरबी-फ़ारसी और तुर्की के अनेक शब्द उत्तरी भारत में सामान्य बोलचाल की भाषा में प्रचलित हो गये थे। यही कारण है कि इन विदेशी भाषाओं का विधिवत् अध्ययन न करने वाले ब्रजभाषा और अवधी के तत्कालीन कवियों ने भी इनका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया और इस प्रकार अपनी-अपनी भाषा को व्यावहारिक रूप देने में समर्थ हो सके।"[2]

जहाँ तक सूरदास की भाषा का सम्बन्ध है, हो सकता है कि यह कथन ठीक हो। परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि सूर ने भी अधिकतर इन शब्दों का प्रयोग उन्हीं स्थलों पर किया है जहाँ उन्होंने समसामयिक राजनीतिक जीवन से गृहीत उपमानों के आधार पर अप्रस्तुत योजनायें की हैं। अन्य स्थलों पर उनकी भाषा में भी विदेशी शब्द उसी प्रकार आये हैं जैसे आज की भारतीय भाषाओं के लिये स्कूल, स्टेशन और रेडियो आदि शब्द अनिवार्य हो गये हैं। डा० टंडन आगे लिखते हैं—"तत्कालीन कवियों द्वारा इन विदेशी भाषाओं के शब्दों का अपनाया जाना भारतीय संस्कृति और जन-मनोवृत्ति की उदारता ही सूचित करता है। विदेशियों ने यहाँ की जनता और उसकी भाषा के साथ कैसा भी व्यवहार किया हो, हमारे कवियों ने विदेशी शब्दों को कभी अछूत नहीं समझा और जिन अवधी और ब्रजभाषा के माध्यमों से भक्त-कवियों ने अपने-अपने आराध्यों की परमपावन लीलाओं का गान किया उनमें अनेक विदेशी शब्दों को भी सादर स्थान दिया गया। यह आदर्श भारतीय सांस्कृतिक सहिष्णुता का एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है।"[3]

कृष्ण-भक्ति-काव्य-परम्परा के ब्रजभाषा कवियों के विवेचन और विश्लेषण के उपरांत उनकी भाषा में विदेशी शब्दों की स्थिति को देखते हुये इस प्रकार का निष्कर्ष देना अपनी संस्कृति के प्रति अनावश्यक और व्यक्तिपरक मोहमात्र होगा। नन्ददास के कोश-ग्रन्थों के निर्माण में देशी भाषाओं के पुनरुत्थान और पुनर्गठन का ध्येय ही प्रेरणा रूप में सन्निहित

---

१. सूरसागर, पद ६५, ७१, ७३४, १४८, ४-१८८, १—८५, ६८५, १४२, ७, १६०, १-१४१, १—१७१, ११८, १—१८५, १—१३८, ३३४, १—३१०, ३५१६, ३५४३, १८, १०—४१, ३२०, १—५५, १८—३१

२. सूर की भाषा, पृष्ठ १२२—डा० प्रेमनारायण टंडन

३. सूर की भाषा, पृष्ठ १२२—डा० प्रेमनारायण टंडन

दिखाई पड़ता है। विदेशी शासकों के संरक्षण में राज-भाषा फ़ारसी तथा उससे सम्बद्ध अरबी और तुर्की के शब्दों का प्रयोग दिन-पर-दिन बढ़ना स्वाभाविक था, भारतीय जनता राजनीतिक क्षेत्र में विवश और असहाय थी परन्तु साहित्य, संस्कृति और धर्म की जड़ें जनता के हृदय में इतनी गहरी थीं कि उन्हें आसानी से हिलाया नहीं जा सकता था। सूरदास की 'साहित्यलहरी' नन्ददास की 'मानमंजरी' और 'अनेकार्थ ध्वनि-मंजरी' में जहाँ उस युग के जीवनदर्शन में प्रबल होती हुई प्रदर्शन-वृत्ति और चमत्कारवादिता की अभिव्यक्ति हुई, वहीं व्रजभाषा के पुनरुत्थान का भी सयत्न प्रयास इन ग्रन्थों में दिखाई देता है। 'सूरसागर' के वृहद कलेवर में विदेशी शब्दों की संख्या का जो अनुपात है उसे सूर की उदारता का परिचायक मानना अधिक उपयुक्त नहीं है। उन शब्दों का प्रयोग तो सूरदास की जागरूक कला-चेतना का फल है। दरबारी जीवन के रूपकों के निर्वाह के लिये तत्कालीन दरबारों में प्रयुक्त विदेशी शब्दों से अधिक उपयुक्त शब्द और कौन हो सकते थे? कवि का दृष्टि-संकोच उसके लिये अभिशाप बन जाता है, सूर की दृष्टि का यह विस्तार विदेशी शब्दों को अपनाने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि कवि के दायित्व का निर्वाह करने के फलस्वरूप हुआ था। नन्ददास के कोश-ग्रन्थों में सर्वत्र संस्कृत को ही पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया गया है। देशज, तद्भव और तत्सम शब्दों के साथ विदेशी पर्यायों का प्रयोग न किया जाना ही इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास ने विदेशी शब्दों के प्रयोग में हिचक नहीं दिखाई है। जहाँ उनकी जरूरत थी उन्होंने उनको इस्तेमाल किया है परन्तु अन्य कृष्ण-भक्तों ने इस क्षेत्र में सूर का अनुकरण नहीं किया। विदेशी शब्द उनकी रचनाओं में अत्यन्त विरल हैं।

इससे मेरा तात्पर्य कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा-नीति में दृष्टि-संकोच की स्थापना करना नहीं है। अपनी भाषा के पुनरुत्थान का प्रयास सर्वदा विदेशी भाषा के प्रति घृणा की प्रतिक्रिया रूप में ही नहीं किया जाता। परन्तु मेरा यह स्पष्ट विचार है कि व्रजभाषा की समृद्धि के लिये इन कवियों ने संस्कृत का ही सहारा लिया। यह हो सकता है कि विदेशी शब्दों का बहिष्कार उन्होंने जान-बूझकर न किया हो। इन कवियों ने कुछ थोड़े से ही विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है। प्रायः सभी कवियों द्वारा प्रयुक्त विदेशी शब्दों की सूचियों में थोड़े-बहुत अन्तर के साथ एकरूपता विद्यमान है। बात वास्तव में यह है कि इन कवियों के प्रतिपाद्य में ही विदेशी ध्वनियों और उनमें निहित अभिव्यंजक तत्वों की अधिक गुंजाइश नहीं थी। विभिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त विदेशी शब्दों की सूची यहाँ उद्धृत की जाती है।

कुम्भनदास

दरबार, दुहाई, गुमानी, अबीर।[1]

परमानन्ददास

हवाल, ढाढ़िस, ऐलान, जासूस, जुहार, सादी, हजार।[2]

---

१. कुम्भनदास, ३, २०, ३६२, वि० वि० कां

२. परमानन्दसागर, पद सं० ३६३, ४५०, ४७५, ५४६, ५१२, ५५१, ५६६—स० गोवर्धननाथ शुक्ल

कृष्णदास

खसखाना ।[1]

चतुर्भुजदास

दरबार, मखतूल, कुलह, जरकसी, छतना, औरसी, फोंदा, मखतूली, लायिका, कसीदा, सूथन, लाइक, दरबारा, दरबार, फांसी, जेलें, निहाल, खासी, खवासी, सौंघन, हवाल, परवाह, रेखता, पेंज, हैज, मूखतली ।[2]

छीतस्वामी

लाइक, गुमान, तखत, वखत ।[3]

हरिदास

अखत्यार, पिदर, सुमार, निसार, सतरंज, पियादे, फरजी ।

ध्रुवदास

अपसोस, कलम, खबरि, गरूर, जरकसी, फानूस, फांसी, मखतूल, सतरंज ।

रसखानि द्वारा प्रयुक्त विदेशी शब्दों के उल्लेख के बिना यह प्रसंग अधूरा ही रह जायेगा। रसखानि मुसलमान भक्तकवि थे। उनके लिए फ़ारसी तथा अरबी शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक था लेकिन उन्होंने ब्रजवल्लभ के प्रति माधुर्य भावना के साथ ही उनके ब्रज की भाषा-माधुरी को भी पूर्ण रूप से अपना लिया था। उनकी भाषा में ब्रजभाषा के तद्भव शब्दों का प्रयोग ही अधिक हुआ है। कहीं-कहीं यवन-प्रभाव दिखाई पड़ता है—

जां बाजी बाजी तहां दिल को दिल सौं मेल ।[4]

लैली और महबूब जैसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

परिमाण तथा योग दोनों ही दृष्टियों से कृष्ण-भक्त कवियों की इस नीति को उदार और ग्राहक प्रवृत्तियों का प्रतीक नहीं माना जा सकता।

## हिन्दी की अन्य उप-भाषाओं के शब्द

भारत जैसे विशाल देश में जहां एक-एक प्रान्तीय भाषाओं के अनेक रूप प्राप्त होते हैं, कवियों की भाषा में उसकी प्रमुख भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के शब्द स्वभावतः ही आ जाते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों के युग में ब्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी भी स्वतन्त्र भाषा का पद प्राप्त कर चुकी थी। अन्य उपभाषायें थीं बुन्देलखण्डी और कन्नौजी जो ब्रजभाषा की ही उपशाखायें थीं। इन सभी कवियों की रचनाओं में अवधी के शब्द यथेष्ट संख्या में मिलते हैं। एक बात द्रष्टव्य है कि जहां अवधी-क्षेत्र के अनेक कवियों ने ब्रजभाषा में रचनायें कीं, ब्रजभाषा में लिखने वाले कवियों ने अवधी भाषा में नहीं लिखा, उनकी रचनाओं में तो

---

१. अष्टछाप परिचय, पद सं० ६८—प्रभुदयाल मित्तल

२. चतुर्भुजदास, ७८, ९०-९१, १६०, १६१, १६५, १६७, २११, २१३, २३०, ४२, ५१, ७२, १११, १३८, १२४, १४२, १७६, २०४, २६६, २७०, ३०२, २०६, २२४, ५००, ५१५, ५४१ ।

३. छीत स्वामी, ५६, १३६, १६२

४. रसखानि पदावली, पृष्ठ ११

अवधी के ऐसे प्रयोग ही अधिक मिलते हैं जिनका व्रजभाषा के शब्दों के साथ साम्य था। वास्तव में अवधी के शब्द कहीं-कहीं तो इतने घुलमिल गये हैं कि निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उन्हें व्रजभाषा का शब्द मानें अथवा अवधी का। कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त अवधी शब्दों की एक सूची यहां प्रस्तुत की जा रही है—

कुम्भनदास

जिनि—होरी कौ है औसरु जिनि कोऊ रिस माने।[1]

इहि—'कुम्भनदास' प्रभु इहि विधि खेलत, गिरधर पिय सब रंगु जाने।[2]

नियरे—स्याम सुनु नियरे आयौ मेहु
बिजना-बियार ढोरति सखी नियरे सीतल लागत पवन।[3]

ठोंइ—एक ठोंइ देने उराहनो आई, मैं काहू का दधि नहीं खायौ।
तैं—बडीय वार की मारगि जोवति तैं कित गहरु लगायो।

सूरदास

अस, आहि, इह, इहां, उहां, ऊंच, कनियां, वें, कौन, गोर, छोट, जुआर, जुवारी, तोर, दुवार, पियासे, बड़, बियारी।[4]

परमानन्ददास

कीनी, दीनी, खगारो, चुचकारि, कीनी, पैसि, लीनौ, अढ़ैयो, इहां, इहिं, किहि इत्यादि।[5]

एक स्थान पर श्री आचार्य जी महाप्रभु के स्मरण के पदों में उन्होंने 'अक्का जू' शब्द का प्रयोग किया है। 'अक्का' महाराष्ट्र तथा दक्षिण में अग्रजा के लिये प्रयुक्त होता है।

'विट्ठलनाथ पालने झूलें अक्का जू झुलावै हो।'[6]

नन्ददास

रहपट, चुचाई, चुचात, अस, काहे, हमरे, रावरे, कीनी, मांही, आही इह न कहइ अस ईहां ऐसे, जस, अस, इहै, कीनी दीनी, खैकारा, अस, जौन, पहपटिया, नेहुरे, अस, वड्डे, तर, अस, कवन, अस, अस जस।[7]

---

१-२. कुम्भनदास, पृष्ठ ३७।७५, वि० वि० कां
३. कुम्भनदास, पृष्ठ ४५। १०४
४. सूरसागर, पृष्ठ १-७५, १०-३१, १-२२६, सूरसारावली, १०६६, १९१६, ३१४०, ४०७३, ६-८३, २८७३, ३२०१, २७६६, १०-२२७—ना० प्र० स०
५. परमानन्द सागर, पृ० २४२०, १-१६२, १-२८६, १-३२०, १-२८४, १-२४, १०-५५, १०-८१, २५५०, ६-३६—सं० गोवर्धननाथ शुक्ल
६. परमानन्द सागर, पृ० १९६ (५७५)—गोवर्धननाथ शुक्ल
७. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ २४६, २३७, २७५, १७६।२२, १७६।३१, १७४, १४०, ४७०, ११७, ५३-६०, १२०, १२१।८१, १२२।१०४, ११६, ३८-४०, १२८।२३३, १३३।३३६, १३२।३०३, १३१।३९१, १३६।१८३, १३६।४४६, १३६।४५०, १४०।४७०, १४४।५६-७, ३४७, २०२।२०३-३१, २०४।५४, २०३।६०—सं० व्रजरत्नदास

चतुर्भुजदास

दीनीं, दीन्हीं कीन्ही, दीनो कीनो, वड्डे, चुचावैं, नियरे, सुपेदी, ठट्ठुरिया, जिनि, ईहि, इह, इहै,, जिनि, माँही, इहे।[1]

दीनी—दीनी नई नकवेसरि चेंवी जराउ की।[2]

दीनी—दीनी है कंचन जेहरि पंकज पाउं की।[3]

दीन्हीं—दीन्हीं है सारी सौघें भींजी कंचुकी नेह की।[4]

कीन्हीं—कीन्हीं है मालिनि ढाल सुढ़ाढ़िनि गेह की।[5]

ब्रजभाषा में 'दिया' क्रिया का भूतकालिक रूप होता है 'दियौ' परन्तु इन कवियों ने कहीं-कहीं अवधी की क्रियाओं में 'ई' के स्थान पर 'ओ' का प्रयोग करके उन्हें नया ही रूप प्रदान कर दिया है। जैसे—

दीनो कीनो—वैरी विरह वहुत दुख दीनो कीनो छाती छेग।[6]

वड्डे—वैनी ग्रथति डुलति नितम्वनी कहा कहूं वड्डे वार[7]

चुचावैं—फिरि पुचकारि निरखि श्रीमुख को हरखें स्नेह पयोधि चुचावैं।[8]

आनि—प्रात समै उठि मात रोहिनी वलदाऊ को आनि जगावैं।[9]

नियरे—नियरे जाइ सुपेदी खेंचति।[10]

ठट्ठुरिया—जैसी काहू की ठट्ठुरिया रुनक भुनक करि आवै।[11]

जिनि—हा हा और सुनै जिनि कोऊ।[12]

ईहि—तुम वलराय संग मिलिकैं ईहि आंगन खेलहु दोऊ भइया।[13]

इह—सौभा देत सरस सुन्दरि इह चलनि हंस गज लटक।

इहै—अव इहै तन जानै नहीं सखी और दूसरी चाल।

जिनि—या मोहन पै मोहिनी जिनि मोह्यो सव संसार।[14]

माँही—पिय को मन वसैरो लाड़िली तेरे तन माँही।[15]

इह—तव इह कृपा नन्द नन्दन की गिरि करी धरि जुडवारे।[16]

---

१ से ५ चतुर्भुजदास, पृष्ठ ७, १६, ७७, १४०, १४८, १५१, १५२, १६७, २३५, २६६, २६६, ३१५, ३५०, ५।७, वि० वि० कां०

६. चतुर्भुजदास, पृष्ठ ६।१६, वि० वि० कां०

७. ,, ,, ४१।७८ ,,

८. ,, ,, ८३।१४० ,,

९. ,, ,, ८३।१४० ,,

१०. ,, ,, ८५।१४१ ,,

११. ,, ,, १४६।८८ ,,

१२. ,, ,, १६।१५१ ,,

१३. ,, ,, १२४।२३५ ,,

१४. ,, ,, १३६।२६६ ,,

१५. ,, ,, १५४।३१५ ,,

१६. ,, ,, १६७।३५० ,,

गोविन्द स्वामी द्वारा प्रयुक्त अवधी के कुछ शब्दों की तालिका

हनी—प्रथम हनी तुम पूतना हो लाल सकट भंजन तृन भारि।[1]
खरुवे—पान्यो पीवे नदी जमुना को अंजन खरुवें खांहि।[2]
चुचाई—बहुरयो लियो जननी गोद करि अस्तन चले हैं चुचाइ।
कनिया—कहत जसोदा, सुनो मेरे गोविन्द, लेहुँ कनिया चढ़ाइ।
गोहन—स्याम सुन्दर हों हासी तिहारी मन मेरे गोहन परी।
कीनी—गोविन्द प्रभु पिय की हों कहा कहो कीनी जो मन मानी।
इह—जसोमति पाक परोसि कहत सखि तू ले जाउ वेगि इह देन।
कोरी—ललिता चन्द्रावलि मतो करि श्री वल्लभ गहे भरि कोरी।[3]
अगवारे-पिछवारे—अगवारे-पिछवारे गोविन्द प्रभु गारी देत उघार।[4]
चुचकारत—चुचकारत पोछत सुन्दर कर सकल सुगम सुख ऐनु।
इह—इह सुख कहत न बनि आवत रसभरत रंग रह्यो भारी।
चुचात—पुत्र सनेह चुचात पयोधर पुलकित अति हरखानी।
इहि—दौरि आई हँसि कंठि लपटानी इहि विविध तान मोहे सुनाओ।
गोविन्द प्रभु नटनागर नगधर इहि विधि गाढ़ो मान मनायो।
हने—नासिका ललित वेसरि असन अवर कर मुरलि का टेर गोपी विरह दुख हने।[5]

छीत स्वामी

गोहन—नवल निकुंज धाम पे सजनी ! चलि मेरे तू गोहन।
पहियां—दूती के संग चली उठि मानिनी कुंज-सदन गिरधर पिय पहियां।

अष्टछाप के अन्य कवियों की रचनाओं में इस वर्ग के शब्द बहुत कम हैं।

हितहरिवंश

नन्द के लाल हरयो मन मोर।
तो बिनु कुमरि काम की वेदन मेटव कवन।
चलहि न चपल बाल मृगनैनी तजिव भवन।
दसन वसन खण्डित मंडित भषि गंड तिलक कछु थोर।
ताल भेद अवधर सुर सूचत नूपुर किंकन वाजु।

---

१-२ गोविन्द स्वामी, पृष्ठ १०, १२
३. ,, ,, ७, १३, ३३, ४७, ५३
४. ,, ,, ७२
५. ,, ,, १, १५, ३७, ५५, ७८

कतिपय पदों में परमानन्ददास जी की भाषा में खड़ीबोली का स्पर्श भी मिलता है। डा० दीनदयालु गुप्त इन पदों को संदिग्ध मानते हैं। पद इस प्रकार हैं—

देखो री यह कैसा बालक रानी जसुमति जाया है।
सुन्दर बदन कमल-दल लोचन देखत चन्द लजाया है।
पूरन अखिल अलख अविनासी प्रकट नन्दघर आया है।
मोर-मुकुट पीताम्बर सोहे केसरि तिलक लगाया है।
कानन कुण्डल गल बिच माला कोटि भानु-छबि छाया है।
संख चक्र गदा पद्म विराजे, चतुर्भुज रूप बनाया है।
परमेश्वर पुरुसोत्तम स्वामी जसोमति सुत कहलाया है।
मच्छ कच्छ बाराह और वामन रामरूप दरसाया है।
खंभ फारि प्रकटे नरहरि वपु जन प्रह्लाद छुड़ाया है।
परसुराम वपु निकलंक होय भुव का भार मिटाया है।
काली मरदन कंस निकन्दन गोपी नाथ कहाया है।
मधु सूदन माधव निकंद प्रभु भक्त बछल पद पाया है।
सुर नर मुनि के ध्यान न आवत अद्भुत जाकी माया है।
सो परब्रह्म प्रगट होय ब्रज में लूटि लूटि दधि खाया है।[1]

अद्भुत देख्यो नन्द भवन में लरिका एक भला।
गावति हँसति हँसावति ग्वालिनि झुलवति पकरि झला॥[2]
जब ते सुने नन्द-नन्दन को ले गये अक्रूर,
मथुरा ढोल दमामे बाजे कंस करेंगे चूर॥[3]

कृष्ण-भक्त कवियों पर खड़ीबोली के प्रभाव के प्रसंग में एक बात उल्लेखनीय जान पड़ती है। 'परमानन्द सागर' के कुछ पदों में खड़ीबोली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसी से मिलता-जुलता एक पद सूरदास-कृत भी मिलता है जो केवल नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित सूरसागर में मिलता है, इसमें खड़ीबोली का स्पर्श ही नहीं स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। पद इस प्रकार है—

मैं जोगी जस गाया रे बाबा मैं जोगी जस गाया।
तेरे सुत के दरसन कारन मैं कासी से आया।
परम ब्रह्म पूरण पुरुषोत्तम सकल लोक जा माया।
अलख निरंजन देखन कारन सकल लोक फिर आया।

---

१. परमानन्द सागर, पृष्ठ १३, पद सं० ३७
२. ,, ,, १४ ,, ३९
३. ,, ,, १७१ ,, ५०४

घन तेरो भाग जसोदा रानी जिन ऐसा सुत जाया।
गुनन वड़े छोटे मत भूलो अलख हूं आया॥[१]

नागरी प्रचारिणी सभा तथा वेंकटेश्वर प्रेस के प्रकाशित 'सूरसागर' के संस्करणों में इस पद का न होना उसकी प्रामाणिकता को संदिग्ध बना देता है। डा० टंडन ने इसे अप्रामाणिक माना है। वास्तव में समस्त कृष्ण-भक्ति साहित्य में खड़ीबोली के प्रभाव से युक्त केवल इन तीन-चार पदों की स्थिति संदिग्ध ही जान पड़ती है।

उस समय प्रचलित और विकास की ओर अग्रसर होती हुई भाषाओं में सबसे अधिक प्रभाव ब्रजभाषा पर अवधी का ही पड़ा है। लेकिन वह प्रभाव भी बहुत कम है। तत्कालीन ब्रजभाषा की स्थिति प्रायः आज की खड़ीबोली के समान मानी जा सकती है। उत्तराखंड के अधिकांश भागों में काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत ब्रजभाषा पर अनेक भाषाओं और उपभाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था परन्तु ब्रजभाषा के कवियों ने अपने शब्द-कोश की समृद्धि के लिये प्रधान रूप से संस्कृत का सहारा लिया। संस्कृत के विभिन्न शब्दों को मूलरूप में तथा उन्हें ब्रजभाषा ध्वनियों के अनुकूल संशोधित और परिवर्तित करके भी ग्रहण किया गया। संस्कृत की शुद्ध तत्समता पर उनका आग्रह सर्वत्र नहीं दिखाई देता। सांस्कृतिक और साहित्यिक पुनरुत्थान का माध्यम होने के कारण उसके रूप का यह लचीलापन ब्रजभाषा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। बुन्देलखण्डी और कन्नौजी के शब्द तो प्रायः उसके अपने थे ही। अवधी के शब्द भी उसमें इतने घुलमिल गये हैं कि उनका पृथक् रूप पहिचानना कठिन हो जाता है।

एक स्थान पर अपवाद रूप में नन्ददास की कृति 'रूप मंजरी' में ब्रजभाषा की प्रतिकूल ध्वनियों से निर्मित भाषा का प्रयोग भी किया गया है। डा० दीनदयालु गुप्त प्रस्तुत पंक्तियों को भी संदिग्ध मानते हैं। पंक्तियां इस प्रकार हैं—

गुणि गुण गुणाण गणिय मच्छाभगा विहंग मारेहा;
तिय रस प्रेम पमाणं जाणं जीघणं जपिय जीहा॥[२]

## मीरा की भाषा

मीरा की भाषा का अध्ययन पूर्वमध्यकालीन भक्त-कवियों की भाषा के उपर्युक्त वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। उनकी भाषा के रूप-निर्माण में प्रेरक परिस्थितियां भिन्न प्रकार की थीं। उनके जीवन के तीन प्रमुख क्रीड़ा-स्थल रहे। राजस्थान में शैशव तथा गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत कर वे वृन्दावन गईं, तदुपरान्त द्वारिकापुरी में जाकर उन्होंने जीवन के शेष दिन व्यतीत किये। उन तीनों ही प्रदेशों की भाषा का प्रभाव उनकी रचनाओं में मिलता है। राजस्थानी, ब्रजभाषा तथा गुजराती के शब्दों का प्रयोग उन्होंने बहुलता से किया है। उनकी भाषा सदैव जनसाधारण की भाषा रही। साहित्यिकता और

---

१. सूरसागर, पृष्ठ १५-१६, पद १०५, न० कि० प्रे० संवत् १९२०
२. रूपमंजरी, ५१५, नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १४२

आचार्यत्व की कसौटी पर वह खरी नहीं उतरेगी।

मीरा की भाषा में पूर्वी राजस्थानी (पिंगल) का ही प्राधान्य है। उनके गुजराती पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व है; इन्हीं के आधार पर उन्हें गुजराती भाषा के प्रमुख कवियों में स्थान प्राप्त है। उनके हिन्दी पदों में भी अनेक स्थलों पर गुजराती छाप मिलती है—

प्रेम नी प्रेम नी प्रेम नो मोहें लागी कटारी प्रेम नी।
जल जमुना मां भरवा गमांता, हती गागर माथे हेम नी।[1]

इसके अतिरिक्त पंजाबी, खड़ीबोली तथा पूर्वी भाषा का प्रभाव भी उनके पदों में दिखाई देता है। उदाहरण के लिये—

हो कानां किन गूंथी जुल्फां कारियां
तथा
चतुमति के दुवरवां ग्वालिन सब जाय।
बरजहु आपन दुलरवा हमसे अरुभाय।

वास्तव में मीरा की भाषा का रूप-निर्धारण अपने आप में एक स्वतन्त्र विषय है। अपनी सार्वदेशिक लोकप्रियता के कारण उनके पदों का रूप बड़ा संदिग्ध हो गया है। बंगदेश से पंचनद प्रदेश, उत्तरापथ से महाराष्ट्र-गुजरात और दक्षिणापथ तक उनके गान जनता की वाणी में मुखरित हो उठे। तत्पश्चात् परम्परागत विकास, प्रचार के विस्तृत क्षेत्र और सार्वजनिक लोकप्रियता के कारण उनके गीतों के बाह्य परिधान में अनेकरूपता आ गई।

कृष्ण-भक्त कवियों में मीराबाई का अग्रगण्य स्थान है। साधारण नियम के अनुसार उनकी भाषा का प्रभाव दूसरे कवियों पर भी पड़ना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मीरा ने ब्रजभाषा में गुजराती और राजस्थानी भाषा की जिन विशेषताओं को समाविष्ट किया, वे उन्हीं की रचनाओं तक सीमित रह गईं। इसका मूल कारण यही था कि इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कलागत प्रयोगों के फलस्वरूप नहीं किया गया था। वह केवल मीरा के वैयक्तिक परिवेश और परिस्थितियों का प्रभाव था। मीरा की भाषा के विविध रूपों के कारण उसके विस्तृत तथा प्रामाणिक पाठ-शोध के अभाव में, उसके विषय में अन्तिम निष्कर्ष देना कठिन है।

सारांश यह है कि जहां तक शब्द-समूह का सम्बन्ध है, आलोच्य कवियों ने मुख्य रूप से ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। संस्कृत के द्वारा उसको समृद्ध और परिष्कृत किया है तथा हिन्दी की अन्य उपभाषाओं से भी उन्होंने यथा आवश्यकता शब्द ग्रहण किए हैं। विदेशी शब्दों के प्रयोग में भी उनमें दृष्टि-संकोच नहीं मिलता।

कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति है उनके द्वारा प्रयुक्त अनुकरणात्मक शब्द जिनके द्वारा उन्होंने लीला-पुरुष कृष्ण की मनोरम लीलाओं में प्राण भर दिए हैं, उन्हें साकार बना दिया है। इन्हीं शब्दों के द्वारा राधाकृष्ण की लीलायें, गोपियों की अनुभूतियां, वृन्दावन की प्रकृति तथा गोचारण के अनेक चित्र हमारे नेत्रों में साकार हो

---

१. मीराबाई की पदावली, पृ० १५२, पद १७५—परशुराम चतुर्वेदी

उठते हैं। बिम्ब-निर्माण करने में ये शब्द बहुत सहायक हुये हैं। अतएव व्रजभाषा कवियों की शब्द-योजना के प्रसंग में उनका विवेचन सबसे अधिक आवश्यक और अनिवार्य है। अरस्तू के वर्गीकरण के अनुसार इन्हें लाक्षणिक शब्दों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

### अनुकरणात्मक शब्द

पहले कहा जा चुका है कि कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी चित्रात्मकता। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने सूर के काव्य की आत्मपरक भावभूमि की विवेचना करते हुए लिखा है कि जब सूर ने अपनी तूलिका उठाई, उन्होंने विनय के पदों में 'सूरसागर' की भक्तिमयी आधार-भूमि विशेष चमत्कार के साथ तैयार की और उस पर कृष्ण की श्रृंगारमयी मूर्ति अपनी सम्पूर्ण श्रीशोभा के साथ अंकित की। चित्रकला के ये रंग हिन्दी में सूर द्वारा आविष्कृत हैं।[1]

आचार्य वाजपेयी का यह वक्तव्य केवल सूर ही नहीं कृष्ण-काव्य-परम्परा के सभी कवियों के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। अधिकतर शब्द-चित्रों के द्वारा उनकी भाषा की बिम्बा-धायक शक्ति का निर्माण हुआ है। इन शब्द-चित्रों के निर्माण में सबसे अधिक योग अनेक अनुकरणात्मक शब्दों का रहा है, जिनके द्वारा इन कवियों ने विभिन्न स्थितियों और भावनाओं के चित्र खींचे हैं। प्रायः सभी कवियों ने इन बोलते हुए शब्दों का सहारा लिया है। ये अनुकरणात्मक शब्द तीन प्रकार के हैं (१) अनुभूति-व्यंजक, (२) कार्य-व्यापार और रूप-व्यंजक, (३) ध्वनि-व्यंजक। विभिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त अनुकरणात्मक शब्दों की तालिकाओं से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इन कवियों की भाषा की बिम्बग्राहिता कितनी बड़ी सीमा तक इन्हीं शब्दों पर निर्भर रही है।

### कुम्भनदास

किलकार, रुनझुन, अटपट, ऐंडे ऐंडे, भरहर, फरहरन, कूकें, हीहीं, कीक, रिमझिम, डम्बर, संभर, सगसगाति, रमकि, झमकि, कीके, अछन अछन, लूनि लूनि, भटकि सटकि, अटकि, मूक, हुलकति, हुंकति, चटपटी, झकझोरन, झकि झुकि, झंकार, करमरात, तलमली, डहकी, ऐंडी, जगमगात, रिमझिम, उमड़ि घुमड़, रसमसे, डहडहे रगमगे नैना, डगमगि चाल, रसमसे, डहडह्यो, रगमगी, उमगात, कौंधति, चौंधति, रौंधति, चमकि, धमकि, हमकि, रमनि।[2]

### सूरदास

अरबराइ, अरराना, करारना, किलकना, किलकारना, किलकिलाना, कीके, खरभर, गटकना, गरराना, गलबल, घमकना, घमर, घुमरना, जगमगाना, झकझोरना,

---

१. महाकवि सूरदास, पृष्ठ ८८—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

२. कुम्भनदास, पृष्ठ १०, २१, ४३, ५०, ५३, ७४, ९६, ११४, ११५, १२६, १४१, १७५, १७७, १९०, १९८, १९९, २००, २०२, २०३, २१८, २२०, २२७, २४६, २४७, २८५, ३०२, २२, ३०३, ३०६, ३०८, ३१८, ३१६, ३१९, ३२३, ३२५, ३४३, २, २, २, २, ३५४।

झझकना, झमकना, झरझराना, भहराना, झिमझारना, थरथराना, थकथकाना, फटकना, फटकान, रुनझुन, रुननझुनुन ।[१]

परमानन्ददास

खोक खोक, रुनझुन, खनक, कूक, तमकि, टकुडकु, ननक झनक भनक, रुनुक-झुनुक, जगमग, चटपटी, धुकधुकी ।[२]

कृष्णदास

किलकि, झकोरे, रसमय किलकली, भिकोर, गटकी, चटपटी, सटपटी, खटपटी, लटपटी, सलोल, डगमगत, रसमसे, झलकनि, टकटोलति, झकझोरति, सलोलति, झूमत, डगमगी, टकटकी, सगवगी, कसमसे मसमसे रसमसे ।[३]

नन्ददास

झलमलात, थरथर, जगमगे, झमकत, खसि खसि परत, झरझर, घहरिघहरि, टकझक, ढरारे, अलवलकल, हटक हटक, ढलक, लटक, डहडहे, जगमगात, जगमग, होति, झलके, जगमग, वंकारो, चटपटी, झलमले, कलमले, लूमझूम, छिलछिली, कूक, तरतड़ (तड़तड़), हरहर, लटक, चटक मटक, अटक पटक, लहलहाति, अरवरात, थरथर, झिलमिलात, रमक झमक, जगमगाना, झकझोरि, झूमति, लुरति ।[४]

चतुर्भुजदास

ठठके, कूक, हूक, घेघे, हूंकि हूंकि, ताकि ताकि, टकझक, रसमसे, तकि तकि, टगटगी न परत, रमकनि झमकि, खमकि, भरग घरग डगमगई, टगटग, रुनुक झुनुक, झटपटाइ चटपटी, लटपटि पाग, रगमगी, डगमगि, चलवले, चटपटी, डगमगी, अकवक, टगी, डगमग, झांकति, डोलत, घनन घनन, झनन झनन, तनन तनन, लटपटी, अछन अछन पगु धरनि धरैं, अटपटी, चटपटी, मटपटी, लटपटी, झकझोरति, अटपटे भूषन, रगमगी सारी, डगमगात, दलमले, झपकि मपकि, अटपटे बैन, लटपटी पाग, सगवगे नैन, डगमगत, उगत, अटपटी,

---

१. सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० १०-११५, ३६१, १८२६, १०-७१, १०-२५३, ६-१३६, १०-२८७, ६-१०६, २६०६, ६४४, २६१०, १०-१४७, १०-१४८, ४८१, १०-१०६, १०-८८, ५१७, ८८५, ५६४, १५३४, २५६३, ३४१, २४०३, ५४१, १४१८, १०-१००, १०-१२३ ।

२. परमानन्द सागर—गो० ना० शुक्ल, पृ० ८४, १६३, ७७, २७, २४७, ३५१, ४२२, ८७, १३६, १६०, ४२०, ४२० ।

३. अष्टछाप परिचय—कृष्णदास, प्रभुदयाल मित्तल, पृ० २२६-१, २२२-६ २२६-१५, २३१, २३२-२२, २३२, २३४, २३४-४३, ४४, ४५, २३५, ४६, २३५, २३६, ५०, ५४, ५५, ५८, ६० ।

४. नन्ददास ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास, पृ० १८, २०, २४, २५, २६, २७, २८, ३५, ३७, ४१, २, ५०, ६२, ६४, २, ६५, ७८, ८५, १११, ११३, ११६, ११६, १२१, १२६, १४६, १६२, १६४, १६८, १७५ ।

रसना, डगमगे, रगमगे, जगमगे, सगबगे, झटपटी, रसमसे, ठुमुकि ठुमुकि डगडग ।[१]

## छीत स्वामी

रगमगे, रमकि झमकि, रुनुन झुनन, ठुमुकि, अरबराय, अरसपरस, अटपटे भूषण, रगमगी, डगमगात चरन, रगमगे डगमगे। झपि झपि आवत नैन उनींदे।[२]

## गोविन्द स्वामी

हहारत, दूकत, रुनझुन, कूके, डहडही, अचका, ठाले ठूले, मलमलीझूलही, सटकारे, जगमग, लहर-लहर जीवन, थहर-थहर, धुकुरपुकुर छाती, अरग-धरग, तरपि-झरपि, रिमझिम, हूंकि, रमकत, झमकत, धमकि, जगमगे, लटपटी पाग, डगमगत चरन, रसमसे, अटपटे, लटपटी पाग, डगमगात, रुनझुन, अरस-परस, जगर-मगर, लटपटी, लटपटि, विलुलित, चटपटी लटपटी, रुनुक-झुनक, अटपटे, झुनझुनुत, लटपटी पाग, रगमगे, लटपटी, अरबरत, टगु, किलनि, डगमगाई।[३]

## हितहरिवंश

अटपटे, ऑंगी-मौंगी, पग डगमग, डगमगात पग, टकटोलनि, झकोर, झकझोलनि, कलोलनि, झकोरी, पूछु, झंझोरी, डगमग ढरति, झकोरी झटकति, गटकति।[४]

कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा में इन अनुकरणात्मक शब्दों के महत्त्वपूर्ण योग का अनुमान केवल उन शब्दों की तालिका द्वारा नहीं किया जा सकता। साधारण शब्दों के साथ इन्हें जोड़कर इन कवियों ने जहां सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों और अनुभावों को साकार कर दिया है, वहीं उनकी ध्वनि-व्यंजकता द्वारा प्रतिपाद्य से सम्बद्ध वातावरण को भी ध्वनित करने में समर्थ रहे हैं। इन शब्दों में निहित अभिव्यंजक तत्त्वों का सौन्दर्य सम्पूर्ण उक्ति के साथ ही पूर्ण रूप से स्पष्ट हो सकता है।

ध्रुवदास की रचनाओं में चित्र-कल्पना बहुत कम है जो है भी उसमें संगीत और चित्रकला का वह समन्वित रूप नहीं मिलता जो अष्टछाप के कवियों की मुख्य विशेषता थी।

---

१. चतुर्भुजदास—वि० वि० कां०, पृ० २७, ३२, ७१, ७७, ८०, ८६, ९१, १०९, ११९, १२९, १४६, १४८, १५५, २१२, २१६, २३१, २३९, २४६, २५४, २५६, २६३, २६९, २८२, १८४, २२७, २९५, २९७, ३०९, ३२५, ३२७, ३२२, ३३३, ३३३, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४७, ३४३, ३४५, ३४६, ३६०, ३६०।

२. छीत स्वामी—वि० वि० कां०, पृष्ठ ५७, ६४, २७६, २२, ९३, १६४, १६६

३. गोविन्द स्वामी—वि० वि० कां०, पृष्ठ ११, १८, १२१, १२५, १२७, १३५, १३८, १३८, २, २, १७४, १९२, २१३, २१३, २२३, २३५, २३६, २३८, २४३, २४४, २४५, २५१, २५२, २५९, २७८, २७३, २२०, २२१, २९३, २९५, २९९, ३०१, ३४५, ३८२, ३९२, ३२९, ४३१, ४४२, ४५२, ५००, ५४०, २।

४. हितचौरासी—हितहरिवंश, पद २-६, ३-१५, ४-३१, ३-३३, ५-३४, ५-३५, ५-३४, ३-४३, २०, ३३, ४-६७, ४-६८, ४-७०, ३-७९, ३-७९।

रास-प्रकरण के चित्रों में भी कवि की दृष्टि वर्णनात्मक ही रही है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्य कुछ कवियों में चित्रात्मकता का अभाव नहीं है और उन्होंने अनुकरणात्मक शब्दों के द्वारा ध्वनि और गति चित्र-निर्माण का सफल प्रयास किया है। उदाहरण के लिये—

> झटकत पट चुटकिनि चटक लटकत लट मृदु हास,
> पटकत पद उघटत शब्द अटकत भृकुटि विलास ॥[१]

कृष्ण-भक्ति-काव्य में जैसे-जैसे अतीन्द्रिय रोमानी तत्त्वों के स्थान पर ऐन्द्रिय-भावनाओं की स्थापना होती गई वैसे ही वैसे उसमें चित्र-कल्पना का अभाव होता गया। यह प्रवृत्ति हमें भक्तिकालीन कवियों में ही अधिक दिखाई देती है। परवर्ती कवियों की रचनाओं की प्रभावात्मकता चित्र और संगीत के सामंजस्य पर निर्भर न रहकर वर्ण-संगीत की चमत्कारपूर्ण योजना पर निर्भर रहने लगी। कल्पना-चित्रों के स्थान पर स्थूल जीवन के चित्र खींचे जाने लगे। इसलिये धीरे-धीरे कृष्ण-भक्ति-काव्य में अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग बिल्कुल ही समाप्त हो गया।

### शब्द-निर्माण

इन रचनाओं में शब्द-निर्माण के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं। नन्ददास के कोश-ग्रन्थ तथा सूरदासजी के दृष्टकूट पदों और 'साहित्य-लहरी' में शब्द-क्रीड़ा की वृत्ति इन शब्दों के निर्माण में नहीं है। उपर्युक्त ग्रन्थों में दोनों कवियों का ध्येय संस्कृत शब्दों की सहायता से भाषा की समृद्धि करना तथा चमत्कार-प्रदर्शन करना रहा है। लेकिन अनेक स्थलों पर शब्द-निर्माण बिना चमत्कार-वृत्ति के भी किया गया है। नये शब्दों का निर्माण अथवा पुराने शब्दों को नये अर्थ में प्रयुक्त करना कवि की सजग अभिव्यंजना-शक्ति का प्रतीक होता है। कृष्ण-भक्त कवियों ने भी उसका परिचय कहीं-कहीं दिया है। लेकिन इन नवनिर्मित शब्दों का उनकी भाषा में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं माना जा सकता। एक तो ये शब्द संख्या में बहुत ही कम हैं, दूसरे इनके द्वारा भाव-व्यंजना में विशेष द्रष्टव्य योग नहीं मिला है। सूरदास और नन्ददास के अतिरिक्त कुछ कवियों द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार के कुछ शब्दों के उदाहरण देखिये—

> तेरे वक्षजात[२] जे सिव हैं तापर हाथ दिवावत
> जो रस रसिक कीरमुनि[३] गायो
> गावत सिव सारद मुनि नारद कमलकोस[४] नैंकौ न चखायो।

कहीं-कहीं पर युग्म-भाव की अभिव्यक्ति को स्वाभाविक बनाने और लोक-भाषा के

---

१. सेवक वाणी, सप्तम प्रकरण
२. परमानन्द सागर (अर्थ-स्तन), पृष्ठ ४७, पद १४०—गो० ना० शुक्ल
३. ,, (अर्थ-शुकदेव) ,, १५३ ,, ४५१. ,,
४. ,, (अर्थ-ब्रह्मा) ,, ,, ,, ,, ,,

निकट लाने के लिये भी प्रत्यय जोड़कर शब्दों को नया रूप दे दिया गया है। उदाहरण के लिये—

माते मधुपा-मधुपनी कोकिल कुल कल वेनु।[1]

कमल और सौन्दर्य के प्रतीक भौंरे के चिरमान्य सम्बन्धों के स्थान पर संयोग-शृंगार के उद्दीपन के रूप में भौंरों की गुंजार में ही उद्दीपक तत्त्वों का समावेश किया गया है।

कहीं-कहीं शब्दों के उपहासप्रद रूप प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये यह प्रयोग देखिये—

छीत स्वामी रसिकलाल गिरिवरधरन,
संग विलसी निस, नाक-सुक-चौंचनी।[2]

उपर्युक्त पंक्ति में 'चौंचनी' शब्द के प्रयोग ने ही नायिका के रूप का समस्त सौन्दर्य अपहृत कर लिया है।

लक्षणा के आधार पर भी कुछ शब्दों का निर्माण किया गया है। भावाभिव्यंजना की दृष्टि से जो उत्कृष्ट काव्य-कौशल के परिचायक हैं। जैसे चुम्बन के लिये 'आनन को मधु'—

श्रीदामा हँसि यों कहियो मेवा देहु मँगाइ।
नैंकु हमारे स्याम कौं आनन को मधु प्याइ॥[3]

इसी प्रकार निम्नोक्त पंक्ति में भी शब्द-निर्माण शक्ति का ही परिचय मिलता है—

मदननृपति की छाप पीक कपोलनि लागे।[4]

परमानन्ददास की निम्नलिखित पंक्ति भी केवल एक शब्द 'सकुल' के प्रयोग से ही अर्थ-सौरस्य की दृष्टि से कितनी सुन्दर बन गई है। गोपियां कहती हैं—

तुमरे परस बिन वृथा जात है मेरे उरज धरे कंचन घट।
नंद गोपसुत जबहि मिलहुगे तबहि होंहिगी सीस सकुललट॥[5]

प्रथम पंक्ति में व्यक्त गोपियों की उष्ण आकांक्षायें तो स्पष्ट ही हैं। दूसरी पंक्ति में वे कहती हैं, हे कृष्ण, जब तुम मिलोगे, तभी मेरे शीश की लटें सकुल होंगी। प्रेमी के अभाव में परिवार और समाज की उपेक्षा करने वाली एकाकी विरहिणी ही मानो गोपियों की बिखरी हुई लटों में साकार हो गई हैं। शृंगार के अभाव में बिखरी हुई लटें तभी 'सकुल' होंगी जब प्रियतम के दर्शन हो जायेंगे।

अनेक स्थलों पर संस्कृत शब्दों को भाषा रूप प्रदान करते समय कवियों ने पूरी

---

१. छीत स्वामी, पृ० २३, पद ५७, वि० वि० कां०
२. छीत स्वामी, पृ० ६३, पद १४६, वि० वि० कां०
३. ,, ,, २५ ,, ५७ ,, ,,
४. ,, ,, ७० ,, १६४ ,, ,,
५. परमानन्द सागर, पृ० १८४, पद ४५१—गो० ना० शुक्ल

स्वतन्त्रता ली है। नन्ददास की शब्दावली में अनेक शब्द ऐसे हैं जिनके मूलरूप में मनमाना परिवर्तन किया गया है। उदाहरण के लिये—

सुसुम कुसुम सीसनि तें खसें जनु आनन्द भरे कच हँसे ।[1]

अमूर्त्त शब्द 'सुषमा' से विशेषण का निर्माण किया गया है। इसी प्रकार एक स्थल पर 'बन्द' शब्द का प्रयोग उपाय के अर्थ में किया गया है। गोपिका कहती है—

जिहि विधि पिय वेगि मिलहिं, करहिं किन सोई बन्द ।[2]

परमानन्ददास भी एक स्थल पर 'पाती' का प्रयोग गिरने के अर्थ में करके थोड़ी देर के लिये मति-भ्रम उत्पन्न कर देते हैं।

ज्यों ज्यों गहरु करत हैं मधुवन त्यों त्यों धड़कत छाती
गत वसन्त ग्रीषम ऋतु प्रगटी वनस्पति सब पाती ।।[3]

इसी प्रकार—

तें तो फूली फूली डोलै सौने सदन में ।[4]

'सौने' के प्रयोग से स्वर्ण-महल और सूना महल दोनों ही का अर्थ निकल सकता है।

व्याकरण के रूपों का ध्यान न करके तुक की रक्षा के लिये शब्दों को मनमाने ढंग से तोड़ा-मरोड़ा भी गया है। कुम्भनदासजी के एक पद का उदाहरण इस प्रसंग में यथेष्ट होगा—

औरनि कों व समीप, विछुरनौ आयो हो मेरे हिसा
सब कोइ सोवै सुख घापुने आलि, मौको चाहत जाई चाहूं दिसा।
ना जानो या विधाता की गति, मेरे आंक लिखे ऐसे भाग सु कौन रिसा।
कुम्भनदास प्रभु गिरिधर कहत-कहत, निसिदिन रही रटि ज्यों चातक
घन की तिसा ।[5]

प्रथम पंक्ति में 'हिस्सा' 'हिसा' बन गया है, तृतीय में 'रिस' ने 'रिसा' का रूप धारण किया है और अन्तिम में तृष्णा 'तिसा' रह गई है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता का अन्य कवियों की रचनाओं में भी अभाव नहीं है। परन्तु ऐसे स्थलों की संख्या उंगली पर गिनी जा सकती है। एक स्थान पर छीतस्वामी लिखते हैं—

हंसगति नूल्यों नूपुर-नदन में

यह 'नदन' रदन, छदन इत्यादि के पार्श्व का कोई नया शब्द नहीं है, नाद का 'स्वतन्त्र' रूप है।

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० २३४—ब्रजरत्नदास
२. अष्टछाप परिचय, पृ० २३८, पद ६५—प्रभुदयाल मित्तल
३. परमानन्द सागर, पृ० १८६, पद ५४७—गो०ना० शुक्ल
४. छीत स्वामी, पृ० ३६, पद ८८—वि०वि० कां०
५. कुम्भनदास, पृ० ११७, पद ३५६—वि० वि० कां०

कहीं-कहीं कुछ पंक्तियां ऐसी भी मिलती हैं जिनका अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता। छीत-स्वामी की इस पंक्ति का अर्थ बहुत खींच-तान करने पर भी समझ में नहीं आता—

वही छवि सु पकरि कुखु मरिया उखु न सांना।[1]

ग्रामीणत्व दोष भी इन कवियों के शब्द-प्रयोग में अनेक स्थलों पर आ गया है। 'सुकचोंचनी' की चर्चा पहले की जा चुकी है। उसी से मिलते-जुलते शब्द 'कदलिखम्भ-जंघनी' और 'गजचालिनि' भी लिये जा सकते हैं। लेकिन उपर्युक्त शब्द इतने हास्यास्पद नहीं हैं जितने गोविन्द स्वामी के ये शब्द 'घसि दंडौत कियौ'। गोविन्द स्वामी का तात्पर्य उपर्युक्त पंक्तियां लिखते समय कदाचित् साष्टांग दण्डवत् करने से है। परन्तु घसि शब्द के प्रयोग ने इस पूज्य भाव को कितना अशिष्ट बना दिया है।

इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय जान पड़ती है। कई कवियों ने अनेक स्थलों पर अनुस्वारों का अनावश्यक प्रयोग किया है परन्तु कहीं-कहीं तो ये प्रयोग उतने ही हास्या-स्पद बन गये हैं जितना कि हिन्दी के शब्दों में आई. एन. जी. लगाकर अंग्रेजी शब्दों का निर्माण करना। ऐसे शब्दों के कुछ उदाहरण तत्सम शब्दों के प्रसंग में दिये जा चुके हैं।

## रीतिकालीन कृष्ण-भक्त-कवियों की भाषा

उत्तर-मध्यकाल में लौकिक शृंगार और रीतिबद्ध काव्य के प्राधान्य के कारण कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा गौण पड़ गई। इस काल के कवि पूर्व-मध्यकालीन परम्पराओं का ही अनु-सरण करते रहे। भाषा के क्षेत्र में भी अधिकतर उन्होंने पूर्ववर्ती कृष्ण-भक्त कवियों का ही अनुकरण किया है। विभिन्न तत्त्वों की दृष्टि से इनकी भाषा के विश्लेषण द्वारा यह तथ्य पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जायेगा।

### तत्सम तथा अर्ध-तत्सम शब्द

संस्कृत के तत्सम शब्दों के ब्रजभाषा के अनुसार परिवर्तित रूप इन कवियों को पूर्व-वर्ती कवियों द्वारा बने-बनाये मिल गये थे। अधिकतर इन्हीं शब्द-रूपों का प्रयोग इन कवियों द्वारा किया गया है। कुछ शब्द मूल रूप में भी प्रयुक्त किये गये हैं।

अनन्य अली की भाषा में संस्कृत का मूलरूप उन्हीं शब्दों में सुरक्षित है जिनमें द्वित्व, संयुक्त और कटु वर्णों का अभाव है, जैसे अवनि, शीतल, पावस, वलाक, विलास, समीर, सुगन्ध, भ्राजत, नवल, मकरन्द, कंचन, भानु, तृपित।[2]

वृन्दावनदास जी ने भी संस्कृत के उन्हीं तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है जो पूर्ववर्ती भक्त-कवियों के हाथ में आकर ब्रजभाषा के शब्द बन गये थे। इनकी संख्या बहुत ही कम है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

पुनि, प्राण, अजिर, शोभा, भूपण, पवन, भ्रमै, सिंधु, मकर, तुरंग, कनक, अनुराग,

---

१. छीत स्वामी, पृ० ८७, पद ३८

२. आशा-अष्टक तथा चरण-प्रताप लीला से उद्धृत

सुरसरी, त्रिवेणी, सम्पुट, सूक्ष्म, अविलम्ब, रविजा, गौरांग, वेपथु, पंक, दृग, क्रीड़त, व्यवहार।[१]

**अर्धतत्सम शब्द**

नेह, हियो, कीरति, निसि, जुग, वसन, सावक, विहार, प्रवेस, परवेस, उपास, सूर ससि, स्याम, धरमी, भरमी, संका, विजाती, स्वारथ, गुनवन्त।

## रूप रसिक देव जी

**तत्सम शब्द**

विपिन, ललित-संकुलित, परस्पर कमनीय, अम्बर, मृदु, निमेष, दृग, परिणाम, कर्ता, भृकुटि, विलास, पवित्र, कटाक्ष, सम्मुख, प्रभा, आतंक, स्वरूप, अभिलाप दृगन, पंक्ति-श्रुति, विद्रुम, भ्रमर विद्युत अद्भुत, आरक्त, कर्म, अभिराम, श्रवननि, विद्युत, वसन्त, लसन्त।

**अर्धतत्सम शब्द**

नेह, परस, सिथिलित, वसन, कटाछ, विघन, दुतिया, त्यथ ( तिथि ), दसन, विदुति जस, दसवि, उचारी, सीवां, अहर्निस, प्रकास, किसोर, उमगि परकास, दुति, हीय, विथा।[२]

## नागरीदास

नागरीदास की भाषा में सरल और सुगम तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं—

निर्जन, विरद, हाटक, सम्पत्ति, दम्पत्ति, प्राची, सात्विक, ब्रह्म अस्त्र, नवद्रुम किसलय, मंत्र, अखंड, नृत्य, मुखाम्बुज, श्रवन, मकरन्द, दृग, चारु।

**अर्धतत्सम शब्द**

उज्यारी, नित्त, क्लेस, तसकर, स्याम, उज्जल, अरुन, दुति, निसि, प्रजुलित, सेत, निरझरत, निसा, समै, नउतन, सरद, चन्द, लेस, देस, पूरन, हरपन, विसराम, गहवर।[३]

श्री हठीजी ने शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है, उनकी भाषा में अर्धतत्सम शब्दों का बाहुल्य है।

**तत्सम**

कंज, मधुप, अतिशय, अनन्य, गुण, अतृष्णा, पंकज, कंचन, चन्द्र, जातरूप, समुद्र, वन्दित, अवनी, जावक, प्रवाल, अनंग, मंजु, चमीकर, गयन्द, प्रभा, पंकज, पराग।

**अर्धतत्सम :**

संभु, गनेस, सेस, सरन, लच्छन, निरधार, अधार, चंद, मनिमय, रिपि, कीरति, किसोरी, जोति, करुना, औगुनो, सीलता, चरन करन।[४]

---

१. लाड़ सागर के विविध पृष्ठों से उद्धृत—प्रकाशक, लाला जुगलकिशोर काशीराम, रोहतक मण्डी
२. निम्बार्क माधुरी, पृ० १००-११३
३. निम्बार्क माधुरी, पृ० ३६१-३७३
४. ” ” ” ” ”

श्री भगवत रसिक की भाषा के दो रूप हैं। व्याख्यापरक स्थलों तथा आलंकारिक विधान में उनकी भाषा शुद्ध तत्सममयी है। दोनों ही प्रसंगों की भाषा के रूप यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

व्याख्यापरक स्थलों में तत्सम-प्रधान भाषा का रूप

संचित क्रिया प्रारब्ध, कर्म दुख जाइ सर्व मुचि
भगवत रसिक कहाय क्रिया त्यागै अपनी रुचि।[1]
भगवत रसिक अनन्य मन गौर श्याम रंग रात,
अमर कोश के घूम लौं मृग मद छोड़ि न जात॥[2]
सेवी नित्य विहार के रसिक अनन्य नरेश,
विधि निषेध छिति छांड़ि के मढ़े प्रेम नभ देश।[3]

अप्रस्तुत-योजना में तत्सम-प्रधान भाषा का स्वरूप

द्वै दामिनि के बीच में घन एक विराजे,
रूप अनूपम अद्भुत माधुरी छवि छाजै
इन्द्र धनुष नहिं देखिये बगपांतिन भ्राजै,
मंद मंद मृदुघोर सों सुर शब्दन गाजै।[4]

तथा—

सखी यह सुनो अलौकिक बात।
स्याम तमाल स्कन्धन फूले बिवि जल जात।
तिनके हलन अग्र उडुपति तिनहिं लजात।
जिन पर व्याल-सुवन, वरही-सुत, खेलत हिलमिलि गात।
तिनके कोश अरुनता अविचल वारों अरुन प्रभात।

तद्भव शब्दों का प्रयोग उन्होंने अधिकता से किया है। कहीं-कहीं तो ग्रामीणत्व और अश्लीलत्व-दोष पराकाष्ठा पर पहुँच गया है—

जगत में पैसन की ही भांड।
पैसन बिना गुरू को चेला, खसमै छांड़े रांड़।
जप तप योग विराग ज्ञान की, पैसन मारी गांड़।[5]

अर्धतत्सम शब्दों के प्रयोग में कोई विशेष नवीनता नहीं है।

---

१. निम्बार्क माधुरी, पृ० ३७३, पद ६१
२. ” ” ” ३७३, पद ८६
३. ” ” ” ”
४. ” ” ” ३६१, पद २४
५. ” ” ” ३५४

### घनानन्द

घनानन्द की ब्रजभाषा विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी है। उनकी भाषा की सामर्थ्य उसमें निहित विभिन्न शक्तियों पर निर्भर है। लक्षणा और व्यंजना का वैभव उसमें चरम सीमा पर प्राप्त होता है। इस तत्त्व का विवेचन उचित स्थल पर आगे किया जायेगा। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'भाषा पर जैसा अचूक अधिकार उनका था वैसा और किसी कवि का नहीं।' भाषा मानों उनके हृदय के साथ जुड़कर उनकी वशवर्तिनी हो गई थी कि वे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे, उस रूप में मोड़ सकते थे।'[1]

#### तत्सम शब्द

नृप, कृपापात्र, आश्विन, प्रकाश, सर्व, अर्क, निस्पृही, तादृश, हिंसा, लोभ, दम्भ, योपिता, अकिंचन, अद्‌भुत, मंजुल, स्वछंद, मकरन्द, मंजु, दाम, कामना, दृग, अपवर्ग, आस, व्यवहार, मव्य, चामीकर, उन्मीलन, त्रैलोक्य, उच्छिष्ठ, अरविन्द, ऐश्वर्य, सम्प्रदाय, मयंक, असन, हृदय, दृग, कुरंग, अनुकूल, दृष्टा।

#### अर्धतत्सम शब्द

अजीरन, दारिद, सुचिता, सीतल, मुद्ध, थर, ससी, आरत, अरुन, सिंगार, सुभाव, थिति, आस, अपूरव, चंदा, आचारज, परतीति, गाहक, घ्रान।

अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के समान ही घनानन्दजी ने भी स्तुतियों में तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया है।

> जयति जयति नरसिंह प्रहलाद आरति हरन वत्सल
> बिपुल वल विनोदकारी
> पूरन प्रताप अरि तम विहंडन, खंड-खंडनि प्रचंड जल
> तुंड यारी
> सत्य संकल्प संदोह संसर्ग, संग्राम जृंभा असुर संघारी।[2]

डा० मनोहरलाल गौड़ के अनुसार उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है। सरल और सहज ध्वनियों वाले तत्सम-शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। तप योग मीन खंजन कंज इत्यादि कर्ण-मधुर शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। प्रायः तत्सम शब्दों को ब्रजभाषा की ध्वनियों के अनुकूल ढालकर उनका प्रयोग किया गया है।

शब्द-समूह के क्षेत्र में उनका योग जनपदीय और फारसी तथा उर्दू के शब्दों के समावेश में ही माना जा सकता है।

#### जनपदीय शब्द

सोवर, टेहुले, गरैंठी, बरहे, संजौखे (संध्या का अन्तिम भाग), उजैना (उद्यापन) नाज, न्यार (चारा), वेंह्रर (पगध्वनि), झरा (सब के सब), वेड़ी, रोक।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३३७—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२. घनानन्द पदावली, पद १६६

## सहचरिशरण

सहचरिशरण ने फ़ारसी-उर्दू और पंजाबी के शब्द-समूह के हिन्दी में समावेश द्वारा एक नई शैली की उद्‌भावना की है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का उनकी रचनाओं में अभाव नहीं है—

> पीन पयोधर अति उतंगवर परवत शिखर सुहाती,
> बाहु मृस्थल विशाल विलोचन, दुखमोचन रसमाती।
> सुखमा सुखद सकल सीमन्तनि तिनके हृदय वस्योते,
> मान मन्दमति चाहत अब लगि, तहते नाहि नस्योते।[1]

ब्रजवासीदास ने 'सूरसागर' का ही उल्था किया है, इसलिये उनकी भाषा पर भी सूरदास का प्रभाव है। उसमें कोई नवीनता नहीं है। अनेक स्थलों पर तो सूर के पदों से वैभिन्न्य उनके काव्य में पहिचाना भी नहीं जाता।

तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों के समान ही तद्‌भव और देशज शब्दों के प्रयोग में भी इन कवियों ने किसी मौलिक प्रतिभा का परिचय नहीं दिया है। उनका साहित्यिक महत्व कुछ भी नहीं है। पिष्ट-पेष्टित तद्‌भव शब्दों के परिगणन मात्र से किसी उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी, अतएव यह प्रसंग यहीं छोड़ा जाता है।

स्वरूप की दृष्टि से रीतिकाल के कृष्ण-काव्य की भाषा के तीन प्रमुख रूप माने जा सकते हैं—

१—संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त ब्रजभाषा
२—तद्‌भव-देशज शब्दों से युक्त ब्रजभाषा
३—विदेशी शब्दों से युक्त ब्रजभाषा

प्रथम का विवेचन किया जा चुका है। द्वितीय वर्ग की भाषा न तो साहित्यिक मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और न भाषा के विकास की दृष्टि से। विवेचन के लिए उसमें नवीन स्थापनाओं का अवसर नहीं है। तीसरे वर्ग की भाषा का ब्रजभाषा के रूप-विकास में विशेष महत्व है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के सहचरिशरण और नागरीदास जी की भाषा को देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि हिन्दी के इतिहास में ऐसा समय अवश्य रहा होगा जब फारसी शब्दों से युक्त ब्रजभाषा हिन्दी की एक विशिष्ट शैली अवश्य रही होगी। युग के प्रभाव के फलस्वरूप फारसी-बहुल हिन्दी भाषा के प्रयोग अवश्य किये गये होंगे। उनके द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार के उद्धरण यहां अधिक मात्रा में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। नागरीदास की रचना उस संक्रान्ति युग की ब्रजभाषा खड़ीबोली और फारसी के मिश्रण से बनी ब्रजभाषा की प्रतीक है।

नागरीदास जी ने अपने काव्य में राजस्थानी, ब्रजभाषा और रेखता तीनों का प्रयोग किया है। उसमें डिंगल के शब्दों का अनुपात बहुत कम है। ब्रजभाषा यद्यपि उनकी मातृभाषा नहीं

---

१. सहचरिशरण, पृ० ४३१, पद ९५

थी परन्तु ब्रजवास के उपरान्त उन्हें उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया था। उनकी ब्रजभाषा का रूप अत्यन्त सरल और अकृत्रिम है। उन्होंने अधिकतर संस्कृत के अर्धतत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। साधारणतः उनकी भाषा का रूप इस प्रकार है —

प्यारी पिय सखियन सहित चौपरि खेलत बैठ,
मनो मदनपुर चौहटे लगी रूप की पैठ।
नागरि पासे परन की इहि उपमा दरसान,
हाथ रूप सर ते मनो लहरें निकसत जान।[1]

अनेक स्थलों में उन्होंने अपनी भाषा में उर्दू का स्पर्श भी दिया है—

गोया आशना वे न थे कभी
तोते की सी आंखि भई फिरि देखत-देखत अनी।[2]

सहचरिशरण की भाषा में संस्कृत तथा फ़ारसी शब्दों का संगम है—

मुख मृदु मंजु कहा खूबी यह गर्व गुलाब हरोगे।
चश्म चारु नरगिस अलमस्तां, उर संकोच भरोगे।
छल्लेदार युगल जुलफ़े छवि सम्मुख छैल छरोगे।
सहचरि शरण संग लै गुलशन, सैर शिताब करोगे।[3]

इस प्रकार की भाषा अनेक स्थलों पर प्रयुक्त की गई है। कहीं-कहीं ब्रजभाषा के तत्त्व बिल्कुल अल्प हैं परन्तु अधिक स्थलों में उसका कुछ न कुछ स्पर्श शेष रहने दिया गया है। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहां विदेशी शब्दों की बहुलता ने हिन्दी को आच्छादित कर लिया है। उदाहरण के लिये—

होना नहीं विदरदां लाजिम आशिक तरफ़ तिहारे
इश्क कदरदां बरईयद हँसि नजर दुरुस्त निहारे,
सहचरिशरण रसिक मुद मुर्दा जस खुशबोय बिहारे
रस मस्ती करदा लखि तिनकी अलि अंग-अंग निहारे।[4]

घनानन्द ने भी विदेशी और प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों का समावेश ब्रजभाषा में किया। 'वियोग वेलि' तथा 'इश्कलता' में फ़ारसी और पंजाबी शब्दों की बहुलता है—

सैन कटारी आसिक उर पर तें यारां झूक झारी है,
महर लहर ब्रज चन्द यार दी जिन्द असाडी ज्यारी है।

* * *

१. नागर समुच्चय, पृ० १४—नागरीदास
२. नागर समुच्चय, पृष्ठ १५ ,,
३. नि० मा० सहचरिशरण, पृष्ठ ४३२, पद ३९
४. ,, ,, पृष्ठ ४३१, पद ६५

पल-पल प्रीति बढ़ाय हुआ बेदर्द है
आसिक उर पर जान चलाई कर्द है
घनी हुई महबूब—न छोड़िये
दिलपसन्द दिलदार यार महबूब नन्द दे।

* * *

मजनूं को तरसांदा है
लैंडें मुख पर तिल जबै अति खून करन्दा

इस प्रकार की भाषा का प्रयोग सीमित स्थलों पर ही हुआ है। इसलिये कभी-कभी 'इश्कलता' के रचयिता को कोई अन्य घनानन्द माना जाता है।

इसके अतिरिक्त अंग्रेज, फिरंगी, बंगला जैसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

इन कवियों के हाथ में नेही नन्दलाल 'दिलदार यार' और 'नन्द के महबूब' बन गये। कटाक्षों के वाण का स्थान 'नैन कटारी' ने ले लिया, दरस की आकुलता के स्थान पर 'दीदार की हसरत' रहने लगी। रूप-आलोक के स्थान पर 'हुस्न की चकाचौंध' फैल गई। दिल माशूकी का मजा लेने लगा। वैद्य के स्थान पर दिल के दर्द का उपचार हकीम करने लगा, कुंज चमन में परिवर्तित हो गया। इन कवियों द्वारा प्रयुक्त फारसी के शब्दों की एक तालिका से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि वास्तव में फारसी-बहुल ब्रजभाषा का भी अस्तित्व कुछ समय तक रहा था। कुशल हुई कि उसका व्यापक रूप से प्रचार और प्रसार नहीं हुआ। इस भाषा को ब्रजभाषा के विकास का अन्तिम रूप माना जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि यह बात उपयुक्त नहीं जान पड़ती परन्तु आधुनिक काल में जिस ब्रजभाषा का प्रयोग भारतेन्दु, रत्नाकर तथा अन्य कवियों ने किया उसका अस्तित्व पहले भी विद्यमान था। ब्रजभाषा के इस अन्तिम अस्थायी रूप को राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की हिन्दी का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। दोनों का ही प्रादुर्भाव राजकीय दबाव के कारण हुआ परन्तु जनता की वाणी का सम्बल न प्राप्त कर सकने के कारण दोनों ही काल-कवलित हो गईं।

## रीतिकाल में प्रयुक्त कुछ विदेशी शब्द

आशिक, ज़ालिम, इल्म, जुल्म, कामिल, तमाम, आबदार, दर दीवार, मुश्ताकनुमा, कटारी, गुनाह, माफ़, बेवकूफ़, हिमायत, मुरशिद, दफ्तर, खुशामद, शरबत, दोज़ख, अदा, मुहब्बत, तमाशबीन, चश्म, जवांमर्द, क़ायम, दायम, मौज, महबूब, मसालेदार, आँखें, जिगर, गजब, नदारद, शुमार, जुलफें, स्याह, तीरन्दाज़, खरसान, अज़ूबा, आशिकाना, ज़रद, नरगिस, पोशाक, अलमस्तां, हज़ारहा, इन्तज़ार, मखतूल, हुस्न, कुफ़र, बदबोय, रहम, दरियाव, ज़ाहिर, निशान, अंगूर-सुता, शिताबी, दोस्त, फ़रागत, इश्क-किताब, आफ़ताब, फ़ानूस, गुलगीर, हमाम, मुकेस, डोरिया तास, मखतूल, पेसवाज।

## अनुकरणात्मक शब्द

पूर्व-मध्यकालीन कवियों की भाषा में चित्रात्मकता के प्राधान्य के कारण अनेक

अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग हुये थे। रीतिकाल में काव्य में चित्र-तत्त्व का स्थान अपेक्षाकृत गौण पड़ गया; जहां यह अवशिष्ट भी रहा वहां कवि की दृष्टि अलंकरण-प्रधान हो गई, फलस्वरूप अनुकरणात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी इन कवियों की भाषा में बहुत ही कम हुआ है। रास-प्रसंग के कुछ चित्रों में पूर्ववर्ती भक्त-कवियों द्वारा प्रयुक्त अनुकरणात्मक शब्दों की ही आवृत्ति हुई है। रूप रसिक देव जी द्वारा प्रयुक्त अनुकरणात्मक शब्दों की प्रभावात्मकता का प्रमाण निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है —

> झूमि-झूमि झुमकन, दिवि दमकन रमकनि रस सरसात
> झटकि-झटकि झट चटकि-चटकि चट, लटकि-लटकि लटकात।[1]
>
> अरस परस सरस पुलक छलकि रही सुछवि छलक
> ढलक मुकुट अलक रलक झलक कुंडल लटक लरन।[2]

इसके अतिरिक्त ललकनि, मलकनि, लहरियात इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

घनानन्द की रचनाओं में ध्वन्यात्मक और अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग हुआ है—

> चटकि कठतारिन की अति नीकी लटक सों नाचे मटक मर्यो मोहन।[3]

तथा

> लहकि लहकि आवै ज्यों-ज्यों पुरवाई पौन,
> दहकि दहकि त्यों-त्यों तन तांवरे तचै।
> वहकि वहकि जात वदरा विलोके हियो,
> गहकि गहकि गह वरन हिये भये।
> चहकि चहकि डारे चपला चखनि चाहे,
> कैसे घन आनन्द सुजान विन ज्यो वचै।
> महकि महकि मारै पावस प्रसून वास,
> आसन उसास दैया कौ लौं रहिये अचै।[4]

हहरि, धंधौह, भकभूर, लहाछेह, चोंप, रसमसे, उभिल, झुलनि, उरभनि, सुरभ आदि शब्द भी इसी प्रकार के हैं। सिद्धि की दृष्टि से इन अंशों का कुछ महत्त्व नहीं है।

इस प्रकार रीतिकाल में आकर व्रजभाषा के दो व्यापक रूप हो जाते हैं। एक तो वाजारू और दरवारी भाषा के शब्दों से युक्त दैनिक प्रयोग की भाषा और दूसरे साहित्यिक परम्पराओं से सम्वन्ध स्थापित करके वनी हुई परिनिष्ठित और साहित्यिक भाषा। प्रथम वर्ग की फारसी-वहुल भाषा ने ही आगे चलकर उर्दू का रूप ग्रहण किया परन्तु संस्कृत शब्दों से युक्त तत्सम-वहुल-भाषा आधुनिक काल के प्रारम्भ काल की व्रजभाषा के रूप में अवशिष्ट रही।

---

१. नि० मा०—श्री रूप रसिक जी, पृ० १०२, पद १४
२. नि० मा०—श्री रूप रसिक जी, पृ० १०२, पद १४
३. घनानन्द पदावली, पद ६१—सं० विश्वनाथप्रसाद
४. ” ” ” ६६ ”

## आधुनिक कवियों की व्रजभाषा का रूप

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा अन्य कवियों ने व्रजभाषा के रूप-निर्माण में कोई विशेष योग नहीं दिया। वास्तव में शताब्दियों के प्रयोग से व्रजभाषा का रूप मंज गया था और वह काव्य-भाषा के उपयुक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी। रीतिकालीन भाषा के स्थान पर उन्होंने पूर्व-मध्यकालीन कवियों की भाषा को ही आदर्श रूप में स्वीकार किया। तत्कालीन परिस्थितियों का इस नीति के अनुसरण में बड़ा भारी योग था। राजा शिवप्रसाद की फारसी-बहुल खड़ीबोली के समकक्ष भारतेन्दु जी ने जहाँ खड़ीबोली का परिष्करण संस्कृत शब्दों के प्रयोग द्वारा किया वहीं व्रजभाषा में भी उसी नीति का अनुसरण किया। इन कवियों ने भी दुरूह शब्दों और कठोर वर्णों का बहिष्कार किया। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग उन्होंने भी उन्हें व्रजभाषा की ध्वनियों में ढालकर तथा उसकी प्रकृति के अनुकूल बनाकर किया है। पारथ, यथारथ, बिरथा, बिथा, दरस, परमान, परकास, केस, पौन, स्रौन, बिसराम इत्यादि शब्द इसी प्रकार के हैं।

उर्दू शब्दों के प्रयोग में भी उन्होंने उदार नीति ग्रहण की लेकिन उनकी भाषा में अत्यन्त सरल उर्दू शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। जैसे मुलक, बदनाम, हकीम, तमाम, जलूस, नजर, गरीब, सूरत, मस्त, दीवानी, बेदरदी, जुलफ इत्यादि। हास्य रस की रचनाओं में कुछ अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है परन्तु कृष्णभक्ति सम्बन्धी रचनाओं में उनका प्रायः अभाव है। स्तोत्र-पद्धति की रचनाओं में भाषा तत्सम-पदावली से युक्त है। उसका रूप समाससंयुक्त है। क्रिया-पदों का प्रायः अभाव है। एक के बाद एक विशेषण चलते रहते हैं। इन स्थलों पर उनकी भाषा पूर्व-मध्यकालीन भक्तों की भाषा के बहुत निकट आ गई है—

गोपिका-कुमुद-वन-चन्द्र श्यामल बरन,
हरन बहु बिरह आनन्द-कारी।
त्रिषित लोचन जुगल पान हित अमृत-वपु,
विमल वृन्दा-विपिन भूमि-चारी।
सदा निज भक्त-संताप आरति-हरन,
करत रस-दान अपनो विचारी॥[1]

अनेक स्थलों पर हिन्दी की उपभाषाओं तथा कुछ प्रान्तीय बोलियों का संगम भी मिलता है। भारतेन्दु जी द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार की भाषा को उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति का प्रमाण माना जा सकता है। अवधी, व्रजभाषा, भोजपुरी, बंगला और पंजाबी प्रभाव से युक्त पद (प्रेम-तरंग) में एक के बाद एक गुंथे हुये हैं। उदाहरण के लिये —

अवधी-भोजपुरी

न जाय मोसों ऐसो झोंका सहीलो न जाय,
हरीचन्द निपट मैं तो डर गई प्यारे मोंहि लेहु गरवा लगाय।[2]

---

१. भा० ग्र०, प्रेम मालिका, पद २९—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

२. भा० ग्र० १९१, प्रेम तरंग ६५—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

राजस्थानी स्पर्श

नींदड़िया नहिं आवै मैं कैसी करूं एरी सखियां ।[१]

बंगला

प्रातेर विना की करी रे आमी कोथाय जाई
आमी की सहितें पारी विरह जंत्रना भारी
आहा मरी मरी विष खाई ·
विरहे व्याकुल अति जल हीन मीन गति
हरि विना आमि ना वचाई ॥[२]

पंजाबी

वेदरदी वे लड़िवे लगी तैंडे नाल
वे परवाही वारी जी तू मेरा साहवा असी इत्थों विरह-विहाल
चाहने वाले दी फिकर न तुझ नूं गल्लों दा ज्वाव न स्वाल
हरीचन्द ततवीर न सुझदी आशक वैतुल-माल ।[३]

इसके अतिरिक्त 'फूलों का गुच्छा' में संकलित रचनायें खड़ीवोली में लिखी गई हैं जो हिन्दी की अपेक्षा उर्दू के अधिक निकट है। संस्कृत में भी उन्होंने लावनी की रचना की थी।[४] जहां तक व्रजभाषा का सम्बन्ध है उनकी भाषा के भी दो प्रधान रूप मिलते हैं —

१. स्तोत्र पद्धति की रचनाओं में प्रयुक्त तत्सम-प्रधान भाषा।

२. साधारण रूप में प्रयुक्त तद्भव-शब्द प्रधान भाषा।

प्रथम कोटि की भाषा का अनुपात बहुत कम है।. तत्सम शब्दों के प्रयोग में भी कोमल वर्ण ही प्रधान हैं —

. वृन्दा वृन्दावनी विदित वृखभान दुलारी।
परा परेशा प्रिया पूजिता भव-भय-हारी
व्रजाधीश्वरी मोहन-प्रान-पियारी
पुरुषोत्तम प्यारे भाखिये संक तजै हरिचंद जिमि
तुम नाम पवर्गी पाइ प्रिय अपवर्गी गति देत किमि ?।[५]

'रत्नाकर' ने अपनी भाषा के रूप-निर्माण में सभी पूर्ववर्ती कवियों की भाषा से लाभ उठाया। उनकी भाषा में जन-भाषा का ग्रामीण सौन्दर्य तथा काव्य-भाषा के टकसाली शब्दों की कलात्मकता का समन्वय है। उसमें साहित्यिक परिष्कृति भी है और जन-भाषा की सहजता भी। 'रत्नाकर' जी अवध के निवासी थे, उनकी व्यावहारिक भाषा अवधी ही थी।

---

१. भा० ग्र० १९१, प्रेम तरंग ६६
२. " १९२ " ७१
३. " १९२ " ७२
४. भा० ग्रं० पृष्ठ ६६६

ब्रजभाषा का प्रयोग उन्होंने केवल साहित्य के क्षेत्र में ही किया था इसलिये उनकी भाषा में अवधी शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। अनेक स्थलों पर भाषा तत्सम-प्रधान है। लोक-प्रचलित शब्दावली के प्रयोग द्वारा उनकी भाषा की प्रभावात्मकता बहुत बढ़ गई है।

'रत्नाकर'जी की भाषा के भी दो प्रमुख रूप हैं; एक तो तद्भव-शब्द-प्रधान भाषा और दूसरी संस्कृत-मिश्रित ब्रजभाषा। दोनों ही प्रकार की भाषा में प्रसाद गुण सुरक्षित है। प्रथम वर्ग की भाषा के उदाहरण रूप में निम्नलिखित पंक्तियां ली जा सकती हैं—

कोउ उरनि विच दावि वसन गीले गहि गारति,
उसरत पट कटि उरसि संक युत बंक निहारति,
कोउ लंकहि लचकाइ लचकि कच-भार निचोरति,
मर्कत वल्लिनि मोड़ि मंजु मुकता-फल झोरति ॥[1]

संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। परन्तु इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हुए भी 'रत्नाकर'जी इस बात के प्रति जागरूक रहे हैं कि प्रसाद गुण की क्षति न होने पाये—

गो-ब्राह्मन-प्रतिपाल ईस-गुरु-भक्त अदूषित।
वल-विक्रम-वुद्धि-रूप-धाम सुभ गुन गन भूषित।

× × ×

रिपु-दल-खल-दल-दलन प्रजा-परिजन दुख-भंजन
गुनिजन-जीवन-मूल सुकृति-सज्जन-मन-रंजन ॥[2]

'रत्नाकर'जी ने ब्रजभाषा की प्रवृत्ति का ध्यान रखते हुये विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है—मनसूवा, हौसला, लतीफा, खंजर, नजर आदि ऐसे ही शब्द हैं।

अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग उन्होंने बहुलता से तो नहीं किया परन्तु जहां किया है वे स्थल सजीव बन गये हैं—

फतड़ान फड़ान छड़ान, घेड़ेग्र, घेत्रेड़ान,
धधकतान धधकतान धधकतान वारे हैं।
मनसा महान विस्व-विजय-विधान आनि,
वाजत ये मदन-महीप के नगारे हैं ॥[3]

अगगग अगगग अगगग घन गरिजं।
चमचम, झमर्फ, वूंद, वजें टपटप, लचकि मचकि, रमकत।

संक्षेप में कृष्ण-भक्त कवियों के शब्द-समूह तथा भाषा के विषय में ये निष्कर्ष दिये जा सकते हैं—

---

१. गंगावतरण, सर्ग ११, ६, १६
२. गंगावतरण, पृष्ठ १६६-६, ६७
३. शृंगार लहरी, पृष्ठ ३७०, ६, १५३

(१) इन कवियों की मुख्य भाषा ब्रजभाषा है। (२) भाषा की समृद्धि और विकास के लिये मुख्यतः संस्कृत का सहारा लिया गया है। (३) विशेषतः अवधी तथा सामान्य रूप से हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के शब्दों का प्रयोग स्फुट रूप में यत्र-तत्र हुआ है। (४) विदेशी भाषा के शब्दों का अनुपात बहुत कम है। केवल रीतिकाल के कवियों की भाषा में सामयिक प्रभाव के फलस्वरूप फारसी-उर्दू शब्दों की बहुलता है। (५) इन कवियों की अभिव्यंजना-शैली में सहायक सब से महत्वपूर्ण शब्द हैं अनुकरणात्मक शब्द। उन्हीं के सहारे उन्होंने कृष्ण के अतीन्द्रिय-रोमानी रूप तथा गोचारण-जीवन के अनेक स्निग्ध और सबल चित्र प्रस्तुत किये हैं। इनमें निहित प्रसंग-गर्भत्व द्वारा-भाषा की व्यंजक शक्ति द्विगुणित हो गई है।

प्रतिपाद्य में मधुर तत्वों के प्राधान्य के कारण भाषा में ओजपूर्ण शब्दावली का अभाव है। कृष्ण-भक्ति के दर्शन में चिन्तन की अपेक्षा राग-तत्व का प्राधान्य था इसलिये गम्भीर-चिन्तन के उपयुक्त शब्दावली भी इन कवियों की भाषा में नहीं प्रयुक्त हुई। गोपियों का माध्यम स्वीकार करने के कारण उनकी भाषा में स्त्रियोचित् शब्दावली का प्राधान्य है। उनमें तीव्र से तीव्र भावनाओं के व्यक्तीकरण की क्षमता है परन्तु बौद्धिक चिन्तन और गम्भीर तत्वों की व्याख्या के लिये वह उपयुक्त नहीं बन पाई। शब्दावली की इसी स्त्रैण कोमलता के कारण आगे चलकर वह व्यावहारिकता की कसौटी पर खरी न उतर सकी।

## कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा निर्मित ब्रजभाषा का मूल्यांकन

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा निर्मित ब्रजभाषा हिन्दी काव्य के कला-पक्ष के विकास में एक विशिष्ट स्थान रखती है। आधुनिक काल के आरम्भ में जो भाषा तत्कालीन कवियों को विरासत के रूप में मिली उसके निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण योग कृष्ण-भक्त कवियों का ही था।

जब ब्रजभाषा और खड़ीबोली में काव्य-भाषा बनने के लिये प्रतिद्वंद्विता आरम्भ हुई, उसके पक्ष तथा विपक्ष दोनों ही ओर से अनेक सबल तर्क रखे गये। पद्मसिंह शर्मा, सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', 'मिश्रबन्धु', लाला भगवानदीन इत्यादि आधुनिक काल की प्रथम पीढ़ी के आचार्यो ने ब्रजभाषा के माधुर्य गुण के बल पर ही इसे काव्य के उपयुक्त एकमात्र भाषा मानकर खड़ीबोली को अनुपयुक्त ठहराया और दूसरी ओर से सुमित्रानन्दन पन्त जैसे युवा कवि ब्रजभाषा की अक्षमता और अयोग्यता सिद्ध करने के लिये सन्नद्ध होकर सामने आये। ब्रजभाषा पर व्यापकता और महाप्राणता के अभाव का दोष लगाया गया। यह सत्य है कि ब्रजभाषा का सौकुमार्य संघर्ष की अपेक्षा जीवन के आनन्द-पक्ष के अधिक निकट है परन्तु व्यापकता और महाप्राणता केवल बौद्धिकता अथवा कठोर भावनाओं पर ही नहीं आश्रित होती, वात्सल्य और शृंगार की स्निग्धता भी उतनी ही व्यापक है जितना शौर्य का ओज।

आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों में जीवन-दृष्टि में बौद्धिक तत्वों के प्रवेश हो जाने पर ब्रजभाषा पर चाहे व्यापक और सबल अभिव्यंजना शक्ति के अभाव का आरोप लगाया जाय और यह भी मान लिया जाय कि खड़ीबोली की प्रतिद्वंद्विता में उसे मैदान छोड़

देना पड़ा परन्तु काव्य-भाषा से च्युति उसकी अक्षमता-जन्य पराजय का परिणाम नहीं है, प्रत्युत, तथ्य यह है कि भाषा-विकास के साधारण नियमों के अनुसार खड़ीबोली को परम्परा प्रदान कर ब्रजभाषा साहित्य के क्षेत्र से उसी प्रकार हट गई जिस प्रकार उसके आविर्भाव के आरम्भकाल में अवधी उसका मार्ग प्रशस्त कर स्वयं हट गई थी। प्रत्येक भाषा के रूप-निर्माण में उसके प्रतिपाद्य विषय की प्रकृति का बहुत बड़ा हाथ रहता है। कृष्ण-काव्य में शृंगारिक प्रवृत्तियों, वात्सल्य की स्निग्धता तथा मधुर-मानव-आलम्बन की प्रधानता होने के कारण कोमल भावों की अभिव्यक्ति ही प्रधान रूप से हुई। प्रगीतात्मक काव्य-रूप के लिये भाषा में मधुर तत्व का होना आवश्यक और अनिवार्यतः स्वाभाविक था, आगे चलकर रीतियुग में ब्रजभाषा की इतनी प्रसाधना हुई, मसृणता और कांति की स्पृहा इतनी बलवती हो गई थी कि उसका विकास-पथ अवरुद्ध हो गया। भाषा की अभिव्यंजना की क्षमता का मूल्याङ्कन उसके प्रतिपाद्य के आधार पर ही करना चाहिये। कृष्ण-भक्ति के मधुर प्रतिपाद्य के लिये मधुर शैली ही अपेक्षित थी और ब्रजभाषा उस कसौटी पर पूर्ण रूप से खरी उतरी। द्रष्टव्य यह है कि साधारण मनोरम प्रतिपाद्य से भिन्न अपेक्षाकृत गम्भीर और ओजपूर्ण विषय-वस्तु की गरिमा, गाम्भीर्य और ओज की अभिव्यक्ति करने में वह समर्थ हो सकी है अथवा नहीं, इस प्रश्न के उत्तर के लिये आलोच्य कवियों के उन कतिपय स्थलों को प्रमाण रूप में रखा जा सकता है, जहाँ उनके प्रतिपाद्य का रूप ओजपूर्ण अथवा गम्भीर है। शुद्धाद्वैतवाद का दार्शनिक गाम्भीर्य ब्रजभाषा के माध्यम से क्या अनभिव्यक्त अथवा अर्धव्यक्त रह गया है? उनकी वाणी क्या प्रलय के बादलों की गड़गड़ाहट और प्रकृति तथा जीवन के कठिन पक्ष को व्यक्त करने में पूर्ण रूप से असमर्थ रही है? यदि नहीं, तो ब्रजभाषा के लालित्य और माधुर्य पर अशक्ति का आक्षेप करना उसी प्रकार अन्यायपूर्ण होगा जिस प्रकार किसी अभिजात ललना की संस्कारजन्य शालीनता और माधुर्य को दुर्बलता और भीरुता कहना।

रीतिकालीन भाषा के अलंकृत रूप के कारण ब्रजभाषा पर साज-संवार कर गढ़ी हुई काव्य-भाषा होने का आरोप लगाया जाता है और कहा जाता है कि काव्य-रूढ़ियों में ग्रस्त उसका रूप अत्यन्त कृत्रिम है। ब्रजभाषा के इस परिचय में अव्याप्ति दोष है। रीतिकालीन भाषा का अलंकरण ब्रजभाषा का प्राणतत्व नहीं है। अलंकरण की अतिशयता ब्रजभाषा का आत्मगत दोष नहीं है। परिस्थितियों के कारण प्रदर्शन-प्रियता तत्कालीन जीवन का प्रधान अंग बन गई थी, उसीका प्रभाव तत्कालीन साहित्य तथा कला में भी दिखाई पड़ता है। वास्तव में साहित्यिक भाषा के सभी अनिवार्य गुण हमें ब्रजभाषा में मिलते हैं। व्यापकता की दृष्टि से यह स्पष्ट ही है कि किसी समय ब्रजभाषा 'ब्रजप्रदेश' की ही नहीं समस्त उत्तरापथ की सर्वप्रमुख भाषा थी। उसके व्यापक प्रसार के कारण उसके आसपास की अनेक प्रादेशिक भाषाओं का अस्तित्व उसी में अन्तर्भूत हो गया। ब्रजभाषा की ग्राहक प्रवृत्ति ने उत्तर-पश्चिम की कनौजी और दक्षिण की बुन्देलखण्डी इत्यादि उपभाषाओं की विशेषताओं को इस प्रकार अपने में मिला लिया कि अन्य भाषाओं का अस्तित्व प्रायः मिट ही गया। यह ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप था जिसका मूल तो ब्रज बोली में था परन्तु अनेक प्रभावों के कारण उसमें व्यापकता और लचीलापन आ गया था, जिस प्रकार आज की खड़ीबोली में अनेक प्रादेशिक

भाषाओं तथा हिन्दी की उपभाषाओं के अनेक शब्द विभिन्न स्रोतों से आकर उसके शब्दकोश को समृद्ध बना रहे हैं, उसी प्रकार ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप में भी अनेक शब्द विभिन्न स्रोतों से आकर मिले। तीन शताब्दियों तक विभिन्न प्रदेशों के कवियों ने जिनकी मातृभाषा भिन्न-भिन्न थी, ब्रजभाषा में रचना की। इसी कारण उसमें कहीं-कहीं अत्यधिक व्यापकता आ गई है। ब्रजभाषा के गुणों के अन्तर्गत इस व्यापक उपादान के विद्यमान रहते हुये भी उसमें व्यापक जीवन-दृष्टि और अनेकरूपता का अभाव रहा, इसका कारण प्रतिपाद्य का एकांगीपन ही है, भाषा अथवा कवियों की अक्षमता नहीं।

ब्रजभाषा के सौष्ठव का स्तवन अनेक प्रकार से किया गया है। इसके प्रतिपक्षी आलोचकों की दृष्टि में जो माधुर्य ब्रजभाषा का दोष है, वास्तव में वही उसका प्राण-तत्व है। यों तो किसी भी भाषा में माधुर्य का समावेश शब्द-संयोजन द्वारा किया जा सकता है, परन्तु ब्रजभाषा का तो वह संस्कारजन्य सहज गुण है। ब्रजभाषा में शौरसेनी प्राकृत के अनेक तत्व समाहित हो गये हैं। माधुर्य उनमें से सर्वप्रधान है। इसके अतिरिक्त शूरसेन प्रदेश प्राचीनकाल से ही संस्कृति तथा वैभव का केन्द्र रहा है। किसी प्रदेश की विचारधारा, चिन्तन और जीवनदर्शन के परिष्कार के साथ ही वहाँ की भाषा भी परिष्कृत हो जाती है। कृष्ण के मधुर मानव रूप और उनके प्रति रागात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा ब्रजभाषा के माधुर्य तत्व में योग का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कृष्ण-भक्ति के माधुर्य भाव तथा आर्द्र-कोमल-रागात्मकता की अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण आर्द्रता, कोमलता और स्निग्धता ब्रजभाषा के सहज गुण बन गये।

विकासशील भाषा का दूसरा स्वस्थ लक्षण है उसका लचीलापन। ब्रजभाषा इस गुण की दृष्टि से पूर्ण समर्थ है। यह शब्द-समूह तथा व्याकरण दोनों ही की विविधता का सहज परिणाम है। एक ही कारक के लिये अनेक विभक्तियों के प्रयोग की स्वतन्त्रता होने के कारण उसे प्रतिपाद्य के अनुरूप बनने में अधिक सुविधा रहती है। शब्दों के विकास में भी यही बात है। संस्कृत के एक तत्सम शब्द का विकास ब्रजभाषा में अनेक तद्भवों के रूप में हुआ है। कान्ह, कान्हा, कान्हर, कन्हैया एक कृष्ण के ही अनेक रूप हैं। इसी परिवर्तनशीलता और विकासोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण ब्रजभाषा के कवि को छन्द, गीत आदि की रचना में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती और अभिव्यंजना में विशिष्ट सौन्दर्य आ जाता है। ब्रजभाषा के मूल स्वरों में भी कुछ विशिष्टतायें विद्यमान हैं जिनके द्वारा ब्रजभाषा का रूप अत्यन्त लचीला हो गया है।

ब्रजभाषा का तीसरा प्रधान गुण है उसकी परम्परागत तथा नवीन स्रोतों से अर्जित समृद्धि। उत्तरापथ के सब से समृद्ध भूभाग की सर्वप्रधान तथा व्यापक भाषाओं की उत्तराधिकारिणी होने के कारण उसे एक समृद्ध शब्द-कोश तथा परिष्कृत पद-समूह उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। आलोच्य कवियों की ग्राहक प्रवृत्ति के कारण उसने अनेक उपभाषाओं से शब्द ग्रहण किये। विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी उन्होंने बहिष्कार नहीं किया। इस प्रकार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अवधी, राजस्थानी, उर्दू, फारसी इत्यादि सभी भाषाओं के अनेक शब्द ब्रजभाषा की ध्वनियों के अनुरूप रूप ग्रहण कर उसी के अंग बन

गये। जन्म से लेकर अन्त तक ब्रजभाषा विकास के मार्ग पर अनुदिन बढ़ती ही गई। भक्त कवियों ने साहित्यिक भाषा तथा लोकभाषा के गुणों का समन्वय कर उसके रूप को अत्यन्त व्यापक बना दिया। सूरदास, परमानन्ददास, हितहरिवंश, नन्ददास और रीतिकालीन कवियों की वैयक्तिक रुचि तथा प्रतिभा के खराद पर चढ़कर उसका रूप अत्यन्त निखर गया। आधुनिक-कालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने भक्तियुग और रीतियुग की प्रवृत्तियों का समन्वय किया।

## लोकोक्तियाँ और मुहावरे

मुहावरे और लोकोक्तियां किसी भी प्रौढ़ भाषा के लिये अनिवार्य होते हैं। जहां सरलता और प्रवाहपूर्णता भाषा के सहज स्वाभाविक गुण हैं, वहीं वक्रता तथा सूक्ष्म और जटिल भावों की तीक्ष्ण अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भी उसके लिये आवश्यक है। युगों से चली आती हुई इन उक्तियों में समय की सीमा का अतिक्रमण कर जीवित रहने की शक्ति निहित रहती है। इनमें समाज के सम्मिलित अनुभव अपने लक्ष्यार्थ में रूढ़ होकर अभिव्यंजना के प्रमुख माध्यम बन जाते हैं।

कृष्ण-भक्त कवियों ने मुहावरों का प्रयोग प्रचुरता से किया है। जिन स्थलों पर वक्र-अभिव्यंजना अपेक्षित थी वहां इन कवियों ने मुहावरों का ही सहारा लिया है। दानलीला, मानलीला, और भ्रमरगीत वे प्रसंग हैं जहां गोपियों के वचनों की बौछारों की तीक्ष्णता इन्हीं के बल पर बन पड़ी है। सूक्तियों के लिए इनके काव्य में अधिक अवसर नहीं रहा है। केवल सूरदास और नन्ददास तथा कुछ मात्रा में परमानन्ददास के काव्य में सूक्तियों का प्रयोग किया गया है। शेष कवियों ने तो गोपियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों की बौछार से ही कृष्ण और उद्धव का मुंह बन्द कर दिया है। इनके प्रयोग से इनकी भाषा अत्यन्त सजीव और पात्रानुकूल बन गई है। गोपियों के प्रति यशोदा की खीझ, कृष्ण के प्रति गोपियों के उपालम्भ इन्हीं मुहावरों द्वारा ही सबल रूप में व्यक्त हुये हैं। विभिन्न कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों की तालिका यहां प्रस्तुत की जा रही है। वास्तव में ये ही वे मीठे शस्त्र हैं जिनके प्रहारों की बौछार के आगे कृष्ण के निर्गुण रूप तथा उद्धव के योग को शस्त्र डाल देना पड़ा था।

### मुहावरे

#### कुम्भनदास

ऐंडे ऐंडे जात हो, कहा इतरात हो, जाके बल पर आइ हो तापे जाउ पुकार, घर के बाढ़े, हम पे-हाथ उठावे, आँखिनि को तारो, न कान परी, न पावत पार, नैननि मन हरत री, पचत हार्यो, दूध की नदी बहाई, मानो चित्र लिखाई, मति ठानति, कैसे बानति, ढांचेहि अंतर आनति, मन अटक्यों हीं जानति, तके रहति हैं घतियां, भूली अकबक, पथ ते को न खसी, चितहिं चुरावै, दृगनि दिखावैं, मेली कठिन ठगौरी, मन लियो है चुराई, मुसकि ठगौरी लाई, लोचन करमरात, मोहिनी मेली, टोनो कीनों, मन लीने डोलति, इन भूसि लियो, मुखजोरि कहत हैं, मन वाही के हाथ विकानी, नैननि मांझ समानो, बस कीने बिनु मोलें, मुख

मोर्‌यो, घट फोरयों, चटपटी लागति, मुख जोहि, अपनो भर्‌यो कत ढारति, मेली ठगौरी, सांट लगी तन मैन की, करत नकवानी ।[1]

## सूरदास

एक डार के तोरे, निपट दई को खोयो, मेहमानी कछु खाते, वार खसो मत न्हाते, सहद लाइ के चाटो, घूम के हाथी, फिरति धतूरा खाये, वरसति आँखी, अँग आगि वई, मुँह सम्हरि तू वोलत नाहीं, मूड़ चढ़ाई, मामी पीवे, हाथ बिकानी, वोहित के खग, भौंहें तानत, भई भुस पर की भीति, गगन कूप खनि वोरे, तेरो कह्यो पवन को भुस भयो, अँगुरी गहत गह्यो पहुंचो, अपनी सी जु करी, गूंगे गुर की दसा, मोल लियो विन मोल, काहे को द्वै नाव चढ़ावत ।[2]

## परमानन्ददास

न्हातहि जनि वार खसो, नयनतृषा बुझान दे, घर घर छाती करे, हियो भरि आयो रे, अंखियों सिरानी, उर आनन्द न समाई, घर वैठे निधि पाई, काहे को करुई होतिरी, सब ब्रज गाजि हि लायो, अँखियन तारो, कुलदीपक, फिरि फिरि मोहि वौरावत, गढ़ि गढ़ि छोल वनावत, पचिहारि रही, कथा न परति कही, ठगी सी ठाढ़ी, प्रेम ठगोरी लाई, कान करत हैं, आंखि दिखावे, रहे नकवान्यो, तिहारे ववा की चेरी, कौन मन राखि सकेरी, नैन छके री, कीजिये मुँह कारो, दीजे देस निकारो, ठगोरी लाई, भली पोच ले वहिये ।

विनु मोल विकाऊं, नैन सिराऊँ, तन मन लूलत, लियो मन काढ़ी, वात जु भई उजागर, मेरे मन खटको, नाहिन काहू के वटको, लाज कुआँ में पटको, अनगढ़ छोली वानी, हियहि समानी, कान भरे, जाही के भाग ताही के ढरे, तू चट से मट होति नहिं रावे, रार वढ़ाई, भौंह चढ़ाई, वावा की जाई, विजिया खाय भई वोरी, उपजी कौन वलाई, लागत है कछु वाई, चित औरहि कीन्हो, पेंड गही री, नैननि के घाले, पर्यो प्रेम के पाले, पिय को पान्यो भरिहों, पांय परत नहि आगे, ठगोरी मेली, ताही के हाथ विकानी, चित चोरि लह्यो, तरसत है मेरो हियो, नैन सिराउँ, लागति नहीं पलक, आवत जिय ललक, नैनन के पलक, भयो चित लूल, पटकि पछोर्‌यो, मटुका ले फोर्‌यो, मुख मोर्‌यो तिनका सों तोर्‌यों, मेरे जाने घास, मैड़त हाथ, काके पेट समाऊँ ।[3]

---

१. कुम्भनदास, वि० वि० कां०, पद २३, २३, २३, २३, ५७, ६६, १४५, १४७, १४८, १८६, १८६; १६२, १६२, १६५, १६६, २०७, २०७, २०८, २१०, २१८, २१६, २२७, २२७, २३३, २३७, २४०, २४०, २४१, २४२, २४७, २७३, २७४, ३६०, ३६१ ।

२. सूरसागर, स्कन्ध १०, नागरी प्रचारिणी सभा, पद ३५६५, ३५४०, ३५१६, ३५४७, ३६५६, ३६२६, ३६३६, ४०४०, ३२०६, ३७०३, ५३७, १२७०, ३६२६, १८६८, २३१२, २३१०, ३१८४, ३६००, ३५४०, १३०५, २३५०, २५२६, १४५७, १२८७।

३. परमानन्द सागर—सं० गो० ना० शुक्ल, पद ३७, ४०, ६६, १००, १०१, ११०, ११८, १३५, १४०, १४४, १४६, १५१, १५३, १५५, १७६, १८६, ३२४, ३२६, ३२७, ३५३, ३५६, ३६३, २०६, ३६६, ३३७, ३७४, ३६४, ३६८, ४०२, ४०४, ४२०, ४२१, ४२२, ४२५, ४३४, ४४०, ४४७, ४५६, ४६३, ४७१, ५१७, ४८८

कृष्णदास

लोकलाज सब पटकी, तन मन फूली अंग न समावत, हिये समाये, फूलि जनावति, फूली अंग न समाति, चित्र लिखी सी पांति, रोम-रोम फूलि चाय, ठगौरी लाई, ऊंचो नीचो भाखो, पांच चोर मिलि काखो, कानि भरै।[1]

नन्ददास

ज्ञान की आँखिन देखो, प्रेम ठगौरी लाई, कौन समेटे घूरि, हिय नोन लगावो, लोभ की नाव ये, छुधित ग्रास मुख काढ़ि, सरवसु लियो चुराय, तुम्हरो गाहक नाहिं, इन्द्र की छाती लौन सो भींजै, गांठि को खोइ कै, फाटि हिय दृग चल्यो, कृतकृत ह्वै गयो, हीरा आगे कांच, बांधी मूठी, तिनको मेलो कूप, पुजवै आस, मांगो गोद पसारि, रही सिरनाइ, हौंनाकै आई, फूलै फिरै, रवि ससि सों अरई, मनो मोल लई री, तेरे वत्रा की हौं चेरी भई री, लाख बात की एक कही री, उन पांयन कहुं मेंहदी दई री, प्रेम को मारग सूधो, सब पचि मुये, इन्द्रिन को मारे, काहे को सानै, आंखी तर आवै, करत नकवानी।[2]

चतुर्भुजदास

मन फूले, ठगौरी मेली, राखे हैं नाकेन, मंत्र पढ़ि डारयो, नैन को घात, बार मति सखो सीस, साध पुराऊंगी, रही ठगी, नैन भरि पाई, चितहिं चुरावत, नैन तारे, तनमन वारि, घात करी, कर मींडत, मन अटक्यो, परी ठगौरी, सांट लगी तन मैन की, मोहिनी पढ़ि मेली, लगे नैन निमेष, ठगौरी मेलि गये, सिरायो हीयो, तृन तोरि सबै व्रत टारै, ठगी परी, मेली मोहिनी, ठगौरी लीनी, रही ठगी मुरझाइ, तनुमनु लियो चुराई, कियो दुचितो चित, कान करी, हृदै गांठि तेरे नेकु न गांठ हिये की खोलै, नैननि के तारे, नैन सुफलकरि, नाहिन कछू बसान।[3]

छीत स्वामी

इच्छा भई लूली, हिय में आइ परयो, मन हरि लियो, ठगौरी सी लाई, जिय उन ही हाथ पर्‌यो, मनु हर्‌यो, तपन बुझाइये, मरत जिवाइये, मन गति भइ लूली, विरह की सूल मिटावत, सरवसु देत लुटाई।[4]

गोविन्द स्वामी

फूले अंग न समाई, सिरात हियो, लादी है लौंग सुपारी, अति रंग भरिया, परले नहिं

---

१. अष्टछाप परिचय—कृष्णदास, प्रभुदयाल मित्तल, पद २३२, ३५, ४५, ५४, ६२, ६३, ७३।

२. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १७४-७, १७५-८, १७५-१२, १७६-३२, १८१-३१, १८८-४१, १८४-५०, १८५-५५, १६२, १८५-५६, १८६-६०, १८६-६२, १८७-६४, १८८-७१, १८६-७१, १६४-१, १६४-२, १६४-५, १६५-७, १६५-६, ३५, ३६७, १२६, १७४-८, १७६-१६, १७६-१७, १७६-२१, १३६, १६७।

३. चतुर्भुजदास, वि० वि० कां०, पद ६, २४, २७, ७३, ७६, १५०, १५६, १६७, १७८, १८४, १८७, २१७, २२०, २३५, २४२, २४३, २४५, २४६, २५०, २४७, २४६, २५२, २५६, २७५, २७७, २८१, २८२, ३०३, ३११, ३५१, ३५२, ३६३।

४. छीत स्वामी, वि० वि० कां०, पद ५४, ६६, १०७, १०६, ११५, १२१, १२६, १३०।

सार्‌यो, वैर चितार्‌यो, चोंच कटाऊं पपइया रे ऊपर कालरि लूण, चेरी भई विन मोल, अब काहे की लाज परगट ह्वै नाची, घट के पट खोल दिये हैं, लोक लाज सब डार रे।

उपर्युक्त मुहावरों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द-समूह के समान ही विभिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों में भी एकरूपता है। अधिकतर ये मुहावरे नारी-हृदय के सहज उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के सफल माध्यम बने हैं। खीझ तथा कुंठा और अनेक स्थलों पर विवशता भी इन्हीं के माध्यम से बहुत मुखर हो उठी है।

लोकोक्तियों का प्रयोग मुहावरों की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास जी की रचनाओं में कुछ लोकोक्तियों का प्रयोग मिलता है। इसका मुख्य कारण है प्रतिपाद्य में जीवन के व्यापक तत्वों का अभाव तथा भावात्मक तत्वों का ही प्राधान्य। लोकोक्तियां भी अधिकतर प्रेम-प्रधान और अनुभूति-परक हैं। बुद्धि-तत्व के आधार पर नीर-क्षीर का विवेक और चिन्तन-तत्व उनमें नहीं है।

## लोकोक्तियाँ

### सूरदास

बहे जात मांगत उतराई, एक पंथ द्वै काज, जहां व्याह तहँ गीत, कहा कहत मामी के आगे जानत नानी नानन, खटरी मही कहा रुचि माने सूर सवैया घी को, धान को गांव पयार से जाने, दाई आगे पेट दुरावति, स्वान पूंछ कोउ कोटिक लागो सूधी कोउ न करे। अपनो दूध छांडि को पीवै खारी कूप को वारि, काटहु अम्ब बबूर लगावहु चंदन को करि वारि, जल बूड़त अवलम्ब फेन को फिरि-फिरि कहा गहत हो, लौंडी की डौंड़ी जग बाजी, प्रेम कथा जाई पै जाने जापे बीती होय, कहो कौन पै कढ़त कनूकी जिनि हठि भुसी पछोरी, तुमसो प्रेम कथा को कहिबो मनो काटिवो घास, सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाड़े, दिगम्बरपुर में रजक कहां व्योसाइ, सूरदास जे मन के खोटे अवसर परै जाहिं पहिचानें, सूर स्वभाव तजे नहिं कारो कीने कोटि उपाय।[1]

### परमानन्ददास

फाट्यो दूध भयो जब कांजी कहा सवादहि होइ।[2]
सेंति मेंति क्यों पाइये पाके मीठे आम।[3]
यह जोवन धन द्यौस चारि को पलटत पान सौं रंग।[4]
ओस प्यास जाइ कहो कैसे जो न नदी जलु पीजैं।[5]

---

१. सूरसागर, ना० प्र० स०, पद, ३५६६, ३५५८, ३७८३, ३८४६, ३६००, ३८६, ४२७०, ४१६०, ४१७१, ४२२२, ४५७५, ४३३९, ४६१७।

२. परमानन्द सागर, पद १०२७

३. " " १०१८

४. " " ५२५

५. " " ५६१

अपने घरम आदर करै न्यौति जिमावै खीर ।[1]
बांट खायो दुग्ध चौसर्यो औट छाछि देत अहीर ।[2]
परदेसी की प्रीत सखीरी अनत नहीं ठहराय,
न्यायो पियो डगर उठि लाग्यो ताको कहा पिराय ।[3]

सूक्तियाँ

एक प्रीत के सब गुन नीके बिन गुन अभरन सबही फीके ।[4]
परमानन्द संभार न तन कों को यह प्रीति को चीन्हो ।[5]
सरिता कहे बहुत सुत जाये जो न होय उपकारी,
एक सो लाख बराबर गिनिये करै जो कुल रखवारी ।[6]
परमानन्द प्रभु पीर प्रेम की काहू सों नहिं कहिये ।
जैसे व्यथा मूक बालक की अपने तन मन सहिये ।[7]

नन्ददास

घर आये नाग न पूजें बांबी पूजन जाहिं ।[8]
पारस परसे लोह तुरत कंचन ह्वै जाई ।[9]
सपनों नाहिन पाइये, पइये करनी सोय,
मानत दीपक नां बरै, बारे दीपक होय ।[10]
पारस परसि पितल होइ सोनू पाहन तें परमेस्वर मोनू ।[11]
सज्जन होंहि जो मित्त में मित्त न चित्र घटंत ।[12]

निम्नलिखित शैली का प्रयोग अनेक कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है —

नैनन के नहिं बैन बैन के नहिं नैन तब ।[13]
नैन के रसना नहिं रसना के नहिं नैन ।[14]

महाकवि तुलसी की इन पंक्तियों में सूक्तियों के संयोजन द्वारा काव्य-पंक्तियों का विशेष उत्कर्ष है —

"सांप के खाये को मंत्र लगे, पर आंख के खाये को मंत्र न तंता,
वह पीर करे निवरे छन में, यह घायल घूमे रहे रसमंता।"

रसखानि जी ने सूक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग सार्थकता और सफलता से किया है। 'प्रेमवाटिका' में प्रेमतत्त्व की व्याख्या तथा माधुर्य भाव की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में उच्चरित उनकी उक्तियाँ कबीर की उक्तियों के टक्कर की हैं —

प्रेम प्रेम सब कोई कहत प्रेम न जानत कोय,
जो जन जाने प्रेम को, फेर जगत क्यों रोय।[1]
शास्त्रण पढ़ि पंडित भये कै मौलवी कुरान,
जु पै प्रेम जान्यो नहीं कहा भयो रसखान।[2]

प्रेम-तत्त्व के कोमल कठिन रूप-साहचर्य का वर्णन कमल-तन्तु की कोमलता तथा खड़ग धार की तीक्ष्णता के सहयोग से बड़ा प्रभावशाली बन पड़ा है—

कमल तन्तु सों छीन अरु कठिन खड़ग की धार,
अति सूधो टेढ़ो बहुरि प्रेम पंथ अनिवार।[3]

कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य के प्रभाव के कारण राधिका बेहाल है। गोपिकायें नन्द-द्वार पर सत्याग्रह करने पर उतारू हैं, यह चित्रण मुहावरेदार भाषा में बड़ी समर्थता से प्रस्तुत किया गया है—

बंसी बजावत आनि बढ़ो सो गली में अली कछु टोना सों डारै।
हेरि चितै तिरछी करि दृष्टि चलो गयो मोहन मूठि सी मारै।
ताही घरी सो परी घरी सेज पे प्यारी न बोलत प्रानहूं वारै।
राधिका जी हैं तो जीहैं सबै न तो पीहैं हलाहल नंद के द्वारे।[4]

कौन कह सकता है कि रसखानि की इन गोपियों का यह ब्रह्मास्त्र गान्धीजी के सत्याग्रही सैनिकों के अस्त्र से कम प्रभावशाली है!

निम्नलिखित पंक्तियों में सखी की वक्रोक्ति भी प्रभावात्मक मुहावरों के प्रयोग पर ही निर्भर है —

अरी अनोखी बाम तू आई गौन नई,
बाहर धरसि न पाँव, है छलिया तुव ताक में।[5]

रीतिकालीन कवियों ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम मात्रा में किया है। मुहावरे तो परम्परागत होते ही हैं। इन कवियों ने भी अधिकतर इन्हीं मुहावरों का प्रयोग किया है जो पूर्व-मध्यकाल के भक्त-कवियों द्वारा प्रयुक्त हो चुके थे। निम्नलिखित तालिका से यह बात प्रमाणित हो जायेगी।

---

१. प्रेमवाटिका, पृष्ठ ६; दोहा २
२. ,, ,, १० ,, १३
३. ,, ,, ६ ,, ६
४. प्रेमवाटिका, पृष्ठ १४, दोहा ११
५. ,, ,, १६, सोरठा ५१

वृन्दावनदास

कहा बजावत गाला, मुंह जु लगाई, काटै बात पराई, जल में बस के बैर मगर सों, फिन छाती सु सिराई, दीपक तले अँधेरो, गाल बजायो, रंग पै रंग चढ़ावै, अमल स्वाद अमली ही जानै।

नागरीदास

वृद्ध होय के धन उपजावत, गंगा की राह मलारहिं गावत, अँगुरी गहत फिर गहत हो पहुँचा, भटभेर भई, इत माननो बैल गरे सँकरी, अंखियन हाथ बिकाये, नैन सिराये, बिदा भयौ लै पान, करि राखो उर हार, हिय में आन खगी।

घनानन्द

घनानंद के मुहावरों में परम्परा का पिष्ट-पेषण नहीं है। उनकी जबांदानी में मुहावरों का बहुत बड़ा योग रहा है—

आंखिन बसे हो, अँखियान में आय हो जू, छायो आंखिन में ल्यायो न काहू आंख तरे, कबहू तो मेरिये पुकारि कानि खोलि है, रूई दिये रहोगे कहां लों बहिराइबे को, घाव कैसो लोन है, छाती पै चढ़े रहे, नाक चढ़ाए डोलत टेढ़ी, यह कौन-सी पाटी पढ़े हो लला, तांवरी परति, पांय लगी मेंहदी, इते पर हाथ को पांय पसारै, प्रेम के पाले परे जिय जाको, बात की बात सु बात विचार्यो, मूंड़ चढ़ावत, उड़ि चल्यो रंग, पायनि ऊपर सीस घिसे, सीस धुनै, मीड़बोई हाथ लग्यौ। उर गाँठि जो अंतर खोलति है। जीभ संभारि न बोलत है, ज्यों-ज्यों करी कछु कानि कनोड़े त्यों मूड़ चढ़े बढ़े आवत नेरे, पैज परी, सीस चढ़ाइ लई, आगे न विचार्यो, अब पीछे पछताये कहा, मति गति खोय गई है।

दानलीला के निम्नोक्त प्रसंग में लाक्षणिकता से युक्त मुहावरों के प्रयोग में कवि की अभिव्यंजना-शक्ति की सामर्थ्य का परिचय मिलता है।

> छैल नये नित रोकत गैल सो फैलत काये अरैल भये हो।
> लै लकुटी हँसि नैन नचावत बैन रचावत मैन तये हो।
> लाज अंचे बिन काज खगौ तिनही सौं पगौ जिन रंग रये हो।
> ऐंड सबै निकसैगी अबै, घन आनन्द आनि कहा अये हो।

श्री मनोहरलाल गौड़ के मत में "आनन्द घन जी के मुहावरों के प्रयोग की प्रेरणा फारसी साहित्य से मिली है, फलतः नागरता का इसके साथ योग होना स्वाभाविक था।"[1]

ब्रजवासीदास के मुहावरों पर भी सूरदास की स्पष्ट छाप है। जैसा कि निम्नलिखित तालिका से प्रमाणित होता है—

बीरा दीन्हों, जो बोवै सोई लुने बनाई, मरति मसोसा खाय, गीध्यो माधुरी, होनी होय सो होय, हगन सनकारि, समय चूकि सहिये दुख दूनो, मन हरि ले गयो, परत न आगे पाय, उलटी-पलटी कहत, का गनती में कंस, रारि करत, बड़ी बात छोटे मुख माँही,

---

१. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा, पृष्ठ १०५—डा० मनोहरलाल गौड़

परिपाटी चलो, कहँ लादे हम जात हैं, सूरदास के 'भ्रमर गीत' में प्रयुक्त मुहावरों की विदग्धता व्रजवासीदास के मुहावरों में नहीं है।

भारतेन्दुजी ने भी मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग सफलता के साथ किया है—
चूक हमारी गरे परी, मिलिहै सोइ भाग में जो उतर्यो, वियोग हमारे ही बांटे पर्यो, घूंघट उतारि व्रजराज हेतु नाची मैं, सजन तेरी मुख देखे की प्रीति, कसे रहत कटि, धूरि मिलाई, माछर मारे जल ही जात, जलपान कै पूछनी जात नहीं, ऊंची दूकान की फीकी मिठाई, नौ घरी भद्रा घरी में जर्यो घर, कूपहि में यहां भांग परी है, मेख मारै।[1]

रत्नाकरजी के मुहावरों की सांकेतिक वक्रता दर्शनीय है। मुहावरों के द्वारा अर्थ-सौरस्य का जो समावेश निम्नलिखित उद्धरणों में हुआ है वह कुशल अभिव्यंजना-शक्ति का परिचायक है—

रोवत रोवत ही अब तो गिरि वाकौ गयौ अँखियान कौ पानी।[2]

रोते-रोते नायिका की आँखों के अश्रु समाप्त हो गये हैं, दूसरा अर्थ है नायिका नारियोचित लज्जा छोड़ चुकी है।
इसी प्रकार—

मोहन रूप लुनाइ की खान में, हौं नखतैं सिखलौं इमि सानी
ह्वै रही लोनमई रत्नाकर सो न मिटै अब कोटि कहानी
सील की वात चलाइ चलाइ, कहा किये डारति हौं हमें पानी
जानि परै मम जीवन सौं हठि, हाथ ही धोइवै की अब ठानी।

प्रिय के रूप-लावण्य (लवण) में नायिका पूर्ण रूप से स्निग्ध है। शील-तत्व (सील की वात अथवा सीली वात) के निरूपण से उसे पानी पानी करने की चेष्टा से क्या हित हो सकता है? नम वायु में नमक का पिघल जाना स्वाभाविक ही है। 'बात का बवण्डर' तथा मीन-मेष इत्यादि मुहावरों पर भी यही चमत्कार दिखाया गया है। रत्नाकर का वाग्वैदग्ध्य इन स्थलों पर घनानन्द से टक्कर लेता जान पड़ता है। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरों की तालिका नीचे दी जा रही है—

मुख हेरौं, दृग फेरौं, अँधहू के आगे रोइ (धृतराष्ट्र का अर्थ भी है), करेजहि दरेरौं, घात भयो, होम करत कर जर्यो, पर्यो विधि वाम, वाजी लेना, वाजी वेचना, मंत्र फूंकना, कलेजा थाम लेना, सांसा रोकना, मन मारना, मति फेरना, लाख कहना, अवां से घिरना, चूर-चूर होना, गुमान गलना, तुरही वजाना, थाह थहाना, भीख करके लेना, दृगों में पानी भरना, वयार भखना, दुख दरना इत्यादि।

निम्नलिखित छन्द का वैदग्ध्य आरम्भ से लेकर अन्त तक मुहावरों पर ही आधृत है—

---

१. प्रेम प्रलाप प्रेम माधुरी : पृष्ठ ३८, ७६—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
२. प्रकीर्ण पद्यावली : पृ० ५७१, छ० ४८—जगन्नाथ दास रत्नाकर

आये हौ पठाये वा छतीसे छलिया के इतै,
वीस विसै ऊधौ वीर वावन कलांच ह्वै।
कहै रत्नाकर प्रपंच न पसारौ गाढ़ै,
वाढ़ै पर रहौगे साढ़े वाइस ही जांच ह्वै।
प्रेम और जोग में है जोग छठे आठैं पर्यो,
एक ह्वै रहै क्यों दोऊ हीरा अरु कांच ह्वै।
तीन गुन पांच तत्व वहकि वतावत हौ,
जैहै तीन तेरह तिहारी तीन पांच ह्वै।

संख्यावाचक शब्दों पर आधृत मुहावरों के इस प्रयोग में चमत्कारपूर्ण वाग्वैदग्ध्य का परिचय मिलता है लेकिन सूर की गोपियों के मुहावरों की प्रखरता, तीक्ष्णता और मार्मिकता उनमें नहीं है। कुब्जा और मुरली के प्रति असूया के व्यक्तीकरण में मानों उनके हृदय का सारा रोष फूट पड़ता है, रत्नाकर की गोपियाँ बातें बना-बनाकर मुहावरों का प्रयोग करती जान पड़ती हैं। रत्नाकर की शब्दावली में जहाँ भक्त-कवियों का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है, इनके मुहावरों में रीतिकालीन उक्ति-वैचित्र्य और हाजिर-जवाबी साध्य बन गई है।

गोपियों के सम्वादों में प्रत्युत्पन्नमति और संगति का समावेश मुहावरों द्वारा ही हुआ है। सूरदास से लेकर रत्नाकर तक सब कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग अधिकतर स्त्री-पात्रों द्वारा ही किया गया है। नारी-हृदय की विवश भावनायें उपालम्भ और व्यंग्य के रूप में इनके द्वारा व्यक्त हुई हैं। इसी कारण भ्रमर गीत और खंडिता प्रसंगों में इनका प्रयोग अधिक हुआ है। प्रायः सभी कवियों ने इन्हीं प्रसंगों में मुहावरों का सहारा लिया है। प्रतिपाद्य की एकरूपता के कारण ही इन सब कवियों के मुहावरों में भी एकरूपता है। दूसरा ध्यान देने योग्य तथ्य यह है, कि इनका प्रयोग सर्वत्र रसोद्रेक के निमित्त हुआ है, भाषा के परिष्कार और जबांदानी के लिये नहीं। घनानन्द इसके अपवाद हैं। घनानन्द के मुहावरों के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य है उक्ति को विदग्ध बनाना। उनके अतिरिक्त और किसी कृष्ण-भक्त कवि ने मुहावरों का प्रयोग उस अर्थ और उद्देश्य से नहीं किया है जिस अर्थ में प्रेमचन्द ने किया है अथवा उर्दू भाषा के लेखक करते हैं। भाषा को लच्छेदार बनाना उनका उद्देश्य नहीं है। कृष्ण-भक्त कवियों के मुहावरे तो गोपियों की झुंझलाहट, झल्लाहट, दीनता, विवशता और क्षोभ को व्यक्त करनेवाले भाव-प्रेरित वचन-रचना के सबल माध्यम के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। रत्नाकर की रचनाओं में भक्तिकाल और रीतिकाल के संयुक्त प्रभाव से मुहावरों के प्रयोग का उद्देश्य रसनीयता तथा वाग्वैचित्र्य दोनों ही रहा है।

## तृतीय अध्याय

# कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा (२)

## वर्ण-योजना तथा शब्दालंकार

### आदर्श वर्ण-योजना के मान-दण्ड

काव्य-रचना में वर्ण-योजना का बड़ा महत्व होता है। शास्त्रीय दृष्टि से अभिव्यंजना के इस तत्व का अन्तर्भाव वृत्तियों, अनुप्रास तथा वर्ण-विन्यास वक्रता में हो जाता है। इन्हीं तीनों प्रसंगों का विवेचन करते समय अनेक आचार्यों ने वर्ण-योजना के गुण-दोषों का निर्देश किया है तथा काव्य में आदर्श वर्ण-योजना के कुछ मापदण्ड बनाये हैं। आचार्य कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के प्रसंग में वर्ण-योजना सम्बन्धी जो मानदण्ड निर्धारित किये वे इस प्रकार हैं—वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिये। उसका प्रयोग केवल वर्ण-साम्य के व्यसन-मात्र के कारण नहीं होना चाहिये क्योंकि औचित्य के अभाव में प्रतिपाद्य का रूप विकृत हो जाता है। वर्ण-योजना में आग्रह की अति नहीं होनी चाहिये और न उसमें असुन्दर वर्णों का प्रयोग होना चाहिये। प्रसाद गुण की रक्षा वर्ण-योजना का प्रथम उद्देश्य होना चाहिये। श्रुति-पेशलता तथा प्रतिपाद्य की अनुकूलता वर्ण-योजना के सर्वप्रमुख गुण हैं।

### कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना

उपर्युक्त मानदण्डों पर कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना आचार्यों द्वारा निर्धारित सभी प्रतिबन्धों की दृष्टि से खरी उतरती है। इन आलोच्य कवियों की भाषा का माधुर्य और संगीत लगभग ७५ प्रतिशत उनकी वर्ण-योजना के कारण ही बन पड़ा है। प्रतिपाद्य की अनुकूलता तथा माधुर्य उनका प्रधान गुण है। कुछ स्थलों पर वर्ण-योजना के प्रति आग्रह की अति दिखाई अवश्य पड़ती है परन्तु अधिकतर उनका दृष्टिकोण भावप्रधान ही रहा है। उनकी वर्ण-योजना उनके नेत्रों में झूलते हुये कृष्ण-राधा के स्वरूप, उनकी लीलाओं तथा अपने कान में गूंजते हुए संगीत के स्वरों की झनकार को मूर्त रूप देने में सहायक तत्वों के रूप में ही प्रयुक्त हुई है।

विभिन्न कवियों के प्रतिपाद्य में चाहे कितनी भी एकरूपता क्यों न हो परन्तु शैली के वैशिष्ट्य का पार्थक्य उनमें अवश्य विद्यमान रहता है। शैली की दृष्टि से उन्हें श्रेणीबद्ध करना बड़ा कठिन हो जाता है। कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में प्रतिपाद्य और भाषा में एक-

रूपता होते हुये भी शैलीगत पार्थक्य विद्यमान है ; वर्ण-योजना के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। यह सत्य है कि इन सभी कवियों की रचनाओं में संगीत-तत्व बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लोक-गीतों की धुन, शास्त्रीय संगीत की गरिमा, वाद्य-यन्त्रों की झनकारों के साथ ही उनमें एक आन्तरिक संगीत भी विद्यमान है और इस आन्तरिक संगीत के निर्माण में सर्वप्रधान योग है इन कवियों की वर्ण-योजना का। कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना तीन प्रधान लक्ष्यों को सामने रखकर की गई है—

१. भाव-व्यंजना के उपयुक्त भाषा-निर्माण के लिये।
२. भाषा में लय और संगीत तत्व के समावेश के लिये।
३. भाषा के अलंकरण के लिये।

## सूरदास की वर्ण-योजना

सूरदास की कला के विषय में अनेक विद्वान प्रामाणिक और विवेचनात्मक शोध प्रस्तुत कर चुके हैं। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध में अभिव्यंजना के विभिन्न तत्वों का विवेचन करते हुए सूर की कला की ओर संकेत मात्र कर के संतोष कर लिया जायेगा। वर्ण-योजना के क्षेत्र में सूर के सम्बन्ध में यह बात निर्भ्रान्त रूप से कही जा सकती है कि उनकी दृष्टि में काव्य के बाह्य उपकरणों का महत्व सदैव साधन रूप में ही रहा। कुछ विशिष्ट स्थलों को छोड़कर वे उनके लिये साध्य नहीं बने।

सूर की वर्ण-योजना भाषा में संगीत और लय के समावेश तथा भाषा को भावों के अनुकूल बनाने के उद्देश्य से ही की गई है। ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं जहां वर्ण-योजना में कवि का उद्देश्य केवल चमत्कार-प्रदर्शन रहा हो। अनुप्रास इत्यादि अलंकारों के प्रयोग में सूर की दृष्टि शुद्ध आलंकारिक की नहीं रही है। उनकी वर्ण-योजना सहज और अकृत्रिम रूप से पद में निहित अर्थ को साकार रूप देने में सहायक होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस प्रकार की वर्ण-योजना में जागरूक कला-चेतना का पूर्ण अभाव है, निम्नलिखित पंक्तियों की वर्ण-योजना को 'अनायास' मानना मेरी दृष्टि में उपयुक्त नहीं है—

ब्रज वनिता वर वारि वृन्द में श्री व्रजराज विराज्यो।[1]

अथवा

बाल सुभाव विलोल विलोचन चोरति चितहि चारु चितवनियां।[2]

निम्नोक्त पंक्तियों में नृत्य की मुद्राओं के चित्र, घुंघरू की छमछम तथा वाद्य-यन्त्रों की झनकारें वर्ण-योजना के माध्यम से व्यक्त हुई हैं—

नृत्यत स्याम स्यामा हेत।
मुकुट लटकनि भृकुटि-मटकनि, नारि मन सुख देत।

---

१. सूरसागर, ना० प्र० स०, १० स्कन्ध, पद १०४६
२. ,, ,, १० ,, ,, १०६

कबहुं चलत सुघंग गति सों, कबहुं उघटत बैन।
लोल कुण्डल गंड मंडल, चपल नैननि सैन
स्याम की छवि देखि नागरि, रही इकटक जोहि।
सूर प्रभु उर लाइ लीन्हीं, प्रेम-गुन कर पोहि।[1]

इस संगीतपूर्ण लय का निर्माण कवि ने कहीं-कहीं अमात्रिक अथवा लघु मात्रिक वर्णों के प्रयोग द्वारा भी किया है। सरल कोमल और मधुर वर्णों का विन्यास करना सूर की वर्ण-योजना का विशेष गुण है। बालकृष्ण के रूप तथा शृंगार-वर्णन में मधुर वर्णों की योजना प्रधान रूप से हुई है। परुष वर्ण इतने विरल हैं कि उनके बीच में गुंथ कर वे अपनी परुषता खो बैठे हैं।

अंगुरिनि मुंदरी पहुंची पानि। कछि कटि काछनी किंकिनि बानि
उर नितम्ब बेनी धरे।
पग पटकत लटकत लट बाहु, मटकत भौंहनि हस्त उछाह
अंचल अंचल भूमका
दुरि दुरि देखत नैननि सैन। मुसकी हँसी कहत मृदु बैन।
मंडित गंड प्रस्वेद कन[2]

ओज-प्रधान स्थलों में भी यह वर्ण-मैत्री द्रष्टव्य है—

सुनि मेघवर्त्त सजि सैन आये
बलवर्त्त, वारिवर्त्त पौनवर्त्त, वज्र, अग्नि वर्तक, जल संग ल्याये
थहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाये[3]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की दृष्टि ने वर्ण-योजना को सर्वत्र साधन रूप में ही ग्रहण किया है। सूरदास की कलात्मक वर्ण-योजना का अभीष्ट प्रतिपाद्य के अनुकूल भाषा-निर्माण तथा भाव-व्यंजना को सबल बनाना ही है। कहीं-कहीं अनुप्रास-योजना में चमत्कार-प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ जाती है पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं। उदाहरण के लिये—

नवल निकुंज नवल नवला मिलि नवल निकेतन रुचिर बनाये
बिलसत विपिन विलास विविध वर, वारिज वदन विकल सचु पाये[4]

इन पंक्तियों की वर्ण-योजना में कवि का उद्देश्य केवल भाषा का अलंकरण करना ही है।

## परमानन्ददास

परमानन्ददास के काव्य में वर्ण-योजना का सचेष्ट रूप बहुत ही कम है। प्रतिपाद्य

---

१. सूरसागर, द० स्कन्ध, पद ११४८ —ना० प्र० स०
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या ११८० ,,
३. ,, ,, ,, ८५३ ,,
४. ,, ,, ,, १६८७ ,,

में निहित अनुभूतियों को प्रवाहपूर्ण भाषा में व्यक्त करना ही उनका प्रधान ध्येय रहा है। गति-निर्माण के लिये अन्त्यानुप्रास की सहजता उसमें अवश्य विद्यमान हैं—

चंचल बानि नचावत आवत होड़ लगावत तान
सबही हस्त लें गेंद चलावत करत बाबा की आन
पाग बने प्यारी चरम आगरी वन आई
रूप नागरी गोपी एक सब देखन आईं।[1]

आद्यानुप्रास के प्रयोग का रूप भी सहज स्वाभाविक है—

जो भावे सोही मेरे मोहन माधुरी मधुर रसाल
जो सुख सनकादिक कौं दुरलभ दुरि देखत व्रज-ग्वाल[2]

प्रभावात्मक भाव-व्यंजना के लिये आवृत्ति का सहारा लेकर परमानन्ददास जी की वाणी माधुर्य भक्ति के अतिरेक से अभिभूत हो उठी है। निम्नलिखित पंक्ति में अलंकृत योजना के अभाव में भी उक्ति की समस्त शक्ति 'रस' की आवृत्ति के द्वारा ही संयोजित की गई है।

आंखि रस कन-रस वत-रस सब रस नन्दनंद पे पैये।[3]

परमानन्ददास की वर्ण-योजना की गति स्वस्थ अनलंकृत ग्राम-बाला के समान है, जिसका सौन्दर्य अपने आप ही निखर पड़ता है। यह योजना सम्यक् रूप से सम्पूर्ण पदों में सर्वत्र नहीं मिलती। अमात्रिक लघुवर्णों के द्वारा उसकी मन्थर गति की सहजता तो सर्वत्र विद्यमान है परन्तु पदों के बीच-बीच में थोड़ी-बहुत सचेष्टता उसकी मन्थर चाल में गति उत्पन्न कर देती है। वर्णनात्मक स्थल इस प्रकार की योजना द्वारा सजीव हो उठे हैं। निम्नलिखित पद में झगड़ती हुई मालिन को हमारे नेत्रों के सामने सजीव करने वाली परमानन्ददास की वर्ण-योजना ही है—

मांगे सुवासिन द्वार सकाई
झगरत अरत करत कौतूहल चिरजीवें तेरो कुंवर कन्हाई[4]

अनेक पदों की एक-एक पंक्ति में ही वर्ण-मैत्री तथा अनुप्रास की योजना करके कवि ने संतोष कर लिया है। किसी भी पद में इस प्रकार की योजना का आद्यन्त निर्वाह नहीं हुआ है, अष्टछाप के कवियों में परमानन्ददास ही एक ऐसे कवि हैं जिनके विषय में पूर्ण रूप से निर्भ्रान्त होकर यह कहा जा सकता है कि उनके काव्य में अनुभूति की चरमता ही कला बन गई है, जो यदा-कदा कलात्मक योजना के रूप में अनायास ही निःसृत हुई है। इस क्षेत्र में सूर की अनुभूति में भी इतना उद्रेक नहीं आने पाया है।

कमल दल नैना।
चितवनि चारु चतुर चिन्तामनि मृदु मधु माधो बैना।

---

१. परमानन्द सागर, पृ० ३२, पद ९५ —सं० गो० ना० शुक्ल
२. परमानन्द सागर, पृ० १०५, पद ३१५ ,,
३. परमानन्द सागर, पृ० ६७, पद २१० ,,
४. ,, ,, १०६ ,, ३१६ ,,

कहा करौं घर गयो न भावे चलनि वलनि गति थाकी।
स्याम सुन्दर रहसि दासी कीनी लखि न परै गति ताकी ॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण में अन्य पंक्तियों की सीधी-सादी मन्थर गति में द्वितीय पंक्ति की योजना इस प्रकार जान पड़ती है मानो किसी ग्राम्य किशोरी की अल्हड़ भावना अपने सौंदर्य के प्रति क्षण भर के लिए सतर्क होकर फिर अपने सहज अल्हड़पन में खो गई हो। इसी प्रकार निम्नलिखित पद में भी प्रथम दो पंक्तियों में कवि वर्ण-सौन्दर्य के प्रति जागरूक होकर फिर अपनी सामान्य साधारणता पर लौट आता है—

कालिन्दी तीर कलोल लोल
मधुर तू मायो मधुर बोल[2]

काव्य के वाह्य विधान के कलात्मक संयोजन की परमानन्ददास जी ने पूर्ण रूप से उपेक्षा की है। उनकी वर्ण-योजना के विषय में केवल एक वात उल्लेखनीय है, वह है उसकी प्रतिपाद्य के प्रति अनुकूलता। इस अभीष्ट की पूर्ति उन्होंने विना किसी अपवाद के, सर्वत्र लघु तथा अधिकतर अमात्रिक कोमल वर्णों के प्रयोग द्वारा की है। उन्होंने वर्णों की सज्जा, मैत्री और संगीतात्मकता का समावेश करने का प्रयास नहीं किया। वर्णनात्मक प्रसंगों की अप्रस्तुत-योजना में तथा व्यंग्यप्रधान स्थलों में भी उनकी भाषा का यही सहज स्वभाव विद्यमान है। सहजता और स्वाभाविकता उनका प्रधान गुण है। एक उदाहरण लीजिये—

अव कैसे पावत हैं आवन।
सुन्दरता सव गुण की पूरित ब्रज तजि चले मधुपुरी छावन।
कमलनयन मुख इन्दु मनोहर नरनारी मन प्रीति बढ़ावन।
नन्द-किसोर वाल-लीलाधर वेनु नाद सीखे हैं गावन
कंस तुषार त्रास तन दुर्वल नलिन देवकी दुख-निवारन
जदुकुल कमल दिवाकर प्रमुदित, तिमिर हरन प्रभु त्रिभुवन तारन
हे अक्रूर क्रूर सुफलक सुत तोहि न वूझिये दूत हि आवन
परमानन्द स्वामी मिलिवे की लागी है गोपी विधिहि मनावन।[3]

उक्त पद में आरम्भ से लेकर अन्त तक लघु तथा अमात्रिक वर्णों का ही वाहुल्य है। कटु वर्ण तो हैं ही नहीं तथा दीर्घ मात्राओं का प्रयोग वहीं हुआ है जहां उन्हें अनिवार्यतः आना ही पड़ा है। वर्ण-संगीत तथा वर्ण-मैत्री द्वारा ध्वनि और चित्र-निर्माण के सचेष्ट प्रयत्न के न होने पर भी सहज स्वाभाविक वर्ण-योजना में अनेक चित्र उभर आये हैं और अनेक ध्वनियां मुखरित हो गई हैं।—दधि मन्थन करती हुई यशोदा का चित्र देखिये—परमानन्द जी की सहज स्वाभाविक वर्ण-योजना को इस ध्वनि-चित्र और रेखा-चित्र के निर्माण का कितना अधिक श्रेय है—

---

१. परमानन्द सागर, पृ० १५२, पद ४५०—सम्पादक गो० ना० शुक्ल
२. " १३६ ४०० " "
३. परमानन्द सागर; पृ० १६५ पद ४८६; सम्पादक गो० ना० शुक्ल

प्रात समै गोपी नन्दरानी
श्रम अति उपजत तेहि अवसर दधि मथत भार मथानी
तेहि छिन लोल के बोल विराजत कंकन नूपुर कुनित एक रस
रजु करखत भुज लागत छवि गावत मुदित स्याम सुन्दर जस
चंचल अचपल कुच हारावलि बनी चलित खसित कुसुमाकर
मनि प्रकास नहीं दीप अपेच्छा सहज भाव राजत ग्वालिन घर।[1]

इसी प्रकार निम्नलिखित पद में श्रीकृष्ण के रूप-वैभव तथा उसके प्रति गोपियों के आकर्षण के चित्रण में भी वर्ण-योजना का योग द्रष्टव्य है—

जब नन्दलाल नयन नर देखे
एक टक रही सम्हार न तन की मोहन मूरति पेखे
स्याम बरन पीताम्बर काछे अरु चन्दन की खोर
कटि किंकिनि कलराव मनोहर सकल तियन चित-चोर,
कुंडल झलक परत गंडनि पर जाइ अचानक निकसे भोर
सौंमुख कमल मन्द मृदु मुस्कनि लेत करखि मन नंद किसोर[2]

एकाध स्थलों पर कवि ने वीप्सा, पुनरुक्ति और यमक इत्यादि का चमत्कार दिखाने का प्रयास भी किया है परन्तु ऐसे स्थलों की संख्या बहुत कम है।

यमक

कीरत जू की कीरति सुनि हम बहु जाचक पहिराये[3]

प्रथम शब्द का मन्तव्य वृषभान-पत्नी कीर्ति से है और द्वितीय का यश से।

वीप्सा के द्वारा भाव-व्यंजना का एक उदाहरण लीजिये—

खेलत मदन गोपाल वसन्त
नागर नवल रसिक चूड़ामनि सब विधि राधिका-कन्त।
नैन नैन प्रति चारु विलोकी वदन वदन प्रति सुन्दर हास
अंग-अंग प्रति प्रीति निरन्तर रति आगम सजाई विलास[4]

ध्यान देने की वस्तु यह है कि इन आवृत्तियों के द्वारा कवि ने प्रेम की प्रक्रिया के दो प्रमुख सोपानों का स्निग्ध-मधुर चित्रण किया है। नायक और नायिका के नेत्रों का टकराना, फिर अनायास ही मुख पर उल्लास की मुस्कान का व्याप्त हो जाना, तत्पश्चात् दोनों के ही हृदय में उद्वेलन के फलस्वरूप प्रीति के उल्लास और उसकी उष्णता से अंग-अंग में उस प्रीति के छा जाने की कथा इन तीन शब्दों की आवृत्ति में छिपी हुई है।

पुनरुक्तिप्रकाश के भी कुछ उदाहरण 'परमानन्द सागर' में मिलते हैं पर उनकी संख्या अधिक नहीं है।

---

१. परमानन्द सागर, पृ० ४६, पद १३७—सं० गो० ना० शुक्ल
२. " " ४७, पद १४१ "
३. " " पद १६१ "
४. " " १२६, पद ३८० "

हौं रीझी तेरे दोऊ नैन
चलत छबीली देखत छबीलो कमल छबीले बैन।
परमानन्द प्रभु गिरधर लाल छबीले बोल छबीली सैन।[1]

इन पंक्तियों में जहां कृष्ण के रूप-सौंदर्य और चांचल्य की अभिव्यक्ति है एक अन्य पद में प्रेम की सहजता का स्वरूप विभिन्न दृष्टान्तों में पुनरुक्ति-प्रकाश के द्वारा व्यक्त किया गया है—

सहज प्रीति गोपालै भावै।
मुख देखे सुख होय सखी री प्रीतम नैन सों नैन मिलावै।
सहज प्रीति कमल भौंर माने सहज प्रीति कमोदिनी चंद
सहज प्रीति कोकिला वसन्त, सहज प्रीति राधा नन्दनंद।
सहज प्रीति चातक और स्वांति सहज धरनी जल धारै
मन क्रम वचन दास परमानन्द सहज प्रीति कृष्ण अवतारै।[2]

सूरदास, परमानन्ददास तथा कुछ सीमा तक नन्ददास की रचनाओं में वर्ण-योजना का अभीष्ट भाव-व्यंजना तथा भाषा में लय-निर्माण ही अधिक रहा है। शेष कवियों की रचनाओं में काव्य के वाह्य उपकरणों के निर्वाह के प्रति जागरूकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

### कुम्भनदास

कुम्भनदास की वर्ण-योजना उन स्थलों पर बहुत सफल बन पड़ी है जहां उसका प्रयोग काव्य में संगीत-तत्व के समावेश के उद्देश्य से किया गया है, एक उदाहरण लीजिये। पद का आरम्भ नृत्य से होता है—

रास में गोपाल लाल नाचत मिलि भामिनी

दीर्घ और लघु वर्णों के योग से इस विलम्बित लय का निर्माण होता है। नृत्य की गति बढ़ती है और उसके साथ ही अनुस्वारों से युक्त लघु वर्ण गीत की लय को द्विगुणित कर देते हैं—

अंस अंस भुजनि मेलि मंडल मधि करत केलि,
कनक वेलि मनु तमाल स्याम संग स्वामिनी[3]

एक और उदाहरण लीजिये—
गीत का प्रारम्भ नृत्य की पृष्ठभूमि-निर्माण से होता है,

रास रच्यौ नन्दलाला।
हो लीन्हें सकल व्रज-बाला॥
हो अद्भुत मंडल कीन्हें।
अति कल गान सरस सुर लीन्हें।

---

१. परमानन्द सागर, पृ० १२३, पद ३५९—सं० गो० ना० शुक्ल
२. " " १२५, पद ३८५ "
३. कुम्भनदास, पृ० ७७, पद १२७—वि० वि० कां०

उपर्युक्त पंक्तियां तो मानो नृत्य के प्रारम्भ की भूमिका हैं। गान और वाद्य-यन्त्रों की झनकारें नियमित होती हैं और संगीत की लय कृष्ण की वंशी की धुन के साथ तीव्र गति प्राप्त करती है, उस गति के साथ ही कवि की वर्ण-योजना भी तीव्र रूप से पद-संचालन करती हुई सी जान पड़ती है—

> डुलत कुंडल खुलत वेनी, झूलति मोतिन माला।
> धरत पग डगमग विवस रस रास रच्यो नन्दलाला।
> पगन गति कौतुक मचै, कटि मुरि-मुरि मध्य लचै।
> सिथिल किंकिनी सोहै तापर, मुकुट लटक मन मोहै।
> मोहे जु मन्मथ मुकुट लटकनि, नटक पग-गति धरन की।
> मंदर महरर चहूँ दिसि छवि, पीत पट फरहरन की।
> गिरयौ लखि मन्मथ मुरछि लै भजी रति मुख मधु श्रँचै।
> नचत मन मोहन त्रिभंगी, पगनि-गति कौतुक मचै।
> उड़त अंचल प्रगट कुच-वर ग्रंथि कटि-तट पट छुटै।
> वढ़्यौ रंग सु अंग स्यामा चित्त हाव भावनि लुटै।[1]

कहीं-कहीं अनुप्रास-योजना शुद्ध अलंकार के उद्देश्य से भी की गई है लेकिन ऐसे स्थलों पर भी अनुप्रास के मोह में भाव-सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं हुई है—

> हर्‌यो मन चपल चितवनी चारु।
> तश्चित ताम रस लोहित लोचन निरखत नन्द कुमारु
> बुद्धि थिथकी, वल विकल सकल अंग, बिसर्‌यो गृह व्यवहारु
> कुम्भनदास लाल गिरधर विनु और नहीं उपचारु[2]

पुनरुक्ति-प्रकाश

टेढ़ी शब्द का प्रयोग लक्षणा और अभिधा दोनों में ही हुआ है—

> सखि तेरी मोहिनी टेढ़ी भौंहैं
> मोहिनी सुगति टेढ़ी दुहू नैनन की
> अरु चितवन टेढ़ी अधिक सोहैं।
> मोहिनी अलक टेढ़ी वढ़ी वहु भांतिन
> अरु टेढ़ीये चलनि पग धरनि धरनि सुठौंहैं[3]

वर्षा के उद्दीपन रूप के निर्माण के लिए पुनरुक्ति-प्रकाश का प्रयोग किया गया है।

> रिमझिम वरसत मेह प्रीतम संग री।
> चलो सखी भींजत सुख लागैगो।

---

१. कुम्भनदास, पृष्ठ २५, पद ४३—वि० वि० कां०
२. ,, ,, ८४, पद २३१—वि० वि० कां०
३. ,, ,, ६६, पद १६६—वि० वि० कां०

तैसेई बोलत चातक पिक मोर
तैसेई गरज माधुरी तैसोई पवन सीतल लागैगो
तैसीये घटा स्याम रही है झूमि चहूँघा
तैसिये पहिरी सुरंग चूनरी तैसेई मेघ लगैगो।[1]

वर्ण-संगति कुम्भनदास की पदावली में सर्वत्र विद्यमान है। पदावली के किसी भी पृष्ठ से वर्ण-संगति के उदाहरण निकाले जा सकते हैं।

मदनगोपाल मिलन को राधे घोस कुंज-वन वनि चली कामिनि
सकल सिंगार विचित्र विराजत नख सिख अंग अनूप अभिरामिनि[2]

कुम्भनदास की वर्ण-योजना अधिकतर काव्य में आन्तरिक संगीत के समावेश के उद्देश्य से की गई है। भाव-व्यंजना के उपयुक्त भाषा-निर्माण का उद्देश्य तो प्रायः सर्वत्र ही रहा है। शुद्ध आलंकारिक दृष्टि का उसमें प्रायः अभाव है।

### कृष्णदास की वर्ण-योजना

कृष्णदास की काव्य-चेतना में काफी सजगता है। इनके काव्य में वर्ण-मैत्री के द्वारा प्रतिपाद्य के अनुकूल वातावरण निर्माण किया गया है। वर्णों के माधुर्य के प्रति कवि की दृष्टि प्रायः सर्वत्र ही सजग रही है—

पौढ़ि रही सुख सेज सजीली दिनकर किरन झरोखहिं आई
उठि बैठे लाल, विलोक वदनविधु निरखत नैना रहे लुभाई
अधर खुले पलक ललन मुख चितवत मृदु मुस्कात हँसि लेत जंभाई
कृष्णदास प्रभु गिरधर नागर लटकि लटकि हँसि कंठ लगाई[3]

केलि-वर्णन के चित्रांकन में स्वाभाविकता भी वर्ण-योजना के द्वारा ही बन पड़ी है—

अरुन उदय डगमगति चरन गति कवन भवनतें तू आई री।
सरद सरोवर स्याम अंग महिं प्रमुदित तन मन न्हाई री।
पीय की प्रीति की फूलि जनावति विकसति वदन जंभाई री।
नव विलास सों गिरधर कीरति, कृष्णदास हँसि भाई री।[4]

इस प्रकार की कोमल-मधुर वर्ण-योजनाएं कृष्णदास की रचनाओं में सर्वत्र बिखरी हुई हैं। वर्ण-संगीत भी उनके पदों में आन्तरिक तथा वाह्य दोनों ही प्रकार के संगीत तत्वों के समावेश में सहायक हुआ है। वृन्दाविपिन के उद्दीपक वातावरण में संगीत की ध्वनि, कोकिल मोर चकोर की पुकार और सुभग जमुनातट की स्निग्ध सात्विकता का पुट पद में आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है। यह वर्ण-संगीत द्वारा ही सम्भव हो सका है। वर्ण-योजना

१. कुम्भनदास, पृष्ठ ४२, पद ९१, वि० वि० कां०
२. ,, ,, १००, पद २९४, वि० वि० कां०
३. अष्टछाप परिचय, पृष्ठ २२८, पद १०—सं० प्रभुदयाल मित्तल
४. ,, ,, २३५, पद ४५ ,, ,,

के कारण ही भाषा में जो लय आ जाती है, इस वातावरण-निर्माण का अधिकतर श्रेय उसी को है।

सरद चंद रजनी द्रुम रंजित, मनमथ मोह बढ़ावै
औघर तान, मान संपूरन, संगीत को सुर उपजावै
वृन्दा विपिन विविध कुसुमावलि मधुप कमल उरझावै
कोकिल मोर चकोर सोर सुक मंगल सब्द सुनावै
सुन्दर सुभग सुखद जमुनातट रसिकन के जिय भावै।[1]

ध्वनि के निर्माण का श्रेय कृष्णदास की वर्ण-योजना को है। निम्नोक्त पद में नायिका की कामजन्य विवशता, धड़कता हुआ हृदय और नायक की छेड़छाड़ की सजीवता वर्ण-मैत्री द्वारा ही सम्भव हो सकी है।

कंचुकि के बंद तरकि तरकि टूटे, देखत मदनमोहन घनस्यामहिं
काहे को दुराव करति है री नागरि, उमगत उरज दुरत क्यों कामहिं
कुछ मुस्कान दसन छवि सुन्दर हंसत कपोल लोल भ्रू भ्राजहिं[2]

नृत्य सम्बन्धी पदों में प्रत्येक पंक्ति के वर्ण 'तत्थेई-तत्थेई' के साथ थिरकते हुये जान पड़ते हैं।

तत्थेई तत्थेई तत्थेई तत्थेई, भैरव राग मिलि मुरलि बजावै
नाचत नृप वृषभानु नन्दिनी, औघट गति तरंग उपजावै
नूपुर रुनित फुनित मनि कंकन, जुवति जूथ रस-रासि बढ़ावै
सुरत देन मधु-मत मधुप कुल एक ताल सबके जिय भावै[3]

वक्र अभिव्यंजना में उनकी वर्ण-योजना कहीं-कहीं बड़ी सहायक हुई है—

कौन के भुराये भोर आये हो भवन मेरे
ऊँची दृष्टि क्यों न करो कौन सौं लजाने हो।
जाही के भवन भाव, ताही के धरिये पाँव
काहे ऐसी चाव परी कौन गली आने हो।
भोरी-भोरी बतियन भोरवन लागे मोहि,
श्री गिरधारी तुम तो निपट सयाने हो।[4]

पुनरुक्ति-प्रकाश के कुछ प्रयोग उनकी रचनाओं में भी मिलते हैं—

रसिकनी राधा रस भीनी
मोहन रसिक लाल गिरधर पिय अपने कंठमनि कीनी
रसमय अंग-अंग रस रसमय रसिक रसिकता चीन्ही।[5]

---

१. अष्टछाप परिचय, पृष्ठ २३३, पद ३८—कृष्णदास, सं० प्रभुदयाल मित्तल
२. „ „ २३३, पद ३७— „
३. अष्टछाप परिचय, पृष्ठ २३२, पद ३३—कृष्णदास, सं० प्रभुदयाल मित्तल
४. „ पृष्ठ २३७, पद ५६ „ „
५. „ पृष्ठ २३०, पद २२ „ „

पुनरुक्ति में काव्य-दोष माना जाता है परन्तु कृष्णदास द्वारा की गई पुनरुक्ति यमक-संयुक्त होकर जिस रूप में व्यक्त हुई है उसे देखते हुये उसको दोष न मानकर गुण मानने के लिये विवश हो जाना पड़ता है—

हरि मोहन को मोहन बानिक
मोहन रूप मनोहर मूरति, मोहन मोहे अचानक।
मोहन बरुहा चंद सिर भूषन, मोहन नैन सलोल।
मोहन तिलकु भाल मनमोहन, मोहन चारु कपोल।
मोहन श्रवन मनोहर कुंडल, मृदु मोहन के बोल॥

## नन्ददास की वर्ण-योजना तथा शब्दालंकार

भाषा में संगीत-तत्व के समावेश के श्रेष्ठतम उदाहरण कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा वर्णित रासलीला के प्रसंग में मिलते हैं। नन्ददास के रासपंचाध्यायी का इनमें मुख्य स्थान है। कृष्ण-भक्ति काव्य में संगीत तत्वों का समावेश दो रूपों में हुआ है। (१) शास्त्रीय संगीत, (२) आन्तरिक संगीत। प्रथम प्रसंग में वर्ण-योजना साजों और धुनों से स्वर मिलाती है तथा आन्तरिक संगीत-प्रधान स्थलों में वह भाषा को ही सस्वर और मुखर बनाने में समर्थ हुई है। कहीं वह मोहन की मुरलिका का माधुर्य अपने में समेट लेती है, कहीं उसकी सस्वरता में ही ये सब ध्वनियाँ मुखर होती हैं। आन्तरिक संगीत के उदाहरण के लिये नन्ददास द्वारा रचित रासपंचाध्यायी की कुछ पंक्तियाँ लीजिये—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंगचंग एकै सुरजुरली॥
मृदुल मुरज करतार तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की सार भंवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारन की।
लटकन मटकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की॥[1]

ऊपर उद्धृत पंक्तियों का समस्त सौन्दर्य वर्ण-योजना पर ही निर्भर है। प्रथम पंक्ति में एक-एक वर्ण जहाँ घुंघरुओं की झनकार और मुरली की मींड का काम करता है, द्वितीय पंक्ति के मृदंग, उपंग, चंग इत्यादि वाद्यों के स्वर अनुप्रास के कारण ही कान में ठनकते से जान पड़ते हैं और अंतिम दो पंक्तियों की सजीवता तो पटकनि, चटकनि, लटकनि, मटकनि और झलकनि के द्वारा ही बन पड़ी है। नृत्य की मुद्रायें, घुंघरू की झनकार और विविध वाद्यों के स्वर को मुखरित करने का श्रेय नन्ददास के सक्षम वर्ण-योजना के कौशल को ही है।

इसके अतिरिक्त नन्ददासजी ने परिगणनात्मक स्थलों की एकरसता के निवारण के लिये भी अपनी कुशल वर्ण-योजना-शक्ति का सहारा लिया है। प्रकृति के विभिन्न उपकरणों से अपने गिरधरलाल का पता पूछती हुई गोपियां सहृदय की भावना के साथ तादात्म्य नन्ददास की वर्ण-योजना के माधुर्य, वर्ण-संगीत और वर्ण-मैत्री के माध्यम से ही कर पाती

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, पृ० २१-२२, पद ६, ७, ८—ब्रजरत्नदास

हैं। सीधी-सादी भावव्यंजना नन्ददास के इस कौशल में समन्वित होकर पाठक को चमत्कृत कर देती है। यह चमत्कार भाव-व्यंजना को अत्यन्त मार्मिक और गम्भीर बना देता है। गोपियां कहती हैं—

हे मालति ! हे जाति ! जूथिके, सुनियत दै चित,
मान-हरन-मन हरन, गिरधरन लाल लखे इत।[1]

प्रथम पंक्ति में आद्यानुप्रास और अन्त्यानुप्रास का मिश्रण तथा द्वितीय पंक्ति में 'मान' और मन-हरण में छिपे हुये पूर्व-प्रसंग की ध्वनि सोने में सुहागे का कार्य करती है।

परिगणनात्मक स्थलों में अर्थ-सौरस्य और वर्ण-मैत्री के सामंजस्य के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। ऐसे स्थलों में वर्ण-योजना इतनी सचेष्ट है कि परिगणन शैली की नीरसता वर्ण-विन्यास के सौष्ठव में पूर्ण रूप से लुप्त हो जाती है। उदाहरण के लिये—

हे मंदार उदार वीर करवीर, महामति।
देखे कहुँ बलवीर, धीर, मनहरन धीर गति ॥[2]

अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास के गुम्फन में वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगीत का सौन्दर्य भी निहित है। इसी प्रकार—

ए चंदन ! दुखमन्दन सब कहुँ जरन सिरावहु
नन्द-नंदन जगवंदन, चंदन, हमहिं मिलावहु।[3]
अहो कदम्ब, अहो अम्ब, निंब क्यों रहे मौन गहि
अहो वट ! तुंग सुरंग वीर कहुँ इत उन्हे लहि।[4]

प्रथम दो पंक्तियों में 'चन्दन' के साथ नंदनंदन दुखकन्दन शब्द पंक्तियों के अर्थ-सौरस्य को द्विगुणित कर देते हैं। अंतिम दो पंक्तियों में परिगणनात्मकता भी सुष्ठु वर्ण-योजना के कारण ही नीरस नहीं बनने पाई है।

निम्नोक्त पंक्तियों में छेकानुप्रास द्वारा लय-निर्माण के कारण गोपियों का व्यंग्य साकार हुआ सा जान पड़ता है—

फनी फनन पर अरपे डरपे ताहिं नेकु तब।
छबिली छातिन धरत ढरत कत कुंअर कान्ह अब।[5]

वृन्दावन के स्निग्ध वातावरण के चित्रण में वर्ण-योजना का योग देखिये—स्वर-साम्य के द्वारा लय-निर्माण किया गया है—

अमृत फुही सुख गुही, सुही अति परति रहति नित
रास-रसिक सुन्दर पिय को स्रम दूर करन हित ॥[6]

---

१–२. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ १४, पद ७, ६—व्रजरत्नदास
३. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, पृष्ठ १५, पद १०—व्रजरत्नदास
४. न० ग्र०—रासपंचाध्यायी, पृ० १५, पद १३—व्रजरत्नदास
५. वही, पृ० १८, पद ८
६. वही, पृ० ६, पद २२

वर्ण मैत्री—

कुसुम धूरि धूंधरी कुंज पुंजनि छवि छाई
गुंजत मंजु अलिन्द वेनु जनु वजति सुहाई।[1]
इत महकत मालती चारु चम्पक चित चोरत।
उत घनसार तुसार मिलो मंदार भ्रमरत॥[2]

नन्ददास की समस्त रचनायें इसी प्रकार की वर्ण-मैत्री से युक्त हैं।

अनुप्रास का यत्र-तत्र प्रयोग इन रचनाओं के माधुर्य और लय को द्विगुणित कर देता है। संगीत के प्रति उनकी जागरूक चेतना ने भाषा में प्रवाह लाने के लिये केवल सानुप्रासिक शैली का ही प्रयोग नहीं किया, वल्कि स्वरों की आवृत्ति तथा लघु और कोमल वर्णों के संकलन द्वारा ही उन्होंने अपने अभीष्ट की प्राप्ति की है।

जमुन तीर वलवीर चीर हरि वर जिहि दीनों
तिन संग विविध विलास राम रसिवे मन कीनों।[3]

प्रेम-वियोग जैसे करुण और स्निग्ध प्रसंग में कटु वर्णों का संयोजन आघात पहुंचाता है—कहीं-कहीं यह दोष नन्ददास की रचना में मिलता है—

निपट अटपटो चटपटो, व्रज को प्रेम वियोग।
सुरझाये मुरझे नहीं अरुझे वड़े लोग।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में ट, र, झ, वर्णों की आवृत्ति से प्रेम-वियोग का माधुर्य सजीव नहीं हो पाता। नन्ददास ने विरह की प्रखरता का वर्णन करने के लिये कटु वर्णों की मैत्री की योजना की है और अभीष्ट प्रभाव को व्यक्त करने में समर्थ हुए हैं—

रही न तनक अमेठ, तुम विन नंद कुमार पिय,
निपट निलज यह जेठ, धाय धाय वधुवनि गहे।[5]
जो मनभावन पीव सावन आवन कहत सव
अवगुन कवन जुतीय, आयो नहीं जु खन भवन

शब्दालंकार

पुनरुक्ति-प्रकाश, वीप्सा और यमक अलंकारों के प्रयोग द्वारा भी भाषा को प्रवाहमयी वनाने का प्रयास किया गया है।

पुनरुक्ति प्रकाश

छोटो सो कन्हैया, मुख मुरली मधुर छोटी
छोटे छोटे ग्वालवाल, छोटी पाग सिरन की।

---

१. न० ग्र०, रासपंचाध्यायी, पृ० १८, पद ६१—व्रजरत्नदास
२. वही, पृ० ११, पद ६२
३. न० ग्र०, श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ० ३६, पद २२—व्रजरत्नदास
४. न० ग्र०, विरह मंजरी, पृ० १६४, दोहा २३
५. न० ग्र० ,, ,, पृ० १६६, दोहा ३२

छोटे छोटे कुंडल कान, मुनिन हू के छूटे ध्यान
छोटे पद छोटी लट छुटी अलकन की।
छोटी सी लकुटि हाथ छोटे छोटे बछरा साथ।
छोटे से कान्हें देखन गोपी आईं घरन की।[1]

तथा

नाई आजु तों गोकुल गाम, फैलो रह्यो फूलि कै
घर फूलें दीसें सब जैसे, सम्पति समूलि कै
फूली फूली घटा आइ घहरि घहरि घूमि कै
द्रुम बेलि फूलि फूलि झुकि आई भूमि पै
फूलो फूलो पुत्र देखि लियो उर लूमि कै
फूली है जसोदा माय ढोटा मुख चूमि कै[2]

प्रथम उद्धरण में छोटी शब्द की आवृत्ति द्वारा कवि ने शिशु कृष्ण का स्निग्ध-मधुर रूप और उनसे सम्बद्ध बाल-जगत् का निर्माण किया है। बाल कृष्ण के प्रति उनकी वात्सल्य-सिक्त भावनायें इन पंक्तियों में उमड़ी पड़ती हैं। 'छोटे छोटे पद छोटी लट, छुटी अलकन की' पंक्ति में मानो यशोदा का मातृ-सुलभ दुलार नन्ददास के शब्दों में मुखर हो रहा है। इन पंक्तियों को दुलार के शब्दों की लय में दुहरा कर देखिये तभी उनमें निहित स्वाभाविकता का सौन्दर्य समझ में आ सकता है। दूसरे उदाहरण में कृष्ण-जन्म होने के कारण ब्रज के उल्लासमय वातावरण का चित्रण 'फूली' शब्द की अनेक आवृत्तियों द्वारा किया गया है। प्रकृति और जीवन के विभिन्न उपकरणों के साथ सम्बद्ध होकर एक ही शब्द भिन्न-भिन्न बिम्बों का निर्माण करता है। गोकुल गाम घर के 'फूलने' में सामूहिक उल्लास का एक चित्र सजीव होता है, 'फूली फूली घटा छाई' तथा 'द्रुम बेलि झूलि फूलि' में जहां कवि का अभीष्ट मानव-उल्लास की भावना का प्रकृति पर आरोपण करना है वहीं उमड़ते हुये बादलों और लहराती हुई लताओं का चित्र प्रस्तुत करना भी है। 'फूलो फूलो पुत्र' से तात्पर्य शिशु कृष्ण के सौन्दर्य, प्रसन्न मुद्रा और रूप-वैभव से ही है तथा अन्तिम पंक्ति में इसी शब्द के द्वारा मातृत्व का उल्लास बड़ी सफलता और सुघरता से अंकित किया गया है।

जमुना पुलिन सुभग वृन्दावन, नवल लाल गोवरधन धारी
नवल निकुंज नवल कुसुमित दल नवल परम वृषभानु दुलारी
नवल हास, नव नव छवि क्रीड़त नवल विलास करन सुखकारी।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में विभिन्न विशेष्यों से सम्बद्ध नवल शब्द भी भिन्न-भिन्न चित्र प्रस्तुत करता है। काव्य में इसी प्रकार के प्रयोगों से यह सिद्ध होता है कि काव्य-भाषा में संकलित शब्दों के रूढ़ और परम्परागत रूपों का इतना महत्त्व नहीं होता जितना उनमें निहित प्रसंग-गर्भत्व

१. नंददास ग्रन्थावली, पृ० ३३८, पद ३३
२. ,, ,, ,, ३५०, पद ७२
३. ,, ,, ,, ,, ,, ७५

तथा वातावरण-निर्माण की शक्ति का। एक और उदाहरण लीजिये—

घरें बाँकी पाग, चन्द्रिका बाँकी, बाँके बने बिहारीलाल
बाँकी चाल चलति बाँकी गति सौं, बांके बोलत बचन रसाल
बाँको तिलक बंक भृगु रेखा, बाँकी पहिरे गुंजन माल
बाँकी खोर, खोर साँकरी बाँकी, हम सूधी हैं गिरधरलाल
नन्ददास प्रभु सूधे किन बोलो सब सूधी बरसाने की ग्वालि।[१]

इन पदों में 'बाँकी' शब्द का विभिन्न शब्द-शक्तियों में प्रयोग कवि के उत्कृष्ट अभि-व्यंजना-कौशल तथा उसके साथ अर्थ-सौरस्य का सामंजस्य करने की शक्ति का परिचायक है। बाँकी पाग, बाँकी गति, और बाँके वचन में जहाँ लक्षणा अपने पूर्ण वैभव पर है, बाँकी चन्द्रिका, बाँकी गुंजन माल तथा बाँके तिलक में अभिधा की सरल परन्तु सरस स्निग्धता है। 'खोर साँकरी बाँकी' का अंतिम स्पर्श, ब्रज की तंग गलियों में व्याप्त कृष्ण के रूप-वैभव, गोपियों की मादक भावनाओं तथा क्रियाकलापों का चित्र सजीव कर देती हैं। साथ ही साथ सम्पूर्ण पद में निहित व्यंग्यार्थ कृष्ण की चंचलता, और बरसाने की 'सूधी ग्वालिनों' के वाग्वैदग्ध्य द्वारा झंकृत हो उठता है। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि नन्ददास का अभीष्ट कुशल अभिव्यंजना के इन स्थलों पर भी अर्थ-सौरस्य की अभिव्यक्ति करना ही रहा है।

लटकि लटकि आवति छवि पावति भावति नारि नवेली
प्रेम पवन बरु डोलत मानो रूप अनूपम बेली
चारु चलन में मनिमय नूपुर, किंकिनि राजै
मनहुँ भेद गति पाछै आछै मधुर मधुर धुनि छाजै
चमकि चमकि दसनावलि दुति फिरि बदरन माँझ दुराई।
दमकि दमकि दामिनि छवि पावत, चाँदन में दुरि जाई।[२]

तथा

हाँकै हटक हटक, गाय ठठक ठठक रही
गोकुल की गली सब साँकरी
जारी अटारी झरोखन मोखन झाँकत
दुरि दुरि ठौर ठौर तें परत काँकरी
चंपकली कुंदकली बरसत रस भरी
तामें पुनि देखियुत लिखें हैं आँकरी
नन्ददास प्रभु जहि जहि ठाढ़े होत तहीं तहीं
लटक लटक काहू सों हां करी और काहू सों ना करी।[३]

वीप्सा और छेकानुप्रास से मिश्रित उक्त उद्धरणों की वर्ण-योजना के द्वारा ही चारु-

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० ३५०, पद ७५
२. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४१, पद ४२
३. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४३, पदावली पद ५०

गति में मनिमय नूपुरों और किंकिणी की रुनझुन कानों में गूँजने लगती है। वर्ण-योजना के द्वारा ही पाठक के श्रवण, नैन और मन में एकतानता आ जाती है। संगीत और काव्य के पुनीत संगम में पाठक अवगाहन करने लगता है। द्वितीय पद में एक ओर वर्ण-संयोजन के माध्यम से गोचारण-जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है, दूसरी ओर स्थूलता के निकट पहुँचती हुई गोपियों और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का अंकन हुआ है जिन्हें नैतिक दृष्टि से चाहे अनौचित्य कह दिया जाये परन्तु जहाँ तक वातावरण-निर्माण का सम्बन्ध है, कवि की अभिव्यंजना-कला की गम्भीरता स्पष्ट है।

यमक

> अगहन गहन समान, गहियत मोर सरीर सखि
> दीजै दरसन दान, उगहन होंय जु पुन्य बल।[1]
>
> रही न तनक अमेठ तुम बिन नन्दकुमार पिय
> निपट निलज यह जेठ, धाय-धाय बधुवन गहै।[2]

ग्रहण के रूपक-तत्व का निर्वाह करने के साथ ही अगहन शब्द के गहन अंश को लेकर कवि ने शब्द-क्रीड़ा का चमत्कार दिखाया है। आश्चर्य नहीं कि अगहन के 'गहन' के द्वारा ही कवि के मस्तिष्क में ग्रहण के आधार पर अप्रस्तुत विधान की बात आई हो; 'उगाहने' शब्द का प्रयोग भी इसी शब्द-क्रीड़ा को पुष्ट करने के लिये हुआ है।

## चतुर्भुजदास की वर्ण-योजना

चतुर्भुजदास जी की कला-चेतना वर्ण-योजना के प्रति काफी जागरूक रही है। कुछ पदों में उन्होंने वृत्यानुप्रास का सम्यक् विधान आरम्भ से अन्त तक किया है। इस प्रकार की योजनायें पूर्ण रूप से प्रयत्न साध्य हैं—

> ललित ललाट लट लटकतु लटकनु,
> लाड़ले ललन को लड़ावै लोल ललना।
> प्रानप्यारे प्रीति प्रतिपालित परम रुचि,
> पल पल पेखति पौढ़ाई प्रेम पलना।
> दरपनु देखि देखि दँतियाँ द्वै दूध की,
> दिखावति है दामिनी-सी दामोदर दुःख दलना।
> सरोज सो सलोनो सिसु स्याम घन ते जलधर,
> चत्रभुजदास बिनु देखे परै कल ना।[3]

छेकानुप्रास के प्रयोग उनके पदों में यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे हुये हैं। इनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव-व्यंजना ही उनका उद्देश्य है—

---

१. विरहमंजरी, पृष्ठ १६६, दोहा ७५
२. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६, दोहा ३२
३. चतुर्भुजदास　　पृष्ठ　८ पद, १२—वि० वि० कां०

कंठ कठुला ललित लटकन भ्रकुटि मन को फंद
निरखि छवि छिनु छिनु भुलाऊँ गाऊँ लीला छंद
द्वै दूध की दँतियाँ सुख की निधि हँसत जबै कछु मँद
× × ×
कोटि कलप लों को छल छूट्यो गयो आजु उद्वेग
वैरी विरह बहुत दुःख दीनो कीनो छाती. छेग
तातें मदमात्यो नहिं हार्यो पर्यो जु तेरी तेग।[1]

कोमल वर्णों की मैत्री के साथ अन्त्यानुप्रास का स्पर्श देकर भाषा के गति-सौन्दर्य की वृद्धि की गई है—

हास राजित हिये मृग मद तिलक किये
सुभग साँवल अँग सुरभि मंडित रेनु
विमल वारिज वदन, जानि मनसिज सदन,
कुटिल कुन्तल अलक आये मधुप सेन,
दसन दामिनि लसत मंद बारिक हँसत
वँक चितवनि चारु विश्व मनु हरिलेनु
व्रज जुवति प्रान पति चलत गज मन्द गति।[2]

चतुर्भुजदास जी की वर्ण-योजना में आन्तरिक संगीत का अभाव तो नहीं है परन्तु उसमें वाह्य संगीत के स्वरों में स्वर मिलाने की क्षमता नहीं है। वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगीत के उदाहरण सर्वत्र विद्यमान हैं। लघु और कोमल व्यंजनों और स्वरों के लय-विधान के द्वारा उनकी भाषा 'मृदु मन्द मन्द मन्थर मन्थर' आगे बढ़ती है—

ललित गावत रसिक नंदसुत भामिनी,
सुभग मरकत स्याम मकर कुंडल वाम।
कनक रुचि सुचि वसन लजित घन दामिनी
रुचिर कुंज कुटीर, तरनि तनया तीर
रटत कोकिल कीर सारद ससि जामिनी
मुखर मधुकर निकर मिले मृदु सप्त सुर
अधर पल्लव कुनित मुरलि अभिरामिनी
लाल गिरिवरधरन मानिनी मनहरन
तोहि बोलत प्रिया हंसकुल गामिनी
चलहु सत्वर गति भजहु चत्रभुज पति
सुन्दरी कुरु रति राधिके नामिनी[3]

---

१. चतुर्भुजदास, पृष्ठ ७, पद १०
२. वही, पृष्ठ ११८, पद २१८
३. वही, पृष्ठ १७, पद ३२

पुनरुक्ति-प्रकाश

फूल-मंडनी के प्रसंग में छीतस्वामी की भांति उन्होंने केवल फूल के अभिधात्मक अर्थ की ही आवृति नहीं की है। लक्षणा के द्वारा भाव-व्यंजना भी इसके द्वारा की गई है, जैसे—

'रस फूल' गोवर्धनधारी'[१]

तथा

फलन की वर मंडनी मंडित फूल हिये पिय अंग लसे हैं।
फूल की सेज आभूषन फूल के फूल के कोटिक कमल लसे हैं।
फूलि बढ़ी अब दास चतुर्भुज सखि सुख फूलि हिये बिलसे हैं।
फूली निसा ससि फूलि रहे गिरधारी जू आपुन कुंज बसे हैं।[२]

नवल शब्द को चेतन जगत तथा प्रकृति के विभिन्न उपादानों से सम्बद्ध करके उनका चित्र अंकित किया गया है। वर्षा के उल्लास में सिक्त गोपियों और कृष्ण के हृदय के उल्लास का व्यक्तीकरण इसी शब्द के द्वारा किया गया है।

नवल किशोर-किशोरी किशोरावस्था-जन्य सहज भावनाओं से उत्प्रेरित वर्षा का नवल वर्ष मना रहे हैं—

नवल खेल आंगन में वने
डांडी चारि वनी अति भारी
मरुवो नवल झूमक नव लटकें
नौतन छवि लागति अति भारी

पद के दूसरे अंश में नवल शब्द के प्रयोग द्वारा वर्षा में पहले-पहले झुकती हुई घटाओं तथा उससे सम्बद्ध वातावरण साकार है—

नवल घटा में नवल राजत
नवल दामिनी चमकति न्यारी।
नव नव मोर झकोरत वन में
दादुर नवल रटत झिंकारी।

और तीसरा चित्र बिलकुल ही पृथक् है—

नवल नवल सखी निरखन आई
मृगमद आड़ लिलाट सँवारी
अंग अंग आभूषन नवतन
नव सुगन्ध सोधौं अधिकारी[३]

'रस', 'रसिक' और 'रिस' की आवृत्ति के द्वारा भाषा की सवाक्ता का एक और उदाहरण लीजिए—

१. चतुर्भुजदास, पृष्ठ ६५, पद ६६
२. ,, ,, ६६, पद १०९
३. ,, ,, ७७, पद १२७—वि० वि० कां

रस ही बस कीन्हें कुंवर कन्हाई
रसिक गोपाल रसिक रस रिझवति
रस ही में तासों रिस तजि री माई
प्रिय को प्रेम रिस सों न होइ रसीली राधे,
रस ही में वचन श्रवन सुखदाई
चत्रभुज प्रभु गिरधर रसवस भये तासों
कुरस फत मिलि रहै हिरदै लपटाई[1]

चतुर्भुजदास की वर्ण-योजना के विषय में यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि उसका प्रयोग विषय के अनुकूल भाषा-निर्माण, अलंकरण और संगीतात्मकता के समावेश के उद्देश्य से हुआ है। अलंकरण-प्रवृत्ति उनमें सर्व-प्रधान है। अन्य शब्दालंकारों का प्रयोग उनकी रचनाओं में बहुत कम हुआ है। पुनरुक्ति-प्रकाश के प्रयोगों की सरसता और भाव-व्यंजकता से यह प्रमाणित होता है कि उन्हें शब्द की लक्षक और व्यंजक शक्तियों का सम्यक् ज्ञान था और उसका प्रयोग वे बड़ी कुशलता से कर सकते थे।

## छीतस्वामी की वर्ण-योजना

छीतस्वामी की वर्ण-योजना में अधिकतर संगीत-तत्व का प्राधान्य है। कुछ स्थलों पर भाव-व्यंजना और लय-निर्माण तथा वातावरण के चित्रण में उनकी समर्थ वर्ण-योजना का महत्वपूर्ण योग लक्षित होता है। उदाहरण के लिये—

वसन्त राग

मुकुलित वकुल, मधुप कुल कूजे, प्रफुलित कमल गुलाब फूले।
मंगलगान करत कोकिल कुल नव मालती लता लगि झूले।
आइ जुवति जूथ रास-मंडल खेलत स्याम तरनिजा कूले।
छीत स्वामी वृन्दावन गिरधर, लाल कल्प तरु मूले।[2]

मधुर वर्णों की कुशल योजना के द्वारा ही कवि एक साथ प्राकृतिक पृष्ठभूमि के निर्माण और रास के उल्लास का चित्रांकन करने में समर्थ हो सका है। इस पद में वर्ण-योजना द्वारा आन्तरिक संगीत का समावेश हुआ है। एक दूसरे पद में वर्ण नृत्य की विभिन्न गतियों के साथ चरण मिलाते हुए से जान पड़ते हैं—पद के पाठ में ही नृत्य के बोल झंकरित होते हैं—

नागरी नवरंग कुंवरि मोहन संग नाचै,
कटि-तट-पट किंकिनि कल नुपूर रव रुनझुन करें
निर्तत करत चपल चरनपात घात सांचे॥
उदित मुदित गगन सघन, घोरत घन भेद भेद,
कोकिल कल गान करत पंचम सुर बांचे।

---

१. चतुर्भुजदास, पृ० १४७, पद २९६—वि० वि० कां०
२. छीतस्वामी, पृ० ३, पद २—वि० वि० कां०

छीत स्वामी, गोवर्धन नाथ हाथ वितरत रस
वर विलास वृन्दावन वास प्रेम रांचे ॥[1]

प्रथम पंक्ति में नवरंग कुँवरि तथा मोहन का नृत्य अपनी पूर्ण लय में कवि द्वारा प्रयुक्त वर्णों के सहारे ही व्यक्त होता है। दूसरी पंक्ति में नूपुर और किंकिनी की रुनझुन गुंजरित होती है और अन्तिम चार पंक्तियों की वर्ण-योजना नृत्य की मुद्राओं, कोकिल-स्वर के उद्दीपन और रास की पुण्यमयी स्निग्धता को व्यक्त करने में समर्थ होती है।

निम्नलिखित पंक्तियों की वर्ण-योजना का आंतरिक संगीत वाद्य-यन्त्रों और शास्त्रीय गायन के बोलों में स्वर मिलाता हुआ जान पड़ता है। साथ ही संगीत-पूर्ण वातावरण में प्रकृति का उद्दीपन रूप और रास के हास-विलास का चित्रण भी वर्ण-योजना के माध्यम से बड़ा ही सजीव बन पड़ा है—

लाल संग रास-रंग लेत मान रसिक मनि
अग्रता, अग्रता, तत तत तत, थेई थेई गति लीने।
सरिगम पधनी, गमपधनी, धुनि सुनि ब्रजराजकुँवर गावत री
अति गति जति भेद सहित ताननि ननननननननन अनि अनि गति लीने
उदित मुदित सरद चंद, बंद छुटे कँचुकी के
वैनव भुव निरखि-निरखि कोटि काम हीने।

प्रथम पंक्ति में मंद लय से नृत्य का प्रारम्भ होता है। द्वितीय पंक्ति में संगीत के बोल गति ग्रहण करते हैं। तृतीय पंक्ति में वे गति की चरम सीमा पर पहुंचते हैं और तब फिर कवि अपनी वर्ण-योजना के द्वारा उसे सम्भाल कर नीचे उतार लाता है। प्रकृति के उद्दीपन रूप और सज्जा तथा शृंगार की अस्तव्यस्तता भी वर्ण-योजना के द्वारा ही सजीव बन पड़ी है।

छीतस्वामी की रचनाओं में वर्ण-मैत्री के भी सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं। आद्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा स्वर-मैत्री के द्वारा उन्होंने अपनी भाषा को गति तथा सौन्दर्य प्रदान किया है। कोमल वर्णों की आवृत्ति इन्होंने भी की है—

लाल ललित ललितादिक संग लिये
विहरत री वर वसन्तरितु कला-सुजान
हसत लसत हिलि मिलि सब सकल कला गुन-निधान
खेलत अति रस जु रह्यो, रसना नहिं जात कह्यो
निरखि परखि थकित रहे सघन गगन जान[2]

अनुप्रास के कई भेदों के मिश्रित प्रयोग द्वारा भाषा में निहित आन्तरिक संगीत का समावेश किया गया है—

आयो रितु राजसाज पंचमी वसन्त आज
बौरे द्रुम अति अनूप अम्ब रहे फूली

---

१. छीतस्वामी, पृ० २, पद संख्या ४—वि० वि० पां०
२. छीतस्वामी, पृ० ११, पद ५३—वि० वि० पां०

बेली लपटी तमाल सेत पीत कुसुम लाल
उड़वत रंग स्याम भाम भँवर रहे भूली
रजनी सब भई स्वच्छ, सरिता सब विमल पच्छ
उडुगन-पति अति अकास, बरसत रस मूली।
जति सति सिद्ध साध, जित तित तजि भाजे समाध
विमल जसी तपसी भये, मुनि मन गति भूली।
जुवति जूथ करति केलि, स्याम सुख सिन्धु झेलि,
लाज लीक दई पेलि परसि पगनि फूली।[1]

वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगीत का एक उदाहरण और लीजिये—

मधुप टोल मधुलोल संग संग डोल
पिकनि बोल निरमोल सुरनि चारु गाइ
रचित रास सों विलास जमुना पुलिन में
संग वृन्दा विपिन रही फूल आई
अंग कनक बरनी सु करिनी विराजै
गिरिधरन जुवराज गजराज राई
जुवति अंसगामी मिलै छीत स्वामी
कुनित वैनु पददेतु बड़ भाग पाई[2]

प्राकृतिक पृष्ठभूमि से युक्त इस प्रकार के गतिहीन चित्रों के अतिरिक्त छीतस्वामी की वर्ण-योजना चित्रों को गति प्रदान करने में भी बड़ी समर्थ बन पड़ी है। कुछ उदाहरण लीजिये—होली का चित्र है—

निपुन नागरी गुननि आगरी पीताम्बर गहि लीनो।
भरि अंकवारी कहु न विचारी भरकि वारनौ दीनौ॥[3]
आँधी अधिक अबीर की, चोवा की मची कीच।
फैली रैल फुलैल की चंदन वंदन बीच।

* * *

प्रथम उद्धरण में दो क्रिया-कलापों का चित्रण है। गुण आगरी, निपुण नागरी राधा का कृष्ण का पीताम्बर पकड़ना और कृष्ण का उन्हें बरवस ही अपने अंक में भर लेना—प्रथम पंक्ति में वर्ण-योजना मन्थर गति से राधा के सहज मुग्ध रूप का चित्रण करने में समर्थ होती है। द्वितीय पंक्ति में कृष्ण की चपलता के साथ ही उसकी गति में भी पुरुषोचित परुषता आ गई है।

इसी प्रकार द्वितीय उद्धरण में अबीर की आँधी, चौवा की कीच, फुलेल की रेल में

---

१. छीतस्वामी, पृ० २०, पद ५४—वि० वि० कां०
२. छीत स्वामी, पृ० २६, पद ५६
३. ,, पृ० २५, पद ५६

केवल वर्ण-साम्य का वाह्य-रूप कवि का अभीष्ट नहीं रहा है। होली का रंगीन और कोलाहलपूर्ण वातावरण अपनी पूरी सजीवता के साथ वर्ण-विन्यास के प्रति कवि की जागरुकता के कारण ही आ सका है।

कहीं-कहीं वर्णनात्मक स्थलों की परिगणनात्मकता में वर्ण-योजना के सौन्दर्य के कारण ही एकरसता का निवारण हो गया है—

नूपन देति जसोमती पहुँची पाँच पंचेल
टीका टीक टिकावली हीरा हार हमेल[1]

पुनरुक्ति-प्रकाश तथा वीप्सा के द्वारा भी उन्होंने उक्ति को प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयास किया है—

आधी-आधी अँखियनि चितवति प्यारी जू
आधौ-आधौ मन भयो लाल गिरधर को
आधे मुख घूंघट अर्ध चन्द्रमा
आधे-आधे वचन कहति रंग रस भीने

प्रस्तुत पद में 'आधे' शब्द की आवृत्ति केवल अलंकरण प्रवृत्ति के फलस्वरूप नहीं की गई है प्रत्येक प्रसंग में उसका गम्भीर भाव-व्यंजक अर्थ है। 'आधी-आधी अँखियन चितवत प्यारी जू' में राधा जी के मदभरे अर्ध-निमीलित नेत्रों को देखकर गिरधर का मन आतुरता के कारण आधा हुआ जाता है, प्रथम पंक्ति में वही शब्द जहाँ रूप-चित्र प्रस्तुत करता है द्वितीय में उसके द्वारा मुहाविरे का वैदग्ध्य व्यक्त होता है। तृतीय पंक्ति में घूंघट से चमकते हुये मुख का साम्य इन्हीं शब्दों के द्वारा अर्ध-चन्द्र के साथ प्रस्तुत किया है। चतुर्थ में वह फिर आतुरता और मन की अस्तव्यस्तता का व्यंजक बन गया है।

कुछ स्थलों पर उसका पूर्ण अभिधात्मक रूप भी मिलता है। उक्ति की प्रभावात्मक पुष्टि के लिये भी शब्द विशेष की आवृत्ति की गई है—

आगें गाई पाछे गाई इत गाई उत गाई
गोविन्द को गाइन में बसिवोई भावै
गाइन के संग धावै, गाइनि में सचु पावै
गाइनि की खुर-रज अंग लपटावै
गाइन सौं ब्रज छायो, वैकुण्ठ विसरायो
गाइन के हित गिरि कर लै उठावै[2]

कहीं-कहीं यह आवृत्ति परम्परा-पालन के आग्रहमात्र से हुई है। उदाहरण के लिये फूल-मंडली के प्रसंग में अनेक कवियों ने 'फूल' का अर्थ विभिन्न शब्द-शक्तियों के द्वारा ग्रहण कर उक्ति तथा प्रसंग को चमत्कारपूर्ण और भावव्यंजक बना दिया है। छीतस्वामी के इस प्रसंग के पदों में भाव-सौरम्य और अर्थ-गाम्भीर्य नहीं आने पाया है। फूल को केवल एक अर्थ

१. छीतस्वामी, पृष्ठ २५, पद ५७—वि० वि० का०
२. छीतस्वामी, पृ० ५४, पद १२३—वि० वि० कां०

में ग्रहण करके उन्होंने इसकी आवृत्ति द्वारा प्रस्तुत को जड़ तथा निर्जीव बना दिया है—

नंद नंदन वृषभानु, नंदिनी बैठे फूल मंडनी राजें
फूलनि के खम्भ फूलनि की तिवारी
फूलनि के परदा अति छवि छाजें
फूलनि के चौक फूलनि की अटारी
फूलनि के बंगला सुख साजें
ता पर कलसा फूलनि के फूलनि के फोंदना बिराजें
फूल सिंगार प्यारी तन सोहत मदनगोपाल रीझिबे काजें।[1]

छीतस्वामी की वर्ण-योजना में कला के प्रति जागरूकता के चिह्न तो दिखाई पड़ते हैं परन्तु उनकी सिद्धि अत्यन्त साधारण है। उसमें न तो नन्ददास की भांति आंतरिक संगीत के निर्माण की क्षमता है, न सूरदास और परमानन्द दास की सहज स्वाभाविकता। अन्य शब्दालंकारों का प्रयोग भी अत्यन्त साधारण कोटि का बन पड़ा है।

## गोविन्द स्वामी

गोविन्द स्वामी की रचनाओं में भी वर्ण-मैत्री, वर्ण-संगति तथा वर्ण-संगीत के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यह योजनायें उपर्कथित तीनों ही उद्देश्यों को लेकर की गई हैं। चमत्कार का स्थान जिसमें सबसे गौण है, भाव-व्यंजना और नाद-सौंदर्य ही उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है। अनुप्रास के प्रयोग प्रायः सभी रूपों में मिलते हैं। वर्ण विशेप की युग्म योजना, आद्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास, स्वर-मैत्री, यति और गति की योजना ये सभी तत्व गोविन्द स्वामी की वर्ण-योजना के प्रमुख अंग हैं।

प्रकृति के यौवन से फूटता हुआ वसन्त का उल्लास कुशल और सुसम्बद्ध वर्ण-संगीत के द्वारा ही एक संगीतपूर्ण वातावरण प्रस्तुत कर रहा है—

विहरत वन सरस वसंत स्याम। संग जुवती जूथ गावें ललाम
मुकुलित नूतन सघन तमाल। जाही जुही चम्पक गुलाल
पारिजात मंदार माल। लपटावत मधुकरनि जाल।
अति कोमल नूतन प्रवाल, कोकिल कलकूजत अति रसाल
ललित लवंग लता सुवास, केतकी तरुनी माना करत हास।[2]

आनुप्रासिक तथा कोमल वर्णों की आवृत्ति द्वारा इसी प्रकार का वातावरण एक अन्य पद में भी बड़ी कुशलता के साथ चित्रित किया गया है—

राधा गिरिधर बिहरत कुंजन, आई हो वसंत पंचमी।
घर घर द्रुम प्रति कोकिला कूजत बोलत बचन अमी।

१. छीतस्वामी, पृ० २७, पद ६१
२. गोविन्द स्वामी, पृ० ५१, पद १०६—वि० वि० कां०

गावत तान तरंग रंग मिलि मृदंग सों राग जमी।
इहि विधि मिलि चलि, गोविन्द प्रभु संग सबही भांति रमी।[1]

छेकानुप्रास और वर्ण-मैत्री के माधुर्य द्वारा प्रस्तुत एक और चित्र देखिये—

रितु बसन्त विहरन व्रजसुन्दरी साज सिंगार चली।
कनक कलस भरि केसर रससों छिरकत घोख गली।
कुसुमित नव कानन जमुना तट फूली कमल कली
सुक पिक कोकिल करत कुलाहल गूंजत मत्त अली[2]

संगीत, काव्य तथा चित्रकला तीनों का संयुक्त आनन्द वर्ण-योजना के कौशल के द्वारा ही सम्भव हो सका है—

कुंवर बैठे प्यारी के संग अंग अंग भरे रंग
बलि बलि बलि बलि जुवतिन सुखदाई
ललित गति विलास हास दम्पति मन अति हुलास
विगलित कच सुमन वास स्फुटित कुसुम निकट तैसीये
सरद सैन जुन्हाई
नव निकुंज मधुप गुंज कोकिल कल कूजत पुंज सीतल
सुगंध मंद मंद पवन अति सुहाई

आद्यानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास के प्रयोगों की संख्या भी कम नहीं है—

सुनि सखि सपने की कहूं बात
सांझ ही ते स्याम सुन्दर आइ लपटे गात।
अधर अमृत पान करि करि हो नाहिनें अघात।
सुरति सुखद समुद्र को सुख कह्यौ नाहिन जात।[3]

* * *

नवल नाइक नवल नाइका कुंज बसि रसिक केलि रवि भोर जागे
सुमन सुख सेज पर बैठि सिंगार करि उठत अरसाइ अनुराग पागे।[4]

रास-सम्बन्धी पदों की वर्ण-योजना मृदंग की 'दाम दाम' और कत्थक नृत्य के विभिन्न बोलों के साथ गुंजरित होती जान पड़ती है—

धिधिकट सुधिकट मृदु मृदंग बाजे
जितिदृष्टि सुधातृष्टि रसाविष्ट ग्रीवलोल

ध्वनि और गति का चित्रण रास सम्बन्धी नीचे लिखे पद में उपयुक्त वर्ण-योजना के कारण ही सहज बन पड़ा है—

---

१. गोविन्द स्वामी, पृ० ५१, पद १०७—वि० वि० कां०
२. " " ५० " १०३, "
३. " " १२० " २६०, "
४. " " १२१ " २७१ "

मदन-मोहन कमल-नैन नृतत रास रंगे।
तत थेई तत थेई गति अनेक लेत मान गान।
करत रूप सहित सरस अति सुघंगे
विलुलित बनमाल उरसि मोर मुकुट रुचिर सरसि
जुवतिन मन हरत फिरत अरुन-दृग-कुरंगे
कानन कुंडल झलमलात, पीत वसन फरहरात
झुनझुन धरत चरन, भृकुटी भाव भंगे।[1]

उपर्युक्त पद में श्रावणिक और चाक्षुष चित्र का समन्वित निर्माण वर्ण-योजना द्वारा ही सम्भव हो सका है।

निम्नोक्त पंक्तियों में अनुप्रास का प्रयोग चामत्कारिकता के उद्देश्य से भी किया गया है। स्थल विशेष में कल्पना या भावुकता का स्पर्श न होने के कारण चमत्कार भी तृतीय श्रेणी का ही रह गया है। धमार के पद में प्रत्येक तिथि के नाम से पंक्ति आरम्भ की गई है। प्रथम शब्द के प्रथम वर्ण की आवृत्ति सम्पूर्ण पंक्ति में करके परिवा से लेकर पूनो तक श्रीकृष्ण और राधा का रूप-चित्रण तथा केलि-क्रीड़ा प्रस्तुत की गई है।

तीज तरुनी तन तरलित अरु गज मोती हार
चौथ चतुर चित चन्दन चर्चत सांवल अंग
पांचे प्रमदा प्रमुदित सब मिलि गावें गीत
आठें अति आतुर अबलनि लीने पिय घेरि[2]

पुनरुक्ति-प्रकाश के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनमें फूल, कुसुम, मोहन, नवल, तैसोई[3] इत्यादि शब्दों की आवृत्ति के द्वारा भाषा में प्रवाह लाने का प्रयास किया गया है। इन आवृत्तियों में अभिधा की यथातथ्यता की नीरसता नहीं है, लक्षणा का चमत्कार भी निहित है।

## हितहरिवंश की वर्ण-योजना

हितहरिवंश की वाणी में काव्य का आन्तरिक संगीत सर्वत्र विद्यमान है। 'हित-चौरासी' का कोई भी पद वर्ण-संगीत तथा वर्ण-मैत्री की दृष्टि से आदर्श वर्ण-योजना के उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। छेकानुप्रास के साथ ही मधुर वर्णों की मैत्री का एक उदाहरण लीजिये—

नैननि पर वारों कोटिक खंजन। चंचल चपल अरुण अनियारे
अग्रभाग बन्यो अंजन।
रुधिर मनोहर वक्र विलोकन सुरत समर दल गंजन
जै श्री हित हरिवंश कहत न बने छवि सुख समुद्र मनरंजन।[4]

---

१. गोविन्दस्वामी, पृ० २५ पद ५—वि०वि० का०
२. ,, ,, ५८, ,, ११८ ,,
३. ,, ,, पद १५०, १४९, ३३८, ३६६, ३६७
४. हितचौरासी जी, पृ० १०, पद २२

करत केलि कंठ मेलि, बाहुदंडगंड परस सरस रास लास मंडली जुरी[1]

कल कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो।
जुवतिन मंडल मध्य श्याम घन सारंग राग जमायो।
ताल मृदंग उपंग मुरज डफ मिलि रस सिंधु बढ़ायो
विविध विशद वृषभानु नन्दिनी अंग सुधंग दिखायो
अभिनय निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनंग नचायो।[2]

हितहरिवंशजी ने अधिकतर संस्कृत शब्दों को ब्रजभाषा की ध्वनियों के अनुसार ढालकर उन्हें मसृण बना लिया है, परन्तु अपवाद-स्वरूप ऐसे भी स्थल हैं जहां वर्णों की कटुता विद्यमान है। वर्णों की आवृत्ति में अनौचित्य दोष तो नहीं आ पाया है परन्तु यह बात सत्य है कि यदि उनको मसृण बनाकर कान्तिगुण से युक्त कर दिया जाता तो उसका नाद-सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता, जैसे—

पीताम्बर तनु धातु विचित्रित कल किंकिणि कटि चंगी
नख मणि तरणि चरण सरसीरुह मोहन मदन त्रिभंगी[3]

कटु वर्णों का रूपान्तर करके उन्हें ब्रजभाषा की ध्वनियों के अनुकूल ढालने की आवश्यकता हितहरिवंश ने नहीं समझी। निम्नोक्त पद में शृंगार के उपयुक्त वातावरण तथा तद्जन्य उष्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति वर्ण-मैत्री के नाद-सौन्दर्य द्वारा ही सम्भव हो सकी है—

तापर कुशल किशोर-किशोरी करत हास-परिहास
प्रीतम पानि उरजवर परसत प्रिया दुरावत वास
कामिनि कुटिल भृकुटि अवलोकति दिन प्रति पद प्रतिकूल
आतुर अति अनुराग विवस हरि धाइ धरत भुज मूल
नागर नीवी बन्धन मोचत ऐंचत नील निचोल[4]

हितहरिवंश जी की वर्ण-योजना उनकी भाव-व्यंजना में नादात्मक सौन्दर्य का पुट देकर उसके सौन्दर्य को द्विगुणित कर देती है। वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगीत द्वारा निर्मित लय ध्यान देने योग्य है—

मंजुल कलकुंज देश, राधाहरि विशदवेश,
राकानभ कुमुद-बंधु, शरद-यामिनी।
श्यामल दुति कनक अंग, विहरत मिलि एक संग
नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी।

---

१. हितचौरासी जी, पृ० ४, पद १०
२. „ पृ० १७, पद ३६
३. हितचौरासी जी, पृ० ३०, पद ६३
४. हितचौरासी जी, पृ० १४, पद ३०

अरुण पीत नव दुकूल, अनुपम अनुराग मूल
सौरभ युत शीत अनिल मंद गामिनी।
किसलय दल रचित शैन बोलन पिय चाटु बैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी।[1]

संक्षेप में यही कहना उचित जान पड़ता है कि वर्ण-योजना-जन्य लय और माधुर्य हितहरिवंश जी के प्रत्येक पद में विद्यमान है।

## राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्य कवियों की वर्ण-योजना तथा शब्दालंकार

ध्रुवदास, नेही नागरीदास इत्यादि राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की वर्ण-योजना में मसृणता और मृदुलता है। वर्ण-मैत्री तो उक्त कवियों की अभिव्यंजना-कला का मानो सहज गुण बन गया था। सप्रयास वर्ण-योजना भी उनकी रचनाओं में यथेष्ट मात्रा में मिलती है लेकिन आन्तरिक लय का निर्माण मानो स्वतः ही हो जाता है। रेखांकित शब्दों में अनुप्रास-युक्त लय है—

चपलाई खंजन की अरुनाई कंजन की,
उपराई मोति की पानिप लजात हैं।
सरस सलज्ज नये, रहत हैं प्रेम भरे,
चंचल न अंचल में कैसे हूं समात हैं।[2]

लघु-कोमल वर्णों की योजना द्वारा ध्रुवदास की भाषा में संगीत-तत्व का समावेश हुआ है—

रंगत रंग अनंग अनंग बढै छिन ही छिन प्रीति न थोरी
सखी हित को चित की नित की ध्रुव सों सुख पावति हैं निसि भोरी।[3]
चिलकनि कच चमकनि वसन, चितवनि मुसकनि फूल रंग हुलास

सभा-मंडल के कुछ छन्दों में सप्रयास अनुप्रास-योजना मिलती है—

चपला चतुरा चंचला, चित्त हरा चित चैन
चन्द्र छटा वर चंदनी, चन्द्र कान्ति रस ऐन
चारु मुखी चरिता चतुर, चारु दृगी चल नैन
चारुमती चम्पक तनी, चित्रांगी चित चैन
नीरज नैनी नंदनी नेह नवीना नित्त
नन्द नन्दिनी निर्मला नवल कोमल चित्त।[4]

### पुनरुक्ति-प्रकाश

प्यार ही को कुंज और प्यार की ही सेज रची
प्यार ही सों प्यारे लाल प्यारी बात करहीं

---

१. हितचौरासी जी, पृ० ११, पद २७
२. भजन-श्रृङ्गार-सतलीला, प्रथम शृङ्खला, पृ० ८२-८३—ध्रुवदास
३. शृंगार सत, ८३
४. सभा मंडल, ५३-५४-७१

प्यार ही की चितवन मुसकनि प्यार ही की
प्यार हू सों प्यारी जी को प्यारो अंक भर हीं
प्यार सों लटक रहे प्यार ही सो मुख चाहे
प्यार ही सो प्यारो प्रिया अंक भुज भरहीं
हित ध्रुव प्यार भरी प्यारी सखी देखे खरी,
प्यारे प्यार रह्यो छाइ प्यार रस ठरही।[1]

वास्तव में ध्रुवदास की रचनाओं में रीतिकालीन कला-दृष्टि के चिह्न प्राप्त होने लगते हैं। अनेक स्थलों पर वर्ण-विन्यास तथा अन्य शब्दालंकारों का नियोजन उन्होंने शुद्ध आलंकारिक की दृष्टि से किया है। कुछ स्थलों पर चमत्कार-जन्य प्रभावात्मकता का समावेश ही उनका ध्येय बन गया है।

फूलि फूलि रहे सब फूल फुलवारी में के,
रीझि रीझि छवि आइ पाइन में परी है।
लाड़िली नवेली अलवेली सुख सहज ही,
निकसि निकुंज ते अनूप भांति खरी है।[2]

नेही नागरीदास द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास-योजना का एक उदाहरण लीजिये—

सुभग सलोनी, सरस सुख, सुन्दर सुलप सुकुंवार।
सब सच समरथ सेइये सुलभ सुधा सर सार।

× × ×

धरमी भरमी मेरे मन मिले मंगल मन मति भांति

कल्याण पुजारी द्वारा हरिवंश की उपासना के वर्णन में प्रयुक्त अनुप्रास और यमक के संयुक्त प्रयोग में चमत्कार-दृष्टि ही प्रधान है—

नारि हेली ऐ पै नारि न छूटी यो नारि ये छूटनि जोग भई है।
देहलटी घटी जाति घटी घटी त्यों ही त्यों तृष्णा बढ़ति नई है।

पुनरुक्ति चमत्कार का एक उदाहरण लीजिये—

रचना जु कछू भगवान रची न घटै न घटै न घटै न घटै।
सूर सदाई लरै रन में निवटे निवटे निवटे निवटे।

## रसखानि

वर्ण-योजना की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण स्थान है रसखानि की संगीतमयी प्रवाहपूर्ण भाषा का, जिसका एक-एक वर्ण कवि का अनुशासन मानकर छन्द में आन्तरिक लय का पुट देता चलता है। रसखानि की वर्ण-योजना का सर्वप्रधान गुण है उसका स्वतः स्फुरण। प्रत्येक

---

१. आनन्ददास विनोद, ४४

२. भजन-शृङ्गार सतलीला, प्रथम शृङ्खला, पृष्ठ ८१—ध्रुवदास

वर्ण छन्द के उतार-चढ़ाव के साथ ही बोलता है। वर्ण-संगीत के द्वारा निर्मित आन्तरिक संगीत रसखानि के काव्य-माधुर्य का सबसे प्रधान तत्व है—

खेलत भाग सुहाग भरी अनुरागहि लालन कों धरिकैं,
मारत कुंकुम केसरि के पिचकारिन में रंग को भरि कै,
गेरत लाल गुलाल लली मन मोहनि मौज मिटा करि कै
जात चली रसखान अली, मदमस्त मनी मन को हरि कै।[1]
गाइगो तान जगाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराई गो गइया।

शिव की वन्दना में भी उनकी शब्दावली इसी गति से चली है—

गजखाल कपाल की माल बिसाल सो गाल वजावत आवत हैं।[2]
पाले परी मैं अकेली लली लला लाज लियो सुकियो मन भायो।[3]

अनुप्रास के विभिन्न रूपों के संयुक्त प्रयोग द्वारा निर्मित यह आन्तरिक संगीत सुनने योग्य है—

विहरैं पिय प्यारी सनेह सुने छहरें चुनरी के झवा झहरैं
सिहरैं नवजोवन रंग अनंग सुभंग अपांगनि की गहरैं
वहरैं रसखानि नदी रस की घहरै वनिता कुल हू भहरैं
कहरैं विरहीजन आतप सों लहरें लली, लाल लियै पहरैं।[4]

रसखानि द्वारा संयोजित वर्ण-संगीत के उदाहरण में उनकी सम्पूर्ण रचनायें उद्धृत की जा सकती हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावें
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावें
ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।[5]

एक ही विन्यास के शब्दों की आवृत्ति द्वारा भाषा में प्रवाह और लय का निर्माण किया गया है—

अलि कोटि कियो हटकी न रही अटकी अंखिया लटकी लट सों
नैन लख्यौ जब कुंजन तें वन ते निकस्यो अटक्यो मटक्यों री
सोहत कैसो सेहरा टटको अरु जैसे किरीट लग्यो लटक्यो री
रसखानि रहै अटक्यों हटक्यो ब्रज लोग फिरे सटक्यो भटक्यो री
रूप सबै हरि वा नट को हियरे फटक्यो भटक्यो अटक्यो री।[6]

१. रसखान, पृष्ठ १४, सवैया ६
२. ,, ,, २६ ,, ६२
३. ,, ,, ३२ ,, १२१
४. ,, ,, २३-६३
५. ,, ,, १७, ३२
६. ,, ,, २१ ,, ४२

वर्ण और शब्द-योजना द्वारा आन्तरिक लय के निर्माण के अतिरिक्त चमत्कार-नियोजन के उद्देश्य से भी इस प्रकार की रचनायें की गई हैं, जैसे—

तू न कहै यों कहै तो कहौं कहूँ न कहूँ तेरे पायं परौंगी
त्यों रसखानि वहै रसखानि जु है रसखानि सो है रसखानि।[1]
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी।[2]

शब्द-संयोजन में चमत्कार-प्रदर्शन का एक और रूप मिलता है जहां पूर्व पंक्ति के अंतिम अंश को परवर्ती पंक्ति के आरम्भ में सप्रयास संयोजित करके चमत्कार की सृष्टि की गई है—

बजी है बजी रसखानि बजी सुनि कै अब गोप कुमारि न जी है
न जी है कोऊ जो कदाचित् कामिनी कानि मैं बाकी जु ताप कूं पीहै
कूंपी है विदेस संदेस न पावत, मेरी व देह को मैन सजी है।
सजी है तो मेरो कहा वस है सु तो वैरिन बांसुरी फेरि बजी है।[3]

पूर्वमध्यकालीन भक्त-कवियों की वर्ण-योजना उनके प्रतिपाद्य के अनुकूल है और प्रायः सभी कवियों ने उसका प्रयोग अधिकतर भाव-व्यंजना के साधन रूप में किया है, वर्ण-साम्य का व्यसन रूप इन रचनाओं में नहीं है। उनमें आग्रह की अति नहीं है तथा असुन्दर वर्ण तो जैसे पास ही नहीं फटकने पाये हैं। श्रुति-पेशलता और प्रतिपाद्य के प्रति अनुकूलता उनकी रचनाओं की सर्वप्रमुख विशेषतायें हैं।

## रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त वर्ण-योजना तथा शब्दालंकार

वर्ण-संगीत द्वारा आन्तरिक संगीत का निर्माण रीतिकालीन कवियों की अभिव्यंजना-पद्धति का एक प्रमुख अंग था। इस युग की भाषा में लाक्षणिक चित्रात्मकता के स्थान पर चमत्कारजन्य संगीतात्मकता प्रधान हो गई थी। रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। लघु-कोमल वर्णों के प्रयोग के कारण उनकी भाषा में मसृणता और लय का प्राधान्य हो गया है। भाषा में प्रयुक्त एक-एक वर्ण कवि के संकेत पर थिरकता हुआ जान पड़ता है। वर्ण-संगीत, वर्ण-संगति और वर्ण-मैत्री तीनों ही प्रकार के कौशल एक ही पद में सुगुम्फित रहते हैं। रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवि भी अपने युग की इस चमत्कार-प्रधान दृष्टि से अप्रभावित नहीं रहे। उनकी रचनाओं में भी वर्ण-योजना अधिकतर भाषा के अलंकरण के लिये की गई है। अनुप्रास द्वारा निर्मित आन्तरिक तुक का उदाहरण रूप रसिक देव की इन नीचे लिखी पंक्तियों में मिलता है। इस प्रकार का सहज संगीत उनकी रचनाओं में सर्वत्र प्राप्त होता है—

मुखनि मुरनि मनोरथ मुखनि डांडी सुभग सुढाई
परम प्रभा पटुली अटुली पर पुंलक चढ़ै सुकुवांर

१. रसखान, पृष्ठ ३३, सवैया १३०
२. ,, ,, १३ ,, ३
३. ,, ,, २० ,, ५४

झूमि झूमि झुमकनि दिवि दमकनि रमकनि रस सरसात
झटकि झटकि झट चटकि चटकि चट लटकि लटकि लटकात ।[1]

उमंग अंग अल अनंग रंग रल बलकत बल कल वैन
झलकत झलमल विमल वक्षस्थल लखि कसमस रति मैन[2]

* * *

मचकि मुचनि में लचनि अंक आतंक उपीवत ओप[3]

* * *

विसद केलि अलबेलि रेलि रस झेलि झेलि दोउ लाल
परम पोष पागे अनुरागे अरस परस अंक माल[4]
छिरकत छींट छबीली छवि सो सरस सुगंध संवारी ।[5]

सहचरि शरण की फारसी-बहुल भाषा में भी वर्ण-मैत्री तथा वर्ण-संगीत के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

खाय खवाय खुराक मजा मुद मधुर मजाकन ठग्यौ[6]
मलयज तिलक ललाट पटल पट अटल सनेह सटक सौ
सहचरिशरण तरणि तनया तट नटवर मुकुट लटक सौ
चित चुरली मुरली धुनि गावत आवत चटक मटक सौ

* * *

तरुणि तिलक तालीम दई तै हँसि तसलीम लिया करि[7]

आन्तरिक तुक के सुष्ठु उदाहरण भगवत रसिक की रचनाओं में मिलते हैं—

जयति नवनागरी रूप गुन आगरी, सर्व सुख सागरी कुँवरि राधा
जयति हरि भामिनी, स्याम घन-दामिनी, केलि कलि कामिनी
छवि अगाधा
जयति मन मोहनी करै दृग वोहनी, दरस दे सोहनी हरौ बाधा
जयति रसभूर री, सुरभि सुर मूर री, भगवत रसिक प्रान साधा[8]

अनेक स्थलों में कवि की प्रतिभा केवल इसी चमत्कार-नियोजन तक ही सीमित रह गई है। हठी जी की रचनाओं में आनुप्रासिक चमत्कार ही साध्य बन गया है। प्राण-तत्व को छोड़कर कविता वर्ण-चमत्कार पर ही रुक गई है।

---

१. निम्बार्क माधुरी, पृष्ठ १०२, रूप रसिकजी, पद १४
२. ,, ,, ,, १०३ ,, ,, ,, १४
३. ,, ,, ,, १०३ ,, ,, ,, १५
४. ,, ,, ,, १०३ ,, ,, ,, १५
५. ,, ,, ,, १०५ ,, ,, ,, २१
६. ,, ,, ,, ४२१ सहचरि शरण, पद २७
७. निम्बार्क माधुरी, पृ० ४२४, सहचरिशरण, पद ४२
८. ,, ,, ,, ३५७ ,, ,, १२

चामीकर चौकी पर चम्पक बरन हठी अंग की चमंकैं चारु चंचल चलावती,
तारा सी तरंगना सी अतर लगावैं रति मुकर दिखावे विजे बीजन
डुलावती
कमला करन ओरैं विमला सुतून तोरैं नवला ले मरजी को अरजी सुनावतीं
सुरन की रानी सुरपालन की रानी दिगपालन की रानी हार मुजरा
न पावतीं[1]
केसर सी केतकी सी चम्पक चमीकर सी चपला चमक चारु गात की
गुराई है।
जाको मुख चंद देखि चंद मंद जोति होत, जाके लखि नैन अरविंद द्युति
पाई है।[2]

नागरीदास की वर्ण-योजना में छेकानुप्रास का स्थान परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक है। वर्ण-मैत्री के प्रयोग में भी वे जागरूक हैं, परन्तु वर्ण-योजना का चमत्कार ही उनका ध्येय नहीं बन गया है, संगीत का स्पर्श बहुत ही हल्का है—

सोभा सम्पति जीति भीति मिलि बैठे दम्पति
चढ़े ललित ललितादि नवल नवका कछु कम्पति[3]
छावत छपा अमंद चंद[4]

वर्ण-संगीत का नियोजन भी उनकी रचनाओं में हुआ है—

उदित सरद चंद चन्द्रिका किरनि कढ़ी
दिनमनि ताप तन मेटन कहत हैं
ऐसे समैं आई ब्रजबाला नन्दलाला ढिग
तिन्हैं देखि कोटि रति लागत सहल हैं।

वर्ण-योजना के द्वारा चित्रांकन और संगीतात्मकता का भी समावेश किया गया है—

देखि रहि नहि देखि रही मुरि सौंही हँसौंही कसौं ही सी मोहन[5]
गोकुल गांव गली में मिली गोरी उजरी सारी उठी तन में लसि
पातर लंक की लंगरि ग्वारि सु आंगुरी, गाल गड़ाय दई हँसि[6]
काहे उदास उसास भरे चित चकृत सी तन माँहि तई क्यों
दीसति है अब औरहि घाट सुघाट को छोड़ि कुघाट गई क्यों।[7]

---

१. निम्बार्क माधुरी, पृष्ठ ६३३, श्री हठी जी, छन्द २१
२. ,, ,, ,, ६३६, श्री हठी जी ,, ३८
३. ना० दास ग्र०, पृ० ६१८
४. ,, ,, ,, ,, ६१९
५. ,, ,, ,, ,, ६२१
६. ,, ,, ,, ,, ६२१, छन्द १४
७. नि० माधुरी, पृ० ६२१, छन्द १२

निरखैं परखैं करखैं हरखैं, उपजी अभिलासनि लास जई
उघरौ बरसौ सरसौ दरसौ सब ठौर दसौ घर नाहिं कई।[1]

नागरीदास जी की यमक-योजनायें भी द्रष्टव्य हैं—

आवति ही लसे जेहरि को मन जे हरि ले गये हेलगि गोहन
घंघट मोहन लेसकी जा समै मोहन के मन की यह मोहन[2]

तथा

पनघट जाइये वाको पनघट जाइ है
रहि जेव पाय पन्ना पायजेव पायन में
बरसैं तरसैं सरसैं अरसैं न कहूं दरसें वहि छाक छई

घनानन्द की कविता में अनेक स्थलों पर नाद-सौन्दर्य के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं—

यह नेह सदेह अदेह करै पचि हारि विचारि विचारिण कौं

* * *

वंक विसाल रंगीले रसाल छबीले कटाछ कलानि में पंडित
सांवल सेत निकाई निकेत हिये हरि लेत हैं आरस-मंडित

घनानन्द की वर्ण-योजना में अतिशयता का दोष नहीं आने पाया है। उसके द्वारा भाषा को रसानुकूल कोमल और मसृण रूप प्राप्त हुआ है और आंतरिक तुक के सफल विधान द्वारा यह प्रवाहपूर्ण बन गई है—नीचे लिखे छंद के शब्दों की वर्ण-मैत्री द्रष्टव्य है—

सोये है अंगनि अंग समोए सुमोए अनंग के अंग निस्यो करि
केलि कला रस आरस आसव पान छके घन आनंद यों करि
पै मनसा मधि रागत पागत लागत अंकिन जागत यो करि
ऐसे सुजान विलास निधान हो सोएं जगैं कहि त्योरिये क्यों करि
निरधार अधार दे धार मंझार दई गहि बांह न वोरिये जू
कारी कूर कोकिला कहां को वैर काढ़ति री कूकि कूकि
अब हीं करेजो कित कोरिल[3]

श्लेष और यमक-योजना घनानन्द ने बहुत कम ही की है। एक दो उदाहरण ही यदा-कदा मिल जाते हैं, यथा—

यमक

टारें टरें नहीं तारे कहूं सु लगे मन मोहन मोह के तारे।[4]
काहू कलपाय है सु कैसे कलपाय है।

---

१. छूटक कवित्त उत्तरार्ध ५५
२. नि० माधुरी, पृष्ठ ६२१, पद ६
३. सु० हि०, १ पृ० २६२, घनानन्द, पृ० १६—शंभु प्रसाद बहुगुना
४. प्रकीर्णक ६

मानस को वन है जग पै
 विन मानस के वन से दरसै हो
जे मन मानस ते तरसे तिन
 सों मिलि मानस क्यों सरसै हो

* * *

मेरे मनोरथ हू पुरिये अरु ह्वै जु मनोरथ पूरन कारी

श्लेष

घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौं यहाँ एक तें दूसरो आंक नहीं
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं

मन के दो अर्थ हैं—(१) हृदय (२) मन। छटांक का पहला अर्थ है तौल विशेष, दूसरे अर्थ का विश्लेषण दो रूप में किया जाता है छटांक शब्द का विपयर्य क+टां+छ—तथा छठा—अंक। मेरा तो सर्वस्व (हृदय) तुम ले वैठे हो और मुझे अंश मात्र (कटाक्ष अथवा क्रोड़) का सुख भी नहीं प्रदान कर सकते।

घनानन्द के काव्य में श्लेष और विरोध-चमत्कार का समन्वय भी बड़ी सफलता-पूर्वक किया गया है—

घनआनन्द जीवन-मूल-सुजान की कौंधन हूं न कहूं दरसैं
सुन जानिये धौं कित छाय रहे, दृग चातिग प्रान तपे तरसैं
विन पावस तो इन्हें थ्यावस होत, क्यों करिये अब सो परसैं
बदरा वरसें रितु पे घिरि के नित ही अँखिया उघरी वरसें।
मित्र अंक आये जोति जालनि जगत है।[1]

मित्र के दो अर्थ हैं सूर्य तथा मित्र। पुनरुक्ति, वीप्सा इत्यादि के प्रयोग के लिये घनानन्द की वक्र अभिव्यंजना-शैली में अधिक अवसर नहीं मिल सका है। रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना तथा शब्दालंकारों के विश्लेषण से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी चमत्कारवादी प्रवृत्ति के कारण वर्ण-साम्य की योजना ने व्यसन का रूप धारण कर लिया है। उसमें आग्रह की अति हो गई है। प्रतिपाद्य की भावात्मकता गौण और चमत्कार-प्रवृत्ति प्रधान हो गई है। इन रचनाओं की श्रुति पेशलता में संगीत तत्व की अति है—जो कानों के लिये वोझिल हो उठता है। भाषा भाव के स्वर में स्वर नहीं मिलाती प्रत्युत् अपना स्वर ऊँचा कर देती है। इन कवियों का दृष्टिकोण पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों के दृष्टिकोण से एकान्त भिन्न हो गया।

## आधुनिक ब्रजभाषा-कवियों की वर्ण-योजना

आधुनिक-काल के ब्रजभाषा-कवियों की वर्ण-योजना में न तो रीतिकालीन कृत्रिमता तथा अतिशय जागरूकता है और न उन्होंने इस तत्व की उपेक्षा की है। उनकी वर्ण-योजना सहज तथा स्वाभाविक है। भारतेन्दु द्वारा तत्सम शब्दों के नियोजन में अवश्य विनय-पत्रिका

१. सु० हि० ३००

की वर्ण-योजना का-सा जागरूक प्रयास दिखाई देता है। कवि वर्ण-साम्य के लिये सोच-सोचकर शब्द ढूंढ़ने का प्रयास करता जान पड़ता है। उदाहरण के लिये—

परब्रह्म परमेश्वर परमात्मा परात्पर
परमपुरुष पदपूज्य-पतित-पावन पद्मावर
परमानन्द प्रसन्नवदन प्रभु पद्म-विलोचन।
पद्मनाभ पुण्डरीकाक्ष प्रनतारति-मोचन॥[1]

वनमाली बलरामानुज विधु विधि वंदितवर
विबुधाराधित विधुमुख बुधनत विदित वेनुधर।[2]

भवकर भवहर भवप्रिय भद्राग्रज भद्रावर।
भक्तिवश्य भगवान भक्तवत्सल भुव-भरहर
भव्य भावनागम्य भामिनी भाव विभावित।[3]

माधव मन्मथ मन्मथ मधुर मुकुन्द मनोहर।
मधुमरदन, मुरमथन, मानिनी मान-मंचकर
मरकत मनि-तन मोहन मंजुल नर मुरलीकर
माथे मत्त मयूर मुकुट मालती-माल गर।[4]

आन्तरिक तुक और लय-निर्माण का सचेष्ट प्रयोग आधुनिक ब्रजभाषा कविता में बहुत ही कम हुआ है। कहीं-कहीं अनुप्रासों का सुष्ठु और स्वाभाविक रूप ब्रजभाषा कवियों की भाषा के लय-निर्माण में बड़ा उपयुक्त बन पड़ा है—

१. तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये
२. छबि सों छबीली छोटी छातिनि छिपाये लेत
३. रही सपने की सम्पति सी सब सुख खोई

## भारतेन्दु द्वारा प्रयुक्त शब्दालंकार

भारतेन्दुजी में चमत्कार-वृत्ति यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है। 'मानलीला फूल बुझौवल' में उनकी दृष्टि मुख्य रूप से चमत्कार पर ही टिकी है। इस प्रसंग का प्रायः प्रत्येक दोहा यमकपूर्ण है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं: 'मानलीला फूल बुझौवल' में ३१ दोहे हैं और उनमें से प्रत्येक में किसी न किसी फूल का नाम आ गया है—यमक और मुद्रालंकार के इन उदाहरणों में रीतिकालीन चमत्कार-वृत्ति ही प्रधान है जो सूरदास और नन्ददास की 'अनेकार्थ ध्वनि मंजरी', 'नाम माला' और 'साहित्यलहरी' जैसे ग्रन्थों में भी दिखाई देती है।

---

१. भा० ग्र०, पृ० ७३६, अपवर्गदाष्टक, पद १
२. ” ” ” ७४० ” ” ४
३. ” ” ” ७४०, पद ४
४. ” ” ” ७४०, पद ७

वह अलवेला कुंज में पर्‌यो अकेला हाय
उठि चलि बहुवेला गई रुक दृग मेला धाय[1]

खवर न तोहि संकेतकी कही केतकी बार
चलि पथ कुंज निकेतकी कितकी ठानत आर[2]

पहिरि नवल चम्पा कली, चम्प कली से गात
रसलोभी अनुपम भंवर, हरि ढिग क्यों नहिं जात[3]

कौतुक की प्रवृत्ति भी भारतेन्दुजी में विद्यमान थी। प्रारम्भ काल से लेकर अन्तकाल की रचनाओं तक में यह प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रकार के काव्य में क्रीड़ा ही प्रधान होती है। भारतेन्दुजी ने राधा के रूप-वर्णन में राशियों के आधार पर मुद्रालंकार की सहायता से अनेक कौतुक दिखाये हैं। 'प्रेममालिका' के प्रथम पद में राधा को छवि की राशि बताया गया है परन्तु इसमें केवल मस्तिष्क का व्यायाम ही नहीं हृदय का संस्पर्श भी है—

प्यारे जान न देहों आज
कोटिन मकर करौ नहिं छांडों प्राननाथ ब्रजनाथ
मीन मेष बिनु बात करत तुम कहूँ मिथुन ललचाने
धनि धनि धातु पिय तुम तुल नहिं दूजो सबके घटन समाने
करकत हिय बीछी सी बातें सौतिन संग जो कीनी
तासों राखौ लाय हिये अब करि करि अधिक अधीनो
तो वृषभानुराय की कन्या जो अब तुमहिं न छांड़ौ

उपर्युक्त पद में ११ राशियों के नाम आ गये हैं, केवल सिंह का अभाव है।

निम्नलिखित पद में राशियों के नाम तो नहीं उल्लिखित हैं परन्तु राशियों का उपयोग उनके निश्चित संख्या-क्रम से हुआ है। यह एक प्रकार से कूट पद हैं—इनका अर्थ समझने के लिये राशियों के निश्चित क्रम को याद रखना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—१. मेष, २. वृष, ३. मिथुन, ४. कर्क, ५. सिंह, ६. कन्या, ७. तुला, ८. वृश्चिक, ९. धन, १०. मकर, ११. कुम्भ, १२. मीन।

दुतिय नृप भानु छठी तजु मान
करन चतुर्थ सदा सौतिन हिय कटि पंचमी सुजान
तो सम सातौ नाय और कोउ नव मन दम तू वाल
तुव विन आठ वेदना पावन व्याकुल पिय नन्दलाल
दसम केतु पीड़त पिय को अति निज कुच अगिनि बढ़ाय
करु अभिषेक अमृत एकादश, कुच पिय के हिय लाय

---

१. भा० ग्र०, पृष्ठ ७८४, दोहा ३
२. भा० ग्र०, पृष्ठ १८५, दोहा ११
३. भा० ग्र०, पृष्ठ १८५, दोहा ५

द्वादश विनु जल तिमि हरि तुव विन लगतनि प्रथम न नेक
हरीचन्द ह्वै तृतियापिया संग कर संक्रमन विवेक ।[1]

दुतिय भानु नृप छठी से तात्पर्य है वृषभान नृप-कन्या (राधा), करत चतुर्थ सदा सौतिन हिय का अर्थ है सपत्नियों के हृदय में सदा करक करने के लिये, कटि पंचमी (कटि सिंह) 'तो सम माती नाय और कोउ तव' का अर्थ है तुम्हारे समान और कोई धन्या (धन) मतवाली और वावरी नहीं है। आठ वेदना (विच्छू के दंश की वेदना) दसमकेतु (मकर केतु—कामदेव) अमृत एकादस कुच—अमृत कुम्भ कुच, द्वादश विनु जल (जल विना मीन) लगत नि-प्रथम न नेक—लगत निमेष न नेक, अन्तिम पंक्ति में तृतीय मिथुन के लिये आया है, तुला राशि का अभाव है।

मानलीला सम्बन्धी दूसरे पद में केवल मकर शब्द को लेकर क्रीड़ा की गई है—सखी की उक्ति है—

मकर संक्रांन सखी सुखदाई
मकर कुंडल सों मकर विलोचनि, क्यों न मिलत तू धाई
मकर केतु को भय नहीं मानत घर में रही छिपाई
वे तुव विन भये मकर विना जल, व्याकुल मुरझन पाई
मान मान तजु मान धरम करि कर धरिले गरलाई
हरीचंद तजि मकर राधिके रहु त्योहार मनाई ।[2]

अर्थ की जटिलता के अभाव ने इस चमत्कार-नियोजन में हृदय तत्व का अभाव नहीं आने दिया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता में अन्यत्र विट्ठलनाथ जी के गुणानुवाद में तथा मन के प्रबोधन के लिये लिखे गये एक पद में भी इसी प्रकार का चमत्कार-नियोजन मिलता है। विट्ठलनाथ जी की स्तुति बहुत सुन्दर है—

मेष मायावाद सिंह वादी अतुल धर्म
वृष जयति गुण-रासि वल्लभ सुअन
कलि कुवृश्चिक दुष्ट जीव जीवन मूरि
करम छल मकर निज वाद धनु-सर-समन
गोप-कन्या भाव प्रगटि सेवा विसद
कृष्ण राधा मिथुन भक्ति-पथ-दृढ़-करन
हरन जन-हिय करक मीन-धुज-भय मेटि
दास हरिचंद हिय कुम्भ हरि रस भरन ।[3]

आत्म-प्रबोधन के इस पद में भी राशियों का प्रयोग बड़े कौशल के साथ किया गया है—

---

१. राग संग्रह ५०
२. राग संग्रह ८८
३. भारतेन्दु ग्रंथावली, स्फुट कविताएँ, पृष्ठ ८२७, पद १७

कुम्भ कुच परस दृग मीन को वरस तजि
तुच्छ सुख मिथुन को हिय विचारै
छल मकर छाँड़ि सब तानि वैराग धनु
सिंह ह्वै जगत के जाल जारै
कृष्ण वृषभानु कन्या सहित भजन करि
कति कु वृश्चिक समुझि दूर दारै
छाँडि अनआस विस्वास हिय अतुल धरि
करम की रेख पर मेख मारै।[1]

श्लेष पर आधृत रूपकों की रचनायें भी भारतेन्दु ने की हैं जिनका विवेचन रूपक-योजना के अन्तर्गत किया जायेगा। पुनरुक्ति-चमत्कार के प्रयोग में कोई विशेषता नहीं है। भक्त-कवियों के प्रयोगों का ही पिष्टपेषण उन्होंने बिना कोई मौलिक परिवर्तन किये हुए ही किया है। यथा—

श्याम घटा छाई श्याम श्याम कुंज भयो
श्यामा श्याम ठाढ़े तामें भींजत सोहैं।
तैसिय श्याम सारी प्यारी तन सोहैं भारी
छवि देखि कामवाम चंचलाइ मौहैं।
तैसोई मुकुट मानो घन दामिनी पर
वग पंगति तापै मोर नचो है।[2]

रत्नाकर

'रत्नाकर' जी की वर्ण-योजना में यद्यपि प्रयास का अभाव नहीं है परन्तु उसमें कृत्रिमता नहीं आने पाई है। कोमल तथा लघु वर्णों का प्राचुर्य इनकी रचनाओं में भी है, आन्तरिक लय तथा प्रवाह उनकी कविता का प्रधान गुण है। आद्यानुप्रास आन्तरिक लय और छेकानुप्रास के मिश्रित प्रयोगों से उनकी भाषा में वर्ण-संगति, वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगीत की संयुक्त योजना मिलती है। उदाहरण के लिये निम्नोक्त पंक्तियां ली जा सकती हैं —

जोगिन की भोगिनि की विकल वियोगिनि की,
जग में न जागती जमातें रहि जाइंगी
प्रेम-नेम छांड़ि ज्ञान-छेम जो बतावत सो,
भीती ही नहीं तो कहा छाते रहि जाइंगी
घातें रहि जाइंगी न कान्ह की कृपा तैं इती,
ऊधो कहिवे को बस वातें रहि जाइंगी।[3]

तथा

रोकत सांसु री पांसुरी में यह बांसुरी मोहन के मुख लागी।

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, स्फुट कविताएँ, पृष्ठ ८२७, पद १६
२. भा० ग्र०, पृष्ठ ५११ वर्षा विनोद ६७
३. रत्नाकर भाग १, पृष्ठ १३७, उद्धव शतक ५४

इसी प्रकार

सुनि सुनि ऊधो की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी कोऊ थानहि थिरानी हैं।
कहैं रत्नाकर रिसानी अररानी ' कोऊ
कोऊ बिलखानी बिकलानी बिथकानी हैं।
कोऊ सेंद सानी कोऊ भरि-दृग पानी रहीं
कोऊ घूमि घूमि परी भूमि मुरझानी हैं।
कोऊ स्याम स्याम कहि बहकि बिललानी कोऊ,
कोमल करेजो थामि सहमि सुखानी हैं।[1]

वृत्यानुप्रास के प्रयोग में 'रत्नाकर' जी की भाषा बड़ी वेगवती हो गई है, जैसे—

हौले से हले से हूल हूले से हिये में हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से[2]
दौना चल कौना यह छटक्यो कनूका जाहि,
छाई छिगुनी पै छेम छत्र छिति छायो है।[3]

'रत्नाकर' द्वारा नियोजित यमक-चमत्कार भाव-व्यंजना में सहायक हुआ है—

औसर मिले औ सर ताज कछु पूछहिं तो।
ले गयो अक्रूर कूर सब सुख मूर।
वारन कितेक तुम्हें वारन कितेक करें,
वारन उवारन ह्वै वारन बनो नहीं।
कानन में तो बजै न बजै पर काननि बांसुरी बाजति ही रहै।[4]

'रत्नाकर' जी ने श्लेष के आधार पर रूपकों की रचना की है। माधव, घनश्याम, तरुनि, वारिनि इत्यादि शब्दों के श्लिष्ट प्रयोगों द्वारा चमत्कार-योजना की गई है। यह चमत्कार-नियोजन काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक हुआ है। चमत्कार तत्व के आधिक्य से उसमें क्षति नहीं पहुंची है। ये प्रयोग प्रायः तीन प्रकार के हैं—

१. रूपकों में प्रयुक्त श्लिष्ट शब्द (जिनका विवेचन रूपक-योजना के अन्तर्गत किया जायेगा।)
२. अपने नाम के श्लिष्ट प्रयोग
३. विशेष शब्दों के श्लिष्ट प्रयोग

नाम प्रयोग में श्लेष

रस रत्नाकर निरवारयो जाहि
जोग रत्नाकर में सांस घूंटि बूड़ै कौन

---

१. रत्नाकर भाग १ पृष्ठ १३०, उ० श० ३४
२. ,, ,, १ ,, १२६, उ० श० २६
३. ,, ,, १ ,, १४३, उ० श० ७३
४. प्रकीर्ण पदावली, पृष्ठ ५७-५८

विशेष शब्दों में श्लिष्ट प्रयोग

विनि घनस्याम धाम धाम व्रज मण्डल में
ऊधौं नित वासरि बहार बरसा की है।[1]

वीप्सा और अनुप्रास का संयुक्त सौन्दर्य इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

लाइ लाइ पाती छाती कबलौं सिरैहै हाय
धरि धरि ध्यान धीर कब लगि धारिहै
कहै रत्नाकर गुवारिन की झौरि झौरि
कोऊ घूमि घूमि परी भूमि मुरझानी है।[2]

पुनरुक्ति अलंकार

वे तो हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ
हम उनहीं की उनहीं की उनहीं की हैं।[3]
रंचक हमारी सुनो रंचक हमारी सुनो[4]

निम्नलिखित पंक्तियों की योजना में शब्दगत चमत्कार ही प्रधान है। अपनी बात कहते हुये अनेक कवियों ने नामों का समावेश करके मुद्रालंकार की योजना की है—

आवत निहारे हौं गुपाल एक बाल जाकी,
लाग्यो उपमा में कवि कोविद समाज है।
तरुन दिनेस विम्ब अरुन अमोल पाय,
छीन कटि केहरि और गति गजराज है।
संभु कुच मुख पदमाकर विमाक देव
तापै घनआनन्द घनेरो कच-साज है।
छवि की तरंग रत्नाकर है अंग मुस-
कानि रसखानि खानि आलम निवाज है।[5]

कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना शास्त्रीय कसौटियों पर पूरी उतरती है। योजनायें सर्वत्र विषय के अनुकूल हैं। प्रायः सभी कवियों ने उसका प्रयोग भाव-व्यंजना के उपयुक्त भाषा का निर्माण करने के उद्देश्य से किया है। नन्ददास और रसखानि की भाषा में लय और संगीत तत्त्व का समावेश इसी माध्यम से हुआ है। इस दृष्टि से उनका स्थान हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों के अन्तर्गत निर्धारित किया जा सकता है। इस क्षेत्र में जागरूक रहते हुये भी वर्ण-साम्य स्थापन उनका व्यसन नहीं बन गया है। उसमें औचित्य की रक्षा सर्वत्र हुई है। रीतिकालीन कवियों की वर्ण-योजना में आग्रह की अति हो गई है, कहीं-कहीं उसने व्यसन का रूप भी धारण कर लिया है परन्तु श्रुति-पेशलता, प्रतिपाद्य के प्रति अनुकूलता

१. रत्नाकर भाग १, उद्धव शतक १६, १८, ५४, १३१
२. ,, ,, ,, ,, ,, पृ० १३१, पद ३६
३. ,, ,, ,, ,, ,, पृ० १४७, पद ५१
४. ,, ,, ,, ,, ,, पृ० १४५, पद ४६
५. रत्नाकर भाग २, पृष्ठ ३१८, शृङ्गार लहरी, छं० ६

और प्रसाद गुण की रक्षा इस काल के कवियों की रचनाओं में भी हुई है। भाषा का अलंकरण इन कवियों का उद्देश्य बन गया है। आधुनिक कवियों की रचनाओं में दोनों दृष्टियों का समन्वय हुआ है। भारतेन्दु की स्तोत्र पद्धति की रचनाओं में प्रयुक्त वर्ण-योजना पूर्ण रूप से कृत्रिम हो गई है, प्रसाद गुण का उनमें अभाव है। रत्नाकर की वर्ण-योजना अधिकतर भाषा के अलंकरण तथा ध्वनि-चित्र निर्माण के लिए की गई है। इस प्रसंग में यह एक तथ्य देखने योग्य है कि रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में अनुप्रास के अतिरिक्त अन्य शब्दालंकारों द्वारा चमत्कार-नियोजन की उतनी प्रवृत्ति नहीं है जितनी आधुनिक कालीन कवियों की रचनाओं में। रीतिकालीन कवियों पर यह प्रभाव केवल वर्ण-योजना के क्षेत्र में ही दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक कालीन व्रज-भाषा कवियों ने काव्य-कला की परम्परा रीतिकालीन आचार्यों और शृंगारिक कवियों से ली थी। आधुनिक कवियों में रीतिकालीन परम्परा का अवशेष शिल्प के इन रूढ़ रूपों में मिलता है। वैयक्तिक संस्कारों की प्रेरणा से आधुनिक कृष्ण-भक्त कवियों ने भक्त कवियों का प्रतिपाद्य ग्रहण किया और रीतिकालीन अभिव्यंजना-शैली उन्हें विरासत में मिली। भक्ति-कालीन आत्मा को रीतिकालीन शरीर में आवृत्त करने का यही कारण है। कृष्ण-भक्ति काव्य में शब्दालंकार-जन्य चमत्कार और वैदग्ध्य के प्रयोग का श्रेय आधुनिक कवियों को ही प्राप्त हुआ है।

## कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में वृत्ति, गुण और रीति

### मधुरावृत्ति, माधुर्य गुण, वैदर्भी रीति

लीला-पुरुष कृष्ण के ललित सौन्दर्य तथा माधुर्य भक्ति की रस-स्निग्ध भावनाओं के उपयुक्त भाषा-निर्माण करने के लिये कृष्ण-भक्त कवियों ने मधुरावृत्ति को प्रधान रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने भाषा में इस माधुर्य का नियोजन जागरूक प्रयत्न द्वारा किया है। उनकी भाषा में कर्ण-कटु वर्णों का प्रयोग बहुत ही विरल है। संयुक्ताक्षरों का प्रयोग भी बहुत कम हुआ है। संस्कृत के संयुक्त वर्णों से युक्त शब्दों में यथाअवसर रूप-परिवर्तन कर दिया गया है। वृत्त्यानुप्रासों तथा वर्ण-योजना के अन्य माध्यमों के अन्तर्गत कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पवर्ग तथा पंचमाक्षरों की आवृत्ति ही अधिकतर की गई है। कृष्ण-भक्ति काव्य में मधुरा अथवा उपनागरिका वृत्ति और ललित पद-योजना के प्राधान्य के कारण वैदर्भी रीति प्रधान है।

गुण को हम चाहे दण्डी और वामन के अनुसार शब्द तथा अर्थ के धर्म-रूप में स्वीकार करें अथवा आनन्दवर्धन के अनुसार उन्हें अंगीरस के आश्रित रहने वाले तत्व मानें, दोनों ही दृष्टियों से व्रजभाषा-काव्य में माधुर्य-गुण का ही प्राधान्य रहा है। गुणों का सम्बन्ध काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों से है। गुणों को रस के आश्रित मानने वाले आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने भी गुणों का वर्णों के साथ स्पष्ट सम्बन्ध माना है। आन्तरिक गुण और बाह्य रूप के इसी अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए गुणों का उल्लेख भी वर्ण-योजना से सम्बद्ध अभिव्यंजना के तत्वों के अन्तर्गत करना ही समीचीन होगा।

रस के धर्म के रूप में गृहीत होने पर जहाँ माधुर्य गुण कृष्ण-भक्ति-काव्य के अनेक मधुर-कोमल प्रसंगों में व्याप्त है वहीं शब्दार्थ-चमत्कार के रूप में प्रतिपाद्य के अनुरूप पदावली में भी यह माधुर्य विद्यमान है। प्रथम की परिकल्पना के साथ ही मानो द्वितीय वर्ण-संगीत का माधुर्य बनकर इन कवियों की वाणी में समा गया है। इस माधुर्य का नियोजन परुष वर्णों के निषेध, कोमल वर्णों तथा पंचम वर्णों की आवृत्ति तथा स्वर-मैत्री के द्वारा किया गया है जिसका विवेचन वर्ण-योजना-पद्धति के अन्तर्गत किया जा चुका है। अन्त्यानुप्रास, आद्यानुप्रास, वृत्यानुप्रास, छेकानुप्रास इत्यादि के संयोजन से भाषा में किसी विशिष्ट वृत्ति और गुण का प्राधान्य समाविष्ट किया जाता है। कृष्ण-भक्त कवियों ने वर्ण-मैत्री, वर्ण-संगति और वर्ण-संगीत के द्वारा इस अभीष्ट की पूर्ति की है।

## ओजगुण, परुषावृत्ति, गौड़ी रीति

कृष्ण-भक्त कवियों की रस-स्निग्ध उपासना में ओजस्वी तत्वों का पूर्ण अभाव रहा है। कृष्ण के अलौकिक कार्यों के प्रतिपादन में कुछ ओजपूर्ण स्थल मिलते अवश्य हैं पर उनकी संख्या बहुत कम है। सूरदास ने ऐसे स्थलों पर अपनी भाषा के सतत प्रवाहित मधुर स्रोत में परुष वर्णों द्वारा आवर्त उत्पन्न करने का प्रयास अवश्य किया है। कालीदमन प्रसंग, गोवर्धन लीला, दावानल प्रसंग के अनुरूप भाषा का निर्माण सूरदास ने परुषावृत्ति से सम्बद्ध ओज गुण को व्यक्त करने वाले वर्णों की आवृत्ति के द्वारा करने का प्रयास किया है। टवर्ग के अक्षरों की आवृत्ति, द्वित्व संयुक्त वर्णों और र के संयोग से ओजगुण के उपयुक्त भाषा का निर्माण सम्भव होता है। सूर काव्य के ओजपूर्ण प्रसंगों में भाव-तत्व तथा अभिव्यंजना दोनों एकात्म हो गये हैं। उदाहरण के लिये दावानल प्रसंग में उनकी भाषा में भी प्रभंजन की गति और अग्नि की प्रचंडता को व्यक्त करने की शक्ति आ गई है—

> झहरात झहरात दावानल आयो।
> घेरि चहूँ ओर करि सोर अंदोर वन
> धरनि आकास चहूँ पास छायो।
> वरत वन वांस, थरहरत कुस कांस, जरि उड़त है भांस अति प्रवल धायो।
> झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि,
> फटक लट लटकि द्रुम द्रुम नवायो।
> अति अगिनि-झार भंभार धुंधार करि उचटि अंगार झंझार छायो
> बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महाधरनी गिरायो॥[1]

कालियदमन प्रसंग में भी गुण के आन्तरिक और बाह्य रूप के अन्योयाश्रित सम्बन्ध का परिचय मिलता है—

> झिझकि कै नारि, दै गारि गिरधारि तब, पूँछ पर लात
> दै अहि जगायो।
> उठ्यो अकुलाइ डर पाइ, खगराइ को देखि बालक गरब अति बढ़ायो।

१. सूरसागर, १० स्कन्ध, पद ५९६—ना० प्र० स०

पूंछ लीन्हीं झटकि धरनि सौं गहि पटकि फुंकरयो लटकि करि क्रोध फूले।
पूंछ राखी चांपि रिसनि काली कांपि, देखि सब सांपि अवसान भूले।
करत फनघात विष जात उतरात अति नीर जरि जात नहिं गात परसे।[1]

परन्तु भाषा की यह विषयानुरूपता अन्य कवियों द्वारा रचित ओजपूर्ण प्रसंगों में नहीं मिलती। गोवर्धन-धारण, कालियदमन इत्यादि प्रसंगों में भी नन्ददास तथा अन्य कवियों की भाषा अपना सरल माधुर्य नहीं छोड़ पाई है। इन कवियों ने अपनी भाषा की गति बदलने की आवश्यकता ही नहीं समझी है। कृष्ण के ये अलौकिक कृत्य उनके हृदय में ओज का संचार करने के स्थान पर प्रेम की उद्दीप्ति ही करते हैं। प्रिय पात्र के अलौकिक कृत्यों से भक्त रूप गोप-गोपियों का वात्सल्य, सख्य, अथवा शृंगार भाव ही उद्दीप्त होता है। प्रेम की आकुलता इन कृत्यों द्वारा उद्दीप्त होकर विवशता बन जाती है। यशोदा का वात्सल्य, राधा का प्रेम तथा गोपों का सख्य भाव ही इन प्रसंगों में प्रधान होकर सामने आता है।

श्री चतुर्भुजदास जी के हृदय की व्याकुलता यशोदा के मातृ हृदय की आतुर विह्वलता बनकर व्यक्त हुई है।

वारी मेरे कान्ह प्यारे अबहिं विनु तु बारे
कैसे अति भारौ गिरि राख्यौ धरि कर पर।
कोमल भुजा तुम्हारी, याते हौं भयभीत भारी,
देखि देखि करत हैं हिरदौ इह धर धर।
स्याम महाबल कीनो, छिनु में उठाइ लीनो,
आये गांइ ग्वालि सब सरनि मेघ के डर।
नीकौं हौं कहों उपाइ, मिलि करिहैं सहाइ,
लेहो बोलि वलि गई संग भैया हलधर।[2]

नन्ददास ने गोवर्धन-लीला दो रूपों में लिखी है। प्रबन्ध रूप में लिखी हुई गोवर्धन-लीला की न तो आत्मा में ओज है और न बाह्य रूप में। पदावली के अन्तर्गत लिखे हुये इस प्रसंग के तीन पद हैं और तीनों में प्रतिपाद्य के प्रति दृष्टिकोण में वैभिन्न्य है। आत्मा के ओज का अभाव तीनों में ही है। प्रथम पद में मधुरा तथा परुषा वृत्ति के मिश्रित प्रयोग द्वारा ओज का वातावरण प्रस्तुत करने में वे अवश्य सफल हो सके हैं। भाषा ओजपूर्ण न होते हुये भी वर्षा, झंझा और तूफान के वातावरण की सृष्टि में समर्थ हुई है। 'र' वर्ण की अनेक आवृत्तियों द्वारा नन्ददास जी इस प्रभाव का व्यक्तीकरण कर सके हैं—

राजे गिरिराज आज, गाय गोप जाके तर,
नैंकुसी बानकि बने धरैं भेख नटवर।
लयो उठाय ब्रजराज कुंवर बर कर पर
अरग धरग राख्यो मुरली की कूक पर॥

१. सूरसागर, १० स्कन्ध, पद ५५२—ना० प्र० स०
२. चतुर्भुजदास, पृ० २५, पद ४८—वि० वि० कां०

बरखें प्रलय को पानी न जात काहू पै बखानी,
ब्रज हू ते भारी टूटत हैं तर तर।
ता पर के खग मग चातक चकोर मोर,
बूंद न काहू परी भयो है कौतुक भर।
प्रभुजी की प्रभुताई, इन्द्र हू की जड़ताई,
मुनि हँसें हेरि हेरि हरि हँसे हर-हर ॥[1]

दूसरे[2] पद में स्नेहजन्य आकुलता तथा तीसरे[3] में सौंदर्य-प्रधान आलंकारिक दृष्टिकोण ग्रहण किया गया है।

परमानन्ददास, चतुर्भुजदास तथा कुम्भनदास द्वारा रचित इन्द्रमान-भंग सम्बन्धी कुछ पदों का विवेचन इस प्रसंग में अनुचित न होगा। परमानन्ददास की वर्णनात्मक पद-शैली में लिखे हुए इन पदों में न तो भाषा का ओज है और न उनके भाव ही ओजपूर्ण बन पड़े हैं। कृष्ण के इस अलौकिक कृत्य के प्रति यशोदा, गोपियों और ग्वाल-बालों की भावनाओं की प्रतिक्रिया निम्नलिखित पद में दिखाई पड़ती हैं—

गोवर्धन धरनी धर्‌यो मेरे बारे कन्हैया।
दधि अच्छत फल फूल लैलै भुज पूजत भैया।
विप्र बोलि बरनी करी दीनी बहु गैया।
ग्वाल बाल पांयन परे गोपी लेत बलैया।
नंद मुदित मन फूलहिं कीरति जुग जुग भैया।
परमानन्द ब्रज राखि लियो खेलत लरकैया ॥[4]

इसी प्रकार कुम्भनदास की गोपियों का भी प्रेम-भाव ही इस प्रसंग में उमड़ता है। गिरिधर कृष्ण के शौर्य के प्रति उनका ध्यान ही नहीं जाता। उस कठिन प्रसंग में भी उनके सामने रूप की निधि 'काम की सिद्धि' और प्रेम की विधि जानने वाले लीला-पुरुष कृष्ण का रूप ही सामने आता है—

---

१. नन्ददास ग्रंथावली, पृ० ३६२, पद ११६, गोवर्धनलीला—ब्रजरत्नदास

२. अब नेंकु हमहिं देहु कान्ह, गिरिवर।
तुम्हें लये बड़ि बार भई है, दूखि उठे ह्वै हैं कोमल कर।
मति ढिग परै दबै सब ब्रज जन, भयौ है हाथ पै अति-भर।
तब वैसे इहि बदन देखिहैं तातैं जिय में बढ़ौ यही डर।
—वही, पृष्ठ ३६२, पद ११७

३. कान्ह कुँवर के कर पल्लव पै मनौ गोवर्धन नृत्य करै
ज्यों-ज्यों तान उठति मुरली की, त्यों-त्यों लालन अधर धरै।
मेघ मृदंगी मृदंग बजावत, दामिनि दमकि मनों दीप जरै।
ग्वाल ताल दे नीकै गावत गायते के संग सुर जो भरै।
—वही, पृष्ठ ३६२, पद ११८

४. परमानंददास, पृष्ठ ६६, पद २२६

रूप की निधि काम की सिद्धि,
जानत सब प्रेम की विधि
धेनु-सैन लैके घर श्रावै सकारौ
कुम्भनदास प्रभु गिरधर अपने कर
कोमल ऐंचि लियो गोवर्द्धन मारौ ।[1]

उक्त श्रोजपूर्ण स्थलों के अतिरिक्त व्याख्यात्मक स्थलों में प्रयुक्त समस्त शैली और तत्सम-बहुल भाषा को भी गौड़ी रीति के अन्तर्गत रखा जा सकता है परन्तु ऐसे स्थलों में वृत्ति की परुषता वर्णों की कटुता के कारण नहीं, प्रसादत्व के अभाव के कारण ही मानी जाएगी। तत्सम-बहुल भाषा के प्रसंग में इस प्रकार की भाषा के उद्धरण पहले दिये जा चुके हैं, यहां उन्हें उद्धृत करना पिष्ट-पेषण मात्र होगा। श्रोजगुण, परुषावृत्ति और गौड़ी रीति के तत्व इन कवियों की भाषा में बहुत कम हैं।

## प्रसाद गुण, कोमला वृत्ति और पांचाली रीति

जिस रचना के श्रवण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति होती है उनमें प्रसाद गुण माना जाता है। राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी और मधुरा-भक्ति से संबद्ध पदों में माधुर्य गुण तथा मधुरा वृत्ति की प्रधानता रही है। वत्सल तथा सख्य-भाव से युक्त पदों में प्रसाद गुण प्रधान है। पूर्ण रूप से अनुभूत्यात्मक स्थलों में भी प्रसाद गुण और कोमला वृत्ति का प्राधान्य है। सरल समासरहित ऋजु पदावली इस शैली की विशेपता होती है; उसमें न तो मधुरावृत्ति की मसृणता होती है और न परुषावृत्ति की कटुता। भाव और अभिव्यंजना की स्वाभाविकता तथा अकृत्रिमता इस वृत्ति का प्रधान गुण है। यही कारण है कि कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं में कोमलावृत्ति तथा प्रसाद गुण मिलता है। इन प्रसंगों में अधिकतर तद्भव शब्दों का चयन किया जाता है, सरलता इस शैली की विशेपता होती है। सूर के आत्मनिवेदन और विनय के पदों में भी अधिकतर कोमलावृत्ति और प्रसाद गुण का ही प्राधान्य है—सरल, सुबोध और अति प्रचलित शब्दों का प्रयोग इनका ध्येय होता है।

सरल तथा ऋजु वर्ण-योजना का सम्बन्ध पांचाली रीति से होता है। वर्णनात्मक तथा अनुभूत्यात्मक स्थलों पर विशेष रूप से बाललीला, किशोर लीला और विनय-सम्बन्धी पदों में कोमलावृत्ति, प्रसाद गुण और पांचाली रीति के उदाहरण सर्वत्र भरे पड़े हैं।

# पूर्व मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में शब्द-शक्तियों का प्रयोग

## अभिधा शक्ति

कृष्ण-भक्त कवियों ने अभिधा शक्ति का प्रयोग अधिकतर अनुभूत्यात्मक और वर्णनात्मक स्थलों पर ही किया है। इतिवृत्तात्मक अंशों में तो अभिधा-जन्य वाच्यार्थ की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है, परन्तु भावपूर्ण स्थलों में वाच्यार्थ का सौन्दर्य अत्यन्त स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रतिपाद्य के व्याख्यात्मक अंश में

---

१. कुम्भनदास, पृष्ठ ३०, पद ५७

भी अभिधा शक्ति का ही प्राधान्य है। सिद्धान्त-कथन तथा सार-निरूपण में अभिधा के द्वारा ही मार्दव और गाम्भीर्य का स्पर्श किया गया है।

कवि की दृष्टि सर्वथा चामत्कारिक नहीं रहती और कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में तो स्वाभाविकता ही सहज गुण है, इसलिए कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा में अभिधा का ही प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। वैचित्र्य और चमत्कार-दृष्टि इन कवियों की रचनाओं में अपेक्षाकृत कम है अतएव कृष्ण के रूप-वर्णन, वात्सल्य-वर्णन, संयोग-शृंगार, इत्यादि वर्णनात्मक और भावपूर्ण प्रसंगों में अभिधा-शक्ति का ही प्रयोग हुआ है। अनुभूत्यात्मक प्रसंग के अनेक मार्मिक स्थल अभिधा-प्रयोग के उदाहरण रूप में लिये जा सकते हैं।

उक्ति की सरलता के कारण अभिधात्मक वर्णन नीरस भी हो जाते हैं। विवरणों तथा व्याख्यानों में प्रयुक्त अभिधा का रूप प्रायः नीरस होता है। मार्मिक स्थलों में प्रयुक्त शब्दों की अभिधा-शक्ति द्वारा कवि की उक्ति हृदय को छू लेती है। प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों के वर्णनात्मक प्रसंगों में अभिधा का रूप नीरस हो गया है। सूरदास के छन्दात्मक पदों में अभिधा की नीरसता प्रायः सर्वत्र मिलती है—

> भोजन भयौ भावते मोहन, तातोइ जेंइ जाहु गौ दोहन।
> खीर खांड खीचरी संवारी, मधुर महेरी गोपनि प्यारी।
> राइ भोग लियो भात पसाई, मूंग ढ़रहरी हींग लगाई।
> सद माखन तुलसी दे तायो घिरत सुबास कचौरा नायो।
> पापर वरी अचार परम सुचि। अदरख अरु निबुअनि ह्वै है रुचि।[1]

नन्ददास तथा अन्य कवियों की रचनाओं में भी इस प्रकार के अनेक नीरस अभिधात्मक वर्णन हैं। नन्ददास के अभिधात्मक वर्णन अधिकतर सरस और मार्मिक बन पड़े हैं परन्तु भाषा दशम स्कन्ध के छन्दात्मक शैली में लिखे गये पदों में कहीं-कहीं वर्णनात्मक एकरसता और नीरसता आ गई है—

> अब सुनि मित्र नवम् अध्याइ, जामें अद्‌भुत अद्‌भुत भाइ।
> जोगी जन मन ढूंढत जाकौ, बांधेगी हठि जसुमति ताकौ।
> इक दिन भोर उठी नंदरानी, आपुहि मंजु मथानी आनी।
> धौराई दूध पूत के हितहीं, राखति जसु जमाइ नित्त नित्त ही।
> और जु नन्द महर घर दह्यौ, कितकु आई कछु परत न कह्यौ।[2]

अन्य कवियों की पद-शैली में इस प्रकार के वर्णनात्मक स्थल प्रायः बहुत कम हैं। अधिकतर अभिधा का सौन्दर्य स्वभावोक्ति बनकर ही व्यक्त हुआ है—

> आज नन्द द्वारे भीर
> इक आवत इक जात विदा ह्वै इक ठाढ़े मन्दिर के तीर[3]

---

१. सूरसागर, पद १२१३, दशम स्कन्ध—ना० प्र० स०
२. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० २४८, भाषा दशम स्कन्ध—ब्रजरत्नदास
३. सूरसागर, १०-२५—ना० प्र० स०

नन्ददास की रचनाओं का सौष्ठव प्रायः सर्वत्र अभिधा शक्ति द्वारा ही उत्कृष्ट भाव-व्यंजना में सहायक हुआ है। उनकी कविता की सबसे बड़ी विशेपता है बिम्ब-योजना। इस बात के लिये वे सर्वत्र जागरूक रहे हैं कि शब्द के सामान्य अर्थ-बोध के साथ ही वर्ण्य विषय का सम्पूर्ण चित्र भी प्रस्तुत कर सकें। अर्थ और चित्र के संयुक्त बोध की अभिव्यक्ति में अभिधा शक्ति विशेष रूप से सहायक होती है—

केलि-कला कमनीय किसोर, उभय रस पुंजन कुंजन नेरें।
हास, विनोद किये वलि आली, कितो सुख होतु है हरि हेरें।
वेली के फूल प्रिया लै पिय पैं, डारे की उपमा यों होत मन मेरे।
नंददास मनो सांझ समै, बगमाल तमाल कों जात बसेरें।[1]

मधुर मधुर मुस्कात विलोलित उर बनमाला
केवल मनमय मनमथ चंचल नैन विसाला
पियहिं निरखि ब्रजबाल हुई सब एकहिं काला
ज्यों प्रानन्हि के आये उझकहिं इंद्रिय जाला।[2]

प्रायः सभी कृष्ण-भक्तों ने शृंगार तथा वात्सल्य के प्रसंगों में अभिधा शक्ति का प्रयोग किया है। अभिधात्मक वर्णनों और चित्रों की संख्या इतनी अधिक है कि उनके विश्लेषण में ही समस्त कृष्ण-काव्य का अन्तर्भाव हो सकता है।

साधारण शब्द जिनका व्युत्पत्ति के आधार पर विभाजन नहीं किया जा सकता रूढ़ि अभिधा के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग सहज अभिव्यंजना में विश्वास करने वाले सब कवियों के लिये स्वाभाविक और अनिवार्य होता है। सम्बद्ध कवियों ने भी रूढ़ि अभिधा का प्रयोग प्रचुर रूप से किया है। रूढ़ि अभिधा के प्रयोग में अभिव्यंजना कौशल की अधिक अपेक्षा नहीं रहती।

योग अभिधा में कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है, व्युत्पत्ति के आधार पर जिनका सार्थक विभाजन किया जा सकता है। कृष्ण-भक्त-कवियों ने इन शब्दों के प्रयोग द्वारा अभीप्सित अर्थ की स्पष्टता और औचित्य में वृद्धि की है। शब्दों में रूढ़ और योग तत्व भाषा के विकास के साथ स्वतः ही प्रवेश पाते चलते हैं।

घनश्याम, चतुरानन, दामोदर, महादेव इत्यादि शब्द योगरूढ़ि शक्ति-युक्त हैं क्योंकि व्युत्पत्ति के आधार पर इनका सार्थक विभाजन तो सम्भव है परन्तु उनका प्रयोग एक नये अर्थ में किया गया है। इनके भी अनेक उदाहरण इन कवियों की रचनाओं में सार्थक रूप में प्रयुक्त मिलते हैं।

मीरा की दर्द भरी अनुभूतियों में अभिधा का सौन्दर्य ही निखरा है। श्री कन्हैयालाल मुंशी के शब्दों में, 'कला विहीनता ही मीरा की सबसे बड़ी कला है।' उनकी सुकुमार कला में कवि-कौशल कृत्रिम नहीं है। विप्रलब्धा मीरा का विरह माधुर्य, प्रसाद और लावण्य से

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० ३५१—पदावली-पद ७६—ब्रजरत्नदास
२. श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ० ४५, ६८-६६

युक्त है। सहजता उसकी सर्वप्रधान विशेपता है। माधुर्य मीरा के काव्य का प्राणतत्व है। 'बाल्यावस्था के मीत' कृष्ण के चरणों में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन तथा भावनायें समर्पित कर दी थीं। उनकी निष्प्राण आकांक्षायें गिरवर के सौन्दर्य के आकर्षण की संजीवनी से सजीव हो उठीं। गिरधर नागर को अपनी मधुर भावनाओं का केन्द्र बना कर कभी उन्होंने चरम मिलन के नैसर्गिक सुख के गीत गाये और कभी उनके उद्वेलित हृदय की विरह-व्यथा में आकुल नेत्र और तप्त उच्छ्वास उनके विरह-गीतों में साकार हो गये। इन पक्षों के सहज सौन्दर्य में अभिधा की सरलता है। रूप-राग के चित्रण में स्वभावोक्ति-पूर्ण अभिधात्मक उक्तियां बड़ी मार्मिक बन पड़ी हैं।

## लक्षणा शक्ति

मुहावरे और लोकोक्तियों के विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मुहावरों में कवि लक्षणा शक्ति के प्रयोग द्वारा अर्थ में एक नया वैदग्ध्य और चमत्कार उत्पन्न करता है। मुहावरों के अर्थ-ग्रहण में सामान्य वाच्यार्थ से काम नहीं चलता। लक्ष्यार्थ द्वारा ही उसमें निहित अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों में लक्षणा के वैभव का उपयोग किया गया है। वर्णनात्मक चित्र प्रस्तुत करने में अभिधा बहुत सहायक होती है। लक्षणा द्वारा अमूर्त का मूर्त विधान प्रस्तुत किया जाता है जिससे अभिव्यंजना का सौन्दर्य निखर उठता है। भावों के मानवीकरण में शब्द-शक्ति के इसी रूप का प्रयोग होता है। अंग्रेजी के विशेपण-विपर्यय के प्रयोग में भी लक्षणा शक्ति का वैभव ही बिखरा रहता है।

प्रथम द्रष्टव्य तथ्य यह है कि कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में लक्षणा के प्रयोगों की भरमार नहीं है। प्रतिपाद्य की सहजता और स्निग्धता ने उन्हें अभिधा शक्ति के प्रयोग का ही प्रचुर अवसर दिया है। भावों के मानवीकरण और विशेपण-विपर्यय के प्रयोगों की संख्या बहुत कम है अतः लक्षणा के सूक्ष्म भेदों की संख्या भी कम ही है। लाक्षणिक प्रयोगों का चमत्कार सबसे अधिक मुहावरों के रूप में ही व्यक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन कवियों की अभिव्यंजना में लक्ष्यार्थ का पूर्णतः अभाव है। लक्षणा के सूक्ष्म रूप यद्यपि कृष्ण-भक्ति काव्य में यदा-कदा ही मिलते हैं परन्तु उसमें प्रयुक्त भाषा की चित्रमयता का श्रेय अधिकतर एक शब्द में निहित विशिष्ट वातावरण और प्रसंग से सम्बद्ध अर्थ-द्योतन की शक्ति को है। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'चित्र-भाषा-शैली या प्रतीक-पद्धति में वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार होता है जिससे पाठक या श्रोता को विशेष रसानुभूति होती है।'[1] यह उक्ति इन कवियों द्वारा प्रयुक्त लक्षणा शक्ति के साथ अंश रूप में ही लागू हो सकती है। प्रतीक-पद्धति का प्रयोग इन कवियों की शैली का मुख्य रूप नहीं था परन्तु वे विभिन्न शब्दों के प्रतीकात्मक प्रयोग द्वारा सजीव और गतिपूर्ण चित्रों का निर्माण करने में समर्थ हुये हैं। ये प्रयोग अधिकतर क्रियापद, विशेपण और विशेष्य शब्दों में हुये हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८०७—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

## सूरदास द्वारा प्रयुक्त क्रिया-पदों में लक्षणा का प्रयोग

विराजति—स्याम कर मुरली अधिक विराजति ।
अंचवति— अंचवति अधर सुधा वस कीन्हें ।[1]
रूलति— वेनी पीठि रूलति झकझोर ।[2]
अरुझाई— प्यारी सौं चित्त रहे अरुझाई ।[3]
वरसत— विनहिं ऋतु वरसत निसिवासा ।[4]
तरसति— हरिदरसन को तरसति अँखियां ।

उपर्युद्धृत विभिन्न क्रिया-पदों का सौन्दर्य लक्षणा पर ही आधृत है । 'विराजति' में सुन्दर लगने और शोभित होने का अर्थ निहित है । 'अंचवति' में तृप्त होने का भाव है । इसी प्रकार अन्य शब्द भी अपने रूढ़ अर्थ की अपेक्षा एक नया भाव अपने में अन्तर्निहित किये हुये हैं जो भाव-व्यंजना में वड़े सहायक बन पड़े हैं ।

### लाक्षणिक विशेषण

संज्ञा के साथ विशेषणों का प्रयोग करके कवि वर्ण्य विषय का विस्तार करता है तथा उनके द्वारा एक भाव-चित्र उपस्थित करता है । कृष्ण-भक्त कवियों ने अधिकतर साहृश्यमूलक अप्रस्तुत योजनाओं के द्वारा अपने वर्ण्य का विस्तार किया है इसलिये विशेषण पदों में सांकेतिक निर्देश की अधिक गुंजाइश नहीं रही है । इनका संयोजन अधिकतर रूप-साहृश्य के आधार पर ही हुआ है । जैसे कुटिल अलक, विकट भौंहें, कनक आंगन, मनिमय आंगन, भूखी आंखें, प्यासी आंखें ।

भ्रमरगीत के प्रसंग में कुब्जा के प्रति अनेक कटूक्तियों में लक्षणा पर आधृत व्यंजनाएं बड़ी प्रभावात्मक बन पड़ी हैं ।

## परमानन्ददास

परमानन्ददासजी की रचनाओं में भी लक्षणा के अच्छे उदाहरण प्राप्त होते हैं । क्रिया-पदों, विशेपणों तथा विशेष्य शब्दों के लक्षक रूप का प्रयोग उन्होंने भी किया है । कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं—

उनत जाय चौगुनी लेहों नैन तृसा बुझान दे ।[5]
परमानंद स्वामी मन मोहन अटके नैन की कोर ।[6]

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ६५४—ना० प्र० स०
२. वही " " ६७२ "
३. वही " " ७१७ "
४. वही " " ४२३४ "
५. परमानन्द सागर, पृष्ठ ३३, पद ६६
६. " " ६३ " १६७

चितवति तहां-जहां नन्दनन्दन सब तो लियो मन काढ़ी ।[1]
परमानन्द प्रभु या जाड़े को देस निकासो दिवाऊं ।[2]
परमानन्द प्रभु या जाड़े को कीजिये मुंह कारो ।[3]

जाड़े को देश-निकाला देना अथवा उसके मुख पर कालिमा पोतना स्थूल रूप में सम्भव नहीं है। जाड़े का मानवीकरण करके उसे देश-निकाला देने का सांकेतिक अर्थ है उष्ण संयोग-सुख के द्वारा शीत की कटुता का निवारण।

विशेषणों और क्रिया-पदों में निहित लक्ष्यार्थ भाव-व्यंजना के सौष्ठव में कितना सहायक हुआ है यह बात निम्नलिखित पद के विभिन्न शब्दों के लक्ष्यार्थ के विवेचन से स्पष्ट हो जाती है—

हरि को मुख कमल पेखें लागति नहीं पलक।
कुमकुम को तिलक बन्यो कुटिल निबिड़ अलक।
मोर मुकुट चन्द्रिका सीस पं मनसिज की ढलक।
स्याम सुन्दर देखन कों आवत जिय ललक।[4]

प्रथम पंक्ति के 'लागति नहीं पलक' पदों में निहित लक्ष्यार्थ सौन्दर्य-मुग्ध व्यक्ति के चित्रांकन में समर्थ है। द्वितीय पंक्ति में 'कुटिल निविड़' विशेषणों से युक्त होकर कृष्ण की अलकें घनी काली और घुंघराली बनकर नेत्रों के सामने आ जाती हैं। तीसरी पंक्ति में लक्ष्यार्थ प्रभाव-व्यंजना में सहायक होता है। कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का आकर्षण ही उनके 'मोर मुकुट में शोभित मनसिज की ढलक' है तथा 'जिय' का 'ललक' कर देखने को आना उनकी उत्सुक आकांक्षाओं का व्यंजक है। लक्षणा के कुछ और उदाहरण देखिये—

जा दिन तें सुन्दर बदन निहारयो।
ता दिन तें मधुकर मनसों में बहुत करी निकरयो न निकारयो।[5]
मुख निरखत भयो चित सूल।[6]
सुन्दर रूप नैन भरि पीवति
प्रान काढ़ि लै चल्यो हमारे।[7]
परमानन्द स्वामी के बिन अब नैन नदी बही।[8]
तुमरे परस बिन वृथा जात हैं मेरे उरज धरे कंचन घट।
नंद गोप सुत जबहि मिलहुगे तबहि होइगो सीस सकुल लट।

1. परमानन्द सागर, पृष्ठ १२५, पद ३६६
2. ,, पृष्ठ १०६ ,, ३२७-३२८
3. ,, पृष्ठ १०५ ,, ३२१
4. ,, पृष्ठ १५१ ,, ४४३
5. ,, पृष्ठ १५५ ,, ४५८
6. ,, पृष्ठ १५५ ,, ४६१
7. ,, पृष्ठ १६८ ,, ४६७
8. ,, पृष्ठ १८२ ,, ५३६

'कंचन घट' का लक्ष्यार्थ उरोजों का गौर-वर्ण और उन्नत कसाव है तथा 'सकुल लट' के प्रयोग के द्वारा विरहिणी गोपिका की बिखरी अलकें और भावी मिलन की घड़ियों में सुव्यवस्थित केश-विन्यास के दो विरोधी चित्र खींचने में कवि समर्थ हुआ है।

## कुम्भनदास

कुम्भनदास के काव्य में अधिकतर विशेषणों तथा क्रियापदों में लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

सब ब्रज अति आनन्द भयो प्रगटे गोकुलचन्द।
फूले आनन्द राइजू फूले जसुमति माइ।
फूली श्री जमुना बहे फूले श्री गिरिराइ।[1]
दोऊ जन भीजत अटके बातनि।[2]
लोचन करमरात हैं मेरे।[3]

निम्नलिखित पंक्तियों में प्रेम-व्यापार की सूक्ष्मता लक्ष्यार्थ के माध्यम से ही व्यक्त हुई है—

मेरो मन तो हरि के संग गयो।
नाँहिन काहू को दोस री माई! नैननि के घाले पर बस भयो।
मोहन-मूरति जिय में बसी।[4]
तू राधे बड़भाग उदित जिनि त्रिभुवन-पति अरुझायो।[5]
कब आवेंगे मेरे गृह में? विधना सों माँगो अंचरा पसार,
कुम्भनदास प्रभु गोवर्द्धन धर, जाइयो चल्यो दोऊ कर झारि।[6]
दिन रात पहार से भये।[7]
धौरी घुमरि गैयनि पाछे आवत ब्रज को प्यारो।[8]

एकाध पदों में प्रतीक-योजना का आधार भी लक्षणा शक्ति रही है—

गुमानी घन! काहे न बरसत पानी?
सूखे सरोवर उड़ि गये हंसा, कमल बेली कुम्हलानी
दादुर मोर पपीहा न बोलत कोयल शब्दनि हानी
कुम्भनदास प्रभु गोवर्द्धन धर लाल गये सुखदानी।

गुमानी घन निष्ठुर नायक का प्रतीक है। उसकी ओर से नायिका की उपेक्षा तथा नायिका पर उसके प्रभाव का वर्णन दूसरी पंक्ति में हुआ है। तृतीय पंक्ति में वृन्दावन की

---

१. कुम्भनदास, पृष्ठ ३, पद ३
२. ,, ,, ४४ ,, ६६
३. ,, ,, ८१ ,, २१८
४. ,, ,, ८५ ,, २३५
५. ,, ,, १०५ ,, ३११
६. ,, ,, १११ ,, ३३३
७. ,, ,, १२० ,, ३६८
८. ,, ,, १२० ,, ३६८

रम्य प्रकृति के ग्रीष्म. द्वारा झुलसे हुये रूप के चित्रण में व्याप्त शुष्कता और दाह का संकेत दिया गया है।[1]

## नन्ददास द्वारा प्रयुक्त लक्षणा शक्ति के विभिन्न रूप

'रासपंचाध्यायी' में वृन्दावन भूमि का सौन्दर्य अंकन करते समय नन्ददासजी की उक्ति इस प्रकार है—

साखा,दल फल फूलनि हरि प्रतिविम्ब विराजे।[2]

कवि के कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक शाखा पुष्प और फल पर कृष्ण की मूर्ति अंकित है बल्कि उसका अभीष्ट यह है कि वृन्दावन की प्रकृति में कृष्ण का सौन्दर्य और उनकी महिमा समाई हुई है, साथ ही वृन्दावन की प्रकृति का सात्विक प्रभाव भी वर्णित है। इसी प्रकार—

ता पर कोमल कनक भूमि मनिमय मोहति मन।[3]

प्राय: सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने नन्द के कनक-आंगन और मणिमय स्तम्भों का वर्णन किया है। यहां रम्य प्रकृति की सात्विकता और निर्मलता को कनक और मणि के प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया गया है। क्रिया-पदों तथा विशेष्य पदों में निहित लक्षणा में ही सामर्थ्य थी कि वे कृष्ण-गोपी-मिलन के प्रसंग को इतना सजीव और प्राणवन्त बना सके—

तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाए।
तब हरि के मन नैन सिमिट सब स्रवननि आये।[4]

कृष्ण की मुरली के अलौकिक संगीत के प्रभाव से आतुर गोपियां कृष्ण से मिलने के लिए चली आ रही हैं। उनके नूपुरों की रुनझुन सुनकर कृष्ण की उत्सुकता का चित्रण लक्षणा द्वारा ही सजीव बन पड़ा है।

पिय के अंग अंग सिमिट मिली छबिले नैननि तब।[5]

सुनि गोपिन के प्रेम-बचन सी आंच लगी जिय।[6]

विरह-दग्ध नायिका की जड़ स्थिति का चित्रण भी लक्षणा के द्वारा ही बड़े कौशल के साथ किया गया है—

विरह भरी युवरी जु होइ तों कछु छबि पावे।[7]

---

१. कुम्भनदास, पृष्ठ १२६, पद ३६२
२. न० ग्र० रासपंचाध्यायी, पृष्ठ ६, दोहा २६
३. ,, रासपंचाध्यायी, पृष्ठ ६, दोहा ३०
४. ,, ,, ,, १०, पद ६६
५. ,, ,, ,, — पद ६७
६. ,, ,, ,, ११, दोहा ८५
७. रूपमंजरी, पृष्ठ २६, पद ४४

'विरह भरी पुतरी' द्वारा नायिका की मानसिक निष्क्रियता और शारीरिक शिथिलता का व्यक्तीकरण करना ही कवि का अभीष्ट है।

इसी प्रकार चरम सौन्दर्य से चमत्कृत और अभिभूत व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक स्थिति का चित्रण भी लक्षणा द्वारा किया गया है। तुलसीदास की 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' के समान ही 'नैननि के नहिं बैन बैन के नैन नहीं जस।'[1] पंक्ति में दो विभिन्न इन्द्रियों की एकतानता की असमर्थता की अभिव्यक्ति सौन्दर्य के प्रति अभिभूत स्थिति का वर्णन करने के लिये ही की गई है। लक्षणा और व्यंजना का संयुक्त चमत्कार इस पद में परिलक्षित होता है।

विशेषण तथा विशेष्य दोनों में ही निहित लक्षणा का संयुक्त रूप भी कहीं-कहीं मिलता है—

रूप गुन भरी लता ये जु सोहत बन मांही।[2]

'रूप गुन भरी लता' से संकेत प्राकृतिक सौन्दर्य और सौरभ से ही है।

रूप और धर्म-साम्य सम्बन्धी अप्रस्तुत योजनाओं में भी अर्थ-सौष्ठव लक्षणा के सहारे व्यक्त हुआ है। नन्ददास की रचनाओं में इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण भरे पड़े हैं। एक उदाहरण लीजिये—

नीरस कवि जे रसहिं न जानें व्याल बाल सम बाल बखानें
भौंहन की छवि रहि मो मनही, बालक मन्मथ की जनु धनुहीं।
छोटी खुभी सुभी जगमगी, काम कलम जनु दंतियां उगी॥[3]

प्रथम पंक्ति में उपमान, रूपमती के घुंघराले केश तथा उपमेय सर्प-शावक में रूप तथा गुण-साम्य की स्थापना लक्षणा के आधार पर की गई है। दूसरी पंक्ति में कवि का अभीष्ट रूपमती की धनुषाकार भौंहों का चित्रण करना उतना नहीं है जितना उसकी चितवन के मादक प्रभाव का वर्णन करना। जिस प्रकार कामदेव के पुष्प-बाण के प्रहार से प्रेमी का हृदय घायल होकर उद्वेलित हो जाता है उसी प्रकार रूपमती के कटाक्ष मर्म-भेदी होते हैं। यह तो हुआ कामजन्य भावनाओं का मधुर पक्ष, काम की मादकता की गहनता और आवेश का अर्थ भी तृतीय पंक्ति में एक विशिष्ट आभूषण द्वारा परिवर्द्धित रूपमती के सौन्दर्य तथा उसके प्रभाव के वर्णन से लक्ष्यार्थ द्वारा सांकेतिक रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। क्रियापदों में निहित लक्ष्यार्थ द्वारा क्रिया-साम्य की योजना नन्ददास की कल्पना और शब्द-प्रयोग-सामर्थ्य की परिचायक है। जैसे-जैसे शैशव का जल समाप्त होने लगता है नैन रूपी मीन इतराने लगते हैं—

---

१. रूपमंजरी, पृ० ३६, चौ० १०६

२. न० ग्र०, श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ० ४३, चौ० ७५

३. न० ग्र० रूपमंजरी, पृ० १२०, चौ० ७०-७२

जिमि जिमि शैशव जल उथुराने, तिमि तिमि नैन मीन इतराने।[1]

अमूर्त के मूर्त विधान के लिये लक्षणा का प्रस्तुत उदाहरण नन्ददास की सूक्ष्म अभिव्यंजना-शैली के सौष्ठव का परिचायक है। मन के हाथ नहीं होते। प्रिय भी अपार्थिव होने के कारण अदृश्य और अप्राप्त है परन्तु नन्ददास की लक्षणा-प्रयोग की शक्ति अपार्थिव के प्रति रागात्मक आकर्षण और तन्मयता की अमूर्त स्थिति को मूर्त स्तर पर उतार लाई है—

निस दिन तिय विनती करति, और न कछू सुहाय।
मन के हाथनि नाथ के पुनि पुनि पकरत पाय॥[2]

नन्ददास द्वारा लक्षणा के कुछ प्रयोगों के उदाहरण इस प्रसंग में प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

मोहन मूरति हीय तें, कहत निकसि जिनि जाय।[3]
सहचरि फूली सी रही, फूली अंगन आय।[4]
सूधो जो कुछ उर गड़ै, सो न कढ़ै दुख होय।
ललित त्रिभंगी जिहि गड़ै, सो दुख जानै सोय।[5]
मन सों कहे कुटिल तू आही अकिलौही उठि पिय पै जाही।[6]
पट नारिनि रंगु अस उपजाये। फाग मनो पहपटिया आयो।

'पहपट' के अर्थ हैं 'उधम'। फाल्गुन के उल्लास और उधम का लक्षणा के द्वारा मानवीकरण करके फाल्गुन के मादक वातावरण का सुन्दर चित्र खींचा गया है। इससे भी अधिक प्रभाव-व्यंजक उदाहरण लीजिये। होली का हुड़दंग समस्त ब्रज में व्याप्त है। स्त्री और पुरुष मदमस्त आनन्दोल्लास में रत हैं। मंजीर और नूपुर की रुनझुन सुरमंडल और डफ की ध्वनि में मिल रहे हैं। काम की फुलझड़ियों के समान कनक-पिचकारियां छूट रही हैं। होली के इस रंगीन वातावरण का विरहिणी नायिका पर क्या प्रभाव पड़ता है?

रंग रंग छिरकै वसन, वरनत वनति न बात।
जनु रति व्याहन रहसि भरि, आई वितनु वरात।[7]

विभिन्न रंगों से स्निग्ध नर-नारियों के वस्त्रों का वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसा जान पड़ता है मानों रति का वरण करने के लिये कामदेव बारात सजाकर आया है। इस पंक्ति में भी निहित अर्थ-सौष्ठव लक्ष्यार्थ द्वारा ग्रहण करना ही सम्भव है अन्यथा नहीं। यहाँ पर

१. रूपमंजरी, पृष्ठ १२२—चौ० ६६
२. „ „ १२६—दो० १७५
३. „ „ १२८—दो० २३३
४. „ „ १३०—दो० २५५
५. „ „ १३३—दो० ३३६
६. „ „ १३४—चौ० ४२-४३
७. „ „ १३६—दोहा ३८१

सामान्यतः फागुन के कामोद्दीपक रूप का तथा विशेषतः रूपमती की उद्दीप्त भावनाओं का वर्णन करना कवि का अभीष्ट रहा है।

### कृष्णदास

कृष्णदास के लक्षणा-प्रयोग में कोई विशेष नवीनता नहीं है—

प्रमुदित फूली अंग न समात।[१]
सात दिवस सुरपति पचि हार्‌यौ,
गोसुत सींग न भींनौ॥[२]
निरखि निरखि मन फूलै।[३]
जै जै कमल बरन, लंपट अलक, जै मधुकरन की माल।[४]

लम्पट अलक और मधुकरन की माल का प्रतीक लक्ष्यार्थ द्वारा ही ग्रहण किया गया है।

क्रियापदों में लक्षणा का प्रयोग अनुकरणात्मक शब्दों में हुआ है।

प्रेमरस गटकी, लोक लाज सब पटकी।[५]
अंग संग लाग मदन मनोहर या जाड़े को देस निकारौ दिवाऊं।[६]

जाड़े के मानवीकरण में लक्ष्यार्थ का वही रूप है जिसकी विवेचना परमानन्ददासजी द्वारा प्रयुक्त इस पद के प्रसंग में की जा चुकी है।

नख सिख रूप मेरे हिये समाये।[७]
मोहन मदन गोपाल लाल सों, अपनो यौवन तोलति।[८]
चाहति मिलन प्रान प्यारे को मेरो मन टकटोलति।
झूमत अलक तेरे कमल वदन पर।[९]
लै चली रसिक घर मंगल कलस री (उरोज)।[१०]

### चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास द्वारा प्रयुक्त लक्षणाओं का रूप भी प्रायः इसी प्रकार का है। उसमें नूतन और सूक्ष्म कल्पना का अभाव है।

---

१. कृष्णदास, पृष्ठ २२६, पद ३
२. ,, ,, २२६ ,, ३
३. ,, ,, २३० ,, २०
४. ,, ,, २३१ ,, २०
५. ,, ,, २३२ ,, २८
६. ,, ,, २३३ ,, ३४
७. ,, ,, २३३ ,, ३५
८. ,, ,, २३५ ,, ४६
९. ,, ,, २३६ ,, ५०
१०. ,, ,, २३६ ,, ५०

नैननि रूप सुधा रस प्यावे ।[1]
जसोमति मन फूले ।[2]
कंठ कठुला ललित लटकन भ्रकुटि मन को फंद ।[3]
नैन कटाच्छ हरत हरिनी मन गिरधर पिय को चित्त चुराई ।[4]
अंग अंग सोभा चितहि चुरावत ।[5]
पिवत नयन पुट तृपति न पावत ।[6]

विविध विशेषणों से युक्त करके विशेष्य पदों का विस्तार लक्षणा के द्वारा किया गया है ।

लटपटी पाग, तिपेची पाग, पाग लपेटी भली,—पाग के साथ इन सभी विशेषणों का प्रयोग कृष्ण के छैला रूप का संकेत करने के लिये किया गया है । बंक बिलोकनु का सौन्दर्य भी इसी लक्ष्यार्थ के कारण है ।

चतुर्भुज प्रभु गिरधर जू की बानिक देखत हैं द्रग भरन ।[7]
लोक कुटुम्ब पछोरि बहायो ।[8]

पछोरि शब्द इस प्रसंग में अत्यन्त सार्थक बन पड़ा है । फटकने पर सार तत्व तो सूप में ही रह जाता है और असार तत्व उड़कर पृथक् हो जाता है । माधुर्य भाव के प्रादुर्भाव के साथ ही लोक-कुटुम्ब के प्रति मोह, लोक-लज्जा सब समाप्त हो जाते हैं । यह लक्ष्यार्थ ही प्रस्तुत प्रसंग में अधिक उपयुक्त ठहरता है ।

परकीया भाव की इस अभिव्यक्ति का सौष्ठव भी लक्ष्यार्थ में ही निहित है—

चितवनि अटक्यो रूप में लज्जा धरी उतारि ।[9]

### छीतस्वामी

छीतस्वामी की रचनाओं में लक्षणा का प्रयोग बहुत कम हुआ है । अधिकतर क्रिया-पदों में ही लक्षणा के उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

अति उदार मोहन मेरे निरखि नैन फूले री ।[10]
कुंडल स्रवननि पर निगम निगम झूले री ।[11]

---

१. चतुर्भुजदास, पृ० ६, पद ८
२. ,, पृ० ६ ,, ९
३. ,, पृ० ७ ,, १०
४. ,, पृ० ५१ ,, ८६
५. ,, पृ० १०५ ,, १८०
६. ,, पृ० १०५ ,, १८७
७. ,, पृ० १०८ ,, १९५
८. ,, पृ० १३५ ,, २६७
९. ,, पृ० १३६, ,, २६९
१०. छीतस्वामी पृ० ३६, पद ८१
११. ,, पृ० ३६, पद ८१

तैं तो फूली-फूली डोलै सोने सदन में।[1]

देखन को जुरि आई सबै त्रिय मुरली नाद स्वाद रस गटकत।

करत प्रवेश रजनी मुख ब्रज में देखत रूप हृदै में अटकत॥[2]

अमूर्त भाव के मूर्त विधान में एकाध स्थल पर लक्षणा का हल्का-सा स्पर्श मिलता है—

मदन नृपति की छाप कपोलनि लागी।[3]

उपर्युक्त पंक्ति में व्यक्त लक्ष्यार्थ नायक और नायिका की काम भावनाओं की उष्णता और तत्सम्बन्धी क्रीड़ाओं का स्थूल चित्र अंकित करने में समर्थ हुआ है।

## गोविन्दस्वामी

गोविन्दस्वामी द्वारा प्रयुक्त लक्षणा का रूप अधिकतर परम्परागत है। कहीं-कहीं उसमें मार्मिक प्रभावात्मकता आ गई है—

चंचल नैन उरज अनियारे तन मन देखियत मदन छाकरी।[4]

नायिका के उभरते हुये यौवन को कामदेव के छाक रूप में प्रस्तुत करने में उसके रूप में कामोत्तेजक तत्व (sex appeal) का संकेत निहित है।

बदन विलोकत भई रांकरी।[5]

'भई रांकरी' पद में नायिका के पूर्ण आत्मसमर्पण का चित्र है।

नैन रहे अकुलाई, निबिड़ अलकावलि, कनक दोहनी[6] इत्यादि सांकेतिक विशेषणों में लक्षणा का ही आग्रह अधिक है।

अष्टछापी कवियों की रचनाओं में लक्षणा का सर्वाधिक प्रयोग क्रियापदों में हुआ है। विशेषणों के लक्ष्यार्थों द्वारा शब्द-चित्र सजीवता के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। विशेष्य पदों में लक्षणा का प्रयोग बहुत कम हुआ है।

## मीरा

मीरा द्वारा प्रयुक्त मुहावरों में लक्षणा का सौंदर्य विद्यमान है। सम्बद्ध प्रसंग में उनके उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं। ऐसा जान पड़ता है कि जब प्रतिपाद्य का रूप पूर्ण रूप से भावपरक तथा अनुभूतिमूलक होता है तो भाषा भी अभिधा के पूर्ण विधान के स्थान पर लक्षणा के अमूर्त विधान का सहारा जागरूक कला-चेतना के अभाव में भी ले लेती है। मीरा की कविता में लक्षणा के हल्के संस्पर्शों से भाषा को शक्ति प्राप्त हुई है।

लक्षणा के ये प्रयोग अधिकतर क्रिया-पदों में हुए हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

---

१. छीतस्वामी पृ० ३६, पद ८८
२. ,, पृ० ५७, पद १३१
३. ,, पृ० ७०, पद १६४
४. गोविन्दस्वामी, पृ० २१, पद ४५
५. ,, पृ० २१, पद ४५
६. ,, पृ० ४५७

वेदन कौन बुतावे, लहर लहर जिय जावे, सूनी सेज जहर ज्यूं लागे, विरह कलेजो खाय, चितवन में टोना, नैन रहे भरांई, अंग भरांई, पलक न पल भर लागी।

इसके अतिरिक्त मीरा की लक्षणा-शक्ति का वैभव इन शब्दों में भी दिखाई देता है—

प्राण अंकोर, निपट बंकट छवि, धूतारा जोगी, ऊभी जोऊं कपोल, प्रेम की आंच जलावे, कसक कसक कसकानी, कलेजे की कोर, कुंडल की झकझोर, मन की गांसुरी।

मीरा की माधुर्य भावनाओं की अभिव्यक्ति में शृंगार प्रतीकों का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर हुआ है। इसमें स्थूल शृंगारिक तत्व अपनी पूर्ण पार्थिवता के साथ विद्यमान है। उनकी आध्यात्मिक व्याख्या भी लक्षणा के द्वारा ही की जा सकती है—

करके शृंगार पलंग पर बैठी रोम रोम रस भीना
चोली केरे बन्द तरकन लागे, श्याम भये परवीना।

तथा

पंचरंग चोला पहिन सखी मैं झिरमिट खेलन जाती
झिरमिट में मोहे श्याम मिले मैं खोल मिलूं तन गाती।

लौकिक और अलौकिक आलम्बन तथा प्रेम का अन्तर भी लक्षणा के संस्पर्श से सजीव हुआ है। निम्नोक्त पंक्तियों में व्यक्त हरि-प्रेम प्याले का स्वाद लक्षणा द्वारा ही लिया जा सकता है—

और तो प्याला पी पी मातो मैं बिन पिये मदमाती,
ये तो प्याला हरी प्रेम की, छकी फिरूं दिन राती।[1]

## ध्रुवदास

सूरदास तथा नन्ददास की भांति ध्रुवदास ने भी इस प्रसिद्ध लक्षणा-मूलक व्यंजना का प्रयोग किया है—

नैननि के रसना नहीं रसना के नहि नैन।[2]

अमूर्त का मूर्तीकरण भी लक्षणा के प्रयोग द्वारा किया गया है—

फूलि फूलि रहे सब फूल फुलवारी में के
रीझि रीझि छवि आइ पाइन में परी है।
× × ×
दीठि सों छुवत सुकुमारता हू डरी है।

इसके अतिरिक्त कुछ सुन्दर लाक्षणिक उपमानों का प्रयोग भी किया गया है जिनका विवेचन 'अप्रस्तुत योजना' के अन्तर्गत किया जायेगा।

अन्य कवियों द्वारा लक्षणा के प्रयोग में भी कोई विशेष नवीनता नहीं है:

प्रानहरें, विवेक सिधारे, दृग श्याम के रूप में द्वार बंधे, जाके हिये मंह लाल गंसे, रंगभर्यो, विलोकनि बांकी, प्रानलच्यो, प्रान लच्यो इत्यादि प्रयोग प्रायः प्रत्येक कृष्ण-भक्त-

---

१. मीराबाई की पदावली, पृ० १००, पद २०
२. रहस्य मंजरी, १५

कवि की भाषा का सहज अंग बन गये थे।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने लक्षणा के अत्यन्त साधारण प्रयोग किये हैं। केवल नन्ददास की रचनाओं में उसके सूक्ष्म रूपों के कुछ प्रयोग किये गये हैं। लाक्षणिक वैचित्र्य और भाषा-भंगिमा उनकी भाषा के विशिष्ट गुण नहीं हैं। बहुत कम स्थलों पर नवीन अप्रस्तुतों और प्रतीकों के प्रयोग में नवीन तथा सूक्ष्म कल्पना के दर्शन होते हैं। लक्षणा-प्रयोग में दुरूहता और क्लिष्ट कल्पना का पूर्ण अभाव है। भाषा की चित्रात्मकता, भाव-व्यंजकता तथा शक्तिमत्ता में लक्षणा का प्रयोग साधन और स्वस्थ रूप में ही हुआ है।

## व्यंजना शक्ति

काव्य-भाषा में व्यंजना का प्रधान रूप से सहयोग वक्र-अभिव्यंजना के क्षेत्र में होता है, यही कारण है कि माधुर्य-गुण-प्रधान कृष्ण-भक्ति-काव्य में इसका चमत्कार केवल विशिष्ट स्थलों पर ही दिखाई देता है। कृष्ण-भक्ति-काव्य के प्रतिपाद्य में बौद्धिक तत्वों और व्यापक जीवन-दर्शन का अभाव है इसमें कोई सन्देह नहीं है परन्तु रागात्मक वृत्तियों का चित्रण करते समय कृष्ण-भक्त-कवियों की दृष्टि सरल, वक्र, कटु सभी प्रसंगों का समावेश करती हुई चली है। लीला-वर्णन के विविध प्रसंगों में उनकी सजग कल्पना और अद्भुत वर्णनात्मक शक्ति ने अनेक सजीव और मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये हैं, ऐसे प्रसंगों में अभिधा और लक्षणा का प्राधान्य रहा है परन्तु इस सरल और सहज प्रतिपाद्य के विदग्ध अंशों को भी वे नहीं भूले हैं। बाल-लीला का माखन-चोरी प्रसंग, राधा-कृष्ण के प्रणय से सम्बद्ध प्रसंग, मुरली-प्रसंग, मान-लीला, खण्डिता-प्रसंग और भ्रमरगीत इत्यादि ऐसे स्थल हैं जहां विभिन्न कवियों ने व्यंजना के चमत्कार द्वारा ही प्रसंग को मार्मिक बनाया है।

बाल-लीला-वर्णन में गोपियों के उलाहनों में प्रेम की ध्वनि का समावेश व्यंजना के द्वारा हुआ है। सूरदास द्वारा लिखित कुछ पंक्तियां देखिये—

> सुनहु महरि अपने सुत के गुन कहा कहौं किहि भांति बनाई।
> चोली फारि हार गहि तोरयो, इन बातनि कहौ कौन बड़ाई।
> माखन खाइ खवायो ग्वालनि, जो उबर्यो सो दियो लुटाई।
> सुनहु सूर चोरी सहि लीन्हीं, अब कैसे सहि जात ढिठाई॥[1]

इस पद में आरम्भ से अन्त तक की पंक्तियों में वाच्यार्थ तो गोपिका के उलाहने का ही व्यक्तीकरण करता है परन्तु इस वाच्यार्थ से अधिक महत्व है उस ध्वनि का जो कृष्ण की छेड़छाड़ के कारण गोपी-हृदय के आन्दोलन और आनन्द की अभिव्यक्ति में समर्थ है। इसी प्रकार निम्नलिखित पद में भी गोपिका के उपालम्भ में उसका प्रणय-स्निग्ध हृदय फूटा पड़ता है—

> देखो माई या बालक की बात।
> बन उपबन, सरिता-सर-मोहे, देखत स्यामल गात

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ९२१—ना०प्र०स०

मारग चलत अनीति करत है हठ करि माखन खात
पीताम्बर वह सिरतें ओढ़त, अंचल दे मुसुकात ।[1]

राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला के प्रसंग में भी व्यंजना का सरल-मृदु प्रयोग हुआ है। राधिका के पुनरागमन प्रसंग में राधा की प्रथम प्रणय-जन्य आकुलता का चित्रण कितनी स्वाभाविकता से हुआ है—

उठी प्रातहीं राधिका, दोहनि कर लाई।
महरि सुता सों तब कह्यो, कहां चली अतुराई।
खरिक दुहावन जाति हौं, तुम्हरी सेवकाई।
तुम ठकुराइन घर रहो, मोहिं चेरी पाई।
रीती देखी दोहनी, कत खीझति धाई।
काल्हि गई अवसेरि के, ह्वां उठे रिसाई।
गाइ गईं सब प्याइ कै प्रातहि नहि आई।
ता कारन मैं जाति हौं अति करत चंड़ाई ।[2]

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत वाच्यार्थ में निहित व्यंग्यार्थ के कारण सप्राणता का समावेश हुआ है—

रीती माठ विलोवई, चित्त जहां कन्हाई।
उनके मन की कह कहौं, ज्यों दृष्टि लगाई।
लैया नोई वृषभ सों गैया विसराई ॥[3]

खाली मटकी को मथने और वृषभ के पग में नोई बांधने के वर्णन का उद्देश्य राधा और कृष्ण की उन्मत्त अस्तव्यस्तता का चित्रण करना ही है।

संयोग-शृंगार के प्रसंग में शृंगार की स्थूलता का वर्णन करने के लिये भी व्यंजना के प्रयोग किये गये हैं। विशेष रूप से वह प्रयोग उन स्थलों पर मिलते हैं जहाँ प्रणय की स्थूल अभिव्यक्ति की आकांक्षा राधा की ओर से व्यक्त की जाती है—

चोरी को फल तुमहिं दिखाऊं
कंचन खंभ डोर कंचन की, देखौ तुमहिं बंधाऊं।
खंटों एक अंग कछु तुम्हरौ, चोरी नाऊं मिटाऊं।[4]

सूर-काव्य में मुरली के प्रति गोपियों का ईर्ष्या-भाव भी व्यंजना के सहारे व्यक्त हुआ है। गोपियों की कृष्ण से दूरी और मुरली का उन पर एकाधिपत्य ही इस स्थिति का निर्माण करता है। मुरली के प्रति कृष्ण का अत्यन्त अनुराग उनके आनन्द में बाधक बनता है। मुरली-प्रसंग के प्रायः समस्त पदों में व्यंजना का वैभव मिलता है। उदाहरण के लिये

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ९५६—ना०प्र०स०
२. ,, ,, पद ७१३ ,,
३. ,, ,, पद ७१६ ,,
४. ,, ,, पद १९३७ ,,

नीचे लिखी पंक्तियां लीजिये। स्त्रियोचित स्वभाव के अनुसार गोपियों का सपत्नी रूप कितनी सरलता और सहजता के साथ व्यक्त हुआ है। इसके व्यक्तीकरण में उन्होंने व्यंजना की सहायता ली है—

सुनहु सखी याके कुल-धर्म।
तैसोइ पिता, मातु तैसी, अब देखो याके कर्म।
ये वरसत धरनी सम्पूरन, सर सरिता अवगाह।
चातक सदा निरास रहत है, एक बूंद की चाह।
धरनी जन्म देत सबही को आपुन सदा कुंवारी।
उपजत फिर ताही में बिनसत, छोह न कछु महतारी।
ता कुल में यह कन्या उपजी, याके गुननि सुनाऊं।
सूर सुनत सुख होइ तुम्हारे, मैं कहि के सुख पाऊं।[1]

नैन सम्बन्धी पदों में भी सूरदास की कला में व्यंजना का सुन्दर रूप मिलता है। नैनों ने ही गोपियों को परवश कर दिया है। अतः वे नेत्रों को अनेक प्रकार से कोसती हैं, उन पर झुंझलाती हैं, लेकिन उनका आक्रोश जितना अधिक कटु और प्रखर होता है उतनी ही उनमें प्रणय की आतुरता, विह्वलता और विवश उन्मत्तता अधिक प्रकट होती है। नैन-समय के सब पदों में व्यंजना का वैभव भरा पड़ा है। कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं—

स्याम रंग रंगीले नैन।
धोएं छुटत नहीं यह कैसेहुं, मिले पघिलि ह्वै मैन।[2]
ऐसो आपु स्वारथी नैन
अपनोइ पेट भरत हैं निसिदिन और न लेने न देने।[3]

भ्रमरगीत-प्रसंग सूरदास ही नहीं सभी कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त व्यंजना का आदर्श उदाहरण-स्थल है। भ्रमरगीत प्रसंग की उद्भावना ही व्यंजना के द्वारा की गई है। विरह की अनुभूति, प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण, कुब्जा के प्रति उपालम्भ, उद्धव की भर्त्सना, योग का तिरस्कार, ये सभी प्रसंग व्यंजना के अनेक उदाहरणों से युक्त हैं। उनका विस्तृत निरूपण यहां असमीचीन है। कतिपय चमत्कारपूर्ण उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि के ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती।

अंक और स्याम शब्दों के व्यंग्यार्थ द्वारा ही इस पद में निहित भावनाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। 'लोचन-जल' और 'कागद-मसि' के मिलने से पत्री के अपठनीय हो जाने में वाच्यार्थ का चमत्कार तो है परन्तु उसमें एक व्यंग्यार्थ भी निहित है। स्याम का पत्र राधा के लिये मानो स्वयं कृष्ण-रूप बन गया है, उसे हृदय से लगाकर राधा को कृष्ण के

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १२५—ना०प्र०स०
२. „ „ पद २२५१ „
३. „ „ पद २२६७ „

अंक लगने का-सा सुख प्राप्त होता है।

प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन लक्षणा और व्यंजना की संयुक्त अभिव्यक्ति के द्वारा विदग्धता से किया गया है—

भूलिहुँ जनि आवहु इहिं गोकुल, तपति तरनि ज्यों चंद।
सुन्दर वदन स्याम कोमल तन, क्यों सहि हैं नंद-नंद।
मधुकर मोर प्रबल पिक चातक वन-उपवन चढ़ि बोलत।
मनहुँ सिंह की गरज सुनत गोवच्छ दुखित तन डोलत।
आसन असन अनल विष अहि सम, भूषन विविध विहार।
जित तित फिरत दुसह द्रुम-द्रुम प्रति धनुष धरे सत मार॥[1]

उद्धृत पंक्तियों में गोपियों का अभीष्ट है कृष्ण को अपनी दुःसह अवस्था का परिचय देना और इस लक्ष्यार्थ में एक व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होता है। यद्यपि प्रथम पंक्ति में वे कृष्ण को ब्रज आने के लिए निषेध करती हैं परन्तु वह निषेध वाच्यार्थ तक ही सीमित रहता है और उसका कोई अर्थ नहीं है। विरह में गोपियों के लिये प्रकृति वैरी हो रही है, कृष्ण यदि ब्रज आये तो उन्हें भी उस दुःख का सामना करना पड़ेगा, परन्तु गिरिवरधारी, पूतना-संहारक और दावानल पान करने वाले कृष्ण के लिये यह विषम परिस्थितियाँ क्या अर्थ रखती हैं? प्रथम पंक्ति की नकारात्मक ध्वनि, व्यंग्यार्थ में स्वीकारात्मक हो जाती है और गोपियाँ कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व के अनुकूल ही मानो यह कहना चाहती हैं कि तुम आ जाओ तो हमारे सब दुःख दूर हो जायें। अतीत में तुमने भयंकर आपदाओं से हमारी रक्षा की है। इस विषम परिस्थिति से भी तुम्हीं उबारो।

निम्नलिखित पद में उद्दीपन रूप में वर्षा-ऋतु का चित्रण करते हुये व्यंजना द्वारा अपनी स्थिति की विषमता का निरूपण सूरदास की गोपियाँ करती हैं—

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।
किधौं हरि हरषि इन्द्र हठि बरजे, दादुर खाये सेषनि।
किधौं उहि देस बगनि मग छाँड़े, घरनि न बूँद प्रवेसनि।
चातक मोर कोकिला उहिं वन बधिकनि बधे बिसेसनि।
किधौं उहिं देस बाल नहीं झूलति, गावति सखि न सुबेसनि।[2]

कृष्ण के देश में वर्षा-ऋतु के आगमन का अभाव वाच्यार्थ रूप में कोई महत्व नहीं रखता। व्यंग्यार्थ उसका यह है कि जिस प्रकार वर्षा-ऋतु के आगमन से हमारी काम-भावनायें उद्दीप्त हो उठती हैं, यदि वर्षा कृष्ण के देश आती तो वे भी हम से मिलने के लिये आकुल हो उठते। इसी व्यंग्यार्थ में एक और भी व्यंग निहित जान पड़ता है। वर्षा के उद्दीपक तत्वों का प्रभाव कृष्ण पर न पड़े ऐसा उन्हें विश्वास ही नहीं होता। व्यंग्य रूप में गोपियों का यह विश्वास निहित जान पड़ता है कि कृष्ण को आना ही पड़ेगा।

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ४०६७—ना० प्र० स०

२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३३१०—ना० प्र० स०

## परमानन्ददास

परमानन्ददासजी द्वारा रचित माखनलीला और उरहाने के पदों में व्यंजना के सरल-सहज स्पर्श मिलते हैं। उनमें प्रायः वे सभी विशेषतायें मिलती हैं जो सूरदास के पदों में हैं। गोपियाँ यशोदा को उलाहना दे रही हैं परन्तु कृष्ण के प्रति उनका सहज प्रेम 'कन्हाई', 'तेरे ही लाल', 'अनोखो पूत' इत्यादि शब्दों में झलकता रहता है—

दूध दही की कीच मची है दूरि ते देख्यो कन्हाई।[1]
तेरे ही लाल मेरो माखन खायो।[2]

इन पंक्तियों में यशोदा-नन्दन नहीं गोपी-कृष्ण का चित्र उभर आता है। परमानन्ददासजी ने प्रायः इन सभी पदों में अपनी ओर से गोपियों की प्रेमासक्ति के विषय से कुछ कहकर प्रथम पंक्तियों में की हुई व्यंजना को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है। यदि ऐसा न भी किया जाता तो भी गोपियों के मधुर भाव की ध्वनि उनके उपालम्भों में स्पष्ट ध्वनित होती है—

मारग में कोउ चलन न पावत लेत हाथ तें दूध मरोर।
समझ न परत या ढोटा की रात दिवस गौरस ढंढोर।
आनन्दे फिरत फाग सो खेलत, तारी देत हँसत मुख मोर।

इन पंक्तियों में कृष्ण की नटखट लीलाओं के प्रति गोपी हृदय का आकर्षण अनायास ही व्यक्त होता जान पड़ता है।

विरह-वर्णन के लिये भी अनेक स्थलों पर परमानन्ददासजी ने व्यंजना का सहारा लिया है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर व्रज का जीवन कितना जड़, निष्क्रिय और नैराश्य-पूर्ण हो गया है—निम्नलिखित पद की एक-एक पंक्ति में पृथक्-पृथक् व्यंग्यार्थ निहित हैं—

व्रज की औरे रीत भई।
प्रात समय अब नाहिन सुनियत घर-घर चलत रई।
ससि की किरन तरनि सम लागत जागत निसा गई।
उद्भट भूप मकर केतन की आग्या होत नई।
वृन्दावन की भूमि भामती, ग्वालिन्ह छाँड़ि दई।
परमानन्द स्वामी के बिछुरे, विधि कछु और ठई॥[3]

द्वितीय पंक्ति में प्रातःकाल व्रज की गृह-लक्ष्मियों द्वारा चलाई गई रई की 'घर-घर' ध्वनियों के अभाव में कृष्ण के व्रज-निवास-काल के विपरीत एक स्तब्ध और नीरव सन्नाटे की ध्वनि छिपी हुई है। तृतीय पंक्ति में गोपिकाओं का विरह व्यंजित है। दिन तो किसी प्रकार व्यतीत हो जाता है पर रात्रि की नीरवता में कृष्ण की स्मृति वेदना बनकर छा जाती है। चन्द्र की किरणें उन व्यथित भावनाओं को उद्दीप्त कर देती हैं। तृतीय पंक्ति का व्यंग्यार्थ कुछ और ही उद्देश्य से संयोजित किया गया है। काम-तत्व, कृष्ण के रहते हुए भी विद्यमान

---

१. परमानन्ददास, पृष्ठ ४८, पद १४५
२. ” पृष्ठ ४६, पद १४७
३. परमानन्द सागर, पृष्ठ १८१, पद ५३३—गो० ना० शुक्ल

रहता था परन्तु कामजन्य भावनायें सुखद होती थीं। कृष्ण के अनुग्रह से काम उनके जीवन की सबसे बड़ी विभूति बनकर आता था परन्तु अब तो काम-रूपी नृपति की आज्ञाओं का रूप ही बिल्कुल नया हो गया है। इस कथन के व्यंग्यार्थ में विरह-जन्य विषमताओं का संकेत निहित है। चतुर्थ पंक्ति का व्यंग्यार्थ कृष्ण के चले जाने के बाद जीवन के प्रति व्रजवासियों की निरपेक्षता का संकेत करता है।

दिन और रात्रि का विषम भार-वहन निम्नलिखित दो पंक्तियों में भी द्रष्टव्य है। रात्रि की विकलता और दैनिक जीवन के प्रति निरपेक्षता इन दोनों पंक्तियों में ध्वनित होती है।

जागत जाम गिनत नहिं खूंटत क्यों पाऊँगी भोरे।
सुनरी, सखी अब कैसे जीजै सुन तमचुर लग रौरे।[1]

कृष्ण के अभाव में गोपियों के अस्तव्यस्त और शिथिल जीवन तथा व्यक्तित्व का एक संश्लिष्ट चित्र व्यंजना के कौशल से प्रस्तुत किया गया है—

व्याकुल वार न बांधति छूटे।
जब तें हरि मधुपुरी सिधारे उर के हार रहत सब टूटे।
सदा अनमनी विलख बदन अति यहि ढंग रहति खिलौना फूटे।
विरह बिहाल सकल गोपीजन, अभरन मनहुँ बटकुटन लूटे।
जल-प्रवाह लोचन तें बाढ़े वचन सनेह अभ्यन्तर घूटे॥[2]

केशों और अलंकारों की अस्तव्यस्तता में आंसुओं से मुंह धोती हुई विरहिणी का अस्त-व्यस्त हृदय ही मानों व्यक्त हो गया है।

## कुम्भनदास

दान-प्रसंग के अनेक पदों में कुम्भनदास द्वारा प्रयुक्त व्यंजना का सौष्ठव दर्शनीय है। लक्षणा पर आवृत व्यंजना का एक उदाहरण देखिए—

बैन मुख सों बोल, नैकु घूंघट खोल
यह सुनि ग्वालिनी मन हीं मुस्काति है।
कुचनि अंचल ढांकि लगी मोतिनि पांति,
भरे रस कलस दोउ, मदन ललचाति है।

यौवन के उभार का यह उष्ण चित्र प्रस्तुत करने के बाद दान-प्रसंग के बहाने कृष्ण के हृदय में राधा के सौन्दर्योपभोग की आकांक्षा व्यक्त की गई है। आकांक्षा में स्थूलता अवश्य है पर स्वाभाविकता का अभाव नहीं है—

नेकु रस चाहिये अंचल के कलस को
कृपा करि प्यारी! अब कहा कछु बाति है।

---

१. परमानन्द सागर, पृ० १८६, पद ५५८—गो० ना० शुक्ल
२. ” पृ० १९१, पद ५६२ ”

स्याम सुन्दर लह्यो, दास कुंभन कह्यौ
सौंह ब्रजराज की, दान-दधि खाति हैं ।[1]

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित पद में भी 'गोरस' में इन्द्रिय रस की ध्वनि पूर्ण रूप से स्पष्ट है। हास, विनोद-प्रसंग के इस पद के व्यंग्यार्थ में कृष्ण की नटखट किशोर क्रीड़ा की ध्वनि निहित है—

ग्वालिनि ! तैं मेरी गेंद चुराई ।
अब ही आइ परी पलका पै अंगिया बीच दुराई ।
रहौ गोपाल ! झूठ जनि बोलौ, एते पर कहा सीखे चतुराई ।[2]

इन स्थूल रूपों के अतिरिक्त सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये भी व्यंजना का साहाय्य सफलता के साथ ग्रहण किया गया है। लक्षणा पर आधृत व्यंजना का प्रस्तुत उदाहरण इस कथन की पुष्टि करेगा—

कहति तू तौ नैननि ही मां बतियां ।
मानहु कोटिक रसना इन महं रचि घाली बहुत भतियाँ ।
हम सौं कौन चांड़ व्रज सुन्दरि ! छांड़ि विकाज बिनतियाँ ।
ए भये चपल बसीठ चतुर अति जानत सकल जुगतियाँ ।
जो तरंग उपजत चित अंतर सोइ मिलवत विधि मतियाँ ।
सुन्दर स्याम मदनमोहन की तकँ रहति हैं घतियां ।
आपुनि करति मनोरथ पूरन सदा परम सुख छतियां ।
कुम्भनदास गिरिधरन लाल के बसति जीउ बिन रतियां ।।[3]

नेत्रों की व्यंजक शक्ति, कृष्ण के दर्शन के लिए उनकी आतुरता और उनके दर्शन से प्राप्त तृप्ति, इन सब पक्षों की एक साथ अभिव्यक्ति लक्षणा और व्यंजना की संयुक्त योजना के द्वारा ही सम्भव हो सकी है।

मान-प्रसंग में भी एक स्थान पर नैनों की व्यंजकता पर मार्मिक पद-योजना की गई है। दूती-वचन है—

जब ये नैनाइं तेरे करति बसीठी ।
इह नागरि ! जानति हौं तातें अब मेरी बात लागति है सीठी ।
कुम्भनदास प्रभु तुव रस बस भये कहि न सकति कारुई अरु मीठी ।।[4]

अब तो तेरे नेत्र ही दूत-कार्य करने लगे हैं। व्यंग्यार्थ है, प्रेम चरम सीमा तक पहुंच गया है जहां नेत्र ही प्रिय को हृदय का संदेश बता देते हैं। द्वितीय और तृतीय पंक्तियों के प्रेम में विवेक के अभाव की ध्वनि स्पष्ट है।

---

१. कुम्भनदास, पृष्ठ ६, पद १४—वि० वि० का०
२. ,, पृष्ठ ५७, पद १४० ,,
३. ,, पृष्ठ ७४, पद १६३ ,,
४. ,, पृष्ठ ६६, पद २४६ ,,

नन्ददास

नन्ददास की व्यंजना का उत्कृष्ट रूप भ्रमर-गीत के अन्तर्गत 'कृष्ण-प्रति उपालम्भ' तथा 'भ्रमर-प्रति उपालम्भ' अंश में मिलता है। कृष्ण के अलौकिक कृत्यों का जो तिरस्कारात्मक वर्णन गोपियां करती हैं, वाच्यार्थ में वे निरर्थक हैं। उनके तीक्ष्ण वचनों और भर्त्सनाओं के एक-एक शब्द में कृष्ण के प्रति उनकी आकुल भावनायें बिखरी पड़ती हैं। भ्रमरगीत के प्रारम्भ में तो नन्ददास की गोपियां दर्शनशास्त्र की ज्ञाता-सी जान पड़ती हैं परन्तु कृष्ण के प्रति व्यक्तिगत स्तर पर उपालम्भ देते हुये वे मात्र नारी ही रह जाती हैं। उपालम्भ का आरम्भ आंसू भरी विवश उक्तियों द्वारा होता है परन्तु कुछ ही देर पश्चात् वह दुर्बल व्यक्ति के शस्त्र व्यंग्यों का रूप धारण कर लेता है। वर्तमान की विषमता का आरोप वे तार्किक स्तर पर कृष्ण के अतीत चरित्र पर भी करने लगती हैं, पर उन भर्त्सनाओं में भी उनका प्रेमाकुल हृदय फूटा पड़ता है। विभिन्न गोपियां इस वक्र-अभिव्यंजना में अपना-अपना योग देती हैं। एक कहती है—

> कोउ कहैं ये निठुर इन्हें पातक नहीं व्यापै।
> पाप-पुण्य के करनहार ये ही हैं आपै।
> इनके निरदै रूप में नाहिन कोऊ चित्र।
> पय प्यावत प्रानन हरे पुतना बाल चरित्र।
> मित्र ये कौन के ?[1]

बाल-रूप में ही निर्दयता के प्रतीक रूप में कृष्ण का वर्णन करते हुये गोपियां ताड़का-वध को भी निमित्त बनाती हैं। परन्तु दोनों ही प्रसंगों में कृष्ण का दनुज-दलन रूप ही प्रधान हो जाता है।

सूर्पणखा वध, नृसिंहावतार, वामनावतार, रुक्मिणी-हरण इत्यादि प्रसंगों को लेकर भी नन्ददासजी की गोपियां तीक्ष्ण प्रहार करती हैं परन्तु उन प्रहारों की प्रबलता में उनकी प्रणय-सहज दुर्बलता ही बोल उठती है। उपालम्भ की कर्कशता में उनके हृदय का माधुर्य व्यंजना के माध्यम से ही नन्ददासजी व्यक्त करने में समर्थ हो सके हैं। कृष्ण के व्यक्तित्व का राम के व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य करके गोपियां सूर्पणखा-प्रसंग को निमित्त बनाकर कितना प्रबल प्रहार करती हैं—

> कोउ कहै ये परम धर्म इस्त्रीजित पूरे।
> लघु लाघव सन्धान करैं आयुध के सूरे॥
> सीता जू के कहे ते सूपनखा पै कोपि।
> छेदे अंग विरूप करि लोगनि-लज्जा लोपि॥
> कहा ताकी कथा॥[2]

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, भंवरगीत, पृ० १८०, पद ३५—ब्रजरत्नदास
२. " " पृ० १८१, पद ३७ "

'इस्त्रीजित' और 'सीता जू के कहे ते' शब्दों द्वारा व्यंजित अर्थ प्रसंग के बहुत अनुकूल बन गया है।

इन सभी प्रसंगों में कृष्ण के व्यक्तित्व की अलौकिकता के द्वारा गोपियों का प्रेम प्रगाढ़तर होता जान पड़ता है।

कुब्जा के प्रति ईर्ष्या-भाव तथा उद्धव के योग-कथन की निस्सारता की ध्वनि में व्यंजना का सहज स्वाभाविक परन्तु मर्मवेधी प्रयोग नन्ददास के काव्य में हुआ है।

कोउ कहै रे मधुप तुम्हैं लाजौ नहिं आवत।
स्वामी तुम्हरो स्याम कूबरी दास कहावत।
इहां ऊंचि पदवी हुती गोपीनाथ कहाय,
अब जदुकुल पावन भयौ दासी जूठन खाय।[1]

मधुपुर के लोगों के प्रति गोपियों के व्यंग्य-वचनों के एक-एक शब्द जैसे उन्हें काटने दौड़ते हैं—

कोउ कहै री सखी साधु मधुवन के ऐसे।
और तहां के सिद्ध लोग ह्वै हैं धौं कैसे।
औगुन ही गहि लेत हैं अरु गुन डारें मेटि
मोहन निर्गुन क्यों न हों, उन साधुन को भेंटि।[2]

नन्ददास के खंडिता-प्रसंग के अनेक पदों में व्यंजना का उत्कृष्ट रूप मिलता है। एक उदाहरण लीजिये—

जागे हो रैन सब तुम नैना अरुन हमारे।
तुम कियो मधुपान, घूमत हमारो मन, काहे तें जु नन्द दुलारे ?
उर नख चिह्न तिहारे, पीर हमारे, सो कारन कहु कौन पियारे,
नंददास प्रभु न्याय स्यामघन बरसत अनत जाय हम पै झूम झुमारे।[3]

किसी अन्य नायिका के साथ रमण करके भोर में नायक के लौटने पर नायिका कहती है—"रात्रि में जागरण तुमने किया है परन्तु नेत्र मेरे लाल हैं, नख-क्षतों के व्रण तुम्हारे वक्षस्थल पर लगे हैं परन्तु पीड़ा मुझे हो रही है, इसका कारण जानते हो क्या है ?" नायक के दूसरी नायिका के साथ रत रहने की कल्पना करके नायिका रात भर जागकर रोती रही है। इस अप्रिय प्रसंग के कारण उसका मन उद्वेलित हो रहा है। एक ओर नायक की रति-क्रीड़ा में उसके सुख-विलास की ध्वनि स्पष्ट है दूसरी ओर नायिका द्वारा अकेली शैय्या पर अप्रिय प्रसंग की कल्पना के कारण रात भर करवटें बदलकर उच्छ्वासों और आँसुओं के संसार में रहने का चित्र भी स्पष्ट है। नन्ददास की समर्थ व्यंजना-शक्ति के कारण ही यह सम्भव हो सका है। खण्डिता-प्रसंग के प्रायः सभी प्रसंगों में यह प्रखर वैदग्ध्य दिखाई पड़ता है।

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १८३, पद ४७
२. „ पृ० १८५, पद ५६
३. „ पृ० ३५५, पद ६१

दानलीला-प्रसंग के पदों में भी लक्षणा, व्यंजना और अभिधा के संयुक्त चमत्कारों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

ऐसी को है जो छुवै मोरी मटकी अछूती दहेड़ी जमी,
विन मांगे दियो न जाइ, मांगे ते गारी खाय,
केतिक करीं उपाइ मेरे घों गोरस की है कहा कमी
औरन को दह्यो छिलछिलो लागत।
मैंने तो औटाइ जमायो रुचि रुचि भरि फै तमी ?
नंददास प्रभु वड़ीइ खवैया नंद को छैया,
मेरे ही गोरस में वहुत ही अमी।[1]

अभिधा में इस प्रसंग का अर्थ स्पष्ट है। प्रतीक-विधान के द्वारा अछूती दहेड़ी राधा के अछूते शरीर की तथा गोरस उसके यौवन का प्रतीक है। नायिका की गर्वोक्ति है—'मैं रूपवान हूं, सुन्दर हूं, अपने यौवन को संजोकर, सहेज कर रखा है, मेरे सौन्दर्य में अमृत है,' इस प्रतीक-विधान में व्यंग्यार्थ है। कृष्ण के प्रति उसकी आकुल प्रणय-आकांक्षा तथा उनसे प्रत्युत्तर पाने की अभिलापा इन पंक्तियों में व्यक्त है।

मान-लीला सम्बन्धी पदों में भी व्यंजना शक्ति का प्रयोग नन्ददासजी ने सार्थक रूप में किया है। एक उदाहरण लीजिये—

दौरी दौरी आवत, मोहि मनावत,
दाम खरचि मनो मोल लई री।
अंचरा पसारि कैं मोहि खिजावत,
तेरे ववा की का हौं चेरी भई री।
जा री जा सखि भवन आपुने,
लाख वात की एक कही री।
नंदवास प्रभु क्यों नहि आवत,
उन पांयन कछु मेंहरी वई री॥[2]

'भीतर से मिलाप की चिन्ता और वाहर से रूखा व्यवहार' इस पद में आरम्भ से अन्त तक व्यक्त है। दूती से नायिका कहती है, तुम मुझे वार-वार कृष्ण के पास जाने को कहती हो, मैं क्यों जाऊं, क्या उनके पैरों में मेंहदी लगी है ? और उसका यह वाक्य प्रथम पंक्तियों की कर्कशताओं और भर्त्सनाओं में मिलन की उत्कट अभिलापा का स्पर्श दे देता है।

## चतुर्भुज स्वामी

चतुर्भुजदास द्वारा संयोजित कृष्ण के प्रति गोपियों की मुग्ध भावनाओं का उपालम्भ भी वरवस मधुर हो गया है, माधुर्य का यह स्पर्श देने में व्यंजना का वहुत वड़ा योग रहा है—

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० ३६१, पद ११३
२. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० ३६७, पद १३६

सुनहु घौं अपने सुत की बात।
देखि जसोमति कानि न राखत लै माखन दधि खात।
भाजन मांजि ढारि सब गोरस बांटत है करि पात।
जो बरजों तो उलटि डरावत चपल नैन की घात।
जो पावत सो गहत सहज हठि कहत हौं नहि सकुचात।
हौं संकुचित अंचर कर धारिकै रही ढांपि मुख गात।
गिरधरलाल हाल ऐसे करि चले धाइ मुसकात॥[1]

चतुर्भुजदास के मुरली-प्रसंग के पदों में भी व्यंजना का चातुर्य मिलता है। एक पद उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

ऐ मोहन बंसी तेरी जानी।
ये वेपीर पीर नहि जानत बात करत मनमानी।
आपुन ही तन छेव कराये नेकु न जिय हैरानी।
ताही ते वस भयो सांवरे, करत अधर रस पानी।
लोक-लाज कुल-कान तजी सब बोलति अमृत बानी।
चतुर्भुजदास जदुपति प्रभु की यातें भई पटरानी।[2]

अभिधा रूप में प्रस्तुत पद का कोई अर्थ नहीं है। बंसी कृष्ण की कृपापात्री है इसीलिये गोपियां उसके प्रति ईर्ष्या रखती हैं। सूरदास ने गोपियों द्वारा मुरली के माता-पिता को भी अपशब्द कहलवाने के बाद उसकी महत्ता की स्थापना की थी। चतुर्भुजदास जी ने उसे प्रेमासक्त भक्त का प्रतीक माना है। गोविन्द स्वामी की निर्लज्जा बांसुरी चतुर्भुजदास की श्रद्धा की पात्री बन गई है, उसके परकीयत्व के प्रति लोकापवाद मानों भक्तों के भगवान के प्रति भक्ति के कारण उठते हुये लोकापवाद हैं। दुनियां की रीति है बातें बनाना इसीलिये मुरली के प्रति कृष्ण के अनुराग के कारण अनेक लोकापवाद हो रहे हैं। परन्तु मुरली की साधना की गहनता और तीव्रता ने उसे कृष्ण के अधर-मधु को पान करने का अवसर प्रदान किया है। ऊपर उद्धृत पद में ध्वनित यह व्यंग्यार्थ ही इन पंक्तियों को महत्व प्रदान कर सका है। मिपान्तर-दर्शन सम्बन्धी एक पद में व्यंग्यार्थ के द्वारा प्रथम प्रणय-जन्य आकुलता का मार्मिक चित्र खींचा गया है। गोपी प्रातःकाल ही नन्दद्वार पर आने के लिये यशोदा के सामने कारण प्रस्तुत कर रही है—

नींद न परी रैनि सगरी मुंदरिया ही मेरी जु गई।
याही तें छटपटाय झुकि आई चटपटी जिय में बहुत भई।
तुम्हरो कान्ह पनघट खेलत ही बूझहु महरि हँसि होइ लई।
बिसरत नहीं नगीनां चोखो हृदै ते टरत न झलक नई॥[3]

---

१. चतुर्भुज स्वामी, पृ० ८८-८९, पद १५०—वि० वि० कां०
२. चतुर्भुज स्वामी, पृ० १०८, पद १८०—वि० वि० कां०
३. „ पृ० ९१, पद १५५ „

मिपान्तर-दर्शन के इस वर्णन में लक्षणा पर आधृत व्यंजना दर्शनीय है। सुंदरी गोपिका के हृदय की तथा चौंकि नगीने की झलक कृष्ण के सौन्दर्य और व्यक्तित्व की प्रतीक है। प्रणय की मादक और विदग्ध उद्विग्नता ही उसका व्यंग्यार्थ है।

खंडिता-प्रसंग के समस्त पदों का व्यंग्यार्थ नायिका के साथ रतिक्रीड़ा करके लौटे हुए नायक के प्रति उपालम्भ है। परन्तु खंडिता नायिका उसे प्रत्यक्ष शब्दों में उपालम्भ न देकर रति-चिह्नों के वर्णन द्वारा अपने हृदय के दाह को व्यक्त करती है। इस प्रसंग में अनेक पद हैं परन्तु सभी में एक ही भाव की आवृत्ति की गई है। एक पद उदाहरण के लिये यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

आलस उनींदे नैना घूमत आवत मूंदे
अधिक नीके लागत अरुन बरन।
जागे हो सुन्दर स्याम रजनी के चार्‍यो जाम
नेक हू न पाये मानो पलक परन।
अधरनि रंग-रेख उरहिं चिन्ह विसेष
सिथिल अंग डगमगत चरन।
चतुर्भुज प्रभु कहां बसन पलटि आये?
सांचोये कहो गिरिराज धरन ॥[1]

चतुर्भुज प्रभु गिरधर अब दर्पनु लै देखिए
सेंदुर को तिलकु, सुभग अधर-मति सौं कारे ॥[2]

## गोविन्द स्वामी

गोविन्द स्वामी की व्यंजना के प्रयोग दान-लीला प्रसंग में मिलते हैं। वक्र उपालम्भों में ध्वनित गोपियों की माधुर्य-भावना की व्यंजना के दो उदाहरण लीजिये। स्त्रियों के निषेध की दुर्बलता प्रसिद्ध है। वही 'स्त्री की ना' हमें इन पदों में दिखाई पड़ती है—

कुंवर कान्ह छांटों हो ऐसी बतियां
कितव करत बरियाई।
ज्यों ज्यों बरजत त्यों त्यों होत अचगरे—
डगर में रोकत नारि पराई।
दूध दही को दान कबहूं न सुन्यो कान—
तुम यह नई चाल चलाई ॥[3]

---

१. चतुर्भुज स्वामी, पृ० १३२, पद २३८—वि० वि० कां०
२. ,, पृ० ३४५, पद २६५ ,,
३. गोविन्द स्वामी, पृ० १६, पद ४०—वि० वि० कां०

दूसरे पद में तो यह व्यंग्यार्थ ही प्रबल हो जाता है। वाच्यार्थ की वक्रता उसके माधुर्य में लुप्त होती-सी जान पड़ती है—

> तुम पेंड़ोई रोके रहत कसेंक आवें जाहि व्रजवधू
> अब तुम ही विचारि देखो परम सुजान।
> ऐसी अटपटी कित देत हो जु लाड़ले कुंवर,
> जो कबहूँ परें व्रजराज के कान।
> गोविन्द प्रभु सों कहति प्यारी की सखी,
> तुम धों नेंकु इस उसरो हमें देहु धों जान॥[1]

मुरली सम्बन्धी पदों में गोपियां मुरली की चौर वृत्ति का वर्णन करती हैं। परन्तु इस सर्वस्व अपहरण में निहित व्यंग्यार्थ है राधा का कृष्ण की मुरली-वादन के प्रति चरम आसक्ति। सखी की उक्ति कृष्ण के प्रति है—

> बरजत क्यों जु नहीं हो लालन अपनी मुरली कों—
> हमारी सखीन को सर्वसु चुरावत।
> स्रवन द्वार ह्वै पैठति, चित भंडार खोलति—
> निधरक ह्वै धीरज ध्यान लै आवत।
> रोम पुलकि आगे, अँसुवा पुकार लागे,
> तेऊ अन्त नहिं पावत।
> गोविन्द प्रभु भले जु भलोई न्याव देख्यो—
> ता पर रीझि अधर मधु प्यावत॥[2]

अष्टछाप के शेष कवियों तथा पूर्व-मध्यकालीन राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं में व्यंजना-प्रयोग अत्यन्त विरल तथा साधारण कोटि का है। अनावश्यक विस्तार-भय से उसका विश्लेषण नहीं प्रस्तुत किया जा रहा है।

### रसखानि

रसखानि के वैदग्ध्य में ध्वनि की अपेक्षा उक्ति-वैचित्र्य अधिक है। कृष्ण के सलौने रूप और बाँकी अदा पर गोपिका मुग्ध हो गई है। कृष्ण का सौन्दर्य न देखते बनता है न कहते। 'कुल कानि' की उपेक्षा करके उसकी भावनाएं कृष्ण के चरणों पर समर्पित हो जाना चाहती हैं, परन्तु किशोरी की लज्जा ने आकर मानों बात ही बदल दी। इन पंक्तियों में उसी एक क्षण की भूल का पश्चात्ताप ध्वनित है—

---

१. गोविन्द स्वामी, पृ० १६, पद ४०—वि० वि० कां०

२. ,, पृ० १४५, पद ३४४ ,,

आइ गई अलबेली अचानक ए भटू लाज को काज कहा तो ।[१]

किशोरावस्था की ओर अग्रसर होती हुई बालिका की भावनाओं में संधि-स्थिति की अल्हड़ता और चंचलता की ध्वनि इस पंक्ति में मिलती है—

बैस चढ़े घर ही रहि बैठि अटानि चढ़े बदनामि चढ़ैगी ।[२]

सपत्नी-ज्वाला से अपने आप में ही जलती हुई अबला की विवश भावनाओं के व्यक्तीकरण में भी व्यंजना सहायक सिद्ध हुई है—

सौतिन भाग बढ्यो ब्रज में जिन लूटत है निसि रंग घनेरी
मों रसखानि लिखी बिधना मन मारिकै आपु बनी हौं अहेरी।[३]

मैं तो स्वयं ही अपनी अहेरी बन गई हूं । एक तो कृष्ण के सौन्दर्य से आहत और दूसरे सपत्नी-ज्वाला को मन ही मन दबाने के कारण मैं स्वयं ही अपनी शत्रु बन गई हूं ।

## रीतिकालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य में शब्द-शक्तियों का प्रयोग

रीतिकालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिधा का प्राचुर्य है। घनानन्द एकमात्र अपवाद हैं जिनकी रचनाओं में अभिधात्मक ऋजुता अपेक्षाकृत गौण है । शेष कवियों की रचनाओं में लक्षणा और व्यंजना की मात्रा बहुत कम है । विशिष्ट प्रसंगों में उनका अत्यन्त साधारण रूप दिखाई देता है। रूपरसिक देव की 'रूपगर्विता' के अभिमान की ध्वनि ही इस पंक्ति में प्रधान है —

हो घनस्याम भरी जिन मो तन चोवा छिरकन भोरे ही
अपने रंग मिलाये ही चाहत सहत नहीं काहू गोरे हीं ।[४]

तुम श्यामवर्ण हो इसलिये गौरांगनाओं को भी चोवा में रंग कर श्याम बना देना चाहते हो। आखिर तुम काले दूसरों के गौर वर्ण को कैसे सहन कर सकते हो ? रूप-गर्व की अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में ध्वनित है ।

गोपियों की खीझ और उपहास में व्यंजनापूर्ण उक्ति-वैदग्ध्य है—बलराम और कृष्ण गोपियों को छका कर भाग रहे हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में गोपियों की खीझ और ललकार की ध्वनि की अभिव्यक्ति व्यंजना द्वारा की गई है—

---

१. रसखान, पृ० २२, सवैया ६७
२. ,, पृ० २३, पद ७३
३. ,, पृ० २२, पद ६६
४. नि० मा०, रूपरसिक देव, पद २, पृ० १००

दुरि मुरि खेल कहा यह खेलत खरे रहो नेकु सम्मुख दोऊ।[1]

नागरीदास द्वारा प्रयुक्त व्यंजना के कुछ उदाहरण यहां अप्रासंगिक न होंगे। गुरुजनों की लज्जा के कारण मोहन के दर्शन में असमर्थ गोपिका की भावनाओं के उद्रेक का व्यक्तीकरण है—

पाछें गोपाल आगे गुरु लोग रही अति लाजनि सों दबि नीठ में
ग्रीव फिरायन चाहि तकी मुरि सोंहें न आये वे मेरीए दीठ में
नागर प्यारे के देखनि कों सखि बात में आनी यही उर नीठ में
आंखें भई मुख पर किहि काज या बेर क्यों आंखें भई नहि पीठ में।[2]

उक्ति-वैचित्र्य और भाव का ऐकात्म्य ही इस उक्ति का सौन्दर्य है।

सखी की यह उक्ति भी व्यंजनामूलक ध्वनि से युक्त समर्थ का उदाहरण है—

पानन को रंग मिटि आनन पें रंग चढ़्यो
तू ही मोती माल उर आनन्द हू सरस्यो
स्वेद हैं कि नीर तन चहुंटत चीर तेरे
नागरिया आज कहूँ मेह हू न बरस्यो
तो कुल की सौंह कहि आजु मद मोकल या
गोकुल को जीवन गुपाल कहूँ परस्यो॥

कृष्ण के साथ क्रीड़ा करने के कारण नायिका के होंठों पर पान का रंग तो फीका पड़ गया है, परन्तु रति-सुख जन्य अनुराग का रंग मुख पर दिखाई दे रहा है। पान के रंग के छूटने तथा मुख पर उसके चढ़ने की कल्पना में उपर्युक्त दोनों तथ्यों की ध्वनि विद्यमान है। नायिका का शरीर रति-श्रम-जन्य स्वेद से युक्त है; सखी कहती है—आज तो कहीं पानी भी नहीं बरसा तुम्हारे शरीर की यह क्या दशा हो रही है ? ध्वन्यात्मक संकेतों के कारण ही एक स्थूल प्रसंग को आवृत्त करके प्रस्तुत करने में कवि समर्थ हो सका है।

दृष्टकूट शैली में लिखे गये पदों में जहां राधा और कृष्ण के अंग-प्रत्यंग पर उपमानों का सांगोपांग आरोपण किया गया है, व्यंजना का एक दूसरा रूप भी मिलता है। जैसे—

अलौकिक वृक्ष विलोको आज
फलो फरो हरो नव रंग मंजुल मृदुल समाज।
थर पर कमल कमल पर कदली, कदली ऊपर सुरूं
सुरूं ऊपर सुभग मनोहर नारिकेल रस पुरूं
नारिकेल पर फूल रवि मुखी पांच फूल ता मांही
जया कुंद तिल महुआ अम्बुज उपमा को कछु नाहीं।[3]

---

१. नि० मा०, रूपरसिक देव, पद ८, पृ० १०१
२. नि० मा०, पृ० ६२१, पद १३—नागरीदास
३. नि० माधुरी, पृ० ३६२, पद २६—भगवत रसिक

ब्रजवासीदास ने इस प्रकार की योजना करते समय सूरदास का आधार ग्रहण किया है। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

> एक अनूपम बाग स्वर्ण वर्ण नहिं जात कहि
> उपजत अति अनुराग, अति विचित्र मानक बन्यो।
> युगल कमल अति अमल विराजें, तापर राजहंस छवि छाजें
> द्वै कदलीतरु तापर सोहैं, चिन दल फल उलटे मन मोहैं
> तापर मृगपति करत विहारू, मृगपति पर सरवर
> द्वै गिरिवर सरवर पर राजें, तिन पर एक कपोत विराजें
> निकट सनाल कमल द्वै फूले, शोभित ते प्रथ दिशि को भूले।[1]

उक्त उद्धरणों में उपमेय और उपमानों में साम्य की ध्वनि मात्र है। अभिधा में इन पंक्तियों का कोई अर्थ नहीं है। व्यंग्यार्थ के द्वारा ही चमत्कार की सृष्टि की गई है।

शब्द-शक्तियों के क्षेत्र में घनानन्द का नाम शीर्ष स्थान पर है। घनानंद की रचनाओं में अन्य कवियों की रचनाओं की भाँति विभाव पक्ष का प्राधान्य नहीं है। उनकी प्रवृत्ति अन्तर्वृत्तियों के निरूपण की ओर अधिक थी। इसीलिये उनके रूप-चित्रण में भी रूप के प्रभाव का वर्णन ही मुख्य रहा है बाह्य रूप का नहीं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "घनानंदजी उन विरले कवियों में से हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।"

घनानन्द की अभिव्यंजना-शैली अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की ऋजु शैली से बिलकुल पृथक् है। उनकी भाषा सर्वत्र साहित्यिक है। शब्द-संकलन के प्रति वे पूर्ण जागरूक हैं, तथा लक्षणा के अपूर्व प्रयोगों द्वारा उसकी प्रभावात्मकता द्विगुणित हो गई है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस जागरूकता के रहते हुए भी उनकी भाषा में कृत्रिमता तथा जड़ता नहीं आने पाई है। श्री मनोहर लाल गौड़ के शब्दों में 'आनन्दघनजी ने हिन्दी साहित्य में लक्षणा शक्ति का प्रथमावतार किया है और वह उच्चकोटि का है।'[2]

लक्षणा के प्रयोग में घनानन्द की समता अन्य कवियों से नहीं की जा सकती, इसमें कोई सन्देह नहीं है परन्तु उन्हें लक्षणा का प्रथमावतार करने का श्रेय देना बहुत बड़ी बात कहना है। पूर्व-मध्यकालीन कवियों के चित्रांकन में लक्षणा का महत्वपूर्ण योग रहा है, घनानन्दजी ने उसे नया रूप दिया। भक्तिकालीन कवियों ने लक्षणा द्वारा अनुभूति की व्यंजना तथा चित्रांकन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति की थी, घनानन्द की रचनाओं में लक्षणा साध्य बन गई है जिसने उन्हें 'जबांदानी' प्रदान की है। वास्तव में इनकी रचनाओं में जो सूक्ष्म भावभेद और अन्तर्दशायें व्यक्त हुई हैं उन्हें अभिधा द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता था।

विरोध-मूलक वैचित्र्य की सृष्टि उन्होंने लक्षणा के सहारे से ही की है—

---

१. ब्रजविलास, पृ० ३३८

२. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा, पृ० १०५—मनोहरलाल गौड़

१. झूठ की सचाई छाक्यो त्यों हित कचाई पाक्यो ।
२. मोहि तो वियोगहू में दीसत समीप हो ।
३. उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ ।
४. प्यास भरी बरसें तरसें मुख देखन को अँखियां दुखियारी ।

घनानन्द के काव्य में अनुभूति-व्यंजक लक्षणा के द्वारा भावों के सूक्ष्म भेदों और उनकी तीव्रता की व्यंजना सफलता के साथ हुई है। अमूर्त के मूर्तीकरण अथवा अचेतन पर चेतना के आरोप में लक्षणा का यह रूप प्राप्त होता है। जैसे—

१. अंग अंग आलि छवि छलक्यो करति है
२. लड़कानि की आनि परी छलकै
३. अलबेली सुजान के कौतुक ते इत रीझि इकोसी ह्वै लाज थके
४. अंग अंग अररात रंग मेह नेह को ।

संज्ञा के गुणों को भाववाचक संज्ञा का रूप प्रदान करके भी लक्षणा द्वारा भावव्यंजकता की वृद्धि की गई है। जैसे—

१. वेदनि की बढ़वारि कहां लौं दुराइये
२. जोई रात प्यारे संग बातन न जानी जाति
   सोई अब कहां ते बढ़नि लिये आई है
३. पियराई छाई तन

अनुभूति की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए लक्षणा का प्रयोग सफलता के साथ किया गया है। जैसे—

१. प्रान घरैं मुरझैं उरझैं, भौन में व्याकुल प्रान पुकारैं
२. दीठिहि पीठि दई है, नैननि बोरत रूप के भौंर में
३. लाजनि लपेटी चितवनि भाय भरी, जिन आंखिन रूप चिन्हारि मई
४. तिनकी नित नींदहि जागनि है, देखन के चाय प्रान आंखिन में झांके आय ।

इस प्रकार घनानन्द का वाणी-वैभव उनकी लक्षणाओं के साथ सुगुम्फित है। ध्वनि और लाक्षणिकता का अपूर्व संयोग उनकी रचनाओं में मिलता है।

## आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में शब्द-शक्तियों का प्रयोग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा अभिधा-लक्षणा-व्यंजना तीनों से पुष्ट है। उसका रूप भक्तिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्द-शक्तियों के निकट है। घनानन्द की वाग्विदग्धता उनमें नहीं है। सूर की गोपियों की भांति ही हरिश्चन्द्र की इस व्यंजना में प्रेम-बेसुध गोपिका के प्रेम की तीव्रता फूटी पड़ रही है—

हौं कुलटा हौं कलंकिनी हौं, हमने सब छांड़ि दयौ कहा खोलौ
आछी रहो अपने घर में तुम, क्यों यहां आइ करेजहि छोलौ

लागि न जाय कलंक तुम्हैं कहूं, दूर रहौ संग लागि न डोलौ
बावरी हौं जो भई सजनी तो हटो हमसौं मति आइ कै बोलौ ।[1]

उक्त पंक्तियों द्वारा घोषित ध्वन्यार्थ है गोपिका की दृढ़ निष्ठा और पागल प्रेम । इसी प्रकार परकीया नायिका की यह उक्ति व्यंजना के सफल उदाहरण के रूप में ली जा सकती है। पावस ऋतु के उद्दीपक वातावरण में वह प्रिय का संसर्ग प्राप्त करना चाहती है । पर प्रिय दूसरी स्त्री के साथ मग्न हैं । वह कहती है मैं कोरी ही भली आप जिसके रस में स्निग्ध हो रहे हैं, होते रहिये, मुझे क्या करना है । उसकी इन विवश उक्तियों में उसके हृदय का उपालंभ उदासीनता की आड़ लेने का प्रयास कर रहा है—

कौन कहै इत आइये लालन, पावस में तो दया उर लीजिये
को हम हैं कह जोर हमारे है, क्यों हरिचंद वृथा दृढ़ कीजिये
जो जिय में रुचै भेंटिये ताहि, दया करि के तेहिको सुख दीजिये
कोरी ही कोरी भली हम हैं, पिय भीजिये जू उनके रस भीजिये ।।[2]

मुग्धा परकीया का नीचे लिखे छन्द में संक्षिप्त, मार्मिक और व्यंग्यपूर्ण संदेश भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

मैं वृषभानु पुरा की निवासिनि, मेरी रहै व्रज बीथिन भांवरी
एक संदेसो कहौं तुमसौं पै सुनो जो करो कछु ताको उपाव री
जो हरिचंद जू कुंजन में मिली, जाहि करी लखि के तुम बावरी
बूझी है वाने दया करिकै कहियै परसौं कब होयगी रावरी ।[3]

भारतेन्दु द्वारा रचित खंडिता-प्रसंग में व्यंजना के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । अन्य स्त्री के पास से नायक लौटा है । नायक को प्रत्यक्ष रूप से खोटी-खरी न सुनाकर वह उसकी सूरत दिखाने के लिए आरसी सामने रख देती है और उसीको निमित्त बनाकर अपनी रात भर की प्रतीक्षा और हृदय के भार का व्यक्तीकरण करती है—

हों ते तिहारे दिखाइवे के हित, जागत ही रही नैन उजासी
आये न रात पिया हरिचंद लिये कर भोर लों हौं रही भारसी
है यह हीरन सों जड़ी रंगन, तापै करी कछु चित्र चितार सी
देखो जू लालन कैसी बनी है, नई यह सुंदर कंचन आरसी ।।[4]

लक्षणा का प्रयोग प्रायः भक्त-कवियों के समान ही हुआ है—

हरीचंद कोइलै कुहुकि फिरैं वन वन,
बाजै लाग्यो जग फेरि काम को नगारो हाय
वन वन आग सी लगाइ के पलास फूले

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० १७१—प्रेम माधुरी
२. ,, पृ० ६१ ,,
३. ,, पृ० ५६ ,,
४. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रेम माधुरी ६

आइ गये सिर पै चढ़ाय मैन बान निर्ज
बिरहिन दौरि-दौरि प्रानन सम्हारो हाय ।

प्रिय के लिये घनश्याम शब्द का प्रयोग करके भी नायिका नायक को व्यंजना की मीठी मार लगाती है । सम्पूर्ण प्रसंग पर वर्षा का आरोपण व्यंजना द्वारा ही किया गया है—

प्रात क्यों उमड़ि आये, कहा मेरे घर छाये,
एजू घनश्याम कित रात तुम बरसे
गरजत कहा कोउ डर नाहिं जैहैं भागि
झुकि झुकि कहा रहे चलौ अटा पर से
सजल लखात मानो नील पट ओढ़ि आये
कहो दौरे-दौरे तुम आये काके घर से
हरीचंद कौन-सी दामिनी संग रात रहे
हम तो तुम्हारे बिना सारी रैन तरसे ।।[1]

इसके अतिरिक्त व्यंजना का केवल चमत्कारमूलक रूप दृष्टकूट शैली के लक्षण पदों में मिलता है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है । निम्नलिखित पंक्तियों में विभिन्न अंगों में कार्यों का आरोपण लक्षणा द्वारा हुआ है—गुण-श्रवन, दर्शन, आकर्षण तथा मुग्धावस्था के चित्रण में लक्षणा का प्रयोग हुआ है—

पहिले ही जाय मिले गुन में श्रवन फेरि
रूप सुधा मधि कीन्हो नैनहू पयान है
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्ह मय
हिय में न जानी परै कान्ह है कि प्रान है ।[2]

लक्षणा का प्रयोग सबसे अधिक भारतेन्दुजी ने मुहावरों के रूप में ही किया है—

ब्रज के सब नावं धरैं, मिलि ज्यों-ज्यों बढ़ाई के त्यों दोऊ चाव करैं
हरिचंद हँसे जितनो सब ही, तितनो दृढ़ दोऊ निभाव करैं
सुनि के चहुंघा रिस सों परतच्छ ये प्रेम प्रभाव करैं
इत दोऊ निसंक मिलैं बिहरैं उत चौगुनो लोग चोवाव करैं ।
आपुन ही करनी को मिल्यो फल, तासों सबै सहते ही सरे परी
यामैं न और को दोष कछू सखि चूक हमारी हमारे गरे परी
हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आप कुठार में दीनों[3]

रत्नाकरजी ने भी शब्द-शक्तियों का प्रयोग प्रायः परम्परागत रूप में ही किया है। क्रियापदों में लक्षणा के प्रयोग द्वारा उन्होंने मार्मिक उक्तियां कही हैं—

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, वर्षा-विनोद १३
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रेम माधुरी ३
३. स्फुट कवितायें, ८२५-११

नेह की नदी में न्हाइ आये हैं।[1]

नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं।[2]

नैकु कही बैननि अनेक कही नैननि सों

रही सही सोऊ कहि दीनि हिचिकीनि सों।[3]

उर घाइ उरझात है।[4]

मन डूबन लगत है।[5]

जैहै विवेक बहि।[6]

'वारिधिता' 'बूँदता' जैसे लाक्षणिक शब्दों का निर्माण भी उन्होंने किया है—

घीर उधरान्यो आइ ब्रज के सिवाने में।[7]

जैहे बनि-बिगरि न वारिधिता वारिधि की

बूँदता बिलैहै बूँद बिवस बिचारी की॥[8]

गोपियों के आत्मविश्वास और एकनिष्ठता की ध्वनि ने इन पंक्तियों में प्राण फूंक दिये हैं—

यह वह सिन्धु नाँहि सोखि जो अगस्त्य लियो,

ऊधो यह गोपिन के प्रेम को प्रवाह है।[9]

निम्नलिखित पंक्तियों में व्यंजना के द्वारा योग के प्रति गोपियों का तिरस्कार व्यक्त हुआ है। वे कहती हैं यदि सांस ही रोकना है (मरना ही है) तो क्या एक योग का कुढंग ही रह गया है ? आत्महत्या करने के लिए और भी अच्छे साधन हैं—

और हूँ उपाय केते सहज सुढंग ऊधो

सांस रोकिबे कों कहा जोग ही कुढंग है।

कुटिल कटारी है अटारी है उतंग अति,

जमुना तरंग है तिहारौ सतसंग है।[10]

रत्नाकरजी की रचनाओं में लक्षणा का प्रयोग मुहावरों तथा लाक्षणिक उपमानों के रूप में भी किया गया है।

---

१. उद्धव शतक, पहला भाग, पृ० १२०, कवित्त ३—रत्नाकर
२. ,, ,, ,, ,, कवित्त ४ ,,
३. ,, ,, ,, १२०, कवित्त ५ ,,
४. ,, ,, ,, १२६ ,,
५. ,, ,, ,, १२३ ,,
६. ,, ,, ,, १४१ ,,
७. ,, ,, ,, १२७-२५ ,,
८. ,, ,, ,, १३१-३८ ,,
९. ,, ,, ,, १४१-६७ ,,
१०. ,, ,, ,, ११२, क० ६६ ,,

प्रथम भुराइ चाय-नाय पै चढ़ाय नीकें,
न्यारी करी कान्ह कुल-कूल हितकारी तें
प्रेम रतनाकर की तरल तरंग पारि
पलटि पराने पुनि प्रण पतवारी तें
और न प्रकार अब पार लहिवे को कछू
अटकि रही है एक आस गुनकारी तें
सोऊ तुम आइ वात विपम चलाई हाय,
काटन चहत जोग कठिन कुठारी तें ॥[1]

व्यंजना के प्रयोग द्वारा गोपियों के उपालम्भ वड़े सशक्त वन गये हैं। गोपियों के मान भरे हृदय की मधुर कटुता इन पंक्तियों में व्यक्त है—

ऐसे ऐसे सुभ उपदेस के विवेचन को
ऊधो व्रजदेस में अपेल रेल रेला है।
वे तो भये जोगी जाइ पाइ कूवरी को जोग
आप कहीं उनके गुरु हैं किधौं चेला है।[2]

कृष्ण के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व तथा उद्वेलन निम्नलिखित पंक्तियों में वड़े कौशल से ध्वनित हुआ है। कृष्ण मौन हैं, प्रेयसी राधिका को संदेश भेजना है, कहना वहुत कुछ है पर कह नहीं पाते। मस्तिष्क की इस हलचल और उद्वेलन के कारण वे वड़ी दूर तक रथ के साथ ही चले जाते हैं। तन्मयता के चित्र में ध्वनित कृष्ण के हृदय की व्याकुलता से चित्र मार्मिक हो सका है—

उसंसि उसांसनि सों वहि वहि आंसनि सों
भूरि भरे हिय के हुलास ना उरात हैं
सीरे तपे विविध संदेसनि की वातनि की
घातनि की झोंक में लगेई चले जात हैं।[3]

इसी प्रकार निम्न पंक्तियों में अपूर्ण और स्फुट कथन से हृदय की अस्तव्यस्तता ही ध्वनित है—

सवद न पावत सो भाव उमगावत जो,
ताकि ताकि आनन ठगे से ठहि जात हैं
रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं।

निम्नलिखित परम्परित रूपक में भी व्यंजना का चमत्कार है—

टूक टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय,
चूकि हू कठोर बैन पाहन चलावो ना।

---

१. उद्धव शतक, पृ० ४१, क० ६८—रत्नाकर
२. ,, ,, १४२ ,, पद ७१ ,,
३. ,, ,, ११२-७३, कवित्त ६६ ,,

एक मन मोहन तो बसिकैं उजारयो मोंहि,
हिय में अनेक मन मोहन बसाग्रो ना।

मन रूपी दर्पण के खण्ड-खण्ड हो जाने पर कृष्ण के अलग-अलग प्रतिविम्ब उन खण्डों पर पड़ने लगेंगे, एक कृष्ण के हृदय में वास करने पर ही इतना उद्वेलन हो रहा है अनेक कृष्णों के वस जाने पर क्या हाल होगा।

रत्नाकरजी के व्याजस्तुति के प्रयोग में भी लक्षणामूलक व्यंजना का चमत्कार दिखाई देता है। शिव-वन्दना, गंगा-विष्णु लहरी, यमुनाष्टक तथा गणेशाष्टक में इस अलंकार का प्रयोग किया गया है। व्यंजना के इस रूप का एक उदाहरण लीजिए—

मुंड सों लुकाइ और दवाइ दंत दीरघ सों,
दुरित दुरूह दुख दारिद विदारे देत।
कहै रतनाकर विपति फटकारे फूंकि,
कुमति कुचाल पर उछारि छार डारे देत।
करनी विलोकि चतुरानन गजानन की
अब सो खिलखियो उरहनो पुकारे देत।
तुमहीं बताओ कहां विघन विचारे जाहि
तीनों लोक माहिं ओक उनको उजारे देत।[1]

कहीं-कहीं व्यंजना का रूप उपहास की सीमा का स्पर्श करने लगा है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि का अभीष्ट है गोपिका की असह्य वेदना का संदेश कृष्ण तक पहुंचाना। वह कहती है : जो दशा हमारी यहां हो रही है कृष्ण के सामने उसका अभिनय कर देना और मेरे नाम तथा गांव का पता बता कर उनसे मेरी राम राम कह देना। अन्तिम दो पंक्तियां बड़ी सार्थक बन पड़ी हैं परन्तु उसके पहले की चार पंक्तियों की संवेदनात्मकता में संदेह है—

औसर मिले सरताज कछु पूछें तो,
कहियो कछू न दसा देखी सो दिखाइयो।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू
कहिवे को चाहि हिचकी लै रहि जाइयो।

अन्तिम पंक्ति हैं—

नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधो बस
स्याम सों हमारी राम राम कहि दीजियो।[2]

रत्नाकर भी व्यंजना-प्रयोग के क्षेत्र में रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा भक्तिकालीन कवियों के ही अधिक निकट हैं।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'वचन की जो वक्रता भाव-प्रेरित होती है, वही काव्य होती है।' 'वक्रोक्ति : काव्य जीवितम्' से यही वक्रता अभिप्रेत है। भावोद्रेक से उक्ति में जो एक प्रकार का बांकपन आ जाता है, तात्पर्य कथन के सीधे मार्ग को छोड़कर वचन जो एक भिन्न

१. श्री गणेशाष्टक, पृ० ४२६, ६४
२. उद्धव शतक, पृ० ६६

प्रणाली ग्रहण करते हैं उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है। भाव-प्रसूत वचन-रचना में ही भाव या भावना तीव्र करने की क्षमता पाई जाती है।[1]

कृष्ण-भक्त कवियों की व्यंजना प्रायः सर्वत्र भाव द्वारा प्रेरित होने के कारण रसात्मकता से संयुक्त है। खंडिता नायिकाओं की वचन-विदग्धता में रति-भाव की अवस्थिति से रसात्मक स्थितियों का निर्माण हुआ है। मुग्धा गोपिकाओं के उपालम्भों तथा उनकी वचन-चातुरी में उनके प्रेम-विवश हृदय का परिचय मिलता है। गोपियों के प्रति यशोदा की कटूक्तियों में उनका वात्सल्य फूटा पड़ता है। इसी प्रकार बालक कृष्ण की वचन-चातुरी की रमणीयता इसी कारण है कि उससे बाल-प्रकृति का स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण होता है।

माधुर्य भक्ति की अभिव्यक्ति में राग-तत्व के प्राधान्य के कारण मानवीय दुर्बलताओं की अभिव्यक्ति भी हुई है। दुर्बल व्यक्ति का अस्त्र होता है व्यंग्य क्योंकि वह प्रतिशोध लेने में असमर्थ रहता है, पार्थिव क्षेत्र में ऐसी आत्मदमन और कुंठाजन्य परिस्थिति वंचित प्रेमी हृदय को उदासीन और अन्तर्मुखी बना देती है परन्तु आलम्बन की अपार्थिवता ने गोपियों के हृदय को पूर्ण रूप से खुलने का अवसर प्रदान किया है। व्यंग्य, कटूक्ति, उपालम्भ सभी कुछ उन्होंने अपने कृष्ण को अर्पित किए हैं जिसके फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति-काव्य में व्यंजना का संयोजन सबल बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त बालक कृष्ण और किशोर कृष्ण की लीलाओं ने भी इन कवियों को वाक्-चातुरी की कलापूर्ण-व्यंजना का उपयुक्त क्षेत्र प्रदान किया है। हास्य-विनोद, व्यंग्य-उपालम्भ इत्यादि कृष्ण की बाललीला, दानलीला, मानलीला, खंडिता-प्रसंग और भ्रमर-गीत जैसे प्रसंगों को सजीव और प्राणवन्त बनाने में बड़े सहायक हुए हैं। व्यंजना के प्रयोग द्वारा उनकी भाषा में शक्ति और सजीवता का सामंजस्य हुआ है। शब्द-क्रीड़ा और चमत्कारमूलक वैचित्र्य-योजना भी हुई है परन्तु उसमें कृष्ण-भक्ति-काव्य की आत्मा नहीं युग का प्रभाव व्यंजित है।

निष्कर्ष यह है कि कृष्ण-भक्ति-काव्य में ऋजु तत्वों के प्राधान्य के कारण अभिधा शक्ति का ही प्राचुर्य है। लक्षणा का प्रयोग अधिकतर चित्रांकन और भाव-व्यंजना के लिए किया गया है। कृष्ण-भक्त कवियों की शैली में लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक तत्व केवल साधन रूप में प्रयुक्त हुए हैं। घनानन्द ही इसके अपवाद हैं। उनकी रचनाओं में लाक्षणिक चमत्कार साध्य बन गया है। व्यंजना का प्रयोग सूरदास से लेकर रत्नाकर तक की रचनाओं में कुछ विशिष्ट स्थलों पर ही हुआ है। प्रतिपाद्य की सतत एकरूपता ही व्यंजना के प्रयोग की इस एकरूपता के लिए उत्तरदायी है। इस क्षेत्र में भी कवियों का उद्देश्य भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना ही रहा है। सम्पूर्ण कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा में केवल घनानन्द ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने लक्षणा तथा व्यंजना का प्रयोग चमत्कार-नियोजन और जबांदानी के लिए किया है। वास्तव में अभिव्यंजना शैली की कसौटी पर घनानन्द कृष्ण-भक्त होते हुए भी कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा से बिल्कुल पृथक् पड़ते हैं। भारतेन्दु तथा रत्नाकर जी की व्यंजनायें पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त-कवियों की भांति ही रसोद्रेक की अभिव्यक्ति के निमित्त प्रयुक्त हुई हैं।

---

१. सूरदास, पृष्ठ २१२—रामचन्द्र शुक्ल

## चतुर्थ अध्याय

# कृष्ण-भक्त कवियों की लक्षित चित्र-योजना

लीलापुरुष कृष्ण के रूप-गुण-लीला-धाम के प्रति रागात्मिका वृत्ति के उन्नयन द्वारा कृष्ण-भक्त कवियों को आलम्बन तथा अनुभाव-चित्रण के लिये अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हुआ। काव्य में उपदेशात्मक तत्व इन रचनाओं में गौण रहा तथा दार्शनिक तत्वों के गांभीर्य को उन्होंने रागात्मक तत्वों के आवरण में आवेष्ठित करके ग्रहण किया, यही कारण है कि कृष्ण के रूप तथा उनकी लीलाओं की माधुर्य-युक्त सौन्दर्यानुभूति बड़े कोमल, सात्विक और सजीव चित्रों के रूप में साकार हुई है। विभिन्न उपमानों के माध्यम से व्यक्त उपलक्षित चित्रों का विवेचन अप्रस्तुत-योजना के प्रसंग में किया जायगा। बिना अप्रस्तुत की सहायता के भी केवल विभिन्न रेखाओं और वर्णों के योग से इन कवियों ने अनेक चित्र अंकित किये हैं। प्रथम कोटि के चित्र अपनी प्रतीकात्मकता के लिये मूल्यवान हैं और द्वितीय कोटि के अपनी सहजता और ऋजुता के लिये। अनुभूति-तत्व की सजीवता और मार्मिकता के कारण लक्षित-चित्रयोजना कृष्ण-भक्त कवियों की कला का एक मुख्य अंग बन गई।

चित्रकला के अनुसन्धाता तथा विशेषज्ञ श्री हैवल ने कृष्ण-लीला सम्बन्धी चित्रों की आध्यात्मिकता का विश्लेषण करते हुये लिखा है कि इन चित्रों की पार्थिवता में अपार्थिव ब्रह्म और उससे सम्बद्ध रहस्यों का चित्रण निहित रहता है। आधुनिक काल के पाश्चात्य भौतिकवादी दृष्टि के व्यक्तियों के लिये इन स्थूल शृंगारिक चित्रों में निहित रहस्य-भावना चाहे अविश्वसनीय और अवास्तविक हो परन्तु भारत का निरक्षर व्यक्ति भी अपने संस्कारों और आस्था के कारण साधारण जीवन की रहस्यात्मकता पर सहज ही विश्वास कर लेता है।[1]

---

1. "Vaishnava legends, in which the gods descended to earth lived the life of people, and performed wondrous miracles were their (The Hindu artists) favourite themes, treated with all the. reverence of the earnest devotee. But though the Hindu painter imbues such objects with a senstiveness and artistic charms which are peculiarly his own, the appeal which he makes to the Indian mind is not purely aesthetic. His is no art for arts' sake, for the Hindu draws no distinctions between what is sacred and profane. The deepest mysteries are clothed by him in the most familiar garb. So in the intimate scenes of the ordinary village life, he constantly brings before the spectator the teachings of this religious cult, knowing that the mysticism of a picture will find a ready response even from the unlettered peasant. That which seems to the modern westerner to be strange and unreal, often indeed gross, is to the Hindu mystic quite natural and obviously true."

—A Handbook of Indian Art—Page 15, E.B. Havell.

राजपूत-शैली की चित्रकला का विवेचन करते हुए श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इसी प्रकार की मान्यतायें प्रकट की हैं।[1]

दोनों ही विद्वानों के मत का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि कविता की भांति ही तत्कालीन चित्रकला की मूल प्रेरणा का स्रोत भी कृष्ण-भक्ति की राग-प्रधान साधना-प्रणाली में ही निहित था। वास्तव में इन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में ही तत्कालीन चित्रकारों को आधार-भूमि प्राप्त हुई। ऐसा जान पड़ता है कि भगवान की प्रतीति प्राप्त करने, उनके रूप-सौन्दर्य को ग्रहण करने के उद्देश्य से उन्होंने अपनी कविता का गठबन्धन चित्रकला के साथ जान-बूझकर किया। दोनों ही क्षेत्रों में प्रतिपाद्य और शैली की यह एकरूपता इस बात का भी प्रमाण है कि ये कवि चित्रकला में सिद्धहस्त थे। उन्होंने अनेक भावना-चित्रों का निर्माण किया है। जिनमें रूप-भेद, रूप की प्रतीति, चित्र के विभिन्न तत्वों में सन्तुलन और सामंजस्य, भाव-योजना, लावण्य-योजना तथा वर्णिका भंग (कुछ विशेष रंगों का समवाय जिसका प्रयोग चित्र या काव्य-शैली में किया जाता है) इत्यादि का सफल निर्वाह किया गया है।

मध्यकालीन चित्रकला के अनेक विशेषज्ञों ने इस प्रकार के संकेत दिये हैं। कृष्ण-चरित के विभिन्न अंगों तथा उनके रूपों का चित्रण तत्कालीन चित्रकला का मुख्य प्रतिपाद्य विषय था। राय कृष्णदास के शब्दों में "उस समय सगुण भक्तिमार्ग के मुख्य उपास्य कृष्ण की लीला और स्तुतियों के चित्रों की भी बड़ी मांग रही होगी।"[2] चित्रण शैली में भी उन्होंने कृष्ण के उसी रूप की प्रधानता मानी है जो उस समय की कविता में स्वीकार किया जा रहा था। उनके अनुसार व्रज में राजस्थानी शैली की चित्रकला का केन्द्र अवश्य रहा होगा। "हम्जा चित्रावली में मीनाक्ष अर्थात् फड़कती हुई मछली की तरह बांकी आंखें भी पाई जाती हैं। यह एक संयोग हो सो नहीं क्योंकि उन चित्रपटों में ऐसी आंखें अनेक बार लिखी गई हैं और जहां ये उरेही गई हैं वहां इनका पूरक भ्रू चाप भी मौजूद है। विकसित राजस्थानी शैली में सर्वत्र ऐसी आंखें पाई जाती हैं। यह आंख सोलहवीं शती के पूर्वार्ध से राजस्थानी शैली का एक दूसरा केन्द्र बनने की सूचक है। यह केन्द्र व्रज होना चाहिए जहां उस समय वैष्णव पुनरुत्थान में पूरी सक्रियता आ चुकी थी। वहीं के कृष्ण-चित्रण में इन कटावदार आंखों का पहले पहल आलेखन हुआ होगा क्योंकि यह उस काल के रसिकराय कृष्ण की छवि के अनुरूप है। अब भी नाथद्वारा के चित्रों में इसका आलेखन विशेष रूप से पाया जाता है; क्योंकि वहां के चित्रकार उसी परम्परा के हैं जो आरम्भ ही से वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं जिसका मुख्य केन्द्र नाथद्वारा के पहले व्रज था।[3] बसोली में कृष्णलीला सम्बन्धी

---

1. "It was however the Rajput painting that created the most graceful types of human loveliness in the figure of Radha and Krishna, the incarnation of the eternal youth and beauty in the Krishna legend. Nowhere in such bewitching loveliness of human figures has been lined with such lyrical intensity and tenderness."

—Dr. Radha Kumud Mukherji.

२. भारत की चित्रकला, राय कृष्णदास; अध्याय ५, पृष्ठ ५६

३. " " " ६ " ७६

एक चित्रमाला साधारण से बड़े आकार में है और उनका चित्रण भी अत्यन्त असाधारण है। सूरसागर पर आश्रित संभवतः मात्र एक चित्रमाला भी इसी शैली में है।"[1] पर्सी ब्राउन ने भी तत्कालीन चित्रकला और कविता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना है[2] तथा कृष्ण भक्ति-काव्य का स्थान उसमें सबसे प्रमुख निर्धारित किया है।[3] ऐमी वेलेज़ के अनुसार भी तत्कालीन साहित्य और चित्रकला अन्योन्याश्रित थे।[4]

मध्यकालीन राजस्थानी चित्रकला के कुछ प्रमुख और महत्वपूर्ण चित्रों की सूची यहाँ प्रस्तुत की जाती है जिससे कृष्ण-भक्ति काव्य की महत्ता अपने आप ही स्पष्ट हो जायेगी—

कांगड़ा शैली के चित्र

| | |
|---|---|
| १. चीर हरण | फलक २, |
| २. निद्रामग्न नन्द की रक्षा करते हुये कृष्ण | " ४ |
| **वसोली चित्र शैली** | |
| ३. राधा के शयन-कक्ष की ओर जाते हुये कृष्ण | " ६ पृष्ठ १२ |
| ४. राधा की प्रतीक्षा तथा कृष्ण का सन्देश-प्रेषण | " ७ " १२ |
| ५. विप्रलब्धा राधा | " ८ " १३ |
| ६. वासकसज्जा राधा | " ९ " १३ |
| ७. कृष्ण की प्रतीक्षा तथा राधा का सखी के साथ आगमन | " १० " १४ |
| **गुलेर की चित्र-शैली** | |
| ८. कृष्ण की प्रतीक्षा | " १८ " २५ |

---

१. भारत की चित्रकला, रायकृष्णदास ; अध्याय ८, पृष्ठ ९१

2. In other directions, too, the Rajput Painters worked in conjunction with the sister arts, such as poetry and many of the pictures of this school depict subjects taken from the Indian classical writings. As for instance the Nayakas or hero-lovers was designed by the Pahari artists, and denote that this art had its romantic aspects. In the majority of the examples, however, the lover and the beloved take the form of Krishna and Radha respectively. Romance, passion and religion being symbolised in the person of these popular divinities.
HERITAGE OF INDIA SERIES—Indian Painting, Page 109—PERCY BROWN

3. A large proportion of the pictures illustrating the religious beliefs of this period were mainly vaishnavite in purport and specially dealt with Krishna cult. × × × × Krishna, therefore, in all his varied characters, in every act and deed is the central figure in much of the Rajput art, and some of the best work of the school gathers around the story of this versatile deity.
HERITAGE OF INDIA SERIES—Indian Painting. Page 99

4. Rajput Miniature is the visual counterpart of the Vernacular literature which arose at the beginning of the 15th century in connection with the vaishnavite movement which found its full development in the sixteenth and seventeenth centuries. It is based on Bhakti the passionate devotion to a personal God.
× × × ×
The devotion of the Hindus was focussed on Krishna who was to remain the cultural figure of Rajput painting. His garb shows the usual attributes of Indian deities all through the ages. The diadem, the heavy ear-rings and necklaces. His gestures often suggest by their dynamic and Rhythmical quality, the gestures of a mime and a dancer.
Akbar's Religious thoughts as reflected in contemporary painting—EMMY WELLESZ

और गोपियों के रूप-चित्रण में प्रयुक्त हरे, पीले, नीले और कहीं-कहीं लाल रंगों का ही प्रयोग इस शैली के चित्रों में किया गया है। उदयपुर की शैली में प्रयुक्त मृगनेत्राकृत, जयपुर, अलवर शैली में प्रयुक्त मीनाकृत, जोधपुर शैली में प्रयुक्त खंजनाकृत तथा किशनगढ़ शैली के अन्तिम छोर पर ऊपर की ओर बल खाये हुये धनुषाकार नेत्रों के आधार भी कृष्ण-काव्य में मिलते हैं। कृष्ण-काव्य के रूप-चित्रण की भांति उन्नत वक्ष, क्षीण कटि, चंचल अथवा निमीलित नेत्र, इन चित्रों की भी विशेषतायें हैं। तत्कालीन काव्य के साथ इस अनिवार्य सम्बन्ध के कारण ही इन चित्रों में कारीगरी और चमत्कार कम तथा साहित्यिकता अधिक है। यही नहीं दोनों ही कलाओं के विकास में भी हमें एक आश्चर्यजनक समानता दिखाई पड़ती है। जहांगीर के समय से चित्रकला में अनुदिन स्त्रैणता और चमत्कार का तत्व बढ़ता जा रहा था, पुरुषों के वस्त्रों में भी कंचुकी का प्रयोग होता था, स्त्री और पुरुष दोनों को जामे पहिनाये जाने लगे थे, उसी प्रकार का चित्रण हमें तत्कालीन काव्य में भी मिलता है। कारीगरी और अलंकरण की प्रवृत्ति का आधिक्य दोनों कलाओं की शैलियों में समान रूप में स्थान पाता दिखाई देता है। कृष्णगढ़ की शैली में हमें यह प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। कानों में मुक्ताफल, लम्बी पतली उंगलियों में मुंदरियां, गले में मुक्ता और कुन्दन के आभूषण, पुरुषों की पगड़ियों में लटकते हुये झुमके, रोमावली इत्यादि का चित्रण चित्रकला और काव्य दोनों में प्रायः एक ही प्रकार से हुआ है। दोनों में ही गुलाबी और श्वेत वर्णों का प्रयोग मिलता है। वास्तव में मध्यकालीन चित्रकला और काव्यकला के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पर स्वतन्त्र शोध की आवश्यकता है। प्रस्तुत अध्याय में केवल इस तथ्य की ओर संकेत किया जा रहा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का पूर्व-मध्य काल तथा उत्तर-मध्य काल विभिन्न चारु कलाओं के पुनरुत्थान का युग था। तत्कालीन साहित्य तथा चित्रकला की मुख्य प्रवृत्तियों में आश्चर्यजनक साम्य मिलता है। पूर्व-मध्यकालीन कवियों की कला एक ओर स्वान्तः सुखाय थी दूसरी ओर भागवत तथा अन्य ग्रन्थों में उन्हें परम्परागत आधार प्राप्त हुआ था। अतएव, इन कवियों की चित्र-योजना में रूढ़ियों और आत्म-संवेदन का अपूर्व संयोग है। परम्परा रूढ़ उपमानों के रूप में अवशिष्ट है, जिनका उल्लेख अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत किया जायगा। लक्षित-चित्र-योजना में कवि की संवेदना ही प्रधान है। इनके द्वारा अंकित चित्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं—(१) आलम्बन-चित्र, (२) अनुभाव-चित्र, (३) प्रकृति चित्र और (४) वातावरण-चित्र। कहीं-कहीं इन सबका मिश्रित रूप भी मिलता है। व्यक्ति-चित्र अधिकतर राधा, कृष्ण तथा यशोदा के हैं। सामूहिक चित्र होली, पर्वों और उत्सवों के हैं। इन सभी चित्रों में संवेदना-जन्य सजीवता है। तत्कालीन चित्रकला की संवेदनात्मकता का श्रेय इन्हीं कवियों की चित्रात्मक कल्पना-शक्ति को दिया जा सकता है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम सूरदास की चित्रयोजना का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

## सूरदास की चित्र-योजना

### आलम्बन चित्र

आलम्बन बालकृष्ण का एक चित्र है—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मलहावै जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
कबहुँ पलक हरि मूंद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि करि सैन बतावै।
इहि अंतर अकुलाय उठे हरि जसुमति मधुरै गावै॥[1]

वर्ण-विहीन पांच विभिन्न रेखाओं द्वारा अंकित इस चित्र की सहज-स्वाभाविकता ही उसका सौन्दर्य है। प्रथम तथा द्वितीय रेखा से पालना झुलाती तथा लोरी गाती हुई यशोदा का चित्र उभरता है, तृतीय रेखा कृष्ण की तन्द्रिल अवस्था का चित्रण करती है और चौथी रेखा फिर यशोदा की मातृ-सहज भावाकुलता को साकार करती है, और सब रेखाओं को मिलाकर एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत होता है।

इस प्रकार के चित्रों में प्रायः रूप, स्पर्श, और ध्वनि का संयुक्त संयोजन हुआ है, जिसके कारण ये अमूर्त चित्र चित्रकार द्वारा अंकित मूर्त चित्रों से भी अधिक सजीव बन पड़े हैं। कृष्ण के बालरूप के वर्णन में भी यह कौशल अनेक स्थलों पर दिखाई देता है। एक उदाहरण लीजिये। अभिव्यक्ति का माध्यम केवल रेखायें हैं परन्तु संगीतकार की ध्वनि, चित्रकार की कूंची और स्वर्णकार की छेनी का संयुक्त कौशल नीचे लिखे पद में जड़ा-सा जान पड़ता है।

खेलत नंद-आंगन गोविन्द।
निरखि निरखि जसुमति सुख पावति, बदन मनोहर इन्दु।
कटि किंकिनी चन्द्रिका मानिक लटकन लटकत भाल।
परम सुदेस कंठ केहरि-नख, बिच बिच वज्र-प्रवाल।
कर-पहुंची पाइन में नूपुर तन राजत पट पीत।
घुटुरनि चलत अजिर मँह विहरत मुख मंडित नवनीत॥[2]

नटखट कृष्ण की बाललीला, तथा उनके रूप के चित्रण के साथ ही स्याम को खिलौना बनाकर खेलने वाले यशोदा और नन्द के उल्लास का चित्रण भी सहज रेखाओं में वर्ण का संकेत मात्र देकर कितने कौशल के साथ हुआ है—शब्द, रूप, वर्ण से संस्पर्शित यह गतिपूर्ण चित्र सूर की सबल रेखाओं का परिचायक है—

---

१. सूरसागर, १० स्कन्ध, पद ४३
२. ,, ,, पद १७

घुटुरुनि चलत स्याम मनि आंगन मातु पिता दोउ देखत ।
कबहुँ किलकि तात-मुख हेरत, कबहुँ मात-मुख पेखत ॥
लटकन लटकत ललित भाल पर काजर बिन्दु भौं ऊपर ।
यह सोभा नैनन भरि देखें नहिं उपमा तिहुँ भू पर ॥
कबहुँक दौरि घुटुरुवन लपकत गिरत उठत पुनि धावैं ।
इतते नंद बुलाइ लेत हैं उतते जननि बुलावैं ॥
दम्पति होड़ करत आपुस में स्याम खिलौना लीन्हों ।[1]

फूलों के रंग, तमचुर के आह्वान, लज्जित चन्द्र की मन्द किरणों के माध्यम से उन्होंने प्रभात-कालीन सात्विकता की अनुभूति कराई है—

जागिये ब्रज-राज कुंवर ; । कुसुम
कुमुद-वृंद सकुचित भये, भृंग लता भूले
तमचुर खग रौर, सुनहु बोलत बनराई
राँभति गो खरिकनि में बछरा हित धाई
बिधु मलिन रवि प्रकास गावत नर नारी
सूर स्याम प्रात उठौ अंबुज-कर-धारी ॥[2]

सामूहिक उल्लास के चित्र भी सूरदासजी ने बड़ी सजीवता से अंकित किये हैं । कृष्ण-जन्म के अवसर पर वैभव, संस्कृति और आह्लाद मानों एक साथ मुखरित हो रहे हैं—

आज हो बधायो बाजे नन्द गोप राइ के
जदुकुल जादौराइ जन्मे हैं आइ के ।
आनन्दित गोपी-ग्वाल, नाचैं कर दै दै ताल, अति आह्लाद
भयो जसुमति माय के ।
सिर पर दूब धरि बैठे नन्द सभा मधि, द्विजनि को गाइ
दीनी बहुत मंगाय के ।
कनक को माट लाइ, हरद दही मिलाइ, छिरकैं परस्पर
छलबल धाइ के ।
आठैं कृष्ण पच्छ मांहीं, महर के दधि कादौं मोतिन बंधायो
बार महल में जाइ के ।
ढाढ़ो औ ढाढिनि गावैं, ठाढ़े हुरके बजावैं हरषि असीस
देत मस्तक नवाइ के ॥[3]

---

१. सूरसागर, १० स्कन्ध, पद ६८
२. ,, ,, पद २०२
३. सूरसागर, १० स्कन्ध, पृ० २७०, पद ३१

गोकुल नगर की बालाओं का साज-शृंगार, लास-उल्लास रेखाओं और वर्णों के मिश्रित प्रयोग द्वारा इतने सजीव बन पड़े हैं कि जान पड़ता है कि शब्दों में प्राण-प्रतिष्ठा कर दी गई हो—

सुनि धाई सब व्रजनारि सहज सिंगार किये
तन पहिरे नूतन पट काजर नैन दिये।
कसि कंचुकि तिलक लिलार सोभित हार हिये
कर कंकन कंचन थार मंगल साज लिये।
मुख मंडित रोरी रंग, सेंदुर मांग छुही
उर अंचल उड़त न जानि सारी सुरंग सुही।

दूसरी ओर गोकुल के ग्वाल वालों के आह्लाद का चित्र देखिये। गोचारण जीवन तथा गोपाल सभ्यता के चित्र नेत्रों में आ जाते हैं जो अपनी ग्रामीणता के साथ सजीव हैं—

सुन ग्वालनि गाइ वहोरि बालक बोलि लये
गुहि गुंजा घसि बनधातु अंगिनि चित्र ठये।
सिर दधि माखन के माट गावत गीत नये
डफ झांझ, मृदंग वजाइ सब नन्द भवन गये
मिलि नाचत करत कलोल छिरकत हरद वही
वरसत भादों मास नदी घृत दूध लही।[1]

अनुभाव-चित्रण के अन्तर्गत तन्मयता की विमुग्ध स्थिति देखिये। यशोदा को प्रसन्न करने के लिये राधा दही मथ रही है परन्तु मन लगा है कृष्ण पर, फल क्या है ?

रीतो माठ बिलोवई चित जहां कन्हाई
उनके मन की कहूँ कहौं ज्यों दृष्टि लगाई
लैया नोई वृषभसौं गैया विसराई।[2]

रूप, रंग, गति और ध्वनि से युक्त रास-सम्बन्धी पदों की चित्रोपमता भी दर्शनीय है—

गति सुघंग नृत्यति व्रज-नारि .
हाव भाव नैननि सैननि दै रिझवत गिरधर वारि
पग पग पटकि भुजनि लटकावति फूंदा कटिन अनूप
अंचल चलत झूमना, अंचल अद्भुत है वह रूप
वेनी छूटि लटैं वगरानी, मुकुट लटकि लटकानो
फूल खसत सिरतें भये न्यारे सुभग स्वाति सुत मानो।[3]

चित्रों में ध्वनि का स्पर्श भी दिया गया है—

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० २६५, पद २४
२. ,, ,, पद ७१५
३. ,, ,, पद १०५७

कंकन चुरी किंकिनी नूपुर पंजनि बिछिया सोहति
अद्‌भुत धुनि उपजत इनि मिलिकैं, भ्रमि भ्रमि इत उत जोहति।[1]

यद्यपि सूर की कला में माधुर्य का स्थान ही प्रधान रहा है और उसी के लिये उसमें अधिक अवकाश था परन्तु ओजपूर्ण स्थलों पर उन्होंने तदनुरूप चित्र भी बड़ी समर्थता के साथ प्रस्तुत किये हैं। दावानल प्रसंग के पद इसके उदाहरण रूप में लिये जा सकते हैं—

झरझराति भहरात लपट अति, देखियत नहीं उबार
देखत सूर अग्नि धधकानो नभलौं पहुँचो झार।[2]

झरहरात बन पात गिरत तरु धरनी तरकि तराकि सुनाई
लटक जात जरि जरि द्रुम बेली पटकत बांस कांस कुस ताल
उचटत भरि अंगार गगन लौं सूर निरखि ब्रज जन बेहाल॥[3]

## रंग-योजना

कृष्ण के इस चित्र में वर्णों की बहुलता के कारण रेखायें गौण पड़ गई हैं—

मेरे हिय लागे मन मोहन, ले गये री चित-चोरि
अबही इह मारग से निकसे, छवि, निरखत तृन तोरि
मोर मुकुट स्रवननि मनि-कुंडल उर बनमाल पिछौरि
दसन चमक उधरन अरुनाई देखत परी ठगोरि।[4]

मोर मुकुट के अनेक वर्णों के साथ मणि-कुंडल की आभा तथा सतरंगी वनमाल के साथ पीताम्बर के एक पीत वर्ण की योजना में अनुरूप वर्णों का विन्यास तो है ही, ऐसा विश्वास नहीं होता कि सूर की अन्धी आंखों को बहुरंगी वर्णों के सौंदर्य को निखारने के लिये उसे एकवर्ण की पृष्ठभूमि में रखने का रहस्य भी ज्ञात था। शीश पर शोभित मोर-मुकुट का सौन्दर्य कुण्डल की एकवर्णीय आभा में निखर उठा है। इसी प्रकार पीताम्बर के साथ वन-माल के विभिन्न रंग भी मानो और चटक उठे हैं। दांतों की श्वेत आभा अपने प्रतिरूप लाल-वर्ण की पृष्ठभूमि में और भी चमक उठी है।

कृष्ण और राधा के रूप-वर्णन में भी रंग, गति और सौरभ का संयोजन हुआ है—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बांधे, हाथ लये भौंरा चक डोरी।
मोर मुकुट, कुंडल स्रवननि वर, दसन दमक दामिनि छवि छोरी।
गये स्याम रवि तनया के तट अंग लसत चंदन की खोरी।

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ६२५, पद १०५८
२. ,, ,, पृ० ४७१, पद ५९३
३. ,, ,, पद ५९४
४. ,, ,, पद ६७०

औचक ही देखी तहँ राधा नैन विसाल भाल दिये रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे वेनी पीठि रुलति झकझोरी।[1]

वालकृष्ण के वर्णन में शृंगार-सज्जा के उपकरणों के माध्यम से सूर ने अनेक वर्णों की मिश्रित योजना कलात्मक ढंग से की है। उनकी वर्ण-योजना में निर्जीवता और शिथिलता नहीं आने पाई है। वर्णों के उल्लेख के विना भी उनकी आभा स्वतः ही व्यक्त हो गई है—

घूसरि धूरि घुटरुवन रेंगनि, वोलनि वचन रसाल की।
छिटकि रहीं चहुँ दिसि जु लटुरियां, लटकन लटकनि भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कंठ कमल-दल-माल की।
कछुक हाथ कछु मुख माखन लै, चितवनि नैन विशाल की।[2]

भिन्न-भिन्न वर्णों और वैभव की आभा से सुसज्जित कृष्ण सूर की भावुक कल्पना के आलम्बन वनकर सौन्दर्य के शाश्वत केन्द्र वन गये हैं। इन्हीं उपादानों के प्रयोग द्वारा अन्य कवि कृष्ण को जड़ रूप में ही चित्रित कर सके हैं। जहां उनमें प्राण तत्व का समावेश है उनका रूप लौकिक हो गया है परन्तु सूरदास ने वैभव और सौन्दर्य की राशि उनके ऊपर लादकर भी उनमें सात्विक-अलौकिक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है—

सुन्दर स्याम सरोज नील तन, अंग अंग सकल सुभग सुख-दनियां
अरुन चरन नख-जोति जगमगत रुनझुन करति पाइ पैंजनियां
कनक रतन मनि जटित रचित कटि किंकिनि कुनित पीत पट तनियां
भाल तिलक मसि विंदु विराजत सोभित सीस लाल चौतनियां
मन मोहनी तोतरी वोलनि मुनि मन हरन सु हंस कुसकनियां
वाल सुभाव विलोकि विलोचन, चोरत चितहिं चारु चितवनियां।[3]

* * *

तनु दुति भोर चंद जिमि झलकै, उमंगि उमंगि अंग अंग छवि छलकै
कटि किंकिनि पग पंजनि वाजै, पंकज पानि पहुंचिया राजै
लटकति ललित ललाट लटूरी, दमकति दूध दतुरियां रूरी
कुलही चित्र विचित्र झंगूली निरखि जसोदा रोहिनी भूली
निरखत झुकि झांकत प्रतिविम्बहिं, देत परम सुख पितु अरु अम्बहिं।[4]

वालकृष्ण के श्याम शरीर में मोरचन्द्रिका की रंगीनी, अंग-प्रत्यंग से झलकता हुआ सौन्दर्य, विभिन्न आभूषणों की रुनझुन, लटकती हुई लटें, और चमकते हुये दूध के दांत, चित्र-विचित्र झंगूली तो कृष्ण का रूप सौन्दर्य प्रकट करते ही हैं, चित्र के अन्तिम स्पर्श झुक-झुककर प्रतिविम्ब देखने की चेष्टा पर जसोदा और रोहिणी ही नहीं कोई भी संवेदनशील व्यक्ति न्योछावर

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ६७२
२. ,, ,, पद १०५
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १०६
४. ,, ,, पद ११७, पृ० ३०१

हुये बिना न रह सकेगा। ध्वनि और वर्ण के संयोजन द्वारा यशोदा के वात्सल्य तथा कृष्ण की बाल-लीला का उल्लास भरा चित्र भी द्रष्टव्य है—

> झुनक स्याम की पैंजनियां
> जसुमति सुत को चलन सिखावति अंगुरी गहि गहि दोउ जनियां
> स्याम बरन पर पीत झंगुलिया, सीस कुलहिया चौतनियां।[1]

उक्त प्रकार के अनेक चित्र समस्त 'सूरसागर' की सतह पर तैरते दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में सूर की लक्षित और अलक्षित दोनों ही प्रकार की चित्र-योजनाओं में वर्णों का जो कुशल प्रयोग और सामंजस्य तथा रेखाओं की स्पष्टता दिखाई पड़ती है वही यह प्रमाणित करने के लिये यथेष्ट है कि सूरदास जन्मान्ध नहीं हो सकते। अलौकिक चक्षुओं में इस सौन्दर्य-दृष्टि की स्थिति केवल अन्ध आस्थाजन्य ही हो सकती है, बुद्धिजन्य नहीं।

## नन्ददास की लक्षित चित्र-योजना

### रासपंचाध्यायी

काव्य-कला की दृष्टि से नन्ददास जी की रचना 'रासपंचाध्यायी' का स्थान सर्वप्रमुख है। नन्ददास की लक्षित चित्र-योजना के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इसी कृति में प्राप्त होते हैं। जहां तक अप्रस्तुत-योजना का सम्बन्ध है नन्ददास की तूलिका की सूक्ष्मता तथा कल्पना-शक्ति के समक्ष सूर की कल्पना भी नहीं ठहरती परन्तु लक्षित चित्र-योजना रासपंचाध्यायी में अपेक्षाकृत कम है। परिमाण की दृष्टि से यद्यपि उनका महत्व अधिक नहीं है पर सजीवता और मार्मिकता की दृष्टि से वे अमर हैं।

### समूह चित्र

ध्वनि, गति और रूप-व्यंजक कुछ लक्षित चित्र यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

> नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
> ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली।
> मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिली धुनि
> मधुर जंत्र की तार भंवर गुंजार रली पुनि
> तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारन की
> लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।
>
> * * *
>
> छबिली तियन के पाछे आछे बिलुलित बनी
>
> * * *
>
> मोहन पिय की मलकनि ढलकनि मोर-मुकुट की
> सदा बसो मन मेरे फरकनि पियरे पट की।[2]

---

१. सूरसागर दशमस्कंध, पद १२२, पृ० ३०५
२. न० ग्र०, रासपंचाध्यायी, पद २१-२२

नृत्य करती हुई गोपियों के आभूषणों की झनकार में मिलती हुई मुरली की ध्वनि, मृदंग तथा अन्य वाद्य-यन्त्रों की टंकार, मुरज की झंकार और सबके स्वर में स्वर मिलाता हुआ भ्रमर का गुंजन, इन सब तत्वों का संश्लिष्ट चित्रण नन्ददास की ध्वनि-सृष्टि की शक्ति का परिचय देता है। आगामी पंक्तियों में संगीत की लय के साथ पड़ते हुए गोपियों के चरण नृत्य करते हुये उनके शरीर की विविध भंगिमायें, कुण्डल का हिलना और चमकना तथा पीठ पर हिलती हुई वेणी साकार हो जाती है। रास में रत कृष्ण के मोर-मुकुट की ढलक तथा फहरते हुये पीताम्बर का चित्र भी उभर आया है। रास-लीला के भिन्न-भिन्न तत्वों के इस संश्लिष्ट विन्यास से नन्ददास की चित्र-कल्पना और उसके मूर्त विधान की शक्ति का परिचय मिलता है। संगीत के माधुर्य और नृत्य की गति का ही संश्लिष्ट विन्यास इन पंक्तियों में भी मिलता है—

कबहु परस्पर निर्तत लटकनि ंडल डोलनि,
अमृत सम मुसकनि मंजुल तत्थेइ बोलनि,
क.. किंकिनि गुंजार तार नूपुर बीना पुनि,
मृदुल मुरज टंकार भंवर झंकार मिली धुनि।[1]

समूह नृत्य की गति और भावों की तन्मयता गोपियों तथा कृष्ण की अस्तव्यस्तता के द्वारा भी चित्रित हुई है—

गंडन सों मिलि ललित गंड-मंडल मंडित छवि
कुंडल सों कच उरझे मुरझे जहं बड़डे कवि॥[2]

हार हार में उरझि उरझि बहियां में बहियां।
नील पीत पट उरझि उरझि बेसर नथ महियां।[3]

श्रम भरि सुन्दर अंग रास रस ललित वलित गति।
अंसनि पर भुजवर दीने सोमित सोभा अति।[4]

कमल बदन पर अलकनि कहुं कहुं श्रम जल झलकनि।
सदा बसो मन मेरे मंजु मुकुट की लटकनि।[5]

उक्त चित्रों में रेखाओं तथा वर्णों का मिश्रित संयोजन है। कृष्ण के उलझे हुये आभूषणों और भुजाओं के चित्रण में रेखाओं का प्रयोग है, नीले और पीत वस्त्रों के उलझने का उल्लेख कर उसमें रंग भर दिया गया है। शेष पंक्तियों में गति और रूप का मिश्रण है।

### आलम्बन चित्र

रेखाओं तथा रंग द्वारा प्रगीतात्मक चित्रांकन करने में नन्ददास की प्रवीणता उनके

---

१. नं० ग्र०, रासपंचाध्यायी, ५ अध्याय ८१-८२
२. ,, ,, ,, ८५
३. ,, ,, पृ० ३४ दो० ६२
४. ,, ,, ,, ३५ ,, ६३
५. ,, ,, ,, ३५ ,, ६४

पदों में भी दिखाई पड़ती है। चित्रकला के इन दोनों माध्यमों का प्रयोग उन्होंने पृथक्-पृथक् भी किया है और मिश्रित रूप में भी। धनुष-यज्ञ के प्रसंग में सीता के हृदय की आतुरता, राम का अन्तर्ज्ञान और धनुष तोड़ने का चित्रण तीन रेखाओं द्वारा संश्लिष्ट रूप में किया गया है। माध्यम का संक्षेप विषय का विशाल पृष्ठाधार वर्णित करने में असमर्थ नहीं रहा है—

फूलन की माला हाथ फूली फिरें आली साथ
झांकत झरोखे ठाढ़ी नन्दिनी जनक की।
कुंवर कोमल गात को कहै पिता सों बात
छांड दे यह पन तोरन धनुक की।
नन्ददास प्रभु जानि तोरयो है पिनाक तानि
बांस की धनइया जैसे बालक तनक की।[1]

प्रखर और तीव्र रेखाओं से युक्त तथा कुछ रंगों से संस्पर्शित हनुमान के समुद्रोल्लंघन का यह चित्र भी देखने योग्य है। गिरि की विशालता, समुद्र की गम्भीरता, हनुमान की गति और सृष्टि पर उनके कूदने का प्रभाव ये सब अंग इस विशाल पृष्ठभूमि से युक्त चित्र के विधायक तत्व हैं। कुछ रेखाओं ही में उन्हें समेट लेना नन्ददास जैसे कुशल कवि की ही सामर्थ्य थी—

जब कूदो हनुमान उदधि जानकी सुधि लेन को
देखन दसनाथ अपने नाथ को सुखदेन को॥
जा गिरि ते चढ़ि कुलांच लीनी उचकैयां
सो गिरि दस जोजन धंसि गयो धरनी कहियां
धरनी धंसि गई पताल मार परे जाग्यो
सेसहू को सीस जाय कमठ पीठ लाग्यो॥
अन्त बदन तेज सदन पीत बसन गात है।
अन्तरतें दच्छिन मानों मेल उड़्यो जात है॥[2]

गोचारण के उपरान्त नगर में प्रवेश करते समय गोकुल की सांकरी गली में कृष्ण और गोपियों की प्रेम-लीलाओं के इस चित्र की पार्श्वभूमि भी विशाल और विस्तीर्ण है। गोचारण के उपरान्त लौटती हुई गायों का गोकुल की संकीर्ण वीथियों में प्रवेश, चित्र का एक अंग है, अटारी के गवाक्षों से झांकती हुई कृष्ण पर कंकड़, चंपकली और कुंदकली फेंकती हुई गोपियां, चित्र के दूसरे अंग का निर्माण करती हैं और तीसरा तत्व है कृष्ण का क्रियाकलाप जो किसी गोपिका से 'हां' करते हैं और किसी से 'ना'। नन्ददास-कृत इस चित्र में उस स्थूल प्रवृत्ति के प्रथम चिह्न दिखाई पड़ने लगते हैं जिसने आगे चलकर चित्रकला का रूप पूर्ण रूप से जड़ बना दिया।

हांके हटक-हटक, गायें ठठक-ठठक रहीं,
गोकुल की गली सब सांकरी।

१. न० ग्र०, रासपंचाध्यायी, पृ० ३२४, पद ४
२. ,, ,, ,, ३२६, पद १६

जारी अटारी झरोखन मोखन झांकत,
दुरि दुरि ठौर-ठौर तें परत कांकरी।
चंपकली कुंद कली वरसत रसभरी,
तामें पुनि देखियतु लिखे हैं आंकरी।
नन्ददास प्रभु जहां जहां ठाढ़े होत तहीं तहीं
लटक लटक काहू सो हां करी और ना करी।[1]

बालकृष्ण के निम्नोक्त रूप-चित्र में रेखायें ही प्रधान हैं पर रंग का संकेत उन रेखाओं में निहित है। यद्यपि उनमें रंगों का उल्लेख नहीं किया गया है परन्तु अलकावली, गोरोचन-तिलक, काजल और किंकिनी में श्याम और पीत वर्णों की प्रतिरूप योजना की गई है—

नंद को लाल ब्रज पालने झूलें,
कुटिल अलकावली, तिलक गोरोचन।
चरन-अंगूठा मुख किलक किलक कूलें,
नैननि अंजन सुरेख, मेष अभिराम सुचि।
कंठ केहरि नख किंकिन कटि झूलें,
नन्ददास के प्रभु नन्द नन्दन
कुंवर निरखि नागरि देह जेह भूलें।[2]

कायिक और मानसिक दोनों प्रकार के शृंगार-जन्य अनुभावों की अभिव्यक्ति नन्ददास जी ने बड़ी कुशलता से की है। रूपासक्ति के इस चित्र की सजीवता से इसका अनुमान किया जा सकता है—

जल कौं गई सुधि बिसराई, नेह भर लाई परी है चटपटी दरस की
इत मोहन गांस उत गुरुजन त्रास चित्र सो लिखी ठाढ़ी नाउँ धरत
सखि अरस की।
टूटे हार, फाटे चीर, नैननि बहत नीर,
पनघट भई भीर सुधि न कलस की।[3]

गोकुल की पनिहारी का सजीला और रंगीला व्यक्ति-चित्र तीखी रेखाओं और हल्के वर्णों के संयोग से प्रस्तुत किया गया है। गोपिका के सौन्दर्य में लावण्य और माधुर्य का अपूर्व संयोग हुआ है—व्रजबाला के काजल-संयुक्त दीर्घ नेत्र, कुसुम्भी सारी में आवृत्त गौर-वर्ण, मुक्ता-माल से युक्त गोरी स्वस्थ बाहें उसके रूप का निर्माण करती हैं और कृष्ण को देखकर उसकी तन्मय विमुग्धता के चित्रण से नन्ददास ने उसके रूप में प्राण भर दिये हैं—

गोकुल की पनिहारी पनिया भरन चली,
बड़े बड़े नैन तामें खुभि रह्यौ कजरा।

---

१. न० ग्र, पृ० ३४३, पद ५०
२. ,, ,, ३३८ ,, ३४
३. ,, ,, ३५२ ,, ८०

पहिरे कुसुम्भी सारी अंग-अंग छवि भारी
गोरी गोरी बाँहन में मोतिन के गजरा।
सखि संग लिये जात हँसि हँसि करत बात
तनहू की सुधि भूली सीस धरें गगरा।
नंददास बलिहारी, बीच मिले गिरिधारी,
नैननि की सैननि में भूलि गईं डगरा।[1]

रंगों की अव्यवस्था तथा वस्त्रों की अस्तव्यस्तता के चित्रण द्वारा पर-स्त्री-रत नायक का चित्र खंडिता की उक्तियों द्वारा बड़ी विदग्धता के साथ व्यक्त हुआ है। नायिका तथा नायक की शरीर-सज्जा के उपकरणों की अस्तव्यस्तता तो है ही, नेत्रों की लालिमा, लटपटे और डगमगाते चरण, अंगड़ाइयां और जम्हाइयां लेता हुआ शरीर भी इस चित्र के निर्माण में योग देता है—

अंजन अधर धरें, पीक लीक सोहैं आछी
काहे को लजात झूठी सौंह खात।[2]

अंजन अधरनु पीक महावर नैननि रंग रंगे रग रोरिया।[3]

भले भोर आये नैना लाल।
अपुनो पट पीत छांड़ि नीलाम्बर लै विलसे
उर लगाईं नई रसिक रसीली बाल।[4]

आगत-पतिका, अभिसारिका, प्रौढ़ा, अधीरा, प्रेमगर्विता, विरहिणी नायिकाओं के चित्रों में भी उनकी रेखाओं की सजीवता और शक्ति का प्रमाण मिलता है। विस्तार भय से उन सबको यहां उद्धृत करना सम्भव नहीं है।

ध्वनि और रूप-व्यंजक रेखाचित्र द्वारा परिस्थिति तथा अनुभूतियों के व्यक्तीकरण का एक उदाहरण लीजिए। मान-लीला का पद है—

बोलन लागे ठौर ठौर तमचूर
तुहिं नहिं बोली री पिक-बैनी।
कमल-कली बिकसी तुहिं न तनक हँसी
कौन टेव करी मृग-सावक नैनी।

ताम्रचूड़ तथा उसका जागृति-व्यंजक स्वर और नायिका का मौन, कमल-कली का विकासपूर्ण हास और मृगनयनी नायिका का मान। इन पंक्तियों में ध्वनि और रूपक के प्रतिरूप पक्षों के चित्रण द्वारा प्रभावात्मक वातावरण की सृष्टि की गई है।

---

१. न० ग्र०, पृ० ३५३, पद ८३
२. ,, ,, ३५७, पद ९९
३. ,, ,, ३५७, पद ९८
४. ,, ,, ३५६, पद ९७

वर्षा-ऋतु के घुमड़ते हुए बादलों की पार्श्व-भूमि में राधा और कृष्ण के वेश-विन्यास में अनेक वर्णों की यह योजना बड़ी रंगीन और स्निग्ध बन पड़ी है—कृष्ण की पाग और राधा की चुनरी की लहरिया तथा कृष्ण की मोर-चन्द्रिका में सावन का उल्लास मानों साकार हो उठता है—

लाल सिर पाग लहरिया सोहे।
तापर सुभग-चन्द्रिका राजत, निरखि सखी-मन मोहे
तैसोई चीर-लहरिया पहिरे सोभित राधा-प्यारी
तैसेई घन उमड़े चहुँ दिसि तैं नंददास बलिहारी ॥[1]

कहीं-कहीं वैभव की आभा का चित्रण ही कवि का ध्येय बन गया है—

गोकुलराय की पौरि रच्यो है हिंडोरना
कंचन-खंभ बनाय चित के चोरना
चित चोरना बिधि खम्भ बानक रतन डांडी सोहनी
पटुली कनक की तिही बानक की बनी मनमोहनी ॥[2]

नन्ददास को विविध वर्णों की योजना ही अधिक प्रिय रही है परन्तु कुछ चित्र एक वर्ण प्रधान भी हैं—

आली, सावन की पून्यो हरियारी, हरी भूमि
सोहत पिय, संग झूलौंगी नवल हिंडोरे।
बरसत मेह भद्र लागत प्यारो मोहि
सखी आज प्रियतम को प्रेमरंग बोरे।
पीत कुलह राजै, चूनरी सुपीत साजै,
लहंगा पीत कंचुकी पीत सोहै तन गोरे।[3]

सावन की हरियाली की पृष्ठभूमि में कृष्ण और राधिका के पीत वस्त्रों के रंगों में मनोहर अनुरूप वर्ण-योजना का अंकन हुआ है।

प्रतिरूप वर्ण-योजना के इस पद में श्याम कदम्ब, स्वर्ण-खम्भ, श्वेत दासन की योजना में विरोध और प्रतिरूपता होते हुये भी अनुकूलता है—

हिंडोरे झूलत गिरधर लाल।
मधुवन सघन कदम्ब की डारें, झूलत झुमत गुपाल।
कंचन-खम्भ सुभग चहुँ डांडी पटुली परम रसाल।

१. न० ग्र०, पृ० ३७२, पद १४७
२. „ „ ३७५, पद १५४
३ „ „ ३७७, पद १६१

सेत बिछौना बिछे जु ता तर बैठे मदन-गोपाल ।
ताल मृदंग बजावत युवती गावत गीत रसाल ॥[1]

प्रकृति-चित्रों में रंग, सौरभ, रूप और ध्वनि के संयोजन में नन्ददास की बिम्ब निर्माण शक्ति का परिचय मिलता है—

लहकनि लागी वसन्त बहार सखि ! त्यों त्यों बनवारी लाग्यौ बहकनि ।
फूले पलास नख-नाहर फैसे, तैसोई कानन-लाग्यौ री महकनि ।
कोकिल मोर सुक सारस खंजन, भ्रमर देखि अंखियाँ लगीं ललकनि ॥[2]

यहां कवि का अभीष्ट वसन्त के आगमन के द्वारा कृष्ण की उद्दीप्त -भावनाओं का चित्रण करना है । वसन्त का आलम्बन-रूप में चित्रण कर उसमें उसके उद्दीपन तत्व का संकेतमात्र किया गया है । पर यह संकेत विस्तृत चित्रण से भी अधिक प्रभावपूर्ण बन पड़ा है । 'लहकनि' शब्द में ही वसन्तकालीन प्राकृतिक वैभव का द्युतिपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता है । नाहर-नख के समान विकसित पलाश की लालिमा उस चित्र में गहरे रंग का स्पर्श देती है ।

ध्वनि, माधुर्य और रंगों के सम्यक् प्रयोग तथा सौरभ की स्निग्धता इस चित्र में देखने को मिलती है । प्रकृति का संगीत एक ओर मानवीय संगीत के साथ स्वर मिला रहा है दूसरी ओर अबीर और केसर के सौरभपूर्ण वर्ण अपने अभीष्ट की पूर्ति बड़ी कुशलता से करते हैं—

कुंज कुटीर मिलि जमुना तीर, खेलत होरी रस भरे बीर ।
एकु ओर बलबीर धीर हरि, एक ओर जुवतिन की भीर ।
केकी कीर कल गुन-गंभीर पिक, डफ मृदंग धुनि कर मंजीर।
पग मंजीर कर लै अबीर, केसर के तीर, छिरकत हैं चीर ।
ह्वै गये अधीर रतिपथ के तीर, आनन्दसमीर परसन सरीर।[3]

उषाकाल के आगमन का समग्र चित्र भिन्न-भिन्न रेखाओं और वर्णों के माध्यम से कुशलतापूर्वक व्यक्त हुआ है। आकाश, पृथ्वी और मानव-जगत् पर उसके प्रभाव के चित्रण के साथ ही कवि ने उष्ण शृंगार की अभिव्यक्ति भी की है जिस पर आध्यात्मिक आवरण चढ़ाने पर भी उसकी स्थूल मांसलता प्रभातकालीन प्रकृति की सात्विकता पर व्याघात करती है—

तबहीं भोर के लच्छन भये, तार हार सीतल ह्वै गये
दीपग फीके फूल ऐलाने, परकिय तियनि के हिय अकुलाने
कुरकुट सुन चुरकुट भइ बाला, लीने उससि उसांस विसाला ।[4]

---

१. न० ग्र०—रासपंचाध्यायी पृ० ३७०, पद १६३
२. ” ” ” ३७६, पद १६६
३. ” ” ” ३८१, पद १७४
४. रूपमंजरी, पृष्ठ १४८

नन्ददास जी के रुक्मिणी-मंगल ग्रन्थ के आरम्भ में ही कुछ लक्षित रेखा-चित्रों की योजना मिलती है। ये विभिन्न अनुभाव-चित्र बड़े ही सजीव बन पड़े हैं। शिशुपाल से विवाह का समाचार प्राप्त होने पर कृष्ण की प्रेमिका रुक्मिणी की स्तब्धता का यह चित्र रेखाओं में बद्ध होकर मानो सदा के लिए स्थिर हो गया है। रुक्मिणी के अन्तर की पीड़ा उसके ठंडे उच्छ्वासों और मौन में ही मुखरित हो रही है—

सिसुपालहिं को देत रुकिमनी बात सुनी जब
चित्रलिखी सी रही दई यह कहा भई अब ॥[1]

दूसरे दो चित्रों में रुक्मिणी की आकुल चेष्टाओं के सूक्ष्म चित्रण में विरहिणी के सार्वकालिक और सर्वदेशीय रूप की साकारता प्राप्त होती है—

अलि पूछत वलि वाल, कहो नैननि क्यों पानी
पुहुप रेनु उड़ि परयो कहत तिनसों मधु-बानी।[2]

काहू के ढिग कुंवर बड़हि बड़ स्वासन लेई
कहत बात मुख मूंद मूंद उत्तर नहिं देई ॥[3]

निम्नोक्त दो चित्र मानसिक और कायिक अनुभावों के संयुक्त रूप हैं जिसमें अपने अंचल से आंसू सुखाती हुई विरहिणी का चिर शाश्वत रूप साकार है—

इहि विधि धरि मन धीर चीर अँसुवन सिराय कै
लिख्यो पत्र सु विचित्र चित्र रुपिमनि बनाय कै।[4]

नन्ददासजी ने आलम्बन रूप में व्यक्ति-चित्र, समूह-चित्र और प्रकृति-चित्रों का अंकन किया है। अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में रेखाओं और रंगों दोनों का पृथक्-पृथक् तथा सम्मिलित प्रयोग उन्होंने किया है। अनुभाव-चित्रण में अधिकतर रेखाओं का ही प्रयोग हुआ है, पूर्व-मध्यकालीन चित्र-कला की विशेषतायें उनके लक्षित-चित्रों में देखने को मिलती हैं। उनमें रंगों और रेखाओं का संतुलित प्रयोग हुआ है। चित्र मार्मिक और सजीव हैं। जड़ता का दोष उनमें नहीं आने पाया है। उनके समूह-चित्र तथा विशाल पृष्ठभूमि से युक्त चित्र विशेष रूप से सफल बन पड़े हैं।

## परमानन्ददास जी की चित्र-योजना

परमानन्ददास की चित्र-योजना की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सहज मार्मिकता। उनका प्रभाव अत्यन्त सात्विक और मृदुल होता है। मानसिक अनुभावों के चित्रण में वे अद्वितीय हैं। उनके चित्रों में रेखायें अधिक और रंग हल्के हैं। ध्वनि और गति-चित्रों में भी

---

१. रुक्मिणी मंगल, पृष्ठ २००, पद ३
२. रुक्मिणी मंगल, न० ग्र०, पृष्ठ २००, पद ६
३. ,, ,, पृष्ठ २००, पद ७
४. रुक्मिणी मंगल, पृष्ठ २०२।२४

एक विशिष्ट मृदुलता है।

मन्द मन्द अम्बर धर घोरे रई घघर के लावे।
नूपुर कनक क्षुद्र घंटिका रज्जु आकर्षित वाजे।
मिश्रित धुनि उपजत तेहि अवसर देखि सची-पति लाजे।[1]

निम्नोक्त पद में देहली-उल्लंघन के पद की सजीवता का निर्माण भी सहज रेखाओं में 'मनिमय आंगन और धूर' के वर्णों का स्पर्श करके हुआ है। 'रिंगना' जैसे अनुकरणात्मक शब्द में घुटनों के वल चलते हुये कृष्ण की गति साकार हो गई है।

मनिमय आंगन नन्दराय के बाल गोपाल तहां करें रिंगना
गिरि गिरि परत घुटुवन टेकत, जानु-पानि मेरे छंगन को मंगना
धूसर धूर उठाय गोद ले मात जसोदा के प्रेम को भंजना ॥[2]

हल्की ध्वनियों तथा लाल और श्वेत वर्णों द्वारा चित्रित 'नन्द जू के लाल' का यह चित्र देखने योग्य है—

नन्द जू के लालन की छवि आछी।
पायं पैंजनी रुनझुन वाजत चलत पूंछ गहि वाछी।
अरुन अधर दधि मुख लपटानो तन राजत छींटे छाछी।
परमानन्द प्रभु वालक लीला हँसि चितवत फिर पाछी।[3]

परमानन्ददास के चित्रांकन में भावना तथा कल्पना का कितना गहरा पुट है, निम्नलिखित दो पदों के विश्लेषण से यह वात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाएगी। दोनों ही चित्र दधि-मन्थन-प्रसंग के हैं—एक में 'गरवीली ग्वालिन' तथा दूसरे में वात्सल्य-स्निग्ध-यशोदा दधि-मन्थन कर रही है। पहला चित्र है—

दधि मथति ग्वालि गरवीली री
रुनक-झुनक कर कंगन वाजे वांह हलावत ढीली री
कृस्न देव दधि माखन मांगत नाहिन देत हठीली री
भरी गुमान विलोवन लागी अपुने रंग रंगीली री
हँसि वोल्यौ नन्दलाल लाड़िलो कछु एक वात कहीलो री
परमानन्द-नन्द नन्दन को सरवसु दियो है छवीली री ॥[4]

रूप-गर्विता नायिका जिस अदा से मथानी चलाती है वह हाथ के साथ 'ढीली' शब्द के प्रयोग के द्वारा वड़े कौशल से व्यक्त होता है, कृष्ण को गर्व दिखाते हुये मथनी की गति और कंगन की रुनझुन मानों उसकी कठोर मुद्रा में छिपे हुए प्रेमजन्य आवेश से धड़कते हुए

---

१. परमानन्द सागर, पृष्ठ १६, पद ४७—स० गो० ना० शुक्ल
२. परमानन्द सागर, पृष्ठ २३, पद ६२—स० गो० ना० शुक्ल
३. ,, ,, २६ ,, ८८ ,,
४. ,, ,, ४५ ,, १३६ ,,

हृदय का परिचय देते जान पड़ते हैं। कृष्ण को देखकर भी न देखने का अभिनय और उनकी एक बात से ही द्रवित हो जाने की कहानी इस छोटे से सरल चित्र में अंकित है।

दूसरा चित्र है—

प्रात समै गोपी नन्दरानी।
स्रम अति उपजत तेहि अवसर दधि मथत माट मथानी
तेहि छिन लोल के बोल विराजत कंकन नूपुर क्वनित एक रस
रजु करखत भुज लागत छवि गावत मुदित स्याम सुन्दर जस।[1]

दधि-मन्थन की स्थिति में नन्दरानी के चित्र में उनके मातृत्व और गंभीर व्यक्तित्व की गरिमा व्यक्त होती सी जान पड़ती है। उपकरणों की समानता होते हुये भी दोनों चित्रों की आत्मा में आकाश-पाताल का अन्तर है।

रासलीला सम्बन्धी इस पद में कृष्ण और गोपिकाओं के रूप और शृंगार-सज्जा का वर्णन पाठक की कल्पना के लिये छोड़कर उनके गति और नृत्य का चित्रण करके ही कवि ने संतोष कर लिया है। टूटती हुई मोती की माला और विमल चन्द्र की स्निग्ध ज्योत्स्ना के द्वारा कार्य-कलाप की गतिशीलता तथा प्राकृतिक उद्दीपन के चित्रण में वैदग्ध्य या कौशल नहीं है—

रास विलास गहे कर-पल्लव इक इक भुजा ग्रीवा मेली
द्वै द्वै गोपी बिच बिच माधो निरतत संग सहेली
टूट परी मोतिन की माला ढूंढत फिरत सकल गुवाली
सरद विमल नभ चन्द विराजत निरतत नन्द-किसोरा
परमानन्द प्रभु वदन सुधा-निधि गोपी नैन चकोरा।[2]

रास के पदों में संगीतमय वातावरण की सृष्टि के लिये वाद्ययन्त्रों की झनकार, नृत्य की गति तथा शास्त्रीय संगीत का आलाप भी लक्षित चित्रों में सजीवता के साथ व्यक्त हुआ है। तन्मयता की स्थिति में शृंगारिक क्रीड़ाओं के चित्रण से चित्र प्राणवान हो उठा है—

रास रच्यो वन कुँवर किसोरी।
मंडल विमल सुभग वृन्दावन पुलिन स्याम घनघोरी।
बाजत वेनु रबाब किन्नरी कंकन नूपुर किंकिनि सोरी।
ततथई ततथई सब्द उघटत पिय भले बिहारी बिहरत जोरी।
बरहा मुकुट चरन तट आवत धरे भुजन में भामिनि मोरी।
आलिंगन, चुम्बन, परिरंभन परमानन्द डारत तृन तोरी।।[3]

संगीत के अलौकिक प्रभाव-वर्णन के फलस्वरूप एक स्थिर चित्र की योजना देखिये। बाह्य

१. परमानन्द सागर, पृष्ठ ४६, पद १३७
२. " " ७२ " २२८
३. " ,, ७२, पद २३०

उपकरणों की स्थिरता में आनन्द से अभिभूत हृदय की स्थिति का जो संकेत निहित है वही इस चित्र की विशेषता है—

आजु नीको वन्यो राग आसावरी।
मदन गुपाल वेनु वजावत मोहन नांद सुनत भई बावरी।
बछरा खीर पिवत थन छांड्यो, दंतन तृन खंडित नहिं गावरी।
अचल भये सरिता मृग पंछी खेवट चकित चलत नहिं नावरी।
कमलनयन घनस्याम मनोहर सब विधि अकथ कथा है रावरी।
परमानन्द स्वामी रति नाइक यह मुरली रस रूप सुभावरी॥[1]

विना किसी प्रकार की पृष्ठभूमि और आडम्वर के श्रीकृष्ण के आंगिक चित्र भी बड़े भावपूर्ण बन पड़े हैं—

वह मुस्कान वहै चारु विलोकनि अवलोकत दोऊ नैन छके री।[2]

धमार और वसन्त के पदों में सामूहिक उल्लास के चित्र परमानन्ददासजी ने भी अंकित किये हैं पर इन चित्रों में उनकी कला नन्ददास की कला के समान संश्लेषणात्मक न होकर विश्लेषणात्मक है। एक-एक रेखा अलग-अलग चित्र का निर्माण करती है और सबके संयोजन से केलिरस की अस्तव्यस्त स्थिति का चित्रण होता है—रूप, रंग, गति, क्रिया की भिन्नता समीकृत होकर एक प्रभाव डालती है वह है अस्तव्यस्तता, अव्यवस्था और मादक तन्मयता का—

गोकुल ग्राम सुहावनो वृन्दावन सों ठौर
खेलहि ग्वालिन ग्वारिया रसिक कान्ह सिरमौर।
इक गोरी इक सांवरी एक चंदवदनी सोहे वाल
एकन कुंडल जगमगे एकन तिलक सुभाल।
एकन चोली अधखुली एक रही बंद घूटि
एक अलकावलि उर धरे एक रही लटखूटि
एकन चीर जो सखि भरे एकन लटकत झूम
एक अधर रस घूंट ही एक रही कंठ झूम।[3]

विमुग्ध तन्मयता का यह चित्र देखने योग्य है, जहाँ चेतन रहते हुये भी व्यक्ति अचेतन और पागल वन जाता है—

गुवालिनी ठाड़ी मथति वह्यो।
उलटी रई, मथनिया टेढ़ी, विनहिं नेत कर चंचल
निरखि चंद मुख लीन्यों काढ़ति थकित नैन के अंचल।[4]

---

१. परमानन्द सागर, पृष्ठ ७६, पद २५०
२. ,, ,, १०८, पद ३२४
३. ,, ,, ११२ ,, ३३४
४. ,, ,, १२४ ,, ३६५

शृंगार-भाव-जन्य कायिक और मानसिक अनुभावों का एक सजीव और सजग चित्र देखिये—

अति रति स्याम सुन्दर सों बाढ़ी।
देखि सरूप गोपाल लाल कौ रही ठगी सी ठाढ़ी।
घर नहिं जाइ पंथ नहिं रेंगति चलनि ब्रलनि गति थाकी।
हरि ज्यों हरि को मगु जोवति काम मुगुधपति ताकी।
नैनहि नैन मिले मन अरुझ्यो यह नागरि वह नागर।
परमानन्द बीच ही वन में बात जु भई उजागर॥[1]

कृष्ण के रूप तथा लीलाओं के चित्रण के साथ गोपिका के हृदय की आकुल भावनाओं का चित्रण बड़ा सजीव और मार्मिक बन पड़ा है। चितचोर नंद के लड़ेते की चोरी की प्रक्रिया देखिये—

कहां करौं मेरी माई नंद लड़ेते मेरो मन चोर्यो।
स्याम सरीर कमल-दल लोचन चितवत चले कछू मुख मोर्यो।
हौं अपने आंगन ठाढ़ी ही तबही हरि निकसि ह्वै आये।
नेक दृष्टि दीनी उन ऊपर कर मुख मूंदि चले मुसकाये।
तबते मोंहि घर की सुधि भूली जबतें मेरे नैननि लाई॥[2]

परमानन्ददासजी के चित्रों में ऋजु रेखाओं की ही प्रधानता है। उनमें रंगों का वैभव अथवा रेखाओं की वक्रता नहीं है। अनुभूति की अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य है और इस अभीष्ट की पूर्ति इन रेखाओं की सहजता द्वारा बड़े कौशल के साथ हुई है।

## कुम्भनदास

कुम्भनदासजी के रास सम्बन्धी पदों में गति, सौरभ और वर्णों के संयोजन द्वारा प्राणवन्त चित्र उपस्थित किये गये हैं। शास्त्रीय संगीत तथा नृत्य के साथ दरबारी वातावरण के स्पर्श के कारण भी कहीं-कहीं चित्रों में स्थूलता आ गई है—

चर्वन ताम्बूल देत ध्रुव तालहि गति हिं लेत।[3]

परिचारिकाओं अथवा नायिकाओं द्वारा ताम्बूल प्रदान का उल्लेख तो संस्कृत साहित्य में मिलता है परन्तु रास-नृत्य में पान-तम्बाकू का यह वितरण तत्कालीन वातावरण के प्रभाव स्वरूप समाविष्ट हो गया है।

शास्त्रीय नृत्य की मुद्राओं और गतिविधियों का चित्रण कुंभनदासजी के पदों में सजीवता से हुआ है। कत्थक-नृत्य की विभिन्न गतियां इस पंक्ति में साकार हो उठी हैं—

---

१. परमानन्द सागर, पृष्ठ १२५, पद ३६७
२. परमानन्द सागर, पृष्ठ १४०, पद ४१४
३. कुम्भनदास, पृष्ठ २२, पद ३५—वि० वि० कां०

चल नितम्ब किंकिनि कटि लोल थंक ग्रीवा
राग-तान-मान सहित वेनु-नाद सींवा ॥[1]

निम्नोक्त पद में व्यक्त गति-प्रधान चित्र में कत्थक-नृत्य के सबल पदाघातों द्वारा झनकते हुये घुंघरुओं की आवाज, विभिन्न वाद्य-यन्त्रों के बीच मुखरित मुरली का स्वर और नृत्य करती हुई बालाओं का रूप-सौन्दर्य बिखरा पड़ रहा है—

लीन्हें सरस सुर राग-रंग बीच मिलि मुरली कढ़ी ।
होन लाग्यो नृत्य बहु विधि नूपुरनि-धुनि नभ चढ़ी ।
डुलत कुंडल खुलत वेनी, झूलति मोतिन माला
धरत पग डगमग विवस, रस-रास रच्यो नंदलाला ।
पगनि-गति कौतुक मचे कटि मुरि-मुरि मध्य लचै
सिथिल किंकिनी सोहै, ता पर मुकुट लटक मन मोहै
मोहे जु मन्मथ मुकुट-लटकनि, मटक पग-गति-धरन की
भंवर भरहर चहूं दिसि छवि, पीत पट फरहरन की ॥[2]

यमुना के नील जल के कगार पर विभिन्न फूलों के रंग और सौरभ, पूर्णचन्द्र की ज्योत्स्ना तथा मधुपों की झंकार की पृष्ठभूमि में व्रजभामिनियों के तन पर चर्चित घनसार का सौरभ और उनके शरीर की थिरकन और भी सजीव हो उठी है—

सूर-सुता के पुलिन मांझ मानो फूले कुमुद कल्हार
अद्भुत सतदल विकसित मानो, जाही जुही निवार
मलय पवन बहै सरद-पूरन चंद, मधुप-झंकार
व्रज-भामिनि संग प्रमुदित नाचत, तन चरचित घनसार ।[3]

फाग सम्बन्धी पदों में कहीं-कहीं माधुर्य-भावना का सात्विक उल्लास बिल्कुल ही लुप्त हो गया है और रह गई हैं केवल वाह्यस्थूल क्रीड़ायें । जैसे—

काहू के चिबुक चारु परसि, काहू की वेसरि, काहू की
खुभी काहू के करत कंचुकी के बन्द खोलना
काहू के लेत हार तोरि, काहू की गहत भुज मरोरि
काहू कों पकरि छांडि देत, करि झंझोलना ।[4]

इस प्रकार के चित्रों में कृष्ण पूर्ण रूप से रीतिकालीन नायक बन गये हैं ।

होली के रंगीन और सौरभपूर्ण वातावरण के चित्र अन्य कवियों की भांति कुम्भनदासजी ने भी सजीवता के साथ अंकित किये हैं—

---

१. कुम्भनदास, पृष्ठ २३, पद ३७—वि० वि० कां०
२. " " २५, पद ४३ "
३. " " २६, पद ४४ "
४. " " ३६ " ७४ "

चोवा चंदन अगर कुमकुमा धरती कीच मचाई
अबीर गुलाल उड़ाई ललिता सोभा वरनि न जाई।
अरस परस छिरके जु स्याम कों केसरि भरि पिचकाई
नख शिख अंग प्रतिरूप माधुरी भूषन वसन बनाई ॥[1]

मध्यकालीन सामन्ती वैभव का चित्रण इन पंक्तियों में संकेतित है—

ठीक दुपहिरी में खसखाने रचे ता मधि बैठे लाल बिहारी
खासो को कटि बन्यो पिछोरा चन्दन-भींजी कुलह संवारी
विविध सुगन्ध के छुटत फुहारे, कुसमनि के विजना ढोरत पिय प्यारी।
सघन लता द्रुम झरत मालती सरस गुलाब माल गूंथति है प्यारी ॥[2]

मुगल वैभव काल में 'पृथ्वी के स्वर्ग' में स्थित हमामों और शालीमार बाग के सौरभ से यह वर्णन किस अर्थ में कम है ?

विभिन्न वर्णों और वैभव-जन्य आभा का सामंजस्य भी कुम्भनदासजी ने किया है—

पीत पट लाल सारी सुरंग सु छबि भरी
तैसेई मनि खचित खंभ मरुये विधि बनाई।[3]

कंचन रतन आछे जटति, मानिक मनि पटिला,
सुगंध चन्दन-बाढ़ी सुमन अरु सुस्वर सुनि सुबेला।[4]

वर्णों की मिश्रित योजना में भी उनकी दृष्टि पूर्ण परम्परागत नहीं है। वर्ण-योजना का एक उदाहरण लीजिये—

हिंडोरे झूलत स्यामास्याम।
गौर स्याम तन, पीत कसूंभी पहिरे, आनन्द-मूरति काम
मरकत मनि के खम्भ मनोहर डांडी सरल सुरंग
पांच पिरोजनि की पटुली बनी झूमक अति बहुरंग

तथा

कनक खम्भ सरल मांहि, चारि डांडी अति सुहाइ
झूमका नवरंग पटुली अति अमोलना ॥[5]

कृष्ण के किशोर रूप से सम्बद्ध चित्रों में वेश-विन्यास और रूढ़ वर्णन की वर्ण-योजना में परिवर्तन कुम्भनदास के काव्य में किया गया है—निम्नलिखित उदाहरण इस कथन की पुष्टि करेंगे—

---

१. कुम्भनदास, पृ० ३८, पद ७६
२. ,, ,, ४० ,, ८७
३. ,, ,, ४६ ,, १०६
४. ,, ,, ४७ ,, १०६
५. ,, ,, ५५ ,, १३२

नूपुर पग पीताम्बर कटि बांधे
पीत उपरले उर राजति वनमाल।[1]

सीस टिपारो, कटि लाल काछनी
पीत उपरले उर राजति बनमाल।[2]

कसूंभी पाग पीत उपरेना उर गज मोतिन माल।[3]

उज्जवल पाग स्याम सिर राजति अलकावलि मधुपोनी।[4]

शृंगार लीला के अन्तर्गत कृष्ण के रूप-प्रभाव-जन्य नायिका के कायिक और मानसिक अनुभावों का सजीव चित्रण हुआ है—

लोचन मिलि गये जब चार्यो
ह्वं ही रही ठगी सी ठाढ़ी उर अंचर न संभार्यो
टगटगी लागी चरन गति थाकी जिउ व टरत नहिं टार्यो।[5]

अनुरूप वर्ण-योजना के इस पद में श्याम के कृष्ण शरीर पर पीत वर्ण के विभिन्न उपकरणों का सौंदर्य देखिए—

कंकन कुनित चार चल कुंडल तन चंदन की खोरी
माथे कनक बरन को टिपारो, ओढ़े पीत पिछौरी।[6]

प्रेम-जन्य आकुलता की मधुर पीर की कायिक और मानसिक प्रतिक्रिया के चित्रण में रेखाओं की सामर्थ्य देखने योग्य है—

कहां कहे वह मूरति मेरे जिय तें न टरई
सुंदर नन्द-कुंवर के बिछुरे निसदिन नींद रपटई।
बहु विधि मिलनि प्रान-प्यारे की सु एक निमिख न विसरई
ये सुन समझि समझि चित नैननु नीर निरन्तर ढरई
कछु न सुहाइ तालावेली मन, विरह अनल तन जरई।[7]

निर्निमेष नेत्रों की आतुर आकांक्षा इन पंक्तियों में व्यक्त है—

रूप देखि नैननि पलक लागे नहीं।
गोवर्द्धन धर अंग अंग प्रति जहां हो परति रहति नहीं नहीं।[8]

---

१. कुम्भनदास, पृ० ६१, पद १५३—वि० वि० कां०
२. 　,, 　,, ६१ ,, १५४ 　,,
३. 　,, 　,, ६१ ,, १५५ 　,,
४. कुम्भनदास, पृ० ६२, पद १५६—वि० वि० कां०
५. 　,, 　,, ७३ ,, १९६ 　,,
६. 　,, 　,, ७९ ,, २०८ 　,,
७. 　,, 　,, ८० ,, २१४ 　,,
८. 　,, 　,, ८५ ,, २३२ 　,,

लीला-प्रसंग के अनेक पद इसी प्रकार की भाव-व्यंजक स्थितियों से भरे पड़े हैं जिनका विस्तृत निरूपण करना स्थानाभाव के कारण कठिन है।

परस्पर मिलन और सुरतान्त प्रसंग में संयोग शृंगार के उष्ण और सजीव चित्रों का अंकन हुआ ।

वर्षा से सम्बद्ध निम्नलिखित दो चित्रों में क्रमशः प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन पक्षों का चित्रण किया गया है। प्रथम चित्र में प्राकृतिक रंगों तथा सौरभ के संयोजन से जो वातावरण निर्मित किया गया है विप्रलब्धा नायिका पर उसके प्रभाव का चित्रण भी बड़ा सजीव बन पड़ा है—

माई ! कछु न सुहाइ मोहिं, मोर-वचन सुनि वन में लागे सोर करन।
स्याम घटा, पंगति बगुलानि की देखि देखि लागी नैन भरन।
गरजत गगन, दामिनी कौंधति निसि अँधियारी, लाग्यो जीउ डरन।
नींद न परै चौंकि चौंकि जागति सूनी सेज गोपाल घर न।
चन्दन चंद, पवन कुसुमावलि, भये विष सम, लागी देह जरन।[1]

द्वितीय चित्र में उद्दीपन तत्व की व्यंजक रेखायें अपेक्षाकृत गहरी हैं—

निसि अँधियारी दामिनी डरपावति मोंको चमकि-चमकि,
सघन बून्द परति माई री ! अरु चहुं दिसि घन गरजें घमकि घमकि।
बिनु हरि समीपु भवन भयानकु अकेले।
आँखि न लागे चौंकि चौंकि परो हमकि हमकि।[2]

इसी प्रकार कृष्ण के 'एँठवा फेंटा' में मोर-चन्द्रिका की शोभा का वर्णन चाहे जितना कमनीय लगता हो परन्तु यथार्थ कल्पना में उसका रूप उसी प्रकार उपहासप्रद होगा जैसे आज फेल्ट हैट में गुलाब का फूल लगाने की कल्पना की जाय। लेकिन कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के रूप में समसामयिक और परम्परागत वेशभूषा का मिश्रित प्रयोग बिना किसी संकोच के साथ किया है। कृष्ण के रूप-चित्रण में मध्यकालीन चित्रकला के समान ही कुम्भनदास ने मध्यकालीन वेशभूषा का प्रयोग किया है—

ढरकि रह्यो सीस बुसालो मोहन
कटि सूथन कसि पियरो पटुका
उर मनि-कांति अति सोहन।[3]

---

१. कुम्भनदास, पृ० ११६, पद ३५३—वि० वि० कां०
२. " " ११६ " ३५४ "
३. " " ११६, " ३६३ "

कृष्ण की वेश-भूषा में तलवार को सम्मिलित करने की कमी रह गई है नहीं तो यह किसी मध्यकालीन दरबारी का उपयुक्त चित्र बन जाता।

वास्तव में मध्यकालीन चित्रकला की सबसे प्रमुख विशेषता है हिन्दू तथा यवन चित्रकला की शैलियों का समन्वित मिश्रण। हिन्दू नरेशों के दरबार में चित्रकला का विषय पौराणिक उपाख्यानों से ग्रहण किया गया। तत्कालीन कृष्ण-काव्य का योग इस क्षेत्र में सबसे अधिक रहा। ललित-कलाओं का संरक्षण मन्दिरों में भी एक विशिष्ट रूप में हुआ। हिन्दू और यवन राजदरबारों के अतिरिक्त कृष्ण की उपासना पद्धति के द्वारा भी कृष्ण के मन्दिरों में एक दरबारी प्रभाव यदा-कदा लक्षित होने लगा है। राजस्थानी तथा पहाड़ी शैलियों की चित्रकला की स्पष्टता, ऋजुता और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण इन चित्रों में विद्यमान है। कृष्ण और राधा के रूप-चित्रण में यवन वेश-भूषा का समावेश भी इसी समीकरण के फलस्वरूप हुआ है।

## कृष्णदास की लक्षित चित्र-योजना

कृष्ण के बाल-रूप और लीलाओं का चित्रण कृष्णदासजी ने रेखाओं तथा रंगों के मिश्रित प्रयोग द्वारा किया है—

> नन्द को लाल ब्रज पालने झूलें।
> अलक अलकावली, तिलक गोरोचना, चरन अंगुरा मुख विलोकि फूलें।
> नैन अंजन-रेख, मेख अभिराम सुठि कंठ केहरि करज किंकिनि कटि भूलें।[1]

वर्णों का व्यक्तीकरण यद्यपि शब्दों द्वारा नहीं किया गया है परन्तु अलकों की श्यामता के साथ गोरोचन का वर्ण निखर उठा है। नैनों की अंजन-रेखा ने तो चित्र को और भी प्रखर और स्पष्ट बना दिया है।

अलंकरण की अतिशयता से कहीं-कहीं कृष्णदासजी के किशोर कृष्ण का रूप बड़ा बोझिल हो गया है, कृष्ण को भी 'बेसर' धारण करवाया है। निम्नलिखित चित्र में कृष्ण का रूप स्त्रैणता से अधिक दूर नहीं रह गया है—

> श्रवण कुण्डल भाल तिलक, बेसरि नाक,
> कंठ कौस्तुभ मणि सुभग त्रिवलावली।
> रत्न हाटक खचित, पुरसि पदकनि पाँति,
> बीच राजत सुभ पुलक मुक्तावली।

---

१. अष्टछाप-परिचय, कृष्णदास, पृ० २२६, पद १—प्रभुदयाल मित्तल

वलय कंकन वाजूवंद सोमित आजानु भुज
मुद्रिका कर वल, विराजति नखावली।
कटि छुद्र घंटिका जरित हीरा मई
नाभि अम्बुज वलित भृंग रोमावली।[1]

कृष्णदास के मंगला प्रसंग के पदों में लौकिक अनुभूति की इतनी सजीवता है कि उसकी सात्विकता गौण पड़ गई है—

पौढ़ि रही सुख-सेज छवीली, दिनकर किरन झरोखहिं आई
उठि बैठे लाल विलोकि वदन-विधु निरखत नैना रहे लुभाई।
अधर खुले पलक ललन मुख चितवति मृदु मुसकात हँसि लेत जम्हाई
कृष्णदास प्रभु गिरधर नागर, लटक-लटक हँसि कंठ लगाई।[2]

रंगों की प्रधानता कृष्ण के रूप-चित्रण तथा वातावरण-निर्माण दोनों में दिखाई पड़ती है—

झूलत सुरंग हिंडोरे मुकुट धरि बैठे हैं नन्दलाल
लाल काछिनी कटि पर बांधे उर सोमित वनमाल।[3]

ध्वनि और वर्णों के स्पर्श से युक्त यह गतिपूर्ण चित्र कृष्णदास की चित्रांकन शक्ति के उदाहरण रूप में लिया जा सकता है—

स्याम धाम विलोल लोचन, सुभग नन्द किसोर।
कुनित वेनु सुराग संचित राधिका मन चोर।
जै जै चरन नूपुर पीत पट पर, कुनित किंकिनि जाल।
उर सुदेस दुरे अलंकृत, वैजयंती माल।
जै जै कमल वरन वन्यो टिपारो, ओढ़नी रंग लाल
मकर कुंडलि कुटिल कुंतल, सुभग नैन विसाल
जै जै कमल वरन लम्पट अलक, जैं मधुकरन की माल
कहै कृष्णदास विलास जैं गिरधरधरन मोहनलाल।[4]

रूप-चित्रण में अनुरूप और प्रतिरूप वर्ण-योजना भी की गई है—

१. अष्टछाप-परिचय, कृष्णदास, पृ० २२७, पद ६—प्रभुदयाल मित्तल
२. ,, ,, ,, २२२ ,, १०, ,,
३. ,, ,, ,, २२६ ,, १४ ,,
४. ,, ,, ,, २३१ ,, २६ ,,

कटि तट सोहति हेमनि दाम
पीत काछ पर अधिक बिराजत, न्याइ सजावत काम
हेरे नील पट ओढ़ रसिक वर लेत दिवस के जाम ॥[1]

स्वर्ण दाम के रंग से मिलता-जुलता काछनी का पीतवर्ण तथा उसके प्रतिरूप नीलवर्ण की योजना मनोहारी बन पड़ी है। वर्णों के मिश्रण द्वारा लक्षित चित्र-योजना भी की गई है—

हं गोपाल हेत कसूंभी कंचुकी रंगाय लई
भली भई सुफल करी आज निसि सुहावनी।
सुभग सारी झुकत तन, स्याम पाट कुसुम नीकी
तनसुख पंचरङ्ग ओट ओढ़नी सुहावनी।
सोहत अलक बिथुरि वदन, मोहन लावण्य सदन,
कृष्णदास प्रभु गिरधर, केलि अति सुहावनी।[2]

शृंगार के कायिक और मानसिक अनुभावों का चित्रण भी सफलता के साथ हुआ है—

वंक चितवनि चितै रसिक तन, गुपत प्रीति को भेव जनायो
मुख की रुखाई गिरत नहिं कबहुं हृदै को प्रेम कैसे जात दुरायो।
लगवगी अलक वदन पर बिथुरी, यह बिधि लाल रहसि चित लायो।[3]

रेखाओं के स्वच्छन्द प्रयोगों में संकेतित खण्डिता नायिका और परस्त्री-रत नायक का चित्र भी सुन्दर बन पड़ा है—

कौन के भुराये भोर आये हो भवन मेरे,
ऊंची दृष्टि क्यों न करो कौन सों लजाने हो
भोरी भोरी बतियन मोहन लागे मोहि
श्री गिरधारी तुम तो निपट सयाने हो।[4]

वर्षा-ऋतु की पृष्ठभूमि में कृष्ण के उल्लास का चित्र देखने योग्य है। मयूर, भृंग, दादुर की ध्वनि एक ओर है और कृष्ण का रूप तथा उल्लास दूसरी ओर—

माई! मोरन संग मदन मोहन लिये तरंग नाचे
दच्छिन अंग टेढ़ो, सिर टेढ़ो तैसोई धर,
टेढ़ किये चरन युगल नृत्य-भेद सांचे।
मृदंग मेघ बजावें, दादुर सुर धुनि मिलावें
कोकिला अलाप गावें वृन्दावन रंग राचे।[5]

---

१. अष्टछाप-परिचय, कृष्णदास, पृ० २३५, पद ४८—प्रभुदयाल मित्तल
२. ” ” ” २३६ ” ५४ ”
३. ” ” ” २३७ ” ५६ ”
४. अष्टछाप-परिचय, कृष्णदास, पृष्ठ २३७, पद ५६—प्रभुदयाल मित्तल
५. ” ” ” २३६, ” ६७ ”

कृष्ण का त्रिभंगी रूप और वर्षा का उद्दीपक वातावरण एक साथ सफलता के साथ व्यक्त हुआ है।

## चतुर्भुजदास की लक्षित चित्र-योजना

चतुर्भुजदास जी की चित्र-योजना में आलम्बन बालकृष्ण का रूप-चित्रण अन्य कवियों के समान ही हुआ है। निम्नलिखित पद की प्रत्येक पंक्ति चित्र में पृथक्-पृथक् रेखा का कार्य कर रही है। यशोदा का वात्सल्य-पुलकित मुख, बालकृष्ण का सहज सुहावना रूप और फिर मां के वात्सल्य-प्रेरित कार्य इन तीन रेखाओं द्वारा सम्पूर्ण चित्र का निर्माण हुआ है। कृष्ण के रूप तथा वात्सल्य-जन्य कायिक और मानसिक अनुभावों की संश्लिष्ट योजना द्वारा ही इस चित्र में रसात्मकता की सिद्धि हो सकी है।

अपने बाल गोपालें रानी पालना झुलावै
बारम्बार निहारि कमलमुख प्रमुदित मंगल गावै
लटकन भाल भृकुटि मसि बिन्दुका कठुला कंठ सुहावै
देखि-देखि मुसकाइ सांवरे द्वै दंतियां दरसावै
कबहुंक सुरंग खिलौना लैलै नाना भांति खिलावै।
सद्य माखन मधु सानि अधिक रुचि अंगुरिनि लैकै चखावै।

किशोर-लीला से सम्बद्ध अनुभाव-चित्रण में नटखट कृष्ण और मुग्धा राधा की प्रेमलीला की पूरी कहानी उतर आती है। प्रेम-सकरार के बाद की मनुहार में स्थूलता के होते हुये भी सजीवता है। इस प्रकार के प्रभाव हमें तत्कालीन चित्र-कला में भी दिखाई पड़ते हैं—

भूलि गयो झगरौ हठु मंद मुसकानि में
जबहि कर-कमल सों परस्यो मेरो हियो।
चतुर्भुजदास नैननि सो नैना मिले
तबहि गिरिराजधर चोरि चितु लियों।[1]

कृष्ण के वेश-विन्यास तथा उसकी रंग-योजना के परम्परागत रूप में चतुर्भुजदास जी ने कुछ परिवर्तन कर दिये हैं। जिस प्रकार मध्यकालीन भारतीय चित्रकला में राधा और कृष्ण को भी यवनों की भूषा से सज्जित किया गया है उसी प्रकार अनेक कवियों ने कृष्ण को भी पाग और सूथन पहिनाया है। पागधारी कृष्ण का यह रूप पौराणिक काल की अपेक्षा मध्यकाल का ही अधिक है—

स्वेतजरी सिर पाग लटक रही कलंगी तामें लाल
तनसुख को बागो अतिराजत कुंडल झलके रसाल।[2]

गोचारण के कुछ पदों में उस जीवन के सुन्दर चित्र अंकित किये गये हैं—

१. चतुर्भुजदास, पृष्ठ १३, पद २३—वि० वि० कां०
२. ,, पृष्ठ १६, पद १६ ,,

आपु गोपाल झक मारत हैं गोसुत कों भरि कौरी
धे धे करत लकुटि कर लीने मुख सों फकरि पिछौरी।[1]

* * *

गांग बुलाई घूमरि धौरी ऊंचे लै लै नाउं बुलावत।[2]

होली के चित्रों में रूप, आभा और संगीत-ध्वनि तथा कोलाहल के साथ रंगों और सौरभ की बौछार चतुर्भुजदास ने भी की है। चित्र वैभवपूर्ण और सजीव बन पड़ा है।

अंगिया लाल लसत तन सारी झूमक उर नव हार।
बेनी ग्रथति डुलति नितम्बिनी कहा कहू बड़डे बार।
मृगमद आड़ी बड्डी अंखियां आंजन अंजन पूरि
प्रफुलित वदन हँसत दुलरावत मोहन जीवन-मूरि

पद जेहरि, केहरि कटि-किंकिनी रह्यो थियकि सुन मार।
घोष घोष प्रति गलिन गलिन प्रति बिछुवन के झंकार।
कंचन कुंभ सीस पर लीनें मदन सिंधु ते भरि के
ढांपें हैं पीत वसननि जतन करि मौर मंजरी धरि कें।

* * *

कुंकुम रंग सों भरि पिचकाई छिरकत जे सुकुमारी
वरजत छींटे जात व्र मनि में घनि वे पोंछनवारी
बदन चंद सों चोवा मथिके नील कंज लपटावो
अलकें सिथिलित पाग सिथिलानी वेई फुनि बांधि बनावे।[1]

गोपिकाओं की सज्जा के विभिन्न उपकरणों में काफी गहरे रंगों का प्रयोग किया गया है। विभिन्न आभूषणों की आभा में रत्नों की आभा का स्पर्श देकर उनकी प्रभावात्मकता बढ़ाई गई है—

नकवेसरि ताटंक कंठसिरी अनुमाति।
चौकी बनी जराइ बूरि करत रवि कांति।
सेंदुर तिलक तम्बोल खुटिला बने विसेख।
सोहत केसरि आड़ कुंकुम काजर रेख।

सम्पूर्ण चित्र में लाल, पीले और श्वेत रंगों का मिश्रण है।

फागुन के उल्लास की भांति ही सावन की हरीतिमा में भी चतुर्भुजदासजी ने वैभव और प्रकृति के विभिन्न उपकरणों के संयोजन द्वारा आभा और उल्लास से युक्त चित्र उतारे हैं। रंगों में ध्वनि के हल्के संस्पर्श ने चित्र को और भी सजीव बना दिया है, जैसे—

---

१. चतुर्भुजदास, पृष्ठ २०, पद ३८—वि० वि० कां०
२. ,, पृष्ठ २१, पद ४१—वि० वि० कां०
३. ,, पृष्ठ ४२, पद ७८ ,,

गरजत गगन दामिनी कौंधति राग मलार जमाए।
कंचन खंभ सुढार बनाये बिच-बिच हीरा लाये।
डांडी चारि सुवेस सुहाई चौकी हेम जराये।
नाना विधि के कुसुम मनोहर मोतिनि भूमक छाये।
रमकति झमक बनी पिय प्यारी किंकिनी सबद सुहाये।[1]

हिंडोला प्रसंग में विभिन्न वर्णों की मनोहारी संयोजना की गई है—

छबीले लाल के संग ललना झूलत नव सुरंग हिंडोरे
सोभित तन गोरे स्याम पीरो पट्ट कसूमी सारी
जटित मानिक मनि पटुला बैठे इक जोरी
तैसी हरित भूमि तैसि के थोरी थोरी बूंदे
तैसिये गावति त्रिय तैसोई घन मधुर-मधुर घोरें।[2]
पटुली पिरोजा लाल चौकी हीरा जड़ी।[3]

विमुग्ध तन्मयता तथा रूपाकर्षण-जन्य प्रभाव का चित्र भी प्रभावात्मक है—

भूल्यो उराहनो को दैबो
सनमुख दृष्टि परे नन्दनन्दन चकितहि करति चितैबो
चित्र लिखी सी काढ़ी ग्वालिन को समुझै समुझैबो।[4]

संगीत के अलौकिक प्रभाव के चित्रण में भी इसी प्रकार की स्तब्धता का व्यक्तीकरण किया गया है—

प्यारी के गावत कोकिला मुख मूंदि रही,
पिय के गावत खग नैना रहे मूंद सब।
नागरि के रस गिरिधरन रसिक वर,
मुरली मलार रागु, अलाप्यो मधुर जब।[5]

'श्री प्रभु को स्वरूप वर्णन' शीर्षक के अन्तर्गत अन्य कवियों की भांति चतुर्भुजदासजी ने भी रूप, वर्ण और सौरभ का मिश्रित प्रयोग किया है। लटपटी, अथवा तिपेची पाग उनकी भूषा का अंग है। कहीं-कहीं कुलाह में गुलाब के फूल की कल्पना कर उसके गुलाबी वर्ण का संकेत किया गया है—

पाग सोहै लटपटी गुलाब के फूल कुलह भरे।[6]

---

१. चतुर्भुजदास, पृ० ७३, पद ११९
२. ,, ,, ७४ ,, १२२
३. ,, ,, ७९ ,, १२६
४. ,, ,, ९० ,, १५४
५. ,, ,, ९९ ,, १७४
६. ,, ,, १०६ ,, १९०

उनके व्यक्तित्व की व्यंजक मुद्रायें भी द्रष्टव्य हैं—

टेढ़ी भांति रुचिर भृकुटी पर देखत कोटिक काम गये फवि ।[1]

काले और पीले रंगों की प्रतिरूप-अनुकूलता का ज्ञान भी उन्हें था ऐसा जान पड़ता है—

तो कों री स्याम कंचुकी सोहे ।
लहंगा पीत रगमगी सारी उपमा को ह्यां को है ।
चिवुक विंदु घर खुभी नैन अंजन प्यारि के खूब सोहै ।[2]

शृंगार-सज्जा के एक-एक उपकरण उसी स्पष्टता से अंकित हैं जितनी स्पष्टता से वे चित्रकला में अंकित होते हैं ।

कृष्ण के फहराते हुए पीताम्बर तथा लाल पाग में भी चतुर्भुजदासजी के काव्य में प्रतिरूप रंग-योजना की गई है—

आजु भाई पीताम्बर फहरात,
कुंडल लोल कपोल बिराजत लाल पाग फहरात ।[3]

सौरभ, वर्ण और आभा से युक्त निम्नोक्त चित्र में भी मध्यकालीन वातावरण के तत्व विद्यमान हैं परन्तु चित्र में व्यक्त कृष्ण, जड़ प्रतिमा मात्र जान पड़ते हैं । फुलेल, चंदन, पुष्पों तथा कुसुम कलियों का सौरभ, स्नान किये हुये व्यक्ति की निर्मलता में एक सात्विक प्रभाव उत्पन्न करता है परन्तु प्रथम पंक्ति में कुसुम सेज और आगे चलकर विभिन्न आभूषणों की झनकार के संस्पर्श के द्वारा चित्र में मांसल प्राण-तत्व का समावेश भी हो गया है जिससे चित्र की सात्विकता में व्याघात पहुंचा है—

कुसुम सेज मांझ करत सिंगार ।
प्यारी पियहिं फुलेल लगावत कोमल कर सुरझावत वार ।
चंदन घिसि अंग मज्जन कीनो, जमुना-जल भरत डारत धार ।
नहाई बहोरि अंगोछि अंग को सरस वसन पहिरावत टार ।
पीत पिछोरी वांधि कटि कसि, तापर कटि-किंकिनि-झनकार
फेंटा पीत सीस पर वांध्यो कसि, दुहुं दिसि लटकत अलक परे घुंघरार ।
दोऊ पग नूपुर धुनि वाजत, कंठ गोप मनि मुक्ता हार ।
वाजूवंद राजत कर पहुंची, पुष्पनि माल वनी सुभ सार ।
कुसुमकलनि को मौर वनायो, आई मालिन तें कर थार ।[4]

सुरतान्त प्रसंग में वस्त्र-आभूषणों और शृंगार के अन्य उपकरणों की अस्तव्यस्तता के द्वारा अनेक सजीव चित्र खींचे गये हैं । एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

---

१. चतुर्भुजदास, पृ० १०६, पद १८५
२. ,, ,, १०६ ,, १६६
३. चतुर्भुजदास, पृ० ११२, पद २०५
४. ,, पृ० ११३, पद २०६

आवति भोर भये कुंजभवन ते कहुं-कहुं अरुझे कुसुम केस में
रति रस रंग भीनी सोहे सारी तन झीनी
भूषन अटपटे अंग-अंग छवि देखियत सुदेस में।[1]

* * *

इत विगलित कच माल मरगजी अटपटे भूषन रगमगी सारी
उत आहि अधर-मसि पागु रही धंसि दुहूं विसि छवि लागत अति भारी।[2]

चतुर्भुजदासजी के काव्य में खंडिता-प्रसंग के चित्रों में भी वर्णों की अव्यवस्था, अंगों की शिथिलता तथा वस्त्रों की अस्तव्यस्तता को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है—

मोहन घूमत कजरारे नैन, सकुचत कछु कहत बैन,
सैननि ही सैन उतरु देत नंद-दुलारे।
भूषन अटपटे अरु, सीस पाग लटपटी,
रति-रन लाई झटपटी, अति सुभट स्याम प्यारे।
मौन कियो कुंज-सदन, भोर आये जीति मदन,
पलटि परे वसन, नाहिं ने अजहुं संभारे
चतुर्भुज प्रभु गिरधर, अब दर्पनु लै देखिये।
सेंदुर को तिलक, सुभग अधर मसि सों कारे।[3]

चतुर्भुजदास की लक्षित चित्र-योजना में कुछ नवीन प्रयोग मिलते है। उनकी रंग-योजना वस्तुतः परम्परा पर आधृत होते हुये भी नवीन प्रभावों को ग्रहण करती हुई चली है। मध्यकालीन प्रभाव के फलस्वरूप उन्होंने भी कृष्ण को छापेरी सूथन पहनाकर गुलाब के फूल से उनके मुकुट को सजाया है। रत्नों में भी पिरोजा का समावेश हो गया है। शृंगारिक चित्रों में भी लौकिक उष्णता को प्रधान स्थान दिया गया है।

## छीतस्वामी की लक्षित चित्र-योजना

छीतस्वामी की लक्षित चित्र-योजना में मध्यकालीन प्रभाव-जन्य एकदेशीयता का समावेश है। कृष्ण और राधा के चित्रों में यह दोष विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। सामूहिक चित्र अपेक्षाकृत सजीव और मार्मिक हैं। श्री विट्ठलजी के जन्मोत्सव के अवसर पर उल्लास के चित्र में रंगों की बहुलता न होते हुये चमक-दमक है—

सुनि उमगी नारी प्रफुलित मन पहिरें झूमक सारी
कंचन थार साजि लिये कर मोतिन मांग संवारी॥[4]

---

१. चतुर्भुजदास, पृ० १५९, पद ३२९
२. चतुर्भुजदास, पृ० १५८, पद ३२५
३. ,, ,, १६५ ,, ३४५
४. छीतस्वामी, पृ० ६, पद २१—वि० वि० कां०

आलम्बन-रूप प्रकृति के चित्रण में वसन्त का विकास अपने पूर्ण वैभव के साथ चित्रित हुआ है। निर्झर के झर-झर ने उसमें प्राण फूंक दिया है—

गोवर्धन की सिखर चारु पर फूली नव माधुरी छाई।
मुकुलित फल-दल सघन मंजरी सुमनन सोभा बहुते भाई।
कुसुमित कुंज-पुंज द्रोणी द्रुम निर्झर झरत अनेक ठांई।
'छीत स्वामी' ब्रज-जुवति जूथ में विहरत तहां गोकुल के राई।[1]

वसन्त और धमार का उल्लास उनके एक-एक शब्द द्वारा फूटता हुआ जान पड़ता है—

आयो रितुराज साज, पंचमी वसंत आज
मौरे द्रुम अति अनूप, अम्ब रहे फूली।
बेली लपटी तमाल सेत पीत कुसुम लाल
उड़वत रंग स्याम भाम भंवर रहे झूली।

* * *

जुवति जूथ करत केलि, स्यामा सुख-सिंधु-झेलि
लाज लोक दई पेलि, परसि पगनि फूली।
बाजत आवत उपंग, बांसुरी मृदंग चंग।
.................................... ।[2]

धमार का उल्लास और हो-हल्ला, सौरभ, शब्द, आभा और गति लक्षित-चित्र योजना को प्राण प्रदान करने वाले सभी तत्व इस पद की पंक्तियों में संयोजित हैं। अनेक स्थलों पर उनकी चित्र-योजना में जड़ता आ गई है। कवि वर्ण्य-विषय में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर पाया है—

फूलनि के भवन गिरधर नवल नागरी
फूल सिंगार करि अति ही राजे
फूल की पाग सिर स्याम के राजही
फूल की माल हिय में बिराजे
फूल सारी कंचुकी बनी फूल की
फूल लहंगा निरखि काम लाजे॥[3]

इस पद में स्पष्टतः ही कवि के सामने कृष्ण और राधा का साकार रूप न होकर उनकी प्रतिमा मात्र है। फूलों की वेश-भूषा से लदे हुए भी वे निर्जीव-जड़ जान पड़ते हैं।

सावन की हरियाली और घने बादलों की पृष्ठभूमि में छीतस्वामी ने भी गोप-बालाओं, राधा तथा कृष्ण के मनोरम रंगीन और सजीव चित्र खींचे हैं—

सोभित अति पीत वसन, उपरेना उड़त ऊपर
बरन चारु चटकीली चूनरी रंग बोरें॥[4]

---

१. छीतस्वामी, पृ० १६, पद ५८—वि० वि० कां०
२. ,, ,, २० ,, ५४ ,,
३. ,, ,, २७ ,, ६० ,,
४. ,, ,, २८ ,, ६३ ,,

रंगों के वैभव के साथ ध्वनि-जन्य सजीवता भी है—

रमकि झमकि झूलत में झमक मेह आयो
नहि सुरझत वातनि में
नव पल्लव संकुलित फूलफल वरन वरन
द्रुम लतानि तर ठाढ़े भयो है वचाउ पातन में।
मंद मंद भुलवति खंभनि लागि ओढ़े अम्बर निज हातनि में।[१]

अकस्मात् ही वर्षा के आ जाने पर कृष्ण और राधा की अवस्था के इस चित्रण में स्वाभाविकता और सजीवता है।

कृष्ण के रूप-चित्रण में सज्जा के उपकरण तो प्रायः सब कवियों के एक ही प्रकार के हैं परन्तु सजाने के ढंग में सबकी रुचि का वैशिष्ट्य पृथक् दिखाई देता है। छीतस्वामी ने कृष्ण को मोर मुकुट ही नहीं पहनाया, प्रत्युत उनके सेहरे के बीच-बीच में मोरपंख गूंथे हैं। इस प्रकार की अलंकरण की अतिशयता इस रूप-चित्र को बोझिल बना देती है—

अति उदार मोहन मेरे निरखि नैन फूले री
बीच बीच बरुहा चंद फूलनि के सेहरा माई
कुंडल स्रवननि पर निगम निगम झूले री।
कुंदन की माल गरे, चंदन को चित्र करें
पीताम्बर कटि बांधि अंगनि अनुकूले री॥[२]

अनेक वर्णों के मिश्रण से उन्होंने कृष्ण की वेशभूषा और वस्त्रों में बहुरंगी योजना की है। सभी रंग चटक हैं और आंखों में चुभने वाले भी—

लाल माई! पहिरे बसन बहु रंगनि
सीस टिपारो मोर-पच्छवा, काछे कांछ कसि जंघनि
पीत उपरेनी ओढ़े कांधे कारी कामर निरखि लजत बसंतनि।[३]

व्रजभूमि के प्रकृति-चित्रण में प्रयुक्त रंग-योजना में कवि की सौन्दर्यानुभूति की शक्ति और कौशल के दर्शन होते हैं—

पुलिन पवित्र सुभग जमुनातट स्यामास्याम विराजत आज।
फूले फूल सेत पीत राते, मधुप-जूथ आये मधु-काज
तैसिय छिटकि रही उजियारी, झलमलात झाई उडु-राज
'छीतस्वामी' गिरधर को यह सुख निरखि हँसे विट्ठल महाराज।[४]

आकाश में फैली ज्योत्स्ना की आभा तथा जमुना के नील जल में झलमलाते

१. छीतस्वामी, पृ० २९, पद ६४
२. ,, ,, ३६ ,, ८१
३. ,, ,, ३६ ,, ८४
४. ,, ,, ४१ ,, ९२

हुये चन्द्र के प्रतिबिम्ब का चित्रण द्रष्टव्य है। इन दोनों विशाल पार्श्व-भूमियों के बीच में रंग-बिरंगे फूलों पर भौंरों की गुंजार और भी सजीव हो उठी है।

गंध, रूप, ध्वनि और रंग से युक्त प्रकृति-चित्रों का अंकन भी उन्होंने किया है—

विविध कुसुम भार नमित अमित द्रुम,
कनक बरन फल फलित
ललित सौरभ वृन्दावन मांहि
मधुप टोल झंकार करत और स्थल जल
सारस हंस विविध कुलाहल तांहि।[1]

आलम्बन-चित्रों की अपेक्षा छीतस्वामी के अनुभाव-चित्र अधिक सजीव हैं। राधा और कृष्ण के रूप-वर्णन की अपेक्षा उनकी लीलाओं के वर्णन में अधिक सजीवता है—

मारग जात मिले मोहि सजनी ! मो तन मुरि मुसिकाने
मन हरि लियो नन्द के नन्दन चितवनि मांझ बिकाने।[2]

* * *

मारग जात मिले मोहि सखि ! डग इत धर्यो न जाइ।[3]

इसके विपरीत आलम्बन-चित्रों में यह सजग सप्राणता नहीं है। कृष्ण के व्यक्तित्व की कृत्रिम सज्जा के उपकरण किसी प्रतिमा पर चढ़ाये गये से जान पड़ते हैं—

पाग सुदेस लाल अति मोहनि मोतिन की दुलरी
हरि-नख उरहिं विराजत मनि-गन-जटित कंठ कंठसिरी।[4]

रत्नों की आभा, रंग और चित्र की बांकी रेखाओं के होते हुये भी इस चित्र में मध्यकालीन चित्रकला का मुख्य दोष 'जड़ता और निष्प्राणता' विद्यमान है—

मोर चन्द्रिका सीस विराजत पाग बनी अति लाल
दुलरी कंठ विराजति सीपज और बनी मनि-माल
बांकी चाल बांके हैं आपुन बांके नैन विसाल॥[5]

मथुरा के किसी मन्दिर की प्रतिमा का चित्र ही यहां अधिक सजीव जान पड़ता है।

कृष्ण के नायक रूप का निम्नोक्त चित्र पूर्व चित्र की अपेक्षा अधिक सजीव है; उसमें जीवन का स्पन्दन है—

---

१. छीतस्वामी, पृष्ठ ४२, पद ९५
२. ,, ,, ४५ ,, १००
३. ,, ,, ४५ ,, १०२
४. ,, ,, ४३ ,, ९७
५. ,, ,, ४४ ,, ९९

मो तन चितै चितै के सजनी ! मेरो मन गोपाल हर्यो
निरखत रूप-ठगोरी सी लागी कछु न सुहाइ
तव ते जिय उनहीं हाथ पर्यो ।[1]

छीतस्वामी के चित्रों में रंगों की योजना भी पूर्ण परम्परागत है—

नील सारी पहिरें तन लाल लसे अंगिया ।[2]
नील पट तनं लसे पीत कंचुकी कसें ।[3]

सुरतान्त और खंडिता के चित्रों में अस्तव्यस्त और शिथिल शृंगार के सजीव तथा समर्थ चित्र हैं। रूप और रंग की अव्यवस्था द्वारा सुरतान्त तथा खंडिता प्रसंग के चित्र सजीव वन पड़े हैं। चित्र परम्परागत ही हैं परन्तु उसकी रेखायें पूर्ण रूप से जड़ नहीं हैं, उनमें काफी स्वाभाविकता है—

आये हो भोर उनींदे स्याम ।
सकल निसा जागे प्यारी-संग हारे हो तुम रति संग्राम ।
सिथिलित पाग भाल पर जावक, हिये विराजित बिन गुन माल ।
कुमकुम तिलक अलक पर सेंदुर सुभग पीक सोभित दोउ गाल ।

कृष्ण के इस शृंगारिक रूप में लौकिक जीवन की उष्णता स्पष्ट है ।

## गोविन्द स्वामी की लक्षित चित्र-योजना

गोविन्द स्वामी की चित्र-योजना में मध्यकालीन चित्रकला में धीरे-धीरे प्रवेश पाते हुए दोषों का समावेश हो गया है । उन्होंने पालना झूलते हुए अपने बाल गोपाल का रूप-चित्रण करते हुए उन्हें कलंगी और तुर्रा भी पहना दिया है । 'सेत कुलही' का रंग भी परम्परागत रंगों से अलग पड़ता है—

सेत कुलही सीस राजति सोभित घुंघरे बाल
चिवुक अलकावलि अनुपम लटकें लटकन लाल
कलंगी तुर्रा कनक मनिमय तिलक मृगमद माल ।[4]

दान-लीला चित्रों की रेखायें भी बड़ी सजीव हैं । उनमें प्रेम, आकर्षण, उपालम्भ सब कुछ एक साथ ही व्यक्त हो गये हैं । एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

जमुना घाट रोको हो रसिक चन्द्रावलि ।
हँसि मुसकाइ कहत ब्रजसुन्दरि, छबीले छैल छांड़ो अंचल ।

---

१. छीतस्वामी, पृष्ठ ४७, पद १०७
२. ,, ,, ६४ ,, १४६
३. ,, ,, ६ ,, १५३
४. गोविन्द स्वामी, पृ० ८, पद १५

दान निबेरि लेहु ब्रज-सुन्दर, छाँड़ो हो घटपटि कित गहत अलकावलि।
कर सों कर गहि हृदै सों लगाइ लई, गोविन्द प्रभु सों तूं रास रंग मिलि।[1]

'कान्ह' जी की बखतरी की पृथक्-पृथक् रेखायें और सम्पूर्ण चित्र का समग्र प्रभाव दोनों ही देखने योग्य हैं—

क्यों निकसों इह खोरि साँकरी
नंद नंदन ठाढ़े मग रोके मारत ताकि करोरा काँकरी
चंचल नैन उरज अनियारे तन मन वेधियत मदन छाक री।
जानि न दे मुसिकाइ नु लगत धानि देत कर ढँकि साक री।
बाँहि मरोरि दियो मुख चुम्बन, हँसि हँसि दोनो पाइ धाकरी।[2]

उक्त प्रकार के चित्रों में रीतिकालीन शृंगार की स्थूलता का स्पष्ट आभास मिलता है।

मध्यकालीन वातावरण से प्रभावित सूथनधारी कृष्ण का रूप अस्वाभाविक हो गया है परन्तु मोरपंख और गुंजा के स्पर्श से उनके परम्परागत रूप की रक्षा करने की भावना का स्पष्ट प्रमाण मिलता है—

सूथन लाल अरु सेत चोलना कुल्है जरकसी अति मन भावत
विविध भाँति भूषन अंग सोभित पेची गुंजा पहिरावत।

लाल सूथन, श्वेत चोलना और जरकसी कुलाह में पेची और गुंजा सज्जा से कृष्ण का रूप ऐसा जान पड़ता है मानों किसी यवन मौलवी ने गुंजा की माल और मोरपंख धारण कर रखा हो।

रास नृत्य के चित्रों में दूसरे कवियों की अपेक्षा शास्त्रीय संगीत के तत्व अधिक हैं। नृत्य, तबले और मृदंग के विभिन्न बोलों में सुन्दर ध्वनि-चित्रण हुआ है। उनका उल्लेख 'कृष्ण काव्य में संगीत और छन्द' नामक अध्याय में आगे किया जायेगा। इनके चित्र नन्ददास की रासपंचाध्यायी के चित्रों के समान प्राणवन्त नहीं हैं। रास के आध्यात्मिक रूपक की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त अनुभूति तत्व का उसमें पूर्ण अभाव है पर नृत्य की गति और भाव-व्यंजना सार्थक बन पड़ी है—

विलुलित बनमाल उरसि, मोर मुकुट रुचिर सरसि
जुवतिन मन हरत फिरत अयन दृग कुरंगे।
कानन कुंडल झलमलात पीत वसन फरहरात
झुन झुन धरत चरन भृकुटी भाव भंगे।[3]

---

१. गोविन्द स्वामी, पृ० १७, पद ३६
२. ,, ,, २१ ,, ४५
३. ,, ,, २५ ,, ५५

तथा

मुरली रटनि रस को रटन मटकनि कटक मुकुट
चटकि पिय प्यारी लटकि लपटि उरसि राजे ।[1]

बसन्त और धमार गाते हुये व्यक्तियों के सामूहिक उल्लास की अभिव्यक्ति में रंग ध्वनि और सौरभ का योग संयोजित किया गया है। केसर, कुसुम और चंदन के सौरभ के साथ कंचन-कलश की आभा तथा कानन के कुसुमित पुष्पों का वर्ण मानों अपने सौरभ के साथ निखर आया है। प्रकृति के इस उल्लसित रूप में मानव-उल्लास की व्यंजक वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि ने चित्र को अत्यन्त सजीव बना दिया है—

रितु बसन्त विहरत ब्रज सुन्दरि साज सिंगार चली,
कनक कलस भरि केसर रस सों छिरकत घोख गली,
कुसुमित नव कानन जुमुना तट फूली कमल कली,
सुक पिक कोकिल करत कुलाहल गूंजत मत्त अली,
चोवा चन्दन और अरगजा लिये गुलाल मिली,
ताल मृदंग झांझ डफ महुवरि बाजत अरु मुरली ।[2]

गोविन्द स्वामी ने अपने चित्रों में कुछ नये वर्णों का प्रयोग किया है तथा उनका संयोजन भी नई शैली में किया है—

अति सुरंग पचरंग बनी पहिरे श्रीराधा प्यारी हो
चम्पक तन कंचुकी खुली स्याम सुदेस सुढारी हो।
मांडनि पिय पट पीत की ता ऊपर मोतिनि हारी हो।
प्यारी के सीस फूल सिर सोहे हो मोतिन मांग संवारी हो।

* * *

नकवेसरि अति जगमगे दूरि करें नव जोती हो
कंठसिरी मोतिसिरी बीच जंगाली पोती हो ।[3]

गोकुल गांव की गोरे अंग वाली कामिनी के यौवन, हृदय की धड़कन, क्रिया-कलाप और चेष्टाओं का चित्र देखिए—

गोरे अंग वारी गोकुल गांव की।
वाको लहर लहर जोवन करै थहर थहर करै देह
धुकर पुकुर छाती करै वाकों बड़े रसिक सों नेह

१. गोविन्द स्वामी, पृ० २८, पद ६२
२. ” ” ५० ” १०३
३. गोविन्द स्वामी, पृ० ७२, पद १३५

कुपटा को पानी भरे नए नए नेह सु लेहि
घूंघट दावें दांत सों उह गरब न ऊतर देहि ।[1]

जमुना जल के स्थान पर कुएं से जल भरने वाली इस अवगुण्ठनवती गोपिका में तत्कालीन नारी का चित्र उतरा है, द्वापर की गोपिका का नहीं। उसकी मंथर चेष्टाओं में भी रीति-कालीन नायिका की झांकी अधिक है, भक्तिकालीन गोपिका की अनुभूति-प्रेरित चेष्टायें कम—

पहिरे नव रंग चूनरी चाम लावन्य लेहि संकोरि
अरग परग सिर गागरी मुंह मटकि हँसे मुख मोरि
चाल चले गजराज की नैननि सों करै सैन ।।[2]

'फूल-मंडली' प्रसंग के चित्र इतने स्थिर हैं कि उन्हें केवल राधा-कृष्ण की प्रतिमा के साथ ही सम्बद्ध किया जा सकता है, लीला पुरुष कृष्ण अथवा गतिवती राधा से नहीं। इन चित्रों में सौरभ का स्पर्श अन्य पदों की अपेक्षा अधिक है।

शीतल गंध और स्पर्श के व्यंजक मध्याह्नकालीन वातावरण का चित्रण इस पद में हुआ है—

सीतल उसीर ग्रह छिरको गुलाब नीर,
तहां बैठे पिय प्यारी केलि करत हैं।
अरगजा अंग लगाइ कपूर जल अंचवाए
फूल के हार आछे हिए दरसत हैं।
सीतल झारी बनाइ सीतल सामिग्री धराइ—
सीतल पान मुख बीरा रचत हैं।
सीतल सिज्या बिछाइ खस के परदा लगाइ,
'गोविन्द' प्रभु तहां छवि निरखत हैं।[3]

हिंडोरा सम्बन्धी पदों में वर्षा का उल्लास पूर्ण प्राकृतिक और राजसी वैभव के साथ व्यक्त हुआ है। हिंडोले में हाटक और मणि का वैभव, पृष्ठभूमि में कालिन्दी की लहरें, कुसुमों के भार से झुकी हुई डालियां, बादलों का गर्जन और बिजली की तड़पन, उसमें कृष्ण और राधा के रूप की पृथक्-पृथक् विशिष्टतायें उनकी शृंगार-सज्जा में संयोजित विभिन्न वर्ण, इत्यादि तत्वों ने इस प्रसंग के चित्रों को बड़ा प्रभावशाली बना दिया है—

खंभ सुरंग खचित मनि हाटक डांडी चारि सुहाई।
लटकन लाल झूमका सुन्दर, निरखत मदन लजाई।

---

१. गोविन्द स्वामी, पृ० ७३, पद १३८
२. " " ७३ " १३८
३. " " ८५ " १६४

श्री वृन्दावन भूमि मनोहर कालिन्दी तट सोहे ।
कुसुमनि भार डार तर झूमति चितवत ही मन मोहे ।
घन गरजत दामिनि अति चमकति मंद मंद सुखदाई ।
दादुर मोर चकोर कोकिल चातक रति उपजाई हो ।
मुकुट तिलक कुंडल मुरली ध्वनि वनमाला गुंजा
पीताम्वर नूपुर किंकिनी कटि युत बने हरि आनन्द पुंजा ।
वेनी गुही बिच मांग संवारी सीस फूल लटका री
वेंदी भाल कान करनेटी चंचल अंखियां सारी ।[1]

मंगला प्रसंग के अन्तर्गत गिरधरलाल का रसिक रूप तो व्यक्त ही हुआ है। अव्यवस्थित रेखाओं और रंगों के द्वारा विरहातुर गोपियों की अव्यवस्थित दशा का चित्रण भी सार्थक बन पड़ा है—

हरि मुख निरखि निरखि न अघात ।
विरहातुर उठि अपने गृह तें आईं सब अलसात ।
अधर अंजन स्रवन नूपुर, नैन तंबोलनि खात ।
अलक वेसरि वसन पलटे कंकन चरन सुहात ।
सिथिल अंग सुकेस छूटे अरुन नैन जंभात ॥[2]

शृंगार-प्रसंग के चित्रों की भी यही विशेषता है। लोहित दृग, शिथिल चाल, अस्तव्यस्त केशों के माध्यम से व्यक्त परस्त्री-रत कृष्ण के अनेक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। कहीं-कहीं पागधारी कृष्ण के वागे के खुले हुये बन्द और सूथन का लटकता हुआ फोंदना उनके रूप की चिरमान्य सौन्दर्य-भावना में व्याघात भी उत्पन्न करता है—

छूटे वंद वागो अति सोभित बिच बिच अरगजा चोवा लावै ।
सूथन लाल फोंदना फबि रह्यो यह छबि निरखि निरखि सचु पावै ॥[3]

सतरंगे, लाल, सुनहले, श्वेत और हेम वर्णों के संयोजन से चित्रित कृष्ण के मध्यकालीन रूप के इस चित्र की रेखायें पूर्णतया जड़वत् हैं—

वागो लाल सुनहरी चीरा ।
ता पर मोर चन्द्रिका धरि के उर सोहत गिरधर जू के हीरा
सूथन बनी एक ता रंग की हंसुली एक ग्रथित मन धीरा ॥[4]

लाल और पीले वर्णों का मिश्रण भी नये रूप में हुआ है—

लाल काछ कटि पीत टिपारी छबि सोहत अति ।[5]

---

१. गोविन्द स्वामी, पृ० १०१, पद २०४
२. ,, ,, ११२ ,, २४०
३. ,, ,, १२० ,, २६६
४. ,, ,, १२१ ,, २७०
५. ,, ,, १४२ ,, ३३३

विभिन्न वस्त्रों के परम्परागत स्थायी रंग ही नहीं हैं पीताम्बर के स्थान पर लाल वस्त्र तथा पीत टिपारे का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अग्रिम पंक्तियों में टिपारे का रंग लाल वर्णित किया गया है। और अन्य वस्त्रों की वर्ण-योजना में भी साधारण मान्यताओं में कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं। सब मिलाकर वर्ण-योजना का प्रभाव मार्मिक बन पड़ा है—

लाल टिपारो ललित अधर छबि, भ्राजत कुंडल मृदुल कपोल
गोरस छुरित सुदेस केस अति मुकुट खचित मनिगन अनमोल
मृगमद तिलक चपल सुन्दर भुव कृपा रंग रंगे नैन सलोल
उर बनमाल मधु गंध लुब्ध रस लटपटात मधुपनि के टोल
कनक किंकिनी नूपुर कूजित कल कनक कपिस कटितट निचोल।[1]

अलकों के बीच चंपाकली के उलझने की कल्पना उन्होंने कई स्थलों पर की है—

स्निग्ध अलक बिच बिच राखी चम्पकली अरुझाई।[2]

तथा

सुन्दर कर केसन बिच राखी सुग्रथित कुंदकली।[3]

विविध वर्णों की मिश्रित योजना अनेक स्थलों पर की गई है—

लाल काछ कटि पीत उपरना वनज धातु सोहै अंग।[4]

गोरज छुरित कनक कुंडल मिलि अति छबि राजत बदर पंड
सोहत लाल पाग लालन सिर लटकि रही सीस सिखंड।[5]

सोहत कनक कुसुम बरन
अरु सोहत मोतिन अवतंस लटकत मन्मथ-मन-हरन
लाल पाग आधे सिर कुलहैं चम्पक बरन।[6]

टिपारो सिरपीत लाल काछिनी बनी किंकिनी झुनझुनात गावत
सुरसता।[7]

रूप-सज्जा के परम्परागत रूप में अलक-तिलक का स्थान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। गोविन्द स्वामी ने राधा की सज्जा में उसको भी स्थान दिया है—

अलक तिलक कुंडल कपोल छबि एकै रसना मोपै बरनी न जाई।[8]

१. गोविन्द स्वामी, पृ० १५०, पद ३६१
२. ,, ,, १५१, पद ३६४
३. ,, ,, १५६, पद ३८०
४. ,, ,, १५७, पद ३८५
५. ,, ,, १५८, पद ३८७
६. ,, ,, १५८ ,, ३८८
७. ,, ,, १५९ ,, ३९२
८. ,, ,, १७३ ,, ४४०

मान लीला के पदों में वर्णों और रेखाओं के प्रयोग से अनेक प्राणवन्त चित्र गोविन्द स्वामी ने अंकित किये हैं। इन दोनों ही प्रकार की योजनाओं में कोई नवीनता नहीं है—

> नील सारी लाल कंचुकी गौर तन मांग मोतिन खचित सुन्दर सुहानी
> अर्ध घूंघट ललन वदन निरखत रसिक दम्पति परस्पर प्रेम हृदे सानी
> लाल तनसुख पाग ढरकि भुव पर रही कुल्हे चम्पक सेहरो बानी
> पानि सों पानि गहि उर सों लावत ललन गोविन्द प्रभु ब्रज नृपति
> सुरति सुखरानी ॥[1]

गोविन्द स्वामी के लक्षित चित्रों में वर्णों की योजना तथा रेखाओं का संयोजन दूसरे कवियों की रचनाओं से कुछ भिन्न है परन्तु दृष्टि मूलतः उनकी भी वही है, अलंकरण के उपकरण भी उनके अन्य कवियों के समान ही हैं। रंग और रेखाओं का प्रयोग अधिकतर संतुलित है परन्तु मुगल कलम के प्रभाव स्वरूप उनमें विदेशी तत्वों का समावेश हो गया है।

अष्टछाप के कवियों की अपेक्षा पूर्व-मध्यकालीन राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं में मांसल स्थूलता और लौकिकता अधिक है और इस प्रवृत्ति का प्रभाव हमें उनकी लक्षित चित्र-योजना पर भी मिलता है। सबसे पहले सम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश की लक्षित चित्र-योजना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

हितहरिवंश की लक्षित चित्र-योजना में परम्परागत तत्वों का आधिक्य है। उनके चित्र मांसल, स्थूल और प्रायः नग्न हैं। 'गवाक्ष' में से राधा-कृष्ण की जिन रति-क्रीड़ाओं का दर्शन उन्होंने किया है उसी का चित्रांकन भी किया है। राधा-कृष्ण के प्रति पूज्य भाव रखने वाले साधारण सहृदय के लिए यह स्थिति रसाभास की स्थिति होगी परन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय के दार्शनिक विधान को स्वीकार करने पर कदाचित् उनकी मांसल सजीवता में वीभत्सता दोष का निवारण हो जाये। यदि राधाकृष्ण को साधारण लौकिक रसिक मान लें तो इन चित्रों की प्राणवत्ता, सजीवता और मार्मिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता—

> आलस वलित बोल, सुरंग रंगे पीककपोल संगम के सुख सूचत बैन
> रुचिर तिलक लेश, गिरत कुसुम केश, सिर सीमन्त भ्रमित मनों तैन
> गलित उरसिभाल शिथिल किंकिनी जाल हितहरिवंश लता गृह शैन ॥[2]

वर्णन सुरतान्त का है और अपने आप में काफी स्पष्ट और खुला हुआ है।
इसी प्रकार—

> गलित कुसुम वेनी सारंग नैनी छूटी लट अचरा वदति अलसाती।
> अधर निरंग रंग रच्यौ री कपोलनि जुवति चलति गजगति अरुझाती।[3]

---

१. गोविन्द स्वामी, पृ० १६६, पद ५२१
२. हितचौरासी, पृष्ठ ११, पद १६
३. " ,, १५ ,, २७

हितहरिवंश की रचनाओं में संयोग-शृंगार के उष्ण चित्र हैं जिनकी आत्मा में भक्तिकालीन सात्विकता की अपेक्षा रीतिकालीन उष्णता अधिक है।

## ध्रुवदास

राधावल्लभीय कवि ध्रुवदास के लक्षित चित्रों की वर्ण-योजना में विविधता और नवीनता है। स्वर्ण और रत्नजटित आभूषणों के द्वारा सज्जित राधा के रूप-लावण्य की आभा का अंकन सजीवता से हुआ है—

कंचन के वरन चरन मृदु प्यारी जू के,
　　जावक सुरंग रंग मनहि हरत हैं।
हित ध्रुव रही फबि सुमिलि जो हरि छवि,
　　नूपुर रतन खचे दीप से वरत हैं।
रीझि रीझि सुन्दर करनि पर पट धरैं,
　　आरसी सी लिये लाल देखिवो करत हैं।
नख मनि प्रभा प्रतिबिम्ब झलमले कंज,
　　चंदननि के जूथ मानों पायन परत हैं।[1]

अन्तिम पंक्तियों की व्यतिरेक-योजना में भी वर्णों की आभा जगमगा रही है। रेखाओं द्वारा अनुभाव चित्र बड़े सजीव बन पड़े हैं। इन चित्रों में रीतिकालीन शृंगारिक उष्णता विद्यमान है—

हारनि के व्याज पिय छुयो चाहे उर जानि,
　　प्रिया जानि अंचल सों तवही दुराये हैं।
हित ध्रुव परम प्रवीन कोक अंगनि,
　　समुझि समुझि मन कोऊ मुसिकाये हैं।[2]

एक वर्ण-योजना में भी उनकी चमत्कार वृत्ति ही प्रधान है। अरुणिम अनुराग की अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि रूप में यह संयोजन उचित ही जान पड़ता है—

लाल कुंज लाल सेज लाल वागे रहे वन,
राजत हैं दोऊ लाल वातनि के रंग में।
लालनि की लाल भूमि लाल फल रहे भूमि
ललित लड़ैती लाल फूले अंग अंग में।
लाल लाल सारी तन पहिरे सहेली सब,
भीजे दोऊ प्रान प्यारे प्रेम ही के रंग में।[3]

---

१. ब्यासलीला, भजन शृंगार सत, प्रथम शृंखला १४—ध्रुवदास
२. 　　„　　　　„　　　　„　　७१
३. भजन शृंगार सत, पृ० ८१

स्थूल शृंगार के सरस और स्थूल चित्र उनकी रचनाओं में भरे पड़े हैं। ये चित्र सांकेतिक नहीं हैं, इनमें स्थूल नग्नता है। शृंगार की उष्ण मानसिक अवस्थाओं का चित्रण इनमें नहीं है; शारीरिक क्रिया-कलापों के नग्न चित्र ही प्रधान हैं—

सरस विलास साने अंग अंग लपटाने,
आरस में अरसाने नैना ना अघाने हैं
जब जब छुटि जात फिरि फिरि लिपटात
छांड़ि न सकत सेज ऐसे ललचाने हैं
उठिवे को मन करें पुनि तेहि रंग ढरें
घरी एक और जाउ कहि मुसुकाने हैं ॥[1]

तथा

मदन के रस मांझ मगन विहार करें,
सुख के प्रवाह माहि लाल मन भीनो है।
श्रम जल कन मुख छवि के समूह मानो,
नैन बैन सैन सर पंजर सो कीनो है
कहाँ लौं सँभारे पिय परे सेज वे सँभारि
लटकत शीश गहि लाय उर लीनो है
हित ध्रुव परम प्रवीन सब अंगनि में,
अधर अधर जोरि सुधा स दीनो है।[2]

वास्तव में राधावल्लभ सम्प्रदाय में मधुरा भक्ति का मानसिक पक्ष इतना गौण पड़ गया था कि उस सम्प्रदाय के कवियों की दृष्टि माधुर्य भक्ति के नाम पर स्थूल शृंगारिकता को ही ग्रहण कर सकती थी। उसका आध्यात्मिक अर्थ व्यावहारिक स्तर पर कुछ रहा होगा, ऐसा विश्वास करने में भी कठिनाई होती है। ध्रुवदास द्वारा अंकित ये चित्र उन्हीं विकृत भावनाओं के प्रमाण हैं जो राधा और कृष्ण की आड़ में अपनी काम-कुंठाओं को ही व्यक्त कर रही थीं।

आलम्बन के रूप-चित्रण में ध्रुवदास ने अधिकतर परम्परा का ही निर्वाह किया है। प्रस्तुत चित्र राधा का नहीं, कृष्ण का है। कृष्ण ने राधा का वेश बना रखा है। गहरी रेखाओं और गहरे रंगों से युक्त होने के कारण चित्र अत्यन्त चटकीला है—

आजु बने नव रंग विहारि।
सकल अंग भूषन प्यारी के, पहिर सुरंग तन सारी।
श्रुति तादंग मांग मोतिनु युत, कुंकुम आड़ सँवारी
अंजन नैन लसे नकबेसरि, चिबुक बिंदु छवि न्यारी
दुलरी जलज पीत उर अंगिया, करनि बनी बलिया री

---

१. भजन शृंगार सत, पृष्ठ १०७
२. ,,

हँसत मंद अंचल मुख दीनो, आरसी जबहिं निहारी
निरखत अंग अंग की सोभा, नैंन निमेष बिसारी ॥[1]

इसी प्रकार निम्नांकित चित्र में आभा और रंगों का प्रभावपूर्ण सम्मिश्रण हुआ है। स्वर्ण और रत्नों के आभूषणों तथा जरकसी वस्त्रों में कसी हुई राधिका किसी मध्यकालीन हिन्दू नरेश की प्रेयसी अथवा पत्नी-सी जान पड़ती हैं—

जरकसी सारी तन जगमग रही छवि
छवि की छलक मनो परी है रसाल री।
उज्ज्वल सुरंग अनियारी कोर नैननि की,
सीस फल बेंदी-लाल सोहे बरमाल री।
रतन जटित नील मनि चौकी झलमले
हित ध्रुव लसै उर मोतिन की माल री।
पानिप अनूप पेखे भूली है निमेष देखे,
मन्द मन्द बेसर के मुक्ता की हाल री ॥[2]

## रसखानि की लक्षित चित्र-योजना

कायिक तथा मानसिक अनुभावों का चित्र रसखान ने रेखाओं द्वारा ही प्रस्तुत किया है। रेखायें बड़ी ही उभरी हुई तथा सजीव हैं। चित्र-कल्पना का आदर्श रूप इन रेखा-चित्रों में प्राप्त होता है। कृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध गोपिका की तन्मय विमुग्धता इन पंक्तियों में साकार हो उठी है—

पै सजनी न सम्हारि परै वह बांकी विलोकन कोर कटाछैं
भूलि गयो न हियो मेरी आली, जहां पिय खेलत काछिनी काछैं।[3]

उत्कंठिता के निम्नोक्त चित्र में एक-एक रेखा नायिका के विभिन्न अंगों की उत्सुकता और उत्कंठा का चित्र प्रस्तुत करती है और उनके संश्लेषण में नायिका के उद्वेलित व्यक्तित्व का चित्र अपने-आप ही अंकित हो गया है—

आली पगे जु रंगे रंग सम्वल, सोहैं न आवत लालची नैना,
धावत है उत ही जित मोहन रोके रुकैं नहिं घूंघट ऐना
कानन को कल नाहीं परै सखि, प्रेम सों भीजें सुने बिन बैना
नई मधु की मखियां रसखानि जू नेह कौ बन्धन क्यों हू छुटै ना।[4]

चंचलता का निम्नांकित चित्र रेखाओं की वक्रता में ही सजीव है—

नैंन नचाइ चितै मुसकाइ सु ओट ह्वै जाइ अंगूठा दिखायो।[5]

---

१. पदावली, पृ० ६७
२. ब्यासलीला, प्रथम शृंखला ४३
३. रसखानि, पृ० १७, सवैया २६—विश्वनाथ प्रसाद
४. „ „ २४ पद ७८ „
५. „ „ „ „

लक्षित चित्र-योजना में सादृश्य-विधान का हल्का-सा स्पर्श देकर चित्र को मानो प्रतीकात्मक बना दिया गया है। मध्यकालीन चित्रकला में प्रकृति के उपकरणों का प्रयोग प्रतीक रूप में किया जाने लगा था, वही तत्व रसखान की इन पंक्तियों में भी समाविष्ट जान पड़ता है—

> रसखानि सुन्यो है वियोग के ताप मलीन महाद्युति देह तिया की
> पंकज सो मुख गो मुरझाइ लगी लपटें विस वार हिया की।
> ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसे सरके तरकी अंगिया की
> यों जग ज्योति उठी तन की उसकाइ दई मनो बाती दिया की।[१]

'पंकज सो मुख' तथा 'बाती की उसकन' इन दो उपमानों के स्पर्श से चित्र में लाक्षणिकता का समावेश हो गया है।

कृष्ण-सौन्दर्य के सामूहिक प्रभाव-चित्रण में कायिक अनुभावों की सजीवता तो है, पर नवीनता कुछ नहीं है। इस प्रकार के चित्रों को नन्ददास जैसे कुशल कवियों ने कहीं अधिक सजीव बना दिया था।

> पूरब पुन्यनि ते चितई जिन ये अंखियाँ मुस्कान भरी जू
> कोउ रहीं पुतरी सी खरी कोऊ घाट डरी कोउ बात परी जू।[२]

होली के चित्रों की रेखाओं में वर्णों का प्रयोग होना स्वाभाविक था, परन्तु उनमें वर्णों की अपेक्षा रेखायें ही प्रधान हैं—

> सारी फटी सुकुमारी हटी अंगिया दरकी सरकी रंगभीनी
> गाल गुलाल लगाइ, लगाइ कै अंक, रिझाइ विदा करि दीनी।[३]

आश्रय के हृदय में आलम्बन की प्रथम दर्शन-जन्य प्रतिक्रियाओं का चित्रण करने में रसखान सिद्धहस्त हैं। ऐसे एक नहीं, अनेक चित्र हैं और उनमें एकरूपता का दोष नहीं आने पाया है। आसक्ति-जन्य विवशता नीचे लिखी पंक्तियों में साकार है—

> आंख सों आंख लड़ी जबहीं तबसे ये रहैं सुवा रंग भीनी।[४]

तो दूसरे चित्र का अलग ही आकर्षण है—

> रसखानि लखैं मग, छूटि गयो डग भूलि गई तन की सुधि सातौ
> फूटि गयो दधि को सिर भाजन, दूरि गो नैनन लाज को नातौ।[५]

रसखानि का रास-चित्र अन्य कवियों द्वारा प्रस्तुत चित्रों से पूर्णतया पृथक् है। चित्र में भावों की प्रधानता है। सजीवता और प्राणवत्ता की दृष्टि से उसकी तुलना अन्य कवियों

---

१. रसखानि, पृष्ठ २६, पद ८९—विश्वनाथ प्रसाद
२. ,, ,, २३ सवैया ७८ ,,
३. ,, ,, ३१ ,, १२१ ,,
४. ,, ,, १५ ,, १४ ,,
५. ,, ,, १६ ,, २२ ,,

के रास-चित्रण से नहीं की जा सकती, परन्तु उसमें निहित सरल स्निग्धता में एक आकर्षण है, जैसे—

> आज भट्ट मुरली तट के तर नंद के सांवरे रास रच्यौ री।
> नैननि, सैननि, बैननि में नहिं कोऊ मनोहर भाव बच्यौ री।
> जद्यपि राखन कौं कुलकानि सबै ब्रजवालन प्रान रच्यौ री।
> तद्यपि वा रसखान के हाथ बिकान को अंत लच्यौ पै लच्यौ री॥[1]

## हरिदास

हरिदास स्वामी की लक्षित चित्र-योजना की अपनी विशेषता है। व्यक्ति तथा समूह दोनों ही प्रकार के आलम्बन-चित्र उन्होंने अंकित किये हैं जिनमें एक विशिष्टता है। 'सुरतान्त' की स्थिति में नायिका की अवस्था का चित्रण उनकी तूलिका की शक्ति का परिचायक है। रंग अस्तव्यस्त हैं, रेखायें अत्यन्त प्रखर। सौरभ के हल्के से पुट ने चित्र को और भी सजीव बना दिया है—

> हरि के अंग को चंदन लपटायो तन तेरे देखियत जैसे पीत चोली
> मरगजे अभरन छिपावति छिपैं न, छिपाये मानो कृष्ण बोली।
> कहूं अंजन कहूं अलक रही खसि, सुरति रंग की पोटं खोली
> श्री हरिदास के स्वामी स्यामा मिलि बिहारिनि हारन रह्यो
> कंठ बिच ओली॥[2]

लक्षित तथा उपलक्षित संयुक्त चित्र-योजनाओं में सौरभ और रूप का संयोजन उन्होंने अनेक स्थलों पर किया है। जैसे—

> सौंधे न्हाइ बैठी पहरे पट सुन्दर जहां फुलवारी तहां सुखवति अलकैं
> कर-नख सोभा कल केस संवारति मानो नवघन में उडुगन झलकैं।[3]

विभिन्न रंगों की योजना में प्रतिरूपता और अनुरूपता दोनों ही मिलती हैं—

> बेनी गूंथि कहा कोउ जानै मेरी सी तेरी सौं
> बिच बिच फूल सेत पीत राते को करि सकै एरी सौं
> बैठे रसिक संवारत बारन कोमल कर ककहीं सौं॥[4]

निम्नलिखित पंक्तियों में रूपरसिकजी की गोपियों की वक्र उक्तियां चित्र में वक्र-रेखाओं का कार्य कर रही हैं। वातावरण की कल्पना में रंग स्वतः ही भरा हुआ है—

> भरि पिचकारी मुख पर डारी, अकरि केलि जिन केलो मोसों॥[5]

---

१. रसखानि, पृष्ठ २५, सवैया ८७
२. निम्बार्क-माधुरी, पृष्ठ २२१, पद ६६
३. " पृष्ठ २८३, पद १०३
४. " पृष्ठ २१७, पद ७०
५. " पृष्ठ १०१, पद ७

तथा

दुरि मुरि खेल कहा यह खेलत खरे रहो नेकु सम्मुख दोऊ ।[१]

उनके पदों में वर्ण, आभा और सौरभ से युक्त गतिपूर्ण चित्र, गतिपूर्ण लय और वर्ण संगीत के द्वारा वैभवयुक्त और सजीव बन पड़ा है—

परम प्रभा पदुली अदुली पर पुलक चढ़े सुकुमार
भूमि भूमि झुमकनि दिवि दमकनि रमकनि रस सरसात
झटकि झटकि झट चटकि चटकि चट लटकि लटकि लटकात
झलकन झलमल विमल वक्षस्थल लखि कलमल रति मैन
उमंग अंग अंग अनंग अंग रल वलकत बलकल वैन
छिरकत छींट छबीली छवि सों सरस सुगंध संवारी ।[२]

पूर्वमध्यकालीन भक्त कवियों की लक्षित चित्र-योजना में जो सजीवता और सप्राणता है उससे इन कवियों की श्रेष्ठ चित्र-कल्पना का प्रमाण मिलता है । ऐसा जान पड़ता है कि मध्यकालीन चित्रकला में राधा-कृष्ण के रूप तथा लीलाओं को स्थान मिला, उसका सर्वप्रधान कारण यही था कि इन कवियों द्वारा प्रस्तुत चित्रों में तत्कालीन चित्रकारों को आधारभूमि प्राप्त हुई । विषय, शैली, अलंकरण, वेशभूषा, प्रकृति-चित्रण, समूह-चित्र, सभी पर इन्हीं कवियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । तत्कालीन चित्रकला में आते हुये दोषों का इन कवियों की रचनाओं में अनायास ही जो समावेश हो गया है उससे यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है ।

## रीतिकालीन कृष्णभक्त कवियों की चित्र-योजना

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की चित्र-योजना में उत्तर-मध्यकालीन चित्रकला के समस्त गुण-दोष विद्यमान हैं । कला जब स्वान्तः सुखाय न होकर व्याख्यान तथा प्रदर्शन-वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होती है वहां उसके बाह्य रूप में कृत्रिमता आ जाती है । तत्कालीन चित्रकला में शृंगारिकता और प्रदर्शन-वृत्ति का प्राधान्य है । उनमें कलाकार का आत्म-संवेदन बहुत ही गौण है । कृष्ण-भक्त कवियों की चित्रण-कला में भी ये दोष दिखाई पड़ते हैं । जहांगीर के बाद ही भारतीय चित्रकला की आत्मा मर गई । बाह्य सौन्दर्य की गरिमा कुछ समय तक बनी रही ; आगे चलकर मात्र अलंकरण ही चित्रकला का ध्येय बन गया । शाहजहां के समय से ही चित्रकला में अलंकरण की अतिशयता का आरम्भ होने लगा था जिसके कारण कला की आत्मा बुझने लगी थी । अतिशय अलंकरण और सुनहरे वर्णों की आभा ही चित्रकला के साध्य बन गये थे । यही विशेषतायें हमें तत्कालीन कृष्ण-भक्त कवियों की लक्षित चित्र-योजनाओं में मिलती हैं । भगवतरसिक और हठी जी की चित्र-योजनायें इसके उदाहरण रूप में ली जा सकती हैं । भगवतरसिक द्वारा रचित 'श्रीकृष्ण ध्यान' प्रसंग

---

१. निम्बार्क-माधुरी, पृष्ठ १०१, पद ८
२. ,, पृ० १०३, पद १४

के पदों में कृष्ण के रूप-चित्रण में तत्कालीन वैभव और मठों के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का आभास प्राप्त किया जा सकता है। अलंकरणप्रियता, जो उस युग की प्रधान वृत्ति बन गई थी, अपने इसी लौकिक रूप में कृष्ण की सज्जा के लिये भी प्रयुक्त हुई है—

छला किटकिटेदार अंगुरिनि दस सोहैं,
जम्बूनद नग जड़े मृदुल उपमा को मोहैं।
पाद पीठ दुहूं फूल मध्य नायक तहं हीरा,
जगमग ज्योति विसाल हरैं नैनन की पीरा।
पायजेब दुहूं पायं नूपुरन मनि-गन-जाला
मुक्तन तारे लगे मंजु मृदु सब्द रसाला।
अयन जानु ते उतरि पायजामा तहं आयो
मोहरन मुक्ता मंजु अतिहिं छवि पायो
तापर बूटा बेल कसीदा रंग उमंग को
नेफा नारौ ललित फुंदना पीत रंग कौ।[1]

* *

बांहें चूड़ीदार सांकरी करि कुचियाई मोहरनि मुक्ता लगे जंजीरनि
अति छवि पाई
कुसुम्मी रंग संजाफ़ किनारी मुक्तन मारी, तापर बूटा वेलि स्वर्ण
सूतन की जारी
कश्मीर श्रीखंड स्याम अंग-लेपन कीन्हों, अवर अतर लगाय गुलाबी
को पुट दीन्हों
पृथु नितम्ब, कटि छीन फटिकमनि किंकिनि जाला, तामधि लोरलाल
बाजने शब्द रसाला
तापर नाभि गंभीर तासु पर त्रिवली नीको, तहं कछु तोंद दिखाय
विहारिन जीवन जी को।[2]

कृष्ण की वेशभूषा में पायजामा, चूड़ीदार पायजामा तथा उनकी मोहरियों पर कढ़े हुये मुक्ता-जटित 'जंजीरों' में मुसलमानी वेशभूषा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। तत्कालीन चित्रकला के क्षेत्र में भी यही तत्व प्रधान रूप से मिलता है जहां नन्द, गोप और कृष्ण को तत्कालीन वेशभूषा में चित्रित किया गया है। चित्रकारों के लिये तो दोष कुछ सीमा तक इसलिये क्षम्य माना जा सकता है क्योंकि वे भक्त नहीं थे। भागवत के कृष्ण से उनका परिचय अधिक नहीं था। परन्तु इन भक्त-कवियों का कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के परम्परागत और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से पूर्ण परिचय था। जिस प्रकार आज के साहित्य में पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रों को धोती, कुर्ता, अचकन, पायजामा अथवा कमीज और पतलून पहनाना दोष

१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ३५६—भगवतरसिक
१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ३५६—भगवतरसिक

होगा वही दोष इन कवियों की रचनाओं में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। भागवत के नटवर नन्दलाल यहां रसिक नवाब बन गये हैं। रूप-सज्जा में अलंकरण की अतिशयता का एक और उदाहरण देखिये। इसमें भी मध्यकालीन वातावरण का प्रभाव कृष्ण और राधा से सम्बद्ध रूप-विषयक मान्यताओं को दबाये हुये है—कृष्ण के रूप-चित्रण में संयोजित शृंगार से सम्बद्ध अलंकरण-सामग्री ने कृष्ण को प्रायः स्वर्ण बना दिया है—

पहुंचन पहुंची पीत मनिन युत टोडर गजरा
जगमग जगमग होत चुभ्यो चित टरत न नजरा
करतल मेंहदी अरुण रंग चित्राभ बनायो
बूटा बेल सम्हारे साथियन चित-चुरायो
कटि प्रदेश पट बंध्यो स्वर्न सूतन सों भरिया,
कोर किनारी किरन ललित पलतो मनहरियां।[1]
चिबुक चखोड़ा चारु चुभ्यो चामीकर बुन्दा
तापर दीनी ओप झलमले जोति अमंदा
अधर दसन अति असन दीप्त मुख पान खान की,
मंद मधुर मुस्यान हरन मनपिया मान की।[2]

*  *  *

सीस सचिक्कन केस मंजु बांध्यो कसि जूरा,
तापर गोल अमोल लसे मनि अद्भुत चूरा।
तापर बांधी पाग जरकसी छवि मरोर की
बांकी खिरकिन दार पीतरस रंग जोर की
अग्रभाग सिर पेच जराऊ तापर कलंगी,
तुर्रा पच्छिम भाग सर्व अपमाने अलगी॥[3]

*  *  *

कृष्ण और राधा की केलि-क्रीड़ाओं में तत्कालीन सामन्तों के 'हरम' के ही चित्र खींचे गये हैं। एक उदाहरण लीजिये—

छत्र चँवर विजनादि वसन भूपन शृंगार छवि,
भोजन पानी पान आरसी मुख देखत छवि
बीना बेनु रवाब पीकदानी सुखसज्जा,
सतरंज चौपड़ खेल खिलावें विगलित लज्जा।[4]

रूप-चित्रण भी अधिकतर परम्परावद्ध शैली में हुआ है। निम्नलिखित चित्र की रेखाओं

१. निम्बार्क-माधुरी, भगवतरसिक, पृ० ३५६
२. ,, ,, ,, ३६०
३. ,, ,, ,, ३६०
४. ,, ,, ,, ३६०

और रंग में स्थूल शृंगार का दृश्य सजीव है—

डगमगात पग धरत धरनि पर बोल अटपटे बोलें
प्यारी ओढ़ि पीत पट लीन्हों, लालन नील निचोलें
नीवी बन्धन करत लाड़िली, लाल लंक गति लोलें
भगवत हँसत देत मुख अंचल नैनन चैन न डोलें ॥[1]

नागरीदास के काव्य में चित्रकला के अनेक उपकरण मिलते हैं। उन्होंने स्वयं अपने कवित्त और सवैयों पर आधृत अनेक चित्रों का निर्माण किया। कृष्णगढ़ के संग्रहालय में ऐसे अनेक चित्र विद्यमान हैं जिनका निर्माण अन्य चित्रकारों ने उनकी रचनाओं के आधार पर किया है। उनकी कविता में अनेक व्यक्ति-चित्र, समूह-चित्र तथा प्रकृति-चित्र प्राप्त होते हैं। प्रसंग और विषय की अनुकूलता के अनुसार कहीं उनमें गतिशीलता है, कहीं स्थिरता। चित्रों का निर्माण अधिकतर रेखाओं के द्वारा हुआ है। नायिका के कोमल और सुकुमार व्यक्तित्व के निम्नोक्त चित्रण में केवल रेखाओं से ही काम लिया गया है। वर्णों का प्रयोग बिल्कुल नहीं हुआ है। स्निग्ध रूप और कोमल अनुभावों के इस संयुक्त चित्र में चित्र-शिल्पी की कल्पना स्पष्ट लक्षित होती है—

एक तो तिहारो हेली रूप ही हरत मन
तामें ये छके से नैन मुसुकि मिलाइ हैं
हारन के भार लंक लचकत नागरी सु
गागरी लिये ते सीस तन थहराइ है।[2]

सद्यःस्नाता के प्रस्तुत चित्र में केवल परम्परा का पालन नहीं है, उसमें नागरीदास की सौन्दर्य-उपभोग की दृष्टि प्रधान है। स्नान करने के पश्चात् अस्तव्यस्त बालों का जूड़ा बनाकर हाथ में कलश लिये हुये नायिका का चित्रण यथार्थ और वास्तविक है तथा उसकी रूप-आभा में अलंकारों की आभा का समावेश किया गया है। नारी के प्रति पुरुष की उपभोग-प्रधान दृष्टि इसमें इतनी स्पष्ट है कि चित्र में उनकी अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की व्यंजना का सन्देह होने लगता है—

अंजन खंजन नैन किये तन मोती सी ज्योति फबी है तिया की,
मोहन गोहन में ललचें ललना लहकारति ज्यों लोच दिया की।
नागरि जूड़ा दिये गड़ुवा कर पंकति पाँयन में बिछिया की,
न्हाय चली जमुना जल में कि लगाय चली सँग आँखें पिया की।[3]

रीतिकालीन चित्रकला में अनेक लौकिक और प्राकृतिक उपकरणों का प्रयोग प्रचुरता से होने लगा था, 'मोती सी ज्योति', 'दिया सी जोत' के हल्के उपमानों में उसी का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार प्रस्तुत चित्र में रंगों का अस्तित्व प्रच्छन्न है। रंगों की सांकेतिता

---

१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ३६१, पद १६
२. छूटक कवित्त ब्रजराज
३. नागर-समुच्चय

के साथ वक्र रेखाओं के प्रयोग के द्वारा चित्र अत्यन्त सजीव बन गया है। यहां भी परम्परा का पालन नहीं, अनुभूति-जन्य प्रयोग है। प्रथम दो पंक्तियों की ऋजु रेखाओं में रंगों का संकेत है—

कालिन्दी के तट हाटक बेलि सी न्हाय कछू कढ़ि ठाढ़िये होती
मींजि के वार लगे सटकारे औ तामे दिपे दुति ज्यों तन मोती।

अन्तिम पंक्ति में वक्र और क्षिप्र रेखाओं के प्रयोग द्वारा नायिका के चंचल और आकर्षक क्रिया-कलापों का संश्लिष्ट चित्र है। तीन पृथक्-पृथक् रेखायें अपने आप में पूर्ण हैं और उनके योग से एक संश्लिष्ट चित्र का निर्माण भी हुआ है—

जोरत नैन, मरोरत भौंहे, चोरत चित्त निचोरत धोती।[1]

उनके चित्रों में अनुभावों का चित्रण बड़ी सजीवता के साथ हुआ है। प्रिय के वियोग में आंखों की दशा के विभिन्न चित्रों की सजीवता में भी उनके प्रवीण शिल्पी रूप के दर्शन होते हैं—

ह सों लगन लगाइ के, भरी रहत नित नीर
रिझवारी अँखियान सों, हों हारी री बीर।[2]

जोहू घरीक न देखें हरी तोतरी अँसुवान की होत झरी है।[3]

हिंडोले के चित्र में वर्ण, रूप और गति का मिश्रण है। वृन्दावन में कुसुमित श्वेत पुष्पों के विकास में वर्षा की अपेक्षा शरद के हास का चित्र अधिक सजीव होता है, बादल के श्याम तथा बिजली के श्वेत वर्णों से चित्र में प्रतिरूप वर्णों की योजना होती है। चित्र गहरे रंगों और अलंकरणों से रहित होते हुए भी प्रभावात्मक बन पड़ा है—

हिंडोरा

स्वेत बहु फूलन सों फूल रह्यो वृन्दावन,
ठौर ठौर रस सों कहीं न कछुवै परै।
एक ओर घटा कारी एक ओर उजियारी,
सोभा भई भारी प्रतिबिम्ब प्रति द्रुम परै।
ऐसे समय स्यामा स्याम हरखि हिंडोरे झूलें,
गान धुनि जीत की तटंग रंग च्वै परें॥[4]

पूर्वमध्यकालीन भक्त-कवियों की रचनाओं में मध्यकालीन मुगल-वैभव के प्रभाव का स्पर्शमात्र हुआ था परन्तु रीतिकालीन कवियों ने अपने चित्रों में वर्णित कृष्ण के वैभव को किसी प्रकार भी बादशाही शान से नीचे नहीं आने दिया है। नागरीदास ने भी अपने 'भक्तिसागर' ग्रन्थ में शीर्षक 'अथ हरि भक्ति बहिर्मुख सप्त दीप राज्य वैभव वर्नन' के अन्तर्गत शाहजहां

---

१. नागर समुच्चय—नागरीदास
२. ,, पृ० ४१
३. ,,
४. ,, पृष्ठ ४१

के शानशौकत से टक्कर लेने वाले वैभव का वर्णन किया है—

जड़े स्वर्ण के धाम लाल प्रवाल झरोखनि झांकी बंधी मुक्त मालं
कढ़ं रंध्र वाली अगरु धूप धूमें पुरं चौक मोतीन सों रत्न झूमें
जुरं जोरि गढ़ द्वार गज बाज माते, भरे भूप दरबार नाहीं गनाते
सजें पालकी नालकी रत्थ वाजी लिये द्वार ठाढ़े दरोगा मिजाजी
समाने तने बेल बूटा जरी दी बिछीं कालियां दरि विलायत खरीदी
लगे पीठि तकिया जरी दो जनी के, बनी सोजनी फर्स मीरं मनी के।[1]

बधाई तथा उत्सवों इत्यादि के वर्णन में भी यही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। द्वापर के ब्रजराज नन्द मध्यकाल में आ गये हैं। राधा और कृष्ण के विवाह के अवसर पर मध्यकालीन प्रथाओं का निर्वाह किया गया है—

ठाढ़े हैं भट्ट ठट्ठ देखते मिसिर सुआ सारो मोर मैना उड़ाते हैं फर'र

* * *

स्यादी ब्रजराज जू के रोसनी लगाई फिर्रि फिर्रि रिर्रि छूटत हवाई

उनकी 'गोपबालायें' कृष्ण को देखने की लालसा और उत्कंठा लेकर नहीं आतीं—'गोपजादियां' 'नजरें' ले-लेकर आती हैं—

ले ले नजर फ़जर उठि आईं बड़ी साहिब गोपजादियां ?[2]

कहीं-कहीं लौकिक वैभव और प्राकृतिक आलोक का सुन्दर मिश्रण हुआ है। लेकिन कवि की अलंकार-प्रधान दृष्टि स्वर्ण में किये गये कटहरी के काम और जड़ाव का उल्लेख करना भी नहीं भूली है—

हाटक हीरन जटित स्वेत अगनित छवि वाढ़ी
ससि किरननि मिल झलमलात अति दुति भई गाढ़ी
बंगला चारु सुढारु मंजु मोतिन की झालरि
जगमगात नव ज्योति करत चकचौंधी हालरि
जारी जरी जराइ कटहरा जगमग जोती
ठौर-ठौर फबि लगे अमल मनिगन बहु मोती ॥[3]

कुछ चित्रों को देखने से तो ऐसा जान पड़ता है मानो नागरीदास ने चित्रण-निर्देश करते हुये एक-एक पंक्ति का निर्देश किया हो। उनके अधिकतर चित्रों में रेखाओं का ही प्राधान्य है—वर्ण अधिकतर हल्के हैं।

शृंगार-सज्जा समय के राधाकृष्ण का रूप तथा उनके क्रियाकलाप इस रूप में वर्णित हैं कि जान पड़ता है कि वे लेखनी का प्रयोग कूंची के लिये सामग्री एकत्र करने के लिये कर रहे हैं—

---

१. नागर समुच्चय, पृष्ठ ८६—नागरीदास
२. ,, ,, ५६ ,,
३. लि० मा० पृष्ठ ६१६

गौर पीठ अभिराम स्याम गहि गूंथत बैनी
तिय फिर अनुनय देत कमल नैनी मृगनयनी
बनी करन कमनीय बनी उत लट घुंघराली
करन फूल पर फूल धरत इत फूल विहारी
परम हंसौहे इन्दु बिन्दु रचही मुख गोरें
धरें चिबुक तर हाथ नाथ दृग सों दृग जोरें
बैना भाल बनाय बहुरि मुख कमल निहारत
उत फेंटा सिर पीत भुकति कछु प्रिया संवारत।[1]

नायिका के निम्नलिखित चित्र में रंग का प्रयोग उनका अपना है। परम्परागत नहीं इसलिये हरी चूड़ियों से युक्त गोरे हाथों में राधिका का स्वस्थ गौर वर्ण निखरता हुआ दिखाई देता है—

गौर बांह सुठि ग्रीव पर, चूरी हरी रसाल
इन नैनन कब धौं लखौं, झूमत झुकि-झुकि बाल।[2]

एक स्थान पर उन्होंने चन्द्र पर शिल्पी चित्रकार का आरोपण करके चित्रण-प्रक्रिया का संकेत किया है—

छई छपा छवि देत छित, पत्र विपिन इहि भाय।
ससि कारीगर रूपहरि, अफंसा कियो बनाय॥[3]

चन्द्र-रूपी शिल्पी ने वृक्षों के पत्रों में से छन-छनकर आने वाली चांदनी का निर्माण करके अपनी कला को अभिव्यक्त किया है।

श्री हठीजी की रचनाओं की लक्षित चित्र-योजना मे रीतिकालीन वैभव का चित्रण वर्ण, आभा और वैभव के उपकरणों के समन्वय से किया गया है, उपकरण अधिकतर लौकिक हैं—

मोतिन की तोरने तमासे वार वारैं वारैं,
अमित तरैवन की शोभा बड़ी शान की।
मखमली गिलम गलीचा मखतूलन के,
अतर अतूलन की भोंक हठी मान की।
जरकसी जरब जलूसन की गद्दी का,
रवि छवि रही भुकी भालर वितान की।
कंचन की वेली रमा रति ते नवेली
अलवेली रंग रावटी अकेली वृषभान की।[4]

१. नागर समुच्चय, पृष्ठ ८१
२. ,, ,, ६१
३. ,, ,, ४५
४. हठीजी, पृष्ठ ६३१, पद ६

अतर पुतायो चौक चंदन लिपायो बिछौ, गिलम गलीचनि की पंगति प्रमान को,
कालो हरी पीली लाल भालरें भलक रहीं, जैसी छवि छाई चारु चांदनी वितान की।
भीनी सेत सारी जरी मोतिन किनारीदार
फैली मुख आभा हठी राधे सुखदान की।[1]

मोती, स्वर्ण-झालर और झाड़-फानूस ही उनके वर्णन में प्रधान हैं। उनके चित्रण में दरबारी वातावरण का प्राधान्य है। बादशाह कृष्ण के दरबार में मुजरा, कोरनिस, सलाम-तसलीम सभी कुछ चलने लगा है। पूर्वमध्यकाल में कवियों ने कृष्ण को इजार और सुथना पहना कर ही सन्तोष कर लिया था, परन्तु यहां तो कृष्ण को बादशाह का 'फैन्सी ड्रेस' पहनाया गया है जो उनके प्रति सांस्कारिक मान्यताओं के विरुद्ध पड़ते हैं। तत्कालीन चित्रकला के सम्बन्ध में राय कृष्णदास के ये शब्द इन काव्य-चित्रों पर भी शत-प्रतिशत लागू होते हैं—"दरबारी अदब-कायदों की जकड़बन्दी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव, बल्कि एक प्रकार का सन्नाटा पाया जाता है। यहां तक कि जी ऊबने लगता है।"[2]

श्री गेट्ज के शब्दों में उस युग के कलाकार को न तो रेखाओं का परिष्कृत ज्ञान था और न रंग के संतुलित प्रयोगों का। उनके चित्र भावशून्य तथा निर्जीव प्रतिमाओं के समान होते थे।[3]

हठीजी के इन चित्रों में यही असंतुलन और अतिशयता तथा दरबारी प्रभाव दिखाई देता है—

जातरूप तखत पै बखत बिलन्द बैठी जाके काज ब्रजराज भाँवरे भरत हैं।
जरीदार द्वार पै वितान तान राख्यो हठी छरीदार ठाढ़े इतमाम बगरत हैं।
लरीदार झालरैं झलकवार झूमैं मोती झुमकन झूमें छ्वै छ्वै उपमा धरत हैं।
राधे को बरन दुजराज महाराज जान नखत समान कोरनिस सो करत हैं।[4]

घनानन्द की कला में सामान्य की अपेक्षा विशिष्टता अधिक है। उनकी कला आत्मानुभूति तत्व से रंजित है। इसी व्यक्तिनिष्ठता के कारण उनके चित्रण में परम्परा का पिष्ट-पेषण मात्र नहीं हुआ है। उसमें परम्परा का त्याग और अनुभूत्यात्मक चेतना का प्राधान्य है। उनके द्वारा अंकित रूप-चित्र भावपूर्ण, सजीव, रंगमय तथा रससिक्त हैं। आलम्बन चित्रों

---

१. हठीजी, पृष्ठ ६३३, पद १८
२. भारतीय चित्रकला, पृष्ठ ११—राय कृष्णदास
३. Introduction to Seventeenth and eighteenth Century Manuscripts and Albums of Moghal Paintings.
४. निम्बार्क-माधुरी, पृष्ठ ६३३, पद १९—हठीजी

में केवल अंग-प्रत्यंगों का चित्रण नहीं, उनके लावण्य के तरल सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। स्थूल अंगों का अतिक्रमण कर उनकी दृष्टि उनमें निहित आभा पर ठहरी है—

पानिप अपार घन आनन्द उकति ओछी,
जतन जुगति जोन्ह कौन पै नपति है ।[1]

निम्नलिखित रेखाचित्र में नायिका का चित्र बोलता हुआ जान पड़ता है। मुख का वर्ण, नेत्रों की दीर्घता, हास्य की मुखरता, अलकों की कुटिलता, मुक्तामाल की आभा तथा अंग-प्रत्यंगों की शोभा में रूप मानों सचमुच ही साकार हो गया है—

झलकै अति सुन्दर आनन गौर छकै दृग राजत काननि ह्वै,
हँसि बोलनि में छवि फूलन की वर्षा उर ऊपर जाति है ह्वै,
लट लोल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जलजावलि ह्वै,
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै ।[2]

हृदय की अंतर्दशाओं का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता से हुआ है। छोटे-छोटे भाव शीघ्रता से परिवर्तित होते हैं—

खोय गई बुधि सोय गई सुधि रोय हँसे उन्माद जग्यो है
मौन गहैं चुकि चाकि रहै, चलि बात कहैं तें न दाह दह्यो है ।[3]

विरहिणी के सतत वियोग में जब मिलन के पल आते हैं तो भावनाओं के उद्वेलन के कारण आंसू रोके नहीं रुकते, देखने का प्रयास करने पर भी उन्हें देख नहीं सकते, न अपना संदेशा उन्हें दे सकते हैं—

जो कहूँ जान लखैं घन आनन्द, तो तन नेकु न औसर पावत,
कौन वियोग भरे अँसुवा, जु, संयोग मैं आगेई देखन धावत ।

घनानन्द के गति और ध्वनि-चित्रों में न तो भक्तिकालीन चित्रों की ऋजुता और सहजता है और न रीतिकालीन कृत्रिमता। उन्हें इन दोनों रूपों के बीच की शृंखला माना जा सकता है—

चटक कठतारिन की अति नीकी लटक सों नाचै मटक भर्यो मोहन ।
फर चरन न्यास अभिनय प्रकास मुख सुख विलास मन उरझै घुंघरारी
मोहन ॥[4]

काव्य-कला के अन्य अंगों की भांति ब्रजवासीदास की लक्षित चित्र-योजना पर भी सूरदास का प्रभाव स्पष्ट है। राधाकृष्ण के व्यक्ति-चित्र तथा समूह-चित्रों में रीतिकालीन वैभव और कृत्रिमता के स्थान पर उनमें सहजता, सजीवता और ऋजुता है। रूप-वर्णन परम्पराबद्ध तो है परन्तु वे भक्तिकालीन चित्रों के ही अधिक निकट हैं—

---

१. घनानन्द कवित्त, पृष्ठ ५७—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२. ,, पृष्ठ २ ,,
३. ,, पृष्ठ ३६ ,,
४. आनन्दघन-पदावली, पृष्ठ ६१

मोर मुकुट बनमाल उर, पीताम्बर फहराय।
गो पदरज छवि वदन पर, आवत गाय चराय।[1]

कहीं-कहीं तो रेखायें बिलकुल ही सूरदास की चित्र-योजना के अनुकरण पर हैं—

धेनु दुहत अति ही छवि बाढ़ी, प्यारी पास दुहावन ठाढ़ी
एक धार दुहनी में डारी, प्यारी तन इक धार पखारी
हरि कर तें पय धार छुटाहीं लसत छींट प्यारी मुखमाहीं।[2]

कहीं-कहीं ब्रजवासीदास के रूप-चित्रण में रीतिकालीन वैभव का संस्पर्श हो गया है। अलंकरण की अतिशयता ने प्रायः दोष की सीमा पर पहुँच कर कृष्ण के चित्र को जड़ बना दिया है—

घेरवार संजाफ़ जरी की, झमकि रही छवि उमंग भरी की
बैसिय कमल चरण पर पनहीं, कंचन मणिमय मोहत मन हीं
कर चूड़ामणि जटित अँगूठी, लसत अंगुरियन भांति अनूठी
बाहु विजेठा जटित रतन को, चन्दन चित्रित श्यामल तन को।
झलकत झीन झंगा के माहीं, सो छवि कहत बनत मुख नाहीं।
कटि पर पट पीरो कसे, कनक किनारे चार।
ता पर खोंसे मुरलिका, उर मुक्तन के हार॥

ब्रजकिशोर की शृंगार-सज्जा में ग्राम्य जीवन के प्राकृतिक उपकरणों की जगह नागरी उपकरणों का प्रयोग हुआ है। प्रकृति के उपकरणों के प्रयोग में भी अन्तर आ गया है। वैजयन्ती-माल के स्थान पर गुलाब की माला शोभित होने लगी है—

तापर ललित विशाल, माल गुलाब प्रसून की।[3]

होली के चित्रों में सौरभ से युक्त रंगों की भरमार हुई है। गोपवृन्द का हुल्लड़ और कोलाहल तथा गोपिकाओं का मधुर सौन्दर्य दोनों ही बड़ी समर्थता से ब्रजवासीदास के काव्य में चित्रित हुये हैं। प्रथम चित्र इस प्रकार है—

कंचन कलश अनेक सुहाये, केशर टेसू रंग भराये।
अतर अरगजा विविध विधाना, लिये सुगन्ध भाजन भरि नाना।
पीत अरुन वर बसन बनाये, नेह सुगन्धन अति मनभाये।
अंग अंग भूषण ललित, उर सुमनन की माल
नयन सैन शोभा हरन, बनी मण्डली ग्वाल॥[4]

पान भरे मुख लाल, उसकाये बाहें झंगा
फेंटन भरे गुलाल, पिचकारी कंचन बरन॥[5]

---

१. ब्रजविलास, पृष्ठ ६६
२. „ „ १३८
३. „ „ ४३८
४. „ „ ४३७
५. „ „ ४३७

दूसरा चित्र इस प्रकार है—

गुलगचे लहंगा चटकीलो, घेर घनो अति छबिन छबीलो
कंकण किंकिणी नूपुर बाजें, होरी साज सजें सब राजें।[1]

* * *

एकनि लियो पीतपट छोरी, एक रंग गागरि लै दौरी
हरि के हाथ गहे चन्द्रावलि, कज्जल लै आई संजावलि
ललिता लोचन अंजन लागी, एक श्रवण लगि कछु कहि भागी
एक चिबुक गहि वदन उठावै, एक गुलाल कपोलनि लावै।
काहू वेणी गूंथ संवारी, काहू मोतिन मांग सुधारी
पहिरावत लंहगा कोउ सारी, काहू लै अंगिया उर धारी।[2]

अनुभाव-चित्रण भी सुन्दर बन पड़े हैं—

भई भाव मोरे कछू, देखत ही सुखदाय,
चित्रपूतरी सी रही, देह दशा बिसराय
प्यारी मुख दृगलाय नैन नहीं भटकत कहूं।[3]

वास्तव में ब्रजवासीदास ने रीतिकाल में सूरसागर के आधार पर 'भाषा की भाषा' करके भक्तिकालीन अभिव्यंजना शैली का ही प्रयोग किया, जिसमें मौलिकता का पूर्ण अभाव है। आधुनिक काल के ब्रजभाषा कवियों ने उसी परम्परा को बनाये रखा।

## आधुनिककालीन ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में लक्षित चित्र-योजना

आधुनिककालीन ब्रजभाषा कवियों की लक्षित चित्र-योजनाओं में कोई नूतन विशेषतायें नहीं हैं। उनका रूप-चित्रण भक्त-कवियों के अधिक निकट है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'गीत गोविन्दानन्द' की चित्र-योजना में जयदेव का तथा सतसई-सिंगार की चित्र-योजना में बिहारी का प्रभाव स्पष्ट है। उनका उल्लेख यहां अनावश्यक जान पड़ता है। 'प्रेम-फुलवारी' में कार्यकलापों के मन्थर चित्र मार्मिक बन पड़े हैं—

ढकी सेज लखि के पिय सोय जानी भई जिय अमित उमाही
नूपुर खोलि चली हरुये गति पीतम अधर सुधा रस चाही
निकट जाइ के लाइ जुगल भुज जबै गाढ़ आलिगन कीनो
तब सुधि आइ पिय घर नाहीं उन तो गौन मधुवन को कीनो।[4]

---

१. ब्रजविलास, पृ० ४४०
२. ब्रजविलास, पृ० ४४५
३. ,, ,, २६५
४. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, प्रेम-फुलवारी, पृ० ५६०

तथा

पिया मुख चूमत अलकन टारि ।
सोई बाल मुंदी पलकन की छवि रहे लाल निहारि
कबहुं अधर हलके कर परसत रहत भँवर निवारि
अंजन मिसी सिन्दूर निरखि रहे टरत न इक पल टारि ।
जागी भरि आलस भुज सों गहि पियतम को भुज नारि
खींचि चूमि मुख पास सोवायो हरीचंद बलिहार ॥[1]

अन्य कृतियों के रूप-चित्र भी इसी प्रकार साधारण कोटि के हैं । प्रकृति और समूह-चित्र अनेक स्थलों पर सजीव बन पड़े हैं । 'वर्षा-विनोद' के प्रारम्भ में कुंज-वितान का वर्णन करते समय सजीव और सरस प्राकृतिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है—

चहुँ ओर एकन एक सों लगे सघन विटप कतार
तापैं लता रहि फूलि घेरे मूल सों प्रति डार
बहु फूल तिनमें फूल सोहत विविध बरन अपार
तिमि अवनि तृन अंकुर भई मयोदसी दिसि इकसार ।[2]

इसी कृति में गति-चित्र भी देखने योग्य है—

तहँ झमकि झूलत होड़ बदि बदि, उमंगि करहिं कलोल
खेलें हँसैं गेंदुक चलावैं गाइ मीठे बोल
झोटा बढ़्यो रमकत दोऊ दिसि डार परसत जाइ
फरहरत अंचल खुलत बेनी अंग परत दिखाइ
कसी कंचुकि होत ढीली खुलि तनी के बन्द
सिथिल कबरी उड़त सारी गिरत करके छन्द ।[3]

वर्ण-सौरभ और वैभव से युक्त होली का यह चित्र भी देखने योग्य है—

सखिन जान होरी को आगम पथ गुलाल छिरकायो
कियो ढेर केसर गुलाल को रंगन हौज भरायो ।
तोरि गुलाब पांखुरिन मारग सोहत है अति छायो
अगर धूप ठौरहि ठौरन वैं बगर सुवास बसायो
पानदान झारी पिकदानी मुरछल चंवर अड़ानी
फूल चंगेर माल बहु बिजन लै मृगमद घन सानी ।
लिये सकल सुखसाज सहेली सरस कतारन ठाढ़ी
मानहुं मदन सदन बिसुकरमा चित्र पूतरी काढ़ी ।[4]

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, प्रेम-फुलवारी, पृ० ५६६
२. ,, वर्षा-विनोद, ,, ४८६
३. ,, ,, ,, ४५०
४. ,, होली ,, ३६६

होली के अश्लील क्रिया-कलापों का चित्रण भी हुआ है जो ब्रज की गोचारण सभ्यता के उपयुक्त नहीं जान पड़ता—

मींजि कपोल कोउ भाजत है, धाइ फेंट कोउ खोलैं,
कोउ मुख चूमि रहत ठाढ़ो गहि इक गारी दै बोलैं ।[1]

* * *

होली के मादक वातावरण का चित्र इन पंक्तियों में सजीव है—

हरित अरुन पंडुर श्यामल रंग रंग गुलाल उड़ाई
बिच बिच विविध सुगंध सनित बुक्का वरगत मनभाई
कबहूं बादले रंग रंग के कतरि महीन उड़ावैं
तरनि किरनि मिल अति छबि पावत चमकि सबन मन भावैं ।[2]

भारतेन्दुजी की लक्षित चित्र-योजना में भक्तिकालीन कृष्ण-भक्तों की ऋजुता और सरलता के साथ सामयिक प्रभावों का सफल समीकरण हुआ है ।

रत्नाकरजी की रचनाओं के अनुभाव चित्र स्वयं ही अपनी कहानी कहने में समर्थ हैं । गोपियों की विह्वल आतुरता इन शब्दों में फूटी पड़ रही है—

गह्वरि आयौ गरो भभरि अचानक त्यौं
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं
नेक कही बैनन अनेक कही नैनन सों
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ।[3]

कृष्ण के हृदय की उत्कंठा और आकुलता की व्यंजना भी अनुभावों के चित्रण द्वारा प्राणवान बन गई है—

आनि हिचकी ह्वै गरै बीच सकर्‌योई परै,
स्वेद ह्वै रस्‌योई परै रोम झंझरनि सौं ।
आननि दुवार तें उसास ह्वै बढ़्यौ ही परै
आंसू ह्वै कढ्‌योई परै नैन खिरकीन सौं ।[4]

प्रथम चित्र में नारी की अनियन्त्रित और असंयमित विह्वलता तथा द्वितीय में पुरुष के नियन्त्रित उच्छ्‌वास अपने आप में सजीव हैं ।

गोपियों की विह्वलता के सामूहिक चित्र में भी संश्लेषण और विश्लेषण का संयोग है । एक-एक गोपिका का चित्र में विशिष्ट स्थान है और उनकी समूहगत विशिष्टता भी है—

'सुनि सुनि ऊधव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी कोऊ थानहिं थिरानी हैं ।

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली होली पृ० ३७१
२. ,, ,, ,, ३७८
३. उद्धवशतक—जगन्नाथदास रत्नाकर
४. ,, ,, ,, कविता, पृ० २१

कहै रत्नाकर रिसानी बररानी कोऊ,
कोऊ बिलखानी बिकलानी बिथकानी हैं।
कोऊ सेदसानी कोऊ भरि दृग पानी रहीं
कोऊ घूमि घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं।
कोऊ स्याम स्याम कै बहकि बिललानी,
कोऊ कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैं।[1]

रत्नाकर ने आलम्बन और अनुभावों के चित्रों के साथ-साथ प्रकृति और भौतिक वातावरण के भी सजीव चित्र खींचे हैं। वर्षा ऋतु का एक चित्र देखिए। रंगों और ध्वनियों के उल्लेख के बिना भी बादलों की गरज बिजली की चमक अपने चारों ओर के वातावरण के साथ साकार है—

चहुँ दिसि तै घन घोरि घोरि नभ मंडल छाये
घूमत झूमत झुकत औनि अतिसय नियराये
दामिनि दमकि दिखाति दुरति पुनि दौरति सहरैं
छूटि छबीली छटा छोर छिन छिन छिति छहरैं।[2]

ध्वनि-चित्रों का उल्लेख अनुकरणात्मक शब्दों के प्रसंग में किया जा चुका है। आलम्बन के चित्रण में रूप-सौरभ और वर्ण का मिश्रित प्रयोग हुआ है—

पीत नील पाथोज बरन मनहरन सुहाये
कोमल अमल अमोल गोल गातन छवि छाये
तरुन अरुन वारिज बिसाल लोचन अनियारे
रंगरूप जोवन अनूप के मद मतवारे।[3]

निम्नलिखित पंक्तियों की मन्द गति और उनकी भावव्यंजकता देखने योग्य है। रूप और उसके प्रभाव का यह सूक्ष्म अंकन उनकी चित्र-निर्माण शक्ति का परिचायक है—

नाय नेह भरपूर चारु चितवन अति चंचल
बरुनी सघन कोर कज्जल जुत लसत दृगंचल
भृकुटी कुटिल कमान तान सौं परसति काननि
नैंकु भटकि मुरि मूकनाय के बरसति बाननि।[4]

इसी प्रकार अग्रिम चित्र की एक-एक रेखा अपने आप में सजीव है, साथ ही पूर्ण चित्र के निर्माण में भी उनका योग है—

भरि जीवन-गागरी में इठलाइ कै नागरी चेटक पारि गई
रत्नाकर आहट पाइ कछू, मुरि घूंघट टारि निहारि गई

१. उद्धव शतक, जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० ३४
२. हिंडोला ,, ,, १३
३. ,, ,, ,, ३७
४. ,, ,, ,, ३८

मुसुकानि मरीचि पसारि गई
करि वार कटाच्छ कटारनि सौं, तिन पै पुनि चांवली मारि गई।[1]
भये घाय हिये में अघाय घने,

लक्षित चित्र-योजना कृष्ण-भक्ति काव्य की अभिव्यंजना में सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। इन कवियों द्वारा अंकित चित्रों का मूल्य शाश्वत है। कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी अनुभूति के चरम क्षणों को इन चित्रों द्वारा अमर बना दिया है। पूर्वमध्यकालीन कृष्ण-भक्तों की चित्र-योजना के संश्लिष्ट विन्यास में कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। उनके चित्र सजीव और प्राणवन्त हैं। उनका युग चित्रकला के पुनरुत्थान का युग था और तत्कालीन कलाकार को रेखाओं और रंगों के सम्यक् और संतुलित प्रयोग का ज्ञान था। नन्ददास और सूरदास की रचनाओं में रेखाओं और रंगों का चुनाव और प्रयोग संतुलित रूप में हुआ है। यद्यपि रंग थोड़े ही हैं परन्तु उनके प्रयोग में इन कवियों के चाक्षुष चित्र-निर्माण का कौशल दिखाई पड़ता है। ये चित्र शब्द, गंध और रस से भी संपुष्ट हैं। रेखाओं के प्रयोग द्वारा उन्होंने गतिपूर्ण चित्र, मन्थर गति के चित्र और स्थिर चित्रों का अंकन किया है और वर्णों के प्रयोग द्वारा वे अपने कल्पना-चित्रों और अभीप्सित भावों को पाठकों तक प्रेषणीय बनाने में समर्थ हुए हैं। रंग तो गिने-गिनाये ही हैं परन्तु उनके औचित्यपूर्ण चुनाव और आनुपातिक मिश्रण में इन कवियों की कला-दृष्टि का परिचय मिलता है। आलम्बन के आंगिक वर्ण परम्पराभुक्त हैं। वस्त्राभूषणों के रंग भी परम्परागत ही हैं। परन्तु उनके प्रयोगों में अनुरूप वर्णयोजना, वर्णमिश्रण, प्रतिरूप वर्णयोजना, वर्ण-परिवर्तन इत्यादि सब विधाओं के उदाहरण मिल जाते हैं। कुम्भनदास, चतुर्भुजदास और छीतस्वामी की रचनाओं में कहीं-कहीं रंगों का महत्व इतना अधिक हो गया है कि भाव-पक्ष गौण पड़ गया है। इसके अतिरिक्त अतिशय अलंकृति-दोष भी इन रचनाओं में अनेक स्थलों पर समाविष्ट हो गया है। परिमाण की दृष्टि से इनका महत्व अधिक नहीं है। इन भक्त कवियों की चित्र-कल्पना अपार्थिव के प्रति उनके रोमानी दृष्टिकोण को व्यक्त करने में बड़ी सहायक बन पड़ी है। हिन्दी काव्य के शिल्प-विधान के इतिहास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

राधा और कृष्ण के रूप-चित्रों में मध्यकालीन वेशभूषा के प्रयोग से इन भक्त कवियों की रचनाओं में अविश्वसनीय तत्वों का समावेश भी हो गया है। भागवत के कृष्ण का एक चिरमान्य रूप है। उन्हें सूथन और जरकसी पाग और बागा पहना कर उनके रूप को विकृत कर दिया गया है; लेकिन ऐसा बहुत कम हुआ है। अधिकतर उनके कृष्ण मोरमुकुटधारी नटवर नन्दलाल ही हैं।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों की चित्र-योजना में आत्मा का परिष्करण नहीं है। 'गवाक्ष-दर्शन' में वे केवल राधा-कृष्ण की स्थूल लीलायें ही देख सके हैं इसलिये उनके चित्रों में उष्ण शृंगारिकता और स्थूल दृष्टि का प्राधान्य है। उनकी दृष्टि शारीरिक कार्य-कलापों पर ही अधिक टिकी है। अष्टछाप के कवियों द्वारा निर्मित चित्रों का सात्विक और स्निग्ध

---

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ १०८

प्रभाव उनमें नहीं है। वर्णों का रूप परम्पराभुक्त है। रेखायें अपेक्षाकृत स्थूल हैं। उनकी लक्षित चित्र-योजना में अपने परवर्ती काल के दोषों का समावेश आरम्भ हो गया है।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की लक्षित चित्र-योजना में तत्कालीन चित्रकला के सब दोष आ गये हैं। रंग और अलंकरण की अतिशयता और कृत्रिमता उनकी लक्षित चित्र-योजना का सबसे बड़ा दोष है। रंग और आभा के असंतुलित प्रयोग ने इस काल के चित्रों को जड़ और निष्प्राण बना दिया है। पच्चीकारी की अतिशयता से उनमें सहजता और सरलता की हानि हुई है। इन कवियों के कृष्ण किशोर न रह कर रसिक विलासी बन गये हैं तथा यमुना-तट की कुंजों की हरीतिमा का स्थान मोती की झालरों और मखमली गलीचों ने ले लिया है। राधिका नर्तकी बन कर नवाब कृष्ण के दरबार में मुजरा करती है और उनका आदाब बजाती है। इन कवियों की रचनाओं में न तो रेखाओं का परिष्कार है और न उन्होंने रंगों के सन्तुलित प्रयोग किए हैं। केवल नागरीदास और घनानन्द की लक्षित चित्र-योजना को इसका अपवाद माना जा सकता है। उनके चित्र भक्तिकालीन सहज-ऋजु चित्रों तथा रीतिकालीन कृत्रिम चित्रों के बीच की कड़ी हैं।

भारतेन्दु और रत्नाकर की लक्षित चित्र-योजना में भक्तिकालीन और रीतिकालीन परम्पराओं का संगम है। उनके आलम्बन चित्र भक्त कवियों द्वारा निर्मित चित्रों के निकट हैं, अनुभाव-चित्रों में परिष्कृत रेखाओं का प्रयोग है। उनके अनुभाव चित्र रस-संयुक्त हैं। केवल शारीरिक क्रिया-कलापों पर ही कवियों की दृष्टि नहीं अटक गई है। भक्तिकाल की संश्लिष्ट तथा रीतिकाल की विश्लिष्ट शैली का उन्होंने समन्वित प्रयोग किया है। वातावरण-चित्रों में भी लौकिक और प्राकृतिक उपकरणों का मिश्रित और समन्वित आधार ग्रहण किया गया है। इन कवियों ने रीतिकालीन काव्य-परम्परा की प्रतिक्रिया-स्वरूप भक्ति-सम्बन्धी विषयों को प्रतिपाद्य रूप में ग्रहण किया इसलिये मुख्य प्रेरणा-स्रोत (कृष्ण-भक्ति-काव्य) की अभिव्यंजना शैली का प्रभाव उनके ऊपर पड़ना स्वाभाविक था, परन्तु अपने युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से कोई कवि प्रयास करने पर भी नहीं मुक्त रह सकता। उसी के फलस्वरूप इन कवियों ने भक्तिकालीन चित्र-योजना में प्रयुक्त ऋजु और सरल रेखाओं के साथ वक्र रेखाओं का प्रयोग भी किया, परन्तु उनकी वक्रता में परिष्कार का अभाव नहीं है। उनकी चित्र-योजना का रूप परम्परामुक्त होते हुये भी नवीन है। उनमें दो युगों की चित्र-शैलियों के सार तत्वों का संगम है।

कृष्ण-भक्ति काव्य की पूर्ववर्ती समकालीन तथा परवर्ती किसी भी काव्य-परम्परा में चित्रकला और काव्यकला का इतना मधुर संगम नहीं हुआ है। छायावादी काव्य की चित्रमयता की तुलना इस प्रसंग में की जा सकती है परन्तु छायावादी काव्य की चित्र-कल्पना में बौद्धिक कल्पना तथा प्रतीकात्मकता का प्राधान्य है। रसनीयता की दृष्टि से कृष्ण-भक्ति काव्य में प्रयुक्त चित्र-योजनायें अनुपमेय हैं। भविष्य में उनके समकक्ष रखने योग्य कोई चित्र-कल्पना हिन्दी-कविता में पनप सकेगी, ऐसे लक्षण भी अभी नहीं दिखाई पड़ते। कविता, चित्रकला

तथा अन्य ललित कलाओं में जिन बौद्धिक उपादानों और उल्टी दृष्टि की बहुलता हो रही है उससे तो यही जान पड़ता है कि कविता और चित्रकला एक-दूसरे से अलग ही रहें तो अच्छा है ; उनके संगम से विकृतियों का ही जन्म होगा। 'बौद्धिक रस' की अभिव्यक्ति में ऐसी चित्र-योजना का जन्म न हो सकेगा जो अपार्थिव आलम्बन के प्रति तन्मय अनुभूतियों और रागात्मक उन्नयन द्वारा प्रतिफलित कृष्ण-भक्त कवियों की चित्र-योजना से टक्कर ले सके।

पंचम अध्याय

# कृष्ण-भक्त कवियों की अप्रस्तुत-योजना

अपनी उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि अलंकारों का प्रयोग करता है। 'अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार हैं स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूर्त रूप हैं साधर्म्य, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार।'[1] अर्थात् उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि अभीष्ट अर्थ के साथ वाह्य जगत् की वस्तुओं के साहश्य की स्थापना करके उनका प्रेषण करता है। अर्थ को अतिशयोक्ति रूप में प्रकट करके पाठक के मन का विस्तार करता है; वैषम्य द्वारा आश्चर्य की उद्भावना तथा औचित्य के द्वारा उसकी वृत्तियों को अन्वित करता है। बात को वक्रता के साथ कहकर श्रोता या पाठक की जिज्ञासा उद्दीप्त करता है तथा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करता है। इसी आधार पर अलंकारों को पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. साम्य-मूलक अलंकार (उपमा, रूपक, दृष्टान्त इत्यादि)
२. अतिशय-मूलक अलंकार (अतिशयोक्ति अलंकार के विभिन्न भेद)
३. वैषम्य-मूलक अलंकार (विरोध, विभावना इत्यादि)
४. औचित्य-मूलक अलंकार (स्वाभावोक्ति, इत्यादि)
५. वक्रता-मूलक अलंकार (अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याज-स्तुति)
६. चमत्कार-मूलक अलंकार (यमक, चित्र, मुद्रा आदि के विभिन्न भेद)

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में अलंकारों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—

१. शब्द-विन्यास सम्बन्धी अलंकार
२. वाक्य-विन्यास सम्बन्धी अलंकार
३. अर्थ-विन्यास सम्बन्धी अलंकार

प्रथम वर्ग के अलंकार भारतीय शास्त्र में व्याकरण के नियमों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। शेष दो वर्ग के अलंकारों में भारतीय अलंकार-विधान से बहुत साम्य है। मानवीय भावनाओं के समान ही मानव-बुद्धि की प्रक्रिया प्रायः शाश्वत और सार्वभौम है। अलंकार-विधान के द्वारा कवि अपने राग-तत्व को बुद्धि-तत्व की सहायता से व्यक्त करता है। इसी

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६४—डा० नगेन्द्र

मनोवैज्ञानिक आधार के कारण विभिन्न देशों के अलंकार-विधान में एक सार्वभौम ऐक्य है। साम्य, वैपम्य, अतिशयता, वक्रता, चमत्कार इत्यादि ही पाश्चात्य अलंकारों के भी आधार हैं।

इस प्रकार वाणी का अलंकरण शैली का एक बाह्य उपादान-मात्र नहीं है; उसकी जड़ें मानव के अंतरंग से सम्बद्ध हैं। अलंकार रसानुभूति में योग देने वाले तत्व हैं। प्रतिपाद्य से सम्बद्ध वाह्य जगत् के विभिन्न उपकरणों को उपमान तथा प्रतीक के रूप में ग्रहण कर, उपर्युक्त पांच आधारों में से एक या अनेक की विधा पर कवि उनका सम्बन्ध स्थापित कर अपनी उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाता है। अलंकारों के द्वारा सहृदय की वृत्तियां उद्दीप्त होकर अन्वित होती हैं और इस प्रकार अनलंकृत उक्ति की अपेक्षा उनमें अधिक गहराई आ जाती है। कवि की कला बहुत बड़ी सीमा तक अलंकारों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।' आचार्य शुक्ल की इस परिभाषा के अनुसार अलंकार के दो मुख्य कार्य हैं—(१) भावों का उत्कर्ष दिखाना, (२) वस्तुओं के रूपानुभव, क्रियानुभव तथा गुणानुभव को तीव्र करना। जहां इन उद्देश्यों की परिपूर्ति स्वाभाविक अलंकार-विधान द्वारा होती है वहीं वे सार्थक होते हैं और वहीं उनका सौन्दर्य निखरता है। परन्तु यदि उसमें कृत्रिमता आ जाती है तो उनका सारा सौन्दर्य मिट्टी में मिल जाता है और वह विधान केवल एक यान्त्रिक शिल्प-मात्र रह जाता है। अलंकार काव्य की शोभा के लिए हैं, परन्तु यदि उनमें असंतुलन और अतिशयता हुई तो वही उपहासजनक असौन्दर्य बन जाते हैं। अलंकार्य तथा अलंकार के सामंजस्य-विधान में ही अलंकारों की सार्थकता है। बुद्धि के बलात्कार द्वारा निर्मित अलंकार-विधान अस्वाभाविक बन जाता है। इस सामंजस्य के अभाव में अलंकारों का कोई महत्व नहीं रह जाता, जहां बाह्य सज्जा ही सौन्दर्य की परिभाषा बन जाय, वहां सौन्दर्य का रूप सच्चा नहीं होता।

## अलंकरण-सामग्री

अलंकार-योजना में प्रधान रूप से दो पक्ष होते हैं—(१) उपमेय (२) उपमान। यही उपमेय और उपमान ही आधुनिक शब्दावली में 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' बन गये हैं। उपमानों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर काव्य की सफलता तथा सौष्ठव बहुत बड़ी सीमा तक निर्भर रहता है। अप्रस्तुत-विधान काव्य-शिल्प की सबसे बड़ी कसौटी है। इसके नियोजन के द्वारा काव्य में प्रभावोत्पादकता, विशदता तथा रसनीयता का समावेश किया जाता है। रमणीय अनुभूति के लिए रमणीय अभिव्यंजना की अपेक्षा होती है; क्योंकि अनुभूति और अभिव्यंजना-सौष्ठव के संतुलित समन्वय से ही आदर्श काव्य का निर्माण होता है। चरमानुभूतियां जब इतनी रसनीय हों कि अभिव्यंजना-सौष्ठव के बिना भी रसोत्कर्ष में समर्थ हों तभी प्रस्तुत अप्रस्तुत से विच्छिन्न रह सकता है; नहीं तो अप्रस्तुत के बिना प्रस्तुत एक साधारण उक्ति-मात्र रह जाता है।

भाव की अभिव्यक्ति तथा स्वरूप की आनन्दमयी प्रतीति दोनों ही आलंकारिक

योजना के अभीष्ट होते हैं। परन्तु दोनों ही अभीष्टों की एक साथ परिपूर्ति कवि के लिए बड़ी कठिन पड़ जाती है। इस विधान में सबसे आवश्यक तत्व है औचित्य। अर्थात् उपमेय और उपमान के व्यापार में औचित्य की मात्रा पर साम्य की सामर्थ्य निर्भर है और साम्य-सामर्थ्य का काव्य-शिल्प में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। जहां यह स्थापना केवल स्वरूपबोधक रहती है वहां काव्य-सौंदर्य का अभाव होता है, साम्य के विद्यमान रहते भी उसे काव्य-कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य है भावना को तीव्र करना; किसी वस्तु का स्वरूपबोध या परिज्ञान कराना मात्र नहीं। स्वरूप-बोध के साथ सौंदर्य-बोध होने पर ही काव्य का अस्तित्व होता है। प्रयोग-औचित्य, यथार्थता, अभिव्यंजकता, व्यन्जात्मकता, उपमेय तथा उपमान—संयोजन के लिए अभीप्सित आवश्यक गुण हैं। यदि उपमान अमार्मिक और असमर्थ हुए तो अप्रस्तुत-विधान साधारण उक्ति को चमत्कारिक और रमणीय बनाने के बदले उपहासप्रद बना देते हैं।

अप्रस्तुत-योजना विभिन्न प्रकार के साम्यों के आधार पर की जाती है। साम्य के मूलतः तीन रूप हैं—सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य; इनमें अंतिम का सर्वाधिक मूल्य है। सादृश्य तथा साधर्म्य के होते हुए भी अप्रस्तुत-विधान में प्रभाव-साम्य ही प्रधान है। यदि साधर्म्य या सादृश्य में प्रभाव-विस्तार की शक्ति नहीं है तो उपमान निर्जीव रहेंगे। भाव की समृद्धि में जो अप्रस्तुत-विधान जितना अधिक योग देता है, वह उतना ही सफल होता है। प्रभाव-साम्य का प्रयोग व्यक्ति अथवा वस्तु के गुण को संवेदनीय बनाने के स्थान पर किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्ट करने के निमित्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्वात्मक तथा विरोधात्मक समता के द्वारा भी उपमेय और उपमान का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। प्रथम में समता का रूप प्रतिद्वन्द्वात्मक होता है, दूसरे में समता के होते हुए भी वैभिन्न्य तथा विरोध का अस्तित्व विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना अन्योक्ति, अप्रस्तुत-प्रस्तुत की एकात्मकता इत्यादि के द्वारा भी की जाती है। स्पष्टतः इस सम्पूर्ण विधान में प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत अर्थात् उपमान का ही अधिक महत्व रहता है। उपमान ही वे उपादान हैं जिनके द्वारा कवि अपनी उक्ति को रमणीय बनाता है।

### उपमान

प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त उपमानों पर अपने युग तथा वातावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही रूपों में पड़ता है। उपमान तथा वातावरण का एक और सम्बन्ध है। कवि को वातावरण के अनुकूल उपमान ग्रहण करने के लिये जागरूक रहना पड़ता है। कवि के लिए प्रस्तुत से सम्बद्ध युग, संस्कृति, समाज तथा अन्य परिस्थितियों के अनुकूल उपमानों का संयोजन ही अभीष्ट है और सबसे बड़ा अभीष्ट है मार्मिक अनुभूति, जिसके अभाव में अप्रस्तुत-विधान ही साध्य बनकर श्रेष्ठ काव्य की कोटि से नीचे आ जाता है। युग की नई-नई बदलती हुई परिस्थितियां उपमानों के रूप, अर्थ और सौंदर्य-बोध में परिवर्तन करती रहती हैं। नये युग के प्रयोगवादी उपमान इसके स्पष्ट उदाहरण हैं ही, मध्ययुग

की कविता में भी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां कवि को नये उपमान देती रही हैं।

यद्यपि व्यापक रूप में सौंदर्य-तत्त्व सर्वकालीन और सार्वभौम है परन्तु प्रत्येक देश और संस्कृति की सौंदर्य-विषयक धारणाओं का निर्माण तथा उनकी अभिव्यक्ति एकदेशीय बाह्य उपकरणों के आधार पर की जाती है। इसीलिए उपमानों के प्रयोग में भी व्यापक तत्त्वों के साथ ही साथ एकदेशीय तत्त्व विद्यमान रहते हैं। देश-विशेष में सौन्दर्य तथा असौन्दर्य-संबंधी मान्यतायें बन जाती हैं। इन बंधी हुई धारणाओं के विपरीत मान्यताओं के आधार पर अप्रस्तुत-विधान में कवि की नवीन और मौलिक उद्भावना तथा कल्पना-शक्ति अपेक्षित होती है। प्रकृति-विरुद्ध उपमान असुन्दर बन जाते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं।"

उपमान-संयोजन मुख्यतः पांच प्रकार से किया जाता है—

१—मूर्त के मूर्त उपमान।
२—अमूर्त के अमूर्त उपमान।
३—मूर्त के अमूर्त उपमान।
४—अमूर्त के मूर्त उपमान।
५—मूर्तामूर्तरूप उपमान।

(१) जहां उपमेय और उपमान दोनों ही मूर्त पदार्थ या व्यक्ति हों।

(२) अमूर्त उपमेय और अमूर्त उपमान के सामंजस्य-विधान में सूक्ष्म कल्पना तथा श्रेष्ठ काव्य-प्रतिभा अपेक्षित रहती है। सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में इसका संयोजन सम्भव नहीं, यह सर्वसाध्य और सर्वसुगम नहीं है।

(३) मूर्त प्रस्तुत के लिये अमूर्त अप्रस्तुत का नियोजन उतना कठिन नहीं है, क्योंकि मूर्त वस्तु के रूप, रंग, गुण तथा अवगुण प्रत्यक्ष और अनुभूत रहते हैं और अनुभूत वस्तु की अभिव्यक्ति स्वयमेव सहज होती है।

(४) अमूर्त भावों के मूर्त उपमानों का संयोजन बहुत कठिन है। भावात्मक अमूर्त के ऐसे मूर्त उपमानों का चयन, जिनसे उनमें भाव-व्यंजक साम्य की स्थापना की जा सके, कठिन कार्य है।

(५) एक ही प्रस्तुत के लिए, चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, मूर्त तथा अमूर्त दोनों ही प्रकार के उपमान नियोजित किये जाते हैं। इस प्रकार की योजना करते समय कवि को इस बात के लिए सतत रूप से जागरूक रहना पड़ता है कि उसका विधान कहीं दूरारूढ़ न हो जाये।

## सूरदास की अप्रस्तुत-योजना

प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों की अप्रस्तुत-योजना को प्रधान रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) सादृश्यमूलक, (२) विरोधमूलक, (३) अतिशयमूलक। सादृश्यमूलक योजनायें ही सबसे अधिक प्रयुक्त हुई हैं। सादृश्य-योजना के आधार अधिकतर चार प्रकार के हैं—रूप-साम्य, धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य तथा काल्पनिक साम्य। रूप-सादृश्य अधिकतर आलम्बन के रूप-चित्रण के स्थलों पर किया गया है। कृष्ण के बाल-रूप, किशोर-रूप तथा राधिका के सौन्दर्य-वर्णन में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सम्बन्ध रूप-सादृश्य के आधार पर ही निर्धारित किया गया है। इस सादृश्य-विधान में मुख्य रूप से सौन्दर्य-बोध ही प्रधान रहा है। सौन्दर्य के विभिन्न प्रतीकों को आलम्बन के रूप तथा अवयवों पर घटित कर उपमेय के सौन्दर्य की सहज प्रतीति कराने की चेष्टा की गई है, और यह प्रतीति उत्पन्न करने में कवि पूर्ण रूप से सफल रहे हैं। एक उदाहरण देखिये—दधि-मन्थन करती हुई यशोदा का चित्र है—

> नील वसन तनु सजल जलद मनु-दामिनि बिवि भुज-दण्ड चलावति
> चन्द्रवदनि लट लटकि छबीली मनहुं अमृत रस व्यालि चुरावति
> गोरस मथत नाद इक उपजत, किंकिनि धुनि सुनि स्रवन रमावति
> सूर स्याम अंचरा धरि ठाढ़े, काम कसौटी कसि दिखरावति।[1]

गौरवदना यशोदा नील वस्त्र धारण किये हुये दधि-मन्थन कर रही है। मथानी के साथ चलती हुई उनकी गोरी भुजायें ऐसी जान पड़ती हैं मानो स्वयं दामिनी अपनी दोनों भुजायें चला रही हों। चन्द्र-वदन पर लटकती हुई लटें ऐसा जान पड़ती हैं मानों चन्द्रामृत पान करने के लिये व्याल-शावक उतर आये हों। कृष्ण-कथा के आध्यात्मिक रूपक में यशोदा वत्सल भाव से भक्ति करने वाले साधक की प्रतीक हैं, कदाचित् इसीलिए सूर की अन्तर्दृष्टि उनके गार्हस्थिक रूप में सौन्दर्य का स्पर्श देना नहीं भूली है।

प्रसंग के अनुसार सूरदास अपने अप्रस्तुतों की आत्मा में भी परिवर्तन कर देते हैं। यहां पर यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि सूर ही नहीं, सभी कृष्णभक्तों के अलंकरण के उपादान अत्यन्त सीमित हैं; परन्तु इनका कौशल यही है कि इस सीमित अलंकरण-सामग्री के ही विविध प्रयोगों के द्वारा इन्होंने नये-नये चित्र प्रस्तुत किये हैं। बाल-वर्णन का एक अप्रस्तुत-विधान देखिये—

> चारु चखौड़ा पर कुंचित कच, छवि मुक्ता ताहू में।
> मनु मकरन्द बिन्दु लै मधुकर, सुत प्यावन हित भूमें।[2]

कृष्ण के कुटिल कुन्तल चारु चखौड़ा पर लटक रहे हैं। केशों में गुंथे हुये मुक्ता इस प्रकार शोभित हो रहे हैं मानों मधुकर कमल का मकरन्द चुराकर अपने शावकों के लिये ले जा रहे हों, वात्सल्य के प्रसंग में यह साम्य-स्थापन बड़ा स्वाभाविक बन पड़ा है। परन्तु दूसरी

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृष्ठ ३११, पद १४६—ना० प्र० स०
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ३११, पद १४७—ना० प्र० स०

मांसल हो गये हैं। उपमान
और शृंगार-प्रसंगों के उपमान आलम्बन के अनुरूप ही अधिक
वही हैं परन्तु कृष्ण जिस प्रकार बाल्यावस्था की स्निग्धता और भोलेपन को पार कर चंचल
किशोर बन गये हैं उनके सौन्दर्य का वर्णन करने वाले उपमान भी भावी यौवन की मादकता
में भर गये हैं। यौवन की मादक चेष्टाओं का रस उन उपमानों में कुशलता के साथ भर दिया
गया है—

> बदन सुधा सरसीरुह लोचन, भृकुटि दोउ रखवारी।
>
> मनो मधुप मधुपानहिं आवत, देखि डरत जिय भारी।[1]

साम्य-नियोजन में यह रस-स्निग्धता सूरदास की रूप-साम्य-मूलक अप्रस्तुत-योजनाओं
में प्रायः सर्वत्र ही मिलती है। रूप-स्थापना के साथ ही कवि ने उसमें एक व्यंग्यार्थ भी
निहित कर दिया है। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध और रस-परिपाक का बड़ा संतुलित और
समन्वित रूप सूरदास की इन योजनाओं में प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियां
लीजिये—

> प्रथमहिं सुभग स्याम बेली की सोभा कहौ बिचारि।
>
> मनो रह्यौ पन्नग पीवन को ससि मुख सुधा निहारि।[2]

राधा के शारीरिक सौन्दर्य के साथ ही उनके रूप की स्फूर्ति और जीवनदायिनी
शक्ति की ओर संकेत इस पद का व्यंग्यार्थ है जो इस साम्य को भाव-प्रवण बना देता है।

ऐसे स्थल सूर की साम्य-स्थापनाओं में बहुत कम हैं जहां केवल आलंकारिक कला
तथा चमत्कार का ही प्राधान्य हो; परन्तु कहीं-कहीं उनकी साम्य-स्थापनायें हास्यास्पद हो
गई हैं। गजगामिनी राधा के अवयवों के साथ हथिनी के विभिन्न अवयवों की तुलना में
बाह्य साम्य-निरूपण के कारण अर्थ-सौरस्य की बहुत बड़ी क्षति हुई है। ऐसे स्थल, सूर
की रसस्निग्ध लेखनी से ही लिखे गये हैं ऐसा विश्वास करना कठिन हो जाता है। पद इस
प्रकार है—

> गतिगयंद, कुच-कुम्भ, किंकिनि मनहुं घंट झहनावै
>
> मोतिन हार जलाजल मानों खुभीदन्त झलकावै
>
> चंदक मनहुं महाउत मुख पर अंकुस बेसरि लावै
>
> रोमावली सूंड तिरनी लौं, नाभि सरोवर आवै।
>
> पग जेहरि जंजीरनि जकर्‌यो, यह उपमा कुछ भावै
>
> घट-जल छलकि कपोलनि कनिका, मानो मदहिं चुवावै
>
> बेनी डोलति दुहुं नितम्बनि, मानहु पुच्छ हिलावै
>
> गज-सरदार सूर को स्वामी, देखि देखि सुख पावै।[3]

गज-सरदार कृष्ण और गज-गामिनी राधा के इस चित्रण में न तो आलंकारिता का बाह्य-

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० ७५७—पद २४२७—ना०प्र०स०
२. ,, ,, ,, ,, १४३६ ,,
३. ,, ,, ,, ,,

सौन्दर्य है और न भाव-प्रवणता का आन्तरिक आह्लाद। लेकिन ऐसे स्थल उंगलियों पर गिने जा सकते हैं और यह सूरदास की शैली का मुख्य रूप नहीं है।

धर्म-साम्य के द्वारा प्रस्तुत विषय के आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का अवसर अपेक्षाकृत अधिक रहता है। धर्म-साम्य में रूप-साम्य की अपेक्षा सूक्ष्मतर कल्पनाओं और अभिव्यंजनाओं का अवकाश होता है। रमणीयता के व्यंजक सबसे महत्वपूर्ण अंग नेत्र हैं। नेत्रों के द्वारा विभिन्न मानसिक स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के उपमानों के संयोजन द्वारा सूरदास जी ने सचमुच ही नेत्रों को हृदय का दर्पण सिद्ध कर दिया है—तन्मयता, विह्वलता, अल्हड़ता और विवशता की व्यंजना उपमानों की विविधता के द्वारा कितनी सफलता के साथ हुई है, यह दर्शनीय है। कुछ उद्धरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

> लोचन भये पखेरू माई[1]
>
> लोचन मेरे भृंग भये री।[2]
>
> मेरे नयन कुरंग भये।[3]

इसी प्रकार इस प्रसिद्ध पद में प्रस्तुत के लिये संयोजित विविध उपमान नेत्रों की व्यंजक शक्ति के विविध पक्षों का व्यक्तीकरण करते हैं—

> देखि री हरि के चंचल नैन।
> खंजन, मीन, मृगज चपलाई नहिं पट तर इक सैन॥
> राजिव दल इन्दीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति।
> निसि मुदित प्रातहिं वे विकसत, ये विकसति दिन राति।[4]

प्रेम की विवशता और एकनिष्ठता की अभिव्यक्ति के लिये हृदय और नेत्र दोनों को ही अनेक स्थलों पर सूर ने बोहित-खग के अप्रस्तुत द्वारा अभिव्यक्त किया है—

> मेरो मन अनत कहां सुख पावै
> जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिर जहाज पर आवै।[5]
>
> नैन भये बोहित के काग
> उड़ि उड़ि जात पार नहिं पावत, फिरि आवत तिहिं लाग।[6]

### प्रभाव-साम्य

प्रभाव-साम्य के प्रसंगों में साम्य का आधार अधिकतर लक्षणा शक्ति होती है। विरह की अनुभूतियों का व्यक्तीकरण करते हुए सूर ने प्रभाव-साम्य के आधार पर बड़ी ही

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २२७२—ना०प्र०स०
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २२७७—ना० प्र० स०
३. ,, ,, ,, २७८० ,,
४. ,, ,, ,, १८१३ ,,
५. ,, ,, ,, १६८ ,,
६. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २३१२—ना० प्र० स०

मार्मिक व्यंजनायें प्रस्तुत की हैं। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियां हैं—

पिया बिनु नागिन कारी रात
कबहुंक जामिनि उयत जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।[1]

यहां काली रात और नागिन का साम्य दोनों की भयंकरता है। यदा-कदा निकल आने वाली जुन्हैया तथा नागिन के डस कर उलट जाने की क्रिया में भी साम्य-स्थापना का आधार प्रधान रूप से उसकी भयंकरता ही है। रूप-साम्य तो अंश रूप में ही है, जो सूरदास की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि का परिचायक है। नागिन का दंश और रात्रि की भयंकरता प्रस्तुत पद में साम्य का आधार है जो प्रभावमूलक है। इसी प्रकार—

'देखो माई सुन्दरता को सागर!'

पद में सूरदासजी ने सागर के सब तत्वों को कृष्ण के अंगों पर घटित किया है। अगर कृष्ण के सौन्दर्य के गहन प्रभाव का संकेत न होता तो प्रस्तुत रूपक प्रायः हाथी के रूपक के समान उपहासप्रद हो जाता; परन्तु सागर और सौन्दर्य-सागर कृष्ण की अथाहता यहां प्रभाव-साम्य रूप में विद्यमान है इसलिये यह अप्रस्तुत-विधान सार्थक बन गया है।

काल्पनिक साम्य के आधार पर सूर ने अनेक कल्पनायें की हैं जहां संभाव्य और असम्भाव्य की सीमा का अतिक्रमण कर दिया गया है। प्रस्तुत के गुणों के आधार पर अप्रस्तुत को भी ढाल लिया गया है। प्रस्तुत पद में प्रकृति भी उनकी कल्पना की आज्ञा मान स्थिर हो गई सी जान पड़ती है—

उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढाये।
नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव जनु तड़ित छपाये।[2]

मुक्तामाल इत्यादि से शोभित कृष्ण के श्यामवर्ण शरीर पर पड़ा हुआ पीत पट ऐसा जान पड़ता है मानो बादलों में तारे निकल आये हों अथवा चपला अपनी गति छोड़कर स्थिर हो गई हो। इस प्रकार की योजनाओं में तो सौन्दर्य-तत्व का चमत्कारपूर्ण बोध पाठक को होता है; परन्तु कुछ स्थलों पर प्रस्तुत असंभाव्य की स्थापना में सौन्दर्य-तत्व की हानि भी हुई है। निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त अप्रस्तुत-विधान को किसी भी दृष्टि से उपयुक्त सिद्ध करना सूरदासजी के प्रति अनावश्यक पक्षपात होगा—

मैली सजि मुख अम्बुज भीतर, उपजी उपमा मोटी,
मनु वराह भू-धर सह पुहुमी, धरी दसन की कोटी।[3]

अनेक परम्परागत और पौराणिक उपमानों के संयोजन में कल्पना तत्व का प्राधान्य रहा है जहां अप्रस्तुत-विधान न तो चित्र-निर्माण में सहायक हुआ है और न सौन्दर्य-बोध में। परम्परागत उपमानों द्वारा वर्णित कृष्ण तथा राधा के रूप-चित्रण में विभिन्न उपमानों का

१. भ्रमरगीत सार, पृ० ११६—सं० रामचन्द्र शुक्ल
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १०४८—ना० प्र० स०
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १६४—ना० प्र० स०

परिगणन तो कहीं-कहीं नीरसता की सीमा तक पहुँच गया है ।

कृष्ण के अधरों के लिए संयोजित विभिन्न उपमान देखिए—

> देखि सखी अधरन की लाली ।
> मनि मरकत लै सुभग कलेवर, ऐसे हैं वनमाली ।
> मनों प्रात की घटा सांवरी, तापर अरुन प्रकास ।
> ज्यों दामिनि बिच चमकि रहत है फहरत पीत सुवास ।
> कीर्यों तरुन तमाल वेलि चढ़ि जुग फल विम्व सुपाके
> नासा कीर आइ मनु वैठो लेत बनत नहिं ताके ।[1]

कहीं-कहीं अधरों के लिये संयोजित सूर के उपमानों में न अर्थ-गरिमा है न चित्रात्मकता और न भाव-प्रवणता । अलौकिक उपमानों का संयोजन भी अनेक स्थलों पर किया गया है जिसमें काल्पनिक साम्य ही मिलता है । जैसे—

> भाल विसाल ललित लटकन मनि बाल-दसा के चिकुर सुहाये ।
> मानो गुरु सनि कुज आगे करि, ससिहिं मिलन तम के गन आये ।[2]

जिस प्रकार प्रभाव-मूलक साम्य का आधार अधिकतर लक्षणा शक्ति रहती है, उसी प्रकार जहां यह साम्य व्यंजना के आधार पर किया जाता है वहां व्यंग्य-मूलक साम्य होता है । ऐसे स्थलों में अप्रस्तुत-योजना का आधार केवल व्यंग्य-भाव होता है । गोपियों की विरह की अभिव्यक्ति तथा भ्रमरगीत प्रसंग के व्यंग्यों तथा उपालम्भों में यही साम्य मिलता है । व्यंजना पर आधृत इस प्रकार के साम्य-विधान भ्रमर-गीत प्रसंग में भरे पड़े हैं । एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

> ज्यों कोकिल सुत काग जियावै, भाव भगति भोजन जु खवाइ ।
> कुहुकि कुहुकि आये वसन्त ऋतु, अन्त मिलें अपने कुल जाइ ।
> ज्यों मधुकर अम्वुज रस चाख्यो वहुरि न वूझैं वातें आई ।
> सूर जहां तक स्याम गात है, तिन सों कीजै कहा सगाई ।।[3]

साधारण जीवन से गृहीत उपमान पर आधृत सूर की सादृश्य-योजनायें भी बड़ी भाव-प्रवण वन पड़ी हैं । 'घट-निर्माण-प्रक्रिया' के इस रूपक में केवल आलंकारिक अवयवों का यान्त्रिक निर्वाह-मात्र नहीं है, प्रक्रिया के एक-एक सोपान पर गोपियों का विरह-दग्ध व्यक्तित्व रूपी घट वास्तव में अवां पर जलता हुआ ही जान पड़ता है । कवि की दृष्टि यद्यपि विश्लेषणात्मक है, परन्तु उपमानों को पीछे कर उनके द्वारा निर्मित एक संश्लिष्ट चित्र सामने आ जाता है । अन्तिम दो पंक्तियों में दिये गए व्यंजनापूर्ण स्पर्श ने चित्र में प्राणों की प्रतिष्ठा कर दी है । केवल कृष्ण के लिए ही संरक्षित और संयोजित गोपियों का अछूता-अनूठा सौन्दर्य तथा उनकी एकनिष्ठ पुण्य भावनायें, उस मंगल कलश के रूप के माध्यम से व्यक्त हो उठी हैं

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १८३५—ना० प्र० स०
२.  ,,  ,,  ,,  १०४—ना० प्र० स०
३.  ,,  ,,  ,,  ३५६१—ना० प्र० स०

जिसका भार-वहन किये गोपिकायें अपने प्रवासी प्रियतम कृष्ण के स्वागत की प्रतीक्षा आकुल हृदय से कर रही हैं—

ऊधौ भली करी अब आये।
विधि कुलाल कीन्हें कांचे घट, ते तुम आनि पकाये।
रंग दियो हो कान्ह सांवरो, अंग अंग चित्र बनाये।
गलन न पाये नयन नीर यें, अवधि अटा जो छाये।
ब्रज करि अवां, जोग करि ईंधन सुरति अगिनि सुलगाये।
फूंक उपास विरह परजारनि दरसन आस फिराये।
भये संपूरन भरे प्रेम-जल छुवन न काहू पाये।
राजकाज तें गये सूर सुनि, नंदनंदन कर लाये।[1]

## अतिशयोक्ति-मूलक अप्रस्तुत-विधान

आलंकारिक कवि अतिशयोक्ति का प्रयोग केवल आश्चर्य और चमत्कारसृजन के लिये करता है, परन्तु रससिद्ध कवि की रचनाओं में अतिशयोक्ति का प्रयोग उद्दीप्त भावनाओं के उपयुक्त अभिव्यंजना के निर्माण के लिये किया जाता है। सूर की अतिशयोक्ति-मूलक अप्रस्तुत-योजनायें प्रायः सर्वत्र ही भाव की उद्दीप्ति के लिये की गई हैं। गोपियों की विरह-वेदना, उपास्य के रूप-वर्णन इत्यादि में कवि की भावनायें अतिशयोक्ति से रंजित होकर भी सहजोक्ति के रूप में निःसृत होती हैं—

सूरदास कछु कहत न आवै भई गिरा गति पंगु।[2]
नैननि जलधारा बाढ़ति अति बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।[3]

विरह के ऊहात्मक वर्णनों में भी अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना मिलती है परन्तु विरह की उत्कट और तीव्र वेदना के तंतु उनमें इतने अधिक हैं कि ये अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हास्यास्पद नहीं होने पाते। कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

कर-कंकन तें भुज टांड भई।[4]
कंकना कर रहत नाहीं टांड भुज जेहि लीन।[5]
दिसि दिसि सीत समीरहिं रोकत अंचल ओट दिये।
मृगमद मलय परसि तन तलफत जनु विष विषम पिये।[6]

---

१. भ्रमरगीत सार, पृ० ८६, सम्पादक—रामचन्द्र शुक्ल
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ६४०१—ना० प्र० स०
३. ,, ,, पद ३११०‌ ,,
४. ,, ,, पद ४०६० ,,
५. ,, ,, पद ४१०७ ,,
६. ,, ,, पद ४११८ ,,

### विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना

विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य अधिकतर वैषम्य द्वारा वर्ण्य को रमणीय बनाना होता है। इसका आधार कल्पना नहीं होती। बल्कि उसमें उक्ति का चमत्कार प्रधान होता है। भ्रमरगीत में विरोधमूलक अनेक विदग्ध उक्तियाँ हैं। उक्ति-वैचित्र्य और वक्र अभिव्यंजना में इस प्रकार की वैषम्य-स्थापना बड़ी सहायक होती हैं। वक्र अभिव्यंजना के द्वारा गोपियों की भावनाओं की तीव्रता बड़ी सफलता के साथ व्यंजित की गई है। एक उदाहरण लीजिये—

कहं अबला कहं दसा दिगम्बर मष्ट करो पहिचानो
कहं रसरीति कहां तन सोधन सुनि-सुनि लाज मरो
चंदन छांड़ि विभूति बनावत, यह दुख कौन जरो।[1]

इसी प्रकार

कूची खुभी आंधरी काजर नकटी पहिरे बेसर
मुंडली पाटी पारें चाहे कोढ़ी लावें केसर
रीझे जाइ सुन्दरी कुबजा यहि दुख आवत हांसी
जोतन धेनु दुहत पय वृष को करन लगे जु अनीति।[2]

व्यंग्य-प्रधान प्रतिपाद्य के अनुरूप अभिव्यंजना शैली के निर्माण के लिये ही विरोध-मूलक अप्रस्तुत-योजनायें की गई हैं।

### नन्ददास की अप्रस्तुत-योजनायें

नन्ददास की अप्रस्तुत-योजना को अलंकार-प्रयोग के विभिन्न वर्गों के आधार पर विभाजित करना उचित नहीं होगा; क्योंकि उनकी अलंकार-योजना में अनेक मिश्रित शैलियों के दर्शन होते हैं। उनके उपमान भी सर्वत्र पिष्टपेषित और परम्परागत नहीं हैं। विभिन्न कृतियों में उनका दृष्टिकोण भी पृथक्-पृथक् रहा है, इसलिये उनकी अप्रस्तुत-योजना की विवेचना भी कृतियों के आधार पर करना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।

### रास-पंचाध्यायी में प्रयुक्त अप्रस्तुत-योजनायें

रास-पंचाध्यायी की अप्रस्तुत-योजनाओं में नन्ददास का सजग सौंदर्य-बोध सर्वत्र दिखाई पड़ता है। उन्होंने अधिकतर साम्यमूलक अप्रस्तुत-योजनायें की हैं। आलम्बन के रूप-चित्रण में विभिन्न प्रकार के साम्यों की आयोजना की गई है। राधा और कृष्ण का सौन्दर्यांकन अधिकतर परम्परागत उपमानों के आधार पर किया गया है। 'रास-पञ्चाध्यायी' के प्रारम्भ में श्री शुकदेवजी के रूप-चित्रण में रूप-साम्य और गुण-साम्य के संयोजन के दो उदाहरण लीजिये—

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३५५१—ना० प्र० स०
२. भ्रमरगीतसार, पृष्ठ १७—सम्पादक, रामचन्द्र शुक्ल

नीलोत्पल दल स्याम अंग नव जोवन भ्राजे
कुटिल अलक मुख कमल मनो अलि अवलि विराजे।[1]

वर्ण और रूप-साम्य पर आवृत यह योजना प्रकृति से गृहीत विभिन्न उपमानों के संयोजन द्वारा की गई है। शुकदेवजी के आभामय व्यक्तित्व की गरिमा और माधुर्यरस से स्निग्ध भावनाओं की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है—

ललित विसाल सुभाल दिपत जनु निकर निसाकर।
कृष्ण-भगति प्रतिबंध तिमिर कहुँ कोटि दिवाकर।

भक्ति की चरमावस्था की अभिव्यक्तिपरक मादकता, उनके रतनारे नेत्रों में (प्रस्तुत) आसव के मद-(अप्रस्तुत) की कल्पना द्वारा बड़ी ही सार्थक बन पड़ी है—

कृपा रंग रस-ऐन नैन राजत रतनारे।
कृष्ण रसासव पान अलस कुछ घूम घुमारे॥[2]

इसी आभा तथा गरिमा का चित्रण कृष्ण के व्यक्तित्व में सादृश्य और विरोध क्षेत्रों के संयुक्त आधार पर प्रतिद्वन्द्वात्मक रूप में किया गया है—

निकर विभाकर-दुति मेटत सुभ मनि कौस्तुभ अस।
सुंदर नन्द-कुँवर-उर पर सोई लागत उडु जस॥[3]

वह कौस्तुभ मणि, जो विभाकर की किरण-राशि की आभा को लज्जित कर देती है, कृष्ण के व्यक्तित्व की आभा के सामने साधारण तारे की सी मन्द दिखाई पड़ती है।

## प्रकृति में मानव-जीवन के चित्र

रास-पंचाध्यायी में नन्ददासजी ने प्रकृति-चित्रण अनेक स्थलों पर आलम्बन-रूप में किया है। प्रकृति के शुद्ध सात्त्विक प्रभाव-चित्रण में तो वे समर्थ हुये ही हैं, प्रकृति-सम्बन्धी उनकी अप्रस्तुत योजनाओं का मुख्य गुण है प्रकृति और मानवीय चेतना में साम्य-स्थापना। यह साम्य अधिकतर सौन्दर्य-तत्वों से युक्त है। शरद-रजनी के कुछ चित्र यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

रजनीमुख सुख देत ललित प्रफुलित जु मालती।
ज्यों नव जोवन पाइ लसति गुनवती बालती॥[4]

नव फूलनि सों फूलि फूल अस लगति लुनाई।
सरद छबीली छपा हंसत छवि सों मनु आई॥[5]

---

१. रास-पंचाध्यायी, पृ० ३
२. ,, ,, ३, दो० ५
३. ,, ,, ६, दो० ३३
४. ,, ७।४०
५. ,, ७।४१

नन्ददास की सौन्दर्य-दृष्टि ने उपमान और उपमेयों का सम्बन्ध केवल बाह्य आधारों पर ही नहीं स्थापित किया है, प्रत्युत उनकी अन्तर्दृष्टि ने स्थूल का अतिक्रमण कर सूक्ष्म का अंकन किया है। सन्ध्या-काल में मुकुलित मालती उसी प्रकार शोभित हो रही है जिस प्रकार गुणवती बाला नवयौवन के सौन्दर्य से शोभित होती है। इसे हम चाहे प्रकृति पर मानवी चेतना के आरोपण का नाम न दें, परन्तु उपमानों में सन्निहित लक्षणा उसे मानवीकरण के बहुत निकट ला देती है। दूसरी दो पंक्तियों में शुभ्र शरद की लावण्यमयी ज्योत्स्ना के हास में नव विकसित कुसुम झड़ते हुए से जान पड़ते हैं।

चन्द्रोदय के वर्णन में भी मानव-जीवन का एक रस-स्निग्ध चित्र अंकित है—

ताही छन उडुराज उदित रस-रास-सहायक।
कुमकुम मंडित प्रिया वदन जनु नागर नायक॥[1]

इस योजना में इसी प्रसंग में आई हुई भागवत की अप्रस्तुत-योजना का प्रभाव स्पष्ट है। भागवत की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥[2]

'भगवान के संकल्प करते ही प्राची दिशा के मुख-मण्डल पर अपने शीतल किरण रूपी कर-कमलों से लालिमा की रोली मल दी; जैसे बहुत दिनों के बाद अपनी प्राण-प्रिया पत्नी के पास आकर उसके प्रियतम ने उसे आनन्दित करने के लिये ऐसा किया हो।'

साम्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना में लाक्षणिक उपमानों के प्रयोग द्वारा उन्होंने सौन्दर्य और अनुभूति का अनुपम सम्मिश्रण किया है। फलस्वरूप प्रकृति के विभिन्न अंगों का आलम्बन और उद्दीपन रूप में संयुक्त अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पंक्तियां ली जा सकती हैं—

कोमल किरन अरुनिमा वन में व्यापि रही अस।
मनसिज खेल्यो फाग घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल जस॥

सान्ध्य गगन की अरुणिम आभा के लिये गुलाल अप्रस्तुत का संयोजन उपमान और उपमेय में वर्ण-साम्य तो प्रस्तुत करता ही है, उसके अधिक महत्त्वपूर्ण अंश इस चित्र में मनसिज के फाग खेलने का संकेत है, जिसके द्वारा कवि शरदकालीन वातावरण के उद्दीपक रूप को प्रतीक-रूप में प्रस्तुत करना चाहता है।

इसी प्रकार कुंज-रंध्रों में स्फटिक सी शुभ्र किरणों का कामोद्दीपक रूप भी 'वितनु-वितान' के प्रसार के द्वारा संकेतित किया गया है। उपमानों की लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता नन्ददास की अप्रस्तुत-योजनाओं के प्रभाव को द्विगुणित कर देती है।

---

१. रास-पंचाध्यायी ७।४२

२. श्रीमद्भागवत, गीता प्रेस, १० ५२२, अध्याय २९-२

'रमा-रमन' के सौन्दर्य को निहारने के लिये कम्पित, उझकती और मन्द गति से चलती हुई चन्द्रिका में एक शुभ्रहास-युक्त श्वेताम्बरी वाला का चित्र साकार हो जाता है—

मंद मंद चलि चारु चन्द्रिका अस छबि पाई।
उझकति है पिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई॥[1]

अमूर्त के मूर्त विधान के द्वारा प्रभाव-साम्य पर आधृत अप्रस्तुत-योजना का उदाहरण लीजिये—

जाकौं सुन्दर स्याम कथा छिन छिन नइ लागै।
ज्यों लंपट पर-युवति बात सुनि अति अनुरागै॥[2]

रूप और धर्म-साम्य-मूलक संयुक्त अप्रस्तुत-योजना के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत उद्धरण लिये जा सकते हैं—

सुभग वदन सब चितवन पिय के नैन बने यों।
बहुत सरद-ससि मांह अरबरे द्वै चकोर ज्यों॥[3]

मुरली की ध्वनि पर मुग्ध-विह्वल गोपिकाओं की गति को देखते हुए कृष्ण के नेत्र ऐसे हैं मानों अनेक शरद-चन्द्रों को देखकर दो चकोर चंचल हो रहे हों। कृष्ण के सहज-चकित नेत्र और गोपियों के गौर वदन का इस अप्रस्तुत-योजना द्वारा एक सौन्दर्यपूर्ण अमर बिम्ब का निर्माण हुआ है।

रूप और धर्म-साम्य की संयुक्त अभिव्यक्ति का एक और उदाहरण लीजिये—

लाल रसिक के बंक वचन सुनि चकित भई यों।
बाल मृगिन की माल सघन वन भूलि परी ज्यों॥[4]

कृष्ण के द्वारा घर लौट जाने की आज्ञा पाकर गोप-बालाओं के नेत्रों का चकित भाव इस प्रकार व्यक्त हो रहा था मानो मृग-शावकों का यूथ सघन वन में भूल पड़ा हो। यहां उपमान और उपमेय का सम्बन्ध तो परम्परागत है अवश्य, परन्तु उनके संयोजन में नूतन कौशल है। गोपियों के विस्मयजन्य अनुभावों के इस बिम्ब-निर्माण से नन्ददास की कल्पना-शक्ति पर चकित रह जाना पड़ता है।

वर्ण और रूप-साम्य की स्थापना द्वारा बिम्ब-निर्माण देखिए—

अति आदर करि लई सई पिय पै ठाढ़ी अनु।
छबिलि छटनि मिलि छैक्यौ मंजुल घन मूरति जनु॥[5]

'नील-वर्ण श्याम को गौरवर्णा गोपियों ने इस प्रकार घेर लिया मानों छबीली छटाओं (बिजलियों) ने श्यामघन को घेर लिया हो।'

---

१. रास-पंचाध्यायी, पृ० ७।४५
२. ,, ,, ६।६१
३. ,, ,, १०।६८
४. ,, ,, १०।७३
५. ,, ,, १०।७४

रूप और धर्म-साम्य का संयुक्त विधान इन पंक्तियों में देखिए—

मंद परस्पर हँसी लसी तिरछी अँखियाँ अस
रूप उदधि उतराति रँगीली मीन पाँति जस ।[1]

नेत्रों की भंगिमा, गति, वर्ण, मुद्रा सभी इस बिम्ब-योजना में साकार हैं ।

इसी प्रकार—

दुख के बोझ छबि सींव ग्रीव नै चली नाल सी
अलक अलिन के भार नमित मनु कमलमाल सी ।।[2]

(कृष्ण द्वारा घर लौट जाने का संदेश प्राप्त कर) दुःख के भार से गोपियों की सुन्दर ग्रीवायें मृणाल के समान नीची हो गईं, मानों अलक-रूपी भौंरों के भार से कमल-मालायें झुक रही हों । उपमान और उपमेय में यह साम्य सौन्दर्य तथा गुण दोनों के आधार पर ही स्थापित किया गया है ।

रूप और धर्म-साम्य के अनेक उदाहरण रास-पंचाध्यायी में बिखरे पड़े हैं । कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

तियनि के तन जल-मगन वदन तहँ यों छवि छाये ।
फूले हैं जनु जमुन कनक के कमल सुहाये ।।[3]

मंजुल अंजुलि भरि भरि पिय को तिय जल मेलत ।
जनु अलि सों अरविन्द वृंद मकरंदनि खेलत ।।[4]

अतिशयोक्तिमूलक अप्रस्तुत-योजनायें भी यदा-कदा मिलती हैं । परन्तु अतिशयोक्ति में चमत्कार और अनुभूति का संयोजन इस प्रकार किया गया है कि ये उपहासप्रद नहीं बन पाई हैं—

वा सुन्दरि की दसा देखि कहत न बनि आवै ।
विरह भरी पुतरी जु होइ तो कछु छबि पावै ।[5]

तथा—

रुचिर निचोरनि चुवत नीर लखि मैं अधीर तनु ।
तन बिछुरन की पीर, चीर अँसुवन रोवत जनु ।।[6]

प्रभाव-साम्य का एक उदाहरण लीजिये—

सुनि के प्रेम वचन लगी आंच सी जिय ।
पिघरि चल्यौ नवनीत-मीत नवनीत-सदृस हिय ।।[7]

१. रास-पंचाध्यायी, पृ० १०|७४
२. ,, ,, ११|७३
३. ,, ,, २३|२८
४. ,, ,, २६|२४
५. ,, ,, २४|४४
६. ,, ,, ३६|११०
७. ,, ,, ११|८५

जिस प्रकार अग्नि का प्रभाव नवनीत पर होता है उसी प्रकार नवनीत-मीत (कृष्ण) का हृदय गोपियों के विरह-विदग्ध वचनों के द्वारा द्रवित हो गया। माखन-चोर कृष्ण के हृदय के लिए नवनीत उपमान में अनेक ध्वनियां निहित हैं। मधुर रस के आलम्बन कृष्ण के नवनीत-चोर रूप की व्यंजना एक ओर होती है, दूसरी ओर भक्त के प्रति भगवान की द्रवित भावनाओं का प्रतीकात्मक और आध्यात्मिक अर्थ भी इसमें संकेतित है और आंच लगने से नवनीत के पिघलने की क्रिया का साम्य गोपियों के विरह-दग्ध वचनों के द्वारा कृष्ण के द्रवित हृदय के साथ तो अत्यन्त उपयुक्त बन ही पड़ा है। एकाध स्थलों पर प्रतीकात्मक उपमानों का प्रयोग भी किया गया है—

जहं नवी-नीर गम्भीर तहां भल भंवरी परई।
छिल छिल सलिल न परै परै तो छबि नहिं करई ॥[1]

गम्भीर नीर गोपियों के अगाध प्रेम का तथा भंवरी उनके मन में आये हुए अभिमान का प्रतीक है। 'छिल छिल सलिल' प्रेमहीन हृदय का प्रतीक है।

ज्यों पटु पुटके दिये निपट ही रसहिं परै रंग।
तैसोहिं रंचक विरह प्रेम के पुंज बढ़त अंग ॥[2]

कल्पना-मूलक साम्य-योजना भी कुछ स्थलों पर की गई है—

टूटि मुकुति की माल छूटि रहि सांवरे उर पर।
जनु सिंगार पहारतें सुरसरि धाइ धंसी धर ॥[3]

तथा—

रुचिर दृगंचल चंचल अंचल में झलकत अस।
सरस कनक के कंजन खंजन जाल परत जस ॥[4]

## नाम-माला

पहले कहा जा चुका है कि नाम-माला में कवि की चमत्कार-दृष्टि प्रधान है। शब्द-कोष के साथ राधा के मान-वर्णन को एक कथानक के रूप में संग्रथित किया गया है। इस प्रकार के विधान में आलंकारिक और सार्थक अप्रस्तुत विधान नन्ददास की कला-चेतना और प्रौढ़ अभिव्यंजना-शक्ति का परिचायक है। लाक्षणिक अप्रस्तुत के द्वारा माधुर्य-भावना के अतिशयोक्ति-मूलक विधान का एक उदाहरण देखिये—

जनित ओष्ठ पुनि रदन-छद, अधर मधुर एहि भाय।
नाम लिखत जाको तुरत, फिलक ऊख होइ जाय ॥[5]

कृष्ण के नाम के माधुर्य में सिक्त होकर सरकंडे की लेखनी ऊख हो जाती है। प्रस्तुत

१. रास-पंचाध्यायी, पृष्ठ १३।१०३
२. ,, ,, १४।२
३. ,, ,, ३५।९५
४. ,, ,, ३५।१०३
५. नाम-माला, पृ० ८२।५६

साम्य-विधान की सार्थकता और सौन्दर्य उसमें निहित लक्ष्यार्थ पर ही निर्भर है। रूप-साम्य और प्रभाव-साम्य-मूलक अप्रस्तुत-विधान भी नाम-माला के चमत्कारपूर्ण प्रतिपाद्य में बड़े कौशल के साथ गूंथे गये हैं। नेत्र तथा दशन-सम्बन्धी अप्रस्तुत-योजनाओं में रूप-साम्य का आधार द्रष्टव्य है—

दशन—

जनु नव नीरद मध्य में सीतल विद्युत बीज।[1]

नेत्र

कछु रस राते नैन जनु जावक भीजे मीन।[2]

जावक के रंग में भीगी हुई मछली के साथ नेत्रों की रूप-साम्य-स्थापना में नायिका के रोषपूर्ण अरुणिम नेत्र साकार हो उठते हैं। इसी प्रकार प्रभाव-साम्य-मूलक अप्रस्तुत-विधानों का प्रयोग भी पर्यायवाची शब्दों के साथ संग्रथित करके बड़ी कुशलतापूर्वक किया गया है। कुछ उदाहरण लीजिये—

आनन—

आनन, आस्य जु पुनि वदन बयन तुंड छवि मौन।
मुख रुखौ ह्वै जात इमि, जिमि दरपन मुख पौन॥[3]

जिस प्रकार मुख के पवन से दर्पण मलिन हो जाता है उसी प्रकार की मलिनता मानिनी नायिका के मुख-रूपी दर्पण पर छायी हुई है।

साधारण जीवन से गृहीत उपमान के द्वारा प्रभाव-साम्य-विधान का एक और उदाहरण देखिये—

हरिद्रा

पीता गौरी कांचनी, रजनी पिंडा नाम।
हरदी चूनो परत जिमि, इमि देखत भई वाम॥[4]

हल्दी और चूने को मिलाकर जैसा रंग हो जाता है वैसा ही वर्ण, रोष से, नायिका का हो गया।

कल्पित साम्य-योजनायें इस ग्रन्थ में भी नन्ददास ने अनेक स्थलों पर की हैं—

हाथ

हस्त बाहु मुख पानि कर, कबहू धरत कपोल।
वर अरविन्द बिछाय जनु, सोवत इन्दु अडोल॥[5]

श्रवण

श्रवण श्रोत्र श्रुति शब्द-गृह, कर्ण सुभी छवि भौर।
मनु विवि रूप सु कमल कलि, फूली ससि मुख तीर॥[6]

१. नाम-माला, पृष्ठ ८३।५७
२. ,, ,, ८२।५५
३. ,, ,, ८३।५६
४. ,, ,, ८५।७७
५. ,, ,, ८३।६१
६. ,, ,, ८२।५८

ललाट— मस्तक अलिक ललाट पर, बेंदी बनी जराय।
मनो भाग्य ते भाल मनि, प्रकटी बाहर आय ॥[1]

प्राकृतिक तथा परम्परागत उपमानों पर आवृत एक सौन्दर्य-विधान उपमेय और उपमान दोनों के द्विविध चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ होता है—

वक्र असित कुंचित कुटिल, टेढ़ी भौंहन ठौर।
आसन कमल पर प्रात जनु, पंख पसारे भौंर ॥[2]

## रसमंजरी

रसमंजरी में अप्रस्तुत-योजना का प्रयोग व्याख्यात्मक उद्देश्य से भी किया गया है। आरम्भ में वल्लभ-सम्प्रदाय में स्वीकृत अविकृत परिणामवाद की व्याख्या साम्यमूलक अप्रस्तुत-योजना के द्वारा की गई है—

ज्यों अनेक सरिता जल वहै, आनि सबै सागर नें रहै;
ज्यों जलधर तें जलधर जल लै वरषै, हरषि आपने कलै।
अगनि तें अनगिन दीपक वरैं, वहुरि आनि सब तिनमें ररैं;
ऐसेहि रूप प्रेमरस जोहै, तुम तें है तुम ही करि सोहै ॥[3]

समानधर्मा उपमानों में असम्भव तत्वों की स्थापना करके उपमेय में उसके निषेध द्वारा उपमेय के धर्म की विवेचना प्रस्तुत की गई है। उदाहरण के लिए—

तेल लहै करि धूरि की घानी, मृगतृष्णा से पीवैं पानी।
खोजि ससा के शृंगनि पावै, पै मूरख मन हाथ न आवै ॥[4]

धूल की घानी में से तेल का उत्पादन, मृगमरीचिका से जल की प्राप्ति, शशक के सिर पर शृंग की अवस्थिति चाहे एक बार सम्भव हो जाये, पर मूर्ख के मन को समझाना कठिन है।

एक तथ्य की स्थापना के दृष्टान्त-रूप में भी साम्य-मूलक अप्रस्तुत-योजनायें रसमंजरी में की गई हैं—

जाको जहं अधिकार न होई, निकटहि वस्तु दूरि है सोई।
मीन कमल के ढिग ही रहै, रूप-रंग रस मधुलिह लहै ॥
निकटहि निरमोलिक नग जैसे, नैनहीन तिहि पावै कैसे ॥[5]

लाक्षणिक उपमान तथा व्यंजनामूलक साम्य की स्थापना नन्ददासजी की अप्रस्तुत-योजना की मुख्य विशेषता है। अनेक स्थलों पर अप्रस्तुत-योजना का आधार परम्परागत रहा है। अर्धव्यक्त ब्रह्म (प्रस्तुत) का निम्नोक्त अप्रस्तुत-विधान परम्परागत है—

---

१. नाममाला, पृ० ८२-५४
२. ,, ,, ८५-७८
३. रसमंजरी, ,, १४४-५६७
४. ,, ,, १४५-१८
५. ,, ,, १४५-१८

नाहिन उबरे गूढ़ न ऐसे, मरहठ देस बधू कुच जैसे ।[1]

रसहीन व्यक्तियों के हृदय पर माधुर्य-भक्ति के प्रभाव की विफलता के वर्णन के लिए जिन शृंगारिक उपमानों की योजना की गई है, व्याख्या की दृष्टि से तथा स्थिति के स्पष्टीकरण की दृष्टि से चाहे इन्हें उपयुक्त कहा जा सके, परन्तु ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा के प्रसंग में इन उपमानों द्वारा नियोजित वातावरण स्थूलता के स्पर्श से अछूता नहीं रह सका है—

रस बिहीन जे अच्छर सुनहीं, ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं ।
बाला स्मित कटाच्छ धर लाजा, अंधरे बालम के किहि काजा ।
ज्यों तिय सुरत समय सितकारा, निफल जाहि जो बधिर भतारा ॥

अंधे बालम की प्रिया की कामजन्य चेष्टाओं तथा बधिर पति की पत्नी की उत्तेजन-सीत्कारों की विफलता की, प्रस्तुत प्रसंग के साथ साम्य-स्थापना का आधार इन पंक्तियों में निहित व्यंग्यार्थ है ।

इसी प्रकार माधुर्य से विहीन कविता की निरर्थकता का प्रतिपादन इन्होंने अप्रस्तुत में निहित व्यंग्यार्थ के साथ-साथ साम्य स्थापित करके किया है—

हरि-जस-रस जिहि कवित नहि, सुने कवन फल ताहि ।
सठ कठपुतरी संग घुरि, सोवे को सुख आहि ॥[2]

शृंगारिक कार्य-कलापों का प्रकृति के उपकरणों पर आरोपण करके प्रकृति की नायिका रूप में कल्पना भी की गई है । चित्र अपने-आप में पूर्ण है : पवन से हिलती हुई पद्मिनी ऐसी जान पड़ती है मानों अपने लोलुप प्रिय को अपने निकट आने के लिए निषेध कर रही हो; क्योंकि वह अन्य युवतियों में रत है—

पद्मिनि कहुं जब पौन डुलावे, तब लम्पट अलि बैठि न पावे ।
जनु ननुकारति मानिनि तिया, आनि युवति रत जान्यौ पिया ॥

पद्मिनी पर मानिनी नायिका का यह आरोपण नन्ददास के सजग सौन्दर्य-बोध का परिचायक है । भौंरों की गुंजार में नन्ददासजी ने परम्परागत रूप में स्वीकृत काम-जन्य मादकता के स्थान पर कुछ और ही स्थिति की कल्पना की है—प्रभात-काल में कमल पर भौंरे इस रूप में मंडरा रहे हैं मानो रवि के डर से तम के भाग जाने पर उसके शावक रो रहे हों ।—यहां पर तम और भ्रमर के वर्ण-साम्य की ध्वनि स्पष्ट रूप से विद्यमान है ।

कंज कंज प्रति पुंज अलि, गुंजति इमि परभात ।
जनु रवि डर तम तजि गयौ, रोवत वाकौ तात ॥[3]

उपमानों के अपकर्ष द्वारा उपमेय के रूप-सौन्दर्य की स्थापना की गई है । ऐसी योजना का आधार यद्यपि मूल रूप से साम्य-परक होता है परन्तु उपमेय में उस सामान्य गुण का अपकर्ष,

१. रसमंजरी, पृ० ११८।८५
२. रूपमंजरी, पृ० ११८।३५
३. „ „ ११६।५२

अपमान अथवा हानि दिखाकर उपमेय के गुणों का उत्कर्ष स्थापित किया जाता है। इस प्रकार के विधान में साम्य और वैषम्य का सम्मिश्रण होता है। नन्ददासजी ने इस प्रकार की अनेक योजनायें प्रस्तुत की हैं। कहीं अभिधा रूप में ये योजनायें प्रत्यक्ष रूप-निर्माण करती हैं, कहीं व्यंजना के सहारे किसी प्रभाव की व्यंजना करती हैं। अभिजात-सौन्दर्य का एक चित्र देखिये—

> गौर बरन तन सोनित नीको, औरे कंचन को रंग फीको।
> चम्पक कुसुम कहा सरि पावै, बरनहू हीन बात बुरी आवै॥
> उबटन उबटि अंगन न्हवाई, रोषी दामिनि लोपी माई।
> बेनी बनी कि सॅंपनि सुहाई, बुरी दृष्टि देखै तिहि खाई॥[1]

अंतिम पंक्ति में वेणी (प्रस्तुत) का नागिन (अप्रस्तुत) के साथ रूप-साम्य तो है ही, 'बुरी दृष्टि देखै तिहि खाई' के द्वारा नायिका के माधुर्य-भक्ति-जन्य एकनिष्ठ प्रेम का संकेत भी किया गया है। इसी प्रकार—

> भ्रू धनु देखि मदन पछितयो, हरि के समर समय किन भयो।[2]

भ्रू (प्रस्तुत) तथा धनु (अप्रस्तुत) में केवल रूप-साम्य का चित्रण ही लेखक का ध्येय नहीं रहा है, उसके मन में यह बात आना कि यदि शिव के साथ रण करने के समय यह धनुष होता, अर्थात् रूपमती के कटाक्षों द्वारा शिव पर प्रहार किया जाता तो कदाचित् उनकी तपस्या भंग हो सकती। रूपमती के सौंदर्य के उन्मादकारी प्रभाव-निरूपण के ध्येय का परिचायक है। निम्नलिखित पंक्तियों में भी साम्य-मूलक आधार-फलक पर विरोधमूलक अप्रस्तुत-विधान द्वारा प्रस्तुत (नायिका के नेत्र) के सौंदर्य का उत्कर्ष सिद्ध किया गया है। 'मृगज', 'खंजन' 'कंज' तथा 'मीन' नेत्रों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं के व्यंजक हैं—भोलापन, चंचलता, कोमल स्निग्धता, तरलता—नेत्र के ये सभी गुण इन विभिन्न उपमानों के द्वारा व्यक्त होते हैं—इन विविध उपकरणों में उपमेय का समान धर्म किसी न किसी रूप में विद्यमान है, परन्तु उनके अपकर्ष द्वारा उपमेय के गुणों का उत्कर्ष सिद्ध किया गया है—

> मृगज जलज खंजन लजे, कंज लजे छविहीन।
> दृगनि देखि बुरा हीन ह्वै, मीन भये जललीन॥[3]
>
> * * *
>
> लसति जु हॅंसति दसन की जोती, को है दारिम को है मोती।[4]

अतिशयोक्ति से संस्पर्शित कल्पना-मूलक अप्रस्तुत-विधान का एक उदाहरण इस प्रकार है—

---

१. रूपमंजरी, पृ० १२२।१०४-११५
२. ,, ,, १२२।११२
३. ,, ,, १०४।११६
४. ,, ,, १२३।११८

जहं जहं चरन धरं तरुनि, अरुन होति सो लीह।
जनु धरती धरती फिरं, तहं तहं अपनी जीह।[1]

प्रेम-स्निग्ध मन की अमूर्त स्थिति के मूर्त उपमान के साथ साम्य-विधान के चित्र में पराभूत विवश मन की स्थिति साकार हो जाती है—

गड्यौ जु मन पिय प्रेम रस, क्यों हूँ निकस्यौ जाय।
कुंजर ज्यों चहलं पर्यौ, छिन छिन अधिक समाय।[2]

श्याम कृष्ण और उनके नेत्रों का एक चित्र साम्य तथा वैषम्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना के संयुक्त विधान में बड़ी कुशलता और सजीवता के साथ व्यक्त हुआ है—

श्याम बरन तन अस रस भीनों, नरफत रस निचोय जस कीनो।
चुनि चुनि सरद कमल दल लीजं, तिन कहुँ मोती पानिप दीजे।
ता मोहन के नैनन आगं, अलि लेउ अति फीके लागं॥[3]

रूप और सौंदर्य की प्रतियोगिता में जो तत्व (अप्रस्तुत) नायिका से बहुत पीछे रह गए थे, उसे विरह-संतप्त देखकर वे अपना सिर उठा रहे हैं। अप्रस्तुत-विधान के इस प्रतियोगी रूप का ध्येय नायिका के व्यक्तित्व में सौंदर्य के उपकरणों की हानि चित्रित कर उसकी विरह की गहनता और तीव्रता का चित्रण करना है—

अंजन बिनु दिखि नैन सुहाये, खंजन दुरे कहूं ते आये।
निरखि कुंवरि को वदन उदासा, इन्दु मुदित ह्वं उदित अकासा।

प्रभाव और रूप-साम्य का संयुक्त चित्रण निम्नलिखित अप्रस्तुत-विधान में है—

उगी गगन जनु काम कटारी (हंस-चन्द्र)
आवत मैन लिये जनु फारी।[4]

काम की कटारी और काम की फरी, दोनों ही उपमान विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन रूप में प्रयुक्त हुये हैं।

कहीं-कहीं स्थूल साम्य का निर्वाह करते समय सूक्ष्म सौन्दर्य-तत्वों की हानि हो गई है। वसन्त-ऋतु में मदन नृपति के सिंहासनारोहण की कल्पना अनेक कवियों ने की है। नन्ददासजी के तत्सम्बन्धी वर्णन में किसी प्रकार की विशेषता नहीं आ पाई है। एकाध स्थलों में तो कवि-दृष्टि वाह्य तत्त्वों पर ही अटककर रह गई है—

तामें मैन नृपाई पाई, पिक बोली जनु फिरत दुहाई।
किंसुक कलिन देखि भय पाई, नाहर को-सी निहुरे भाई।[5]

---

१. रूपमंजरी, पृ० १२४।१३२
२. „ „ १२७।२१४
३. „ „ १३२।३०३
४. „ „ १३४।३५१
५. „ „ १३६।४५०

किंसुक कली को देखकर नायिका के भयभीत होकर नाहर के समान निहुरने में केवल क्रिया-साम्य मात्र है, क्योंकि नाहर में भय की अवस्थिति नहीं होती। और भी—

> राती-राती रुचिरभरी-सी, विरही जन उर ह्वै निकरी-सी।
> सब वन फूल फूलि अस भयौ, आनि अनंग रंग जनु छयो।
> बड्डे कुंज वितान अस बने, ऊंचे प्रेम-वितान जनु तने।
> वन वाहिर जु कुंज छुट छुटी, ते जनु उठी नटिनि की कुटी।
> एक विरा राव अखेतक चढ़्यौ, विरही मृग मारत रिस बढ़्यौ।
> पुहुप को चाप पनिच अलि किये, पंच वान पांचों कर लिये।
> त्रिगुन पवन तुरंग चढ़ि आयौ, वलमलि देस कुंवरि ढिंग आयौ।
> रूपमंजरी विखि हँसि परी, बवन सुवास निकसि अनुसरी।
> सो सुवास जब भौंरन पाई, टूट पनिप सब तहँ चलि आई।
> इतनेहि मांझ उवरि गई भाई, नातरु मार मारि तिहि आई॥[1]

प्रथम पंक्ति में रक्तिम पलाश-कलियों में विरही हृदय से साम्य की कल्पना केवल बाह्य रूप के आधार पर ही की गई है। सम्पूर्ण रूपक में दो स्थल विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। एक तो कामदेव रूपी नृपति के युद्ध-अभियान में 'नटिनि की कुटी' की कल्पना मध्यकालीन शासकों के युद्ध-अभियान के साथ नर्तकियों के नूपुर की झंकार का परिचय देती है; दूसरे, रूपक में घटना-तत्व के माध्यम से परिणति में एक अप्रत्याशित परिवर्तन उपस्थित करके कवि ने अपने कुशल प्रबन्ध-विन्यास का परिचय दिया है। भौंरों का रूपमंजरी के सौरभ पर आकर्षित होना, उनके द्वारा निर्मित कामदेव की पनिच का टूटना तथा रूपमंजरी का काम के प्रहार से वच जाने की कल्पना वास्तव में सराहनीय है। इसके अतिरिक्त—

> बड्डे तपत पहार से दिन[2]
> दुपहर तहँ डाइन सी आई[3]

नन्ददासजी ने कहीं-कहीं लौकिक जगत के जड़-तत्वों पर भी मानव-चेतना का आरोपण किया है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इसके द्वारा चित्र पूर्ण बन गया है :

> चुम्बन समैं जु नासिका, वेसरि मुती झुलाय।
> अधर छुड़ावन पीव पै, मानो हाहा खाय॥[4]

चुम्बन के कारण हिलती हुई वेसर के झूलते हुये मोती मानो नायक को इस बरजोरी के लिये निषेध करते हुये जान पड़ते हैं।

ग्रीष्म-वर्णन में प्रयुक्त अतिशयोक्ति-मूलक अप्रस्तुत-विधान भी दर्शनीय है। प्रकृति

---

१. रूपमंजरी, पृ० १३५।३५३
२. रूपमंजरी, ,, १४०।४६६
३. ,, ,, १४०।४६७
४. ,, ,, १४२।५१४

और जगत के शीतलतम उपकरणों का प्रभाव उष्ण हो गया है। निदाघ के दाह ने शत्रुओं को मित्र बना दिया है। निम्नोक्त पंक्तियों में अतिशयोक्ति का रूप ऊहात्मक हो गया है—

> अति निदाघ में अस सुधि नाहीं, दादुर रहत फनीफन छाँही।
> चन्दन चरचें अति परजरें, इन्दु किरन घृत बुँद सी परें।
> घनसारहि दिखि दुरभति ऐसे, मृगीचंत जल दरसें जैसे।
> हार के मोतिया उर भर माहीं, तचि-तचि तरफि लचा ह्वै जाहीं॥[1]

नवोढ़ा नायिका के प्रेम के लिये संयोजित धर्म-साम्य पर आधृत अप्रस्तुत-विधान देखिये—

> नेह नवोढ़ा नारि कों, वारि बारुका न्याय।
> थलराये पै पाइये, नीपीड़े न रसाय॥[2]

सिकता में से जल की प्राप्ति उसको थलराने पर ही हो सकती है, निचोड़ने से नहीं। नवोढ़ा के प्रेम की भी यही गति है।

कहीं-कहीं अप्रस्तुत-विधान में भयंकर रस-विरोध दोष आ गया है। शृंगार तथा वात्सल्य दोनों ही का स्थायी भाव यद्यपि प्रेम है, परन्तु दोनों में एक आधारभूत तात्विक अन्तर है। शृंगार-क्रीड़ाओं के लिये वात्सल्य-भाव से सम्बद्ध उपमानों के द्वारा अप्रस्तुत-विधान में एक अजीब-सी वीभत्सता आ गई है—

> अति सिसु जोवन फँसे रहैं, पीतम अधर दूध कहैं चहैं।
> बिलपति देखि दया जब आवें, भरि-भरि नैंना नीर पिवावें॥[2]

## रुक्मिणी-मंगल

रुक्मिणी-मंगल की अप्रस्तुत-योजना में भी रूपमंजरी के समान सजग सौन्दर्य-बोध का परिचय मिलता है। शिशुपाल के साथ विवाह के प्रसंग से व्यथित रुक्मिणी के उद्भ्रान्त नेत्रों और मलिन मुख के चित्र, रूप-साम्य पर आधृत इन अप्रस्तुत-योजनाओं के माध्यम से साकार हो उठते हैं—

> चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी माल तें।
> भयौ बदन बहु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तें॥[3]

अश्रुओं से मुँह धोती हुई रुक्मिणी के मुख और नेत्रों का सौन्दर्य नन्ददास की बिम्बाधायक कल्पना-शक्ति का परिचय देने के लिये पर्याप्त है।

> भरि आये जल नैन, प्रेम रस ऐन सुहाये।
> जनु सुन्दर अरविन्द अलिन्दन बैठ हिलाये॥[4]

* * *

---

१. रूपमंजरी, पृ० १३५।३७५
२. ,, ,, १४०।४७०
३. रुक्मिणीमंगल ,, २००।१-४
४. ,, ,, २००।५

टप टप टप टप टपकि नैन सों अँसुआ दरहीं।
मनु नव नील कमल दल तें मल मोतिया झरहीं॥[1]

अतिशयोक्ति-मूलक योजनाओं में अधिकतर स्वाभाविकता का निर्वाह किया गया है। उक्ति ऊहात्मक होते हुए भी प्रभाव-गरिमा से वंचित नहीं है—

उपजि विरह-दुख दवा अवां तन ताप तये हैं।
कोउ कोउ हार के मोतिया तचि-तचि लाल भये हैं॥[2]

शिशुपाल के साथ विवाह की आशंका, तथा कृष्ण-विरह की संयुक्त वेदना के कारण रुक्मिणी के विवर्ण मुख के लिये अप्रस्तुत की योजना देखिये—

ह्वै गयो कछु विवरन तन, छाजत यौं छवि छाई।
रूप अनूपम-बेलि तनक मनु घाम में आई॥[3]

निम्नलिखित काल्पनिक साम्य साधारण जीवन से गृहीत उपमान पर आधृत है—

वगर वगर सब नगर कहीं गुड़ी उड़ी छवि।
मनों गगन में अंग चौखटे-चंद रहे फबि॥[4]

कृष्ण के रूप-ओज का वर्णन यहां भी परम्परागत प्राकृतिक उपमानों के सहारे किया गया है—

जदुपति को लखि द्विजपति, मन में अति सचु पायौ।
जनु उडुपति उडु मंडल तें महि-मंडल आयौ।
किधौं कमल-मंडल में अमल दिनेस विराजें।
कंकन किंकिनि कुंडल करन महाछवि छाजें॥[5]

अमूर्त-भाव 'हर्ष' के चरम रूप की अभिव्यक्ति के लिये जगत-द्वन्द्व से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति की स्थिति से तुलना की गई है—

कृष्ण भावती पुरी निरखि द्विज हरख भयौ अस।
जगत-द्वन्द्व तें छुट्यौ ब्रह्म आनन्द मिल्यौ जस॥[6]

साम्य पर आधृत साधारण जीवन से गृहीत उपमान के माध्यम से व्यक्त इस चित्र में उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचय मिलता है—

लै चले नागर नगधर नवल तिया को ऐसे।
माखिन आंखिन धूरि पूरि मधुहा मधु जैसे॥

---

१. रुक्मिणी मंगल, पृ० २०१।१६
२. ,, पृ० २०१।१७
३. ,, पृ० २०१।१४
४. ,, पृ० २०३।३८
५. ,, पृ० २०४।४५-४६
६. ,, पृ० २०३।४०

श्यामवर्ण कृष्ण और गौरवदना रुक्मिणी के लिए नन्ददासजी ने कृष्ण-भक्त कवियों के अत्यन्त प्रिय उपमानों—बिजली और बादल—का प्रयोग किया है—

> लसत सांवरे सुंदर संग सुंदरि आभा-सी।
> जनु नव नीरद निकट चारु चन्द्रिका प्रकासी॥[1]

इन्हीं उपमानों द्वारा रुक्मिणी के अरुण अधरों में खिलती हुई मुस्कान का वर्णन भी किया गया है—

> सोभा-सदन सुधवल रदन की छबि छुति ऐसी।
> अरुन अदरि में दमकति दामिनि अंकुर जैसी॥

वर्षा के घने बादलों में बिजली की चमक की कल्पना तो राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन में प्रायः सभी कवियों ने की है; परन्तु वर्षा के उपरान्त लाल बादलों में दामिनी के अवशेष की कल्पना अनूठी ही बन पड़ी है।

निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त चित्र तो इन्द्रधनुषी घूंघट उठाकर झांकती हुई पंतजी की 'नायिका' का प्रतिरूप-सा जान पड़ता है—

> घूंघट पट दियो हुतौ सु खोल्यौ वदन डहड्यौ।
> जनु अंबर तें अबही निकस्यौ चंद गहगह्यौ॥[2]

अन्तर यही है कि पंतजी को प्रकृति में प्रेयसी के दर्शन होते हैं और नन्ददासजी को नारी में प्रकृति के।

कृष्ण-जन्म के संवाद से आह्लादित गोपियों की उत्सुकता और भाव-विह्वलता के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं उनमें प्रयुक्त उपमानों में प्रतीकात्मकता तथा चित्रात्मकता का सुन्दर सामंजस्य है। वर्णन इस प्रकार है—

> चलीं तुरत सजि सहज सिंगार, छतियनि उछरत मोतिन हार।
> श्रवननि मनि कुंडल झलमलैं बेगि चलन को जनु कलमलैं।
> चले जु चपल नयन छवि चढ़ें, चन्दनि मनहुं मीन ह्वै चढ़ें।
> सुघुम कुसुम सीसनि तें खसें, जनु आनन्द भरे कच हँसें।
> हाथन थार सु लागत भले, कंजनि जनु कि चन्द चढ़ि चले॥[3]

द्वितीय पंक्ति में श्रवणों के मनि-कुण्डल की झलमलाहट (प्रस्तुत) में हृदय की विह्वलता (अप्रस्तुत) का आरोपण किया गया है। तृतीय पंक्ति में वेग से चलती हुई नारियों के विस्फारित और चंचल नेत्रों का चित्र चन्द्र पर मीन के चढ़ने के काल्पनिक साम्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है (मुख चंद्र है और नेत्र मीन)। चौथी पंक्ति में बालों में से खिसकते हुये फूल मानो उनके उल्लास को व्यक्त करते जान पड़ते हैं। हाथ में शोभा पाते हुये थाल ऐसे

---

१. रुक्मिणी-मंगल, पृ० २११।१२१
२. रुक्मिणी-मंगल, पृ० २०९-११०
३. दशम स्कन्ध, पंचम अध्याय, पृ० २३४

जान पड़ते हैं, मानों कमल पर चन्द्र शोभित हो रहे हों। हृदय के आह्लाद और रूप-चित्रण का यह संयुक्त विधान काव्य के चित्रात्मक धर्म से पूर्ण परिचित कलाकार के लिये ही सम्भव हो सकता था।

प्रतीकात्मक अप्रस्तुत-विधान की सप्राणता का उदाहरण इन तीन पंक्तियों में देखिये—

> नग जु बने यों लगे सुहाये, गृहनि के मनहुं नैन ह्वै आये।
> मुक्ता वन्दन माल जु लसैं, जनु आनन्द भरे घर हँसैं॥
> धाम धाम प्रति धुजन की सोभा, जनु निकसी ब्रज छवि की गोभा॥[1]

नन्द-भवन के प्रासाद की रत्नजटित भित्तियों में गृहनेत्रों की कल्पना का सौन्दर्य उसके लाक्षणिक अर्थ में ही निहित है। रत्नों की आभा से घर प्राणवन्त-सा जान पड़ता है। वन्दनवार तो मांगलिक उल्लास का प्रतीक होता ही है—मुक्ताजटित वन्दनवार में वह उल्लास और भी सजीव हो उठा है, विशेषकर ऐसी स्थिति में, जब मुक्ता का श्वेत वर्ण ही हास्य और उल्लास का भी प्रतीक माना जाता है। प्रत्येक घर पर लहराती हुई ध्वजाओं की कल्पना ब्रज-शोभा के अंकुर रूप में करके भी कवि ने सूक्ष्म कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। ध्वजा का धर्म है विजय और श्रेष्ठता की प्रतिष्ठा करना, ब्रजभूमि की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा की स्थापना तो ध्वजा कर ही रही है। कृष्ण-जन्म के द्वारा ब्रज की नूतन श्रीवृद्धि का प्रतीकात्मक संकेत भी इस नये अंकुर के भाव में विद्यमान है।

दधि-मन्थन करती हुई यशोदा तथा माखन चुराने के अपराध में यशोदा द्वारा प्रताड़ित कृष्ण के रुदन के प्रसंग में रूपसाम्य के आधार पर संयोजित अप्रस्तुत-विधान में चित्रात्मकता और सौन्दर्य-तत्व की रक्षा हुई है—

> आनन पर श्रमकन कत बनी, कनक कमल जनौं ओस की कनी।

गौरवर्ण मुख के लिये कनक-कमल की कल्पना अत्यन्त सार्थक है—

> किधौं चन्द्र मधि प्रकटे मोती, आये जानि आपनो गोती।

चन्द्र में मोती के उदय होने की कल्पना को पौराणिक प्रसंग के द्वारा पुष्ट करके यद्यपि नन्ददासजी ने उसके औचित्य का प्रतिपादन कर दिया है; परन्तु जहां तक काव्य के सौन्दर्य-तत्व का सम्बन्ध है, इस समावेश से उसकी हानि ही हुई है। यशोदा का 'रहपट' खाकर रोते हुए 'तिहुं लोक के सांईं' कृष्ण का एक चित्र देखिये। रूप-चित्रण के स्थलों पर तो नन्ददास की लेखनी तूलिका बन गई है। उनकी अलंकरण-सामग्री अत्यन्त सीमित है, परन्तु उसी सामग्री को भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर भिन्न-भिन्न रूप प्रदान करके विविध चित्र प्रस्तुत किये हैं—

> परल दृगनि ते जलकन जोती, ढारत ससि जनु मंजुल मोती।
> भींजत चख मसि पसरत ऐसे, निर्मल विधु कलंक कन जैसे।

---

१. दशम स्कन्ध, पृ० २३५

नन्ददास द्वारा प्रकृति के आलम्बन रूप के चित्रण में एकरूपता पाई जाती है। विविध ग्रन्थों में ऋतु-वर्णन प्रायः एक ही शैली में किया गया है। अप्रस्तुत-योजनाओं में भी यह एकरूपता देखने को मिलती है। दशम स्कन्ध में वर्णित वसन्त ऋतु की, अप्रस्तुत-योजनाओं में प्रायः वही विशेषतायें हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है; परन्तु उनके अन्तर्गत कुछ नई संयोजनायें भी मिलती हैं। वर्णन इस प्रकार है—

अरुन अरुन नव पल्लव पात, जनु हरि के अनुराग चुचात।
रटत विहंगम रंगनि भरे, बात कहत जनु द्रुम रस ढरे।
कोकिल कल कूजनि छवि पावति, जनु मधु-वधू सुमंगल गावति।
सर मधि अमल कमल अस लसैं, जनु आनन्द भरे सर हँसैं।
जल पर परी पराग जो सोहै, अबिर भरे नव दर्पन को है॥

अरुण पल्लवों में प्रकृति में व्याप्त कृष्ण के प्रति प्रेम की तथा कोकिल के कूजन में वसन्त-वधू के मंगल-गान की कल्पना नन्ददास की नूतन उद्भावनायें हैं। इन दोनों ही प्रसंगों में साम्य-विधान का आधार लक्षणा है। मुकुलित कमल भी सरोवर के आनन्द के प्रतीक रूप में लक्षणा के आधार पर ही ग्रहण किये गये हैं।

राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन करते हुए कूप के रूपक में नन्ददासजी की विदग्ध कल्पना का परिचय मिलता है—

चिबुक कूप मधि पिय-मन पर्‌यौ अधर-सुधा-रस-आस।
कुटिल अलक लटकत काढ़न कौं कंटक, डारि बांध प्रेम के पास॥
चंचल लोचन ऊपर ठाढ़े ऐंचन को मानो मधु हास।
नन्ददास प्रभु प्यारी छवि निरखैं बाढ़ी अधिक पियास॥[1]

नायिका के अधर-रस-पान की आशा में नायक का मन उसके सौन्दर्य-कूप में निमग्न हो गया है। उसको निकालने के लिये नायक के पास घुंघराले केश-रूपी कंटक तथा प्रेम-पाश हैं। कृष्ण के चंचल नेत्र मानों नायिका के सौन्दर्य-रूपी कूप से मधु-हास का कर्षण करने के लिये आतुर हैं। अधर-सुधा-रस और हास दोनों ही अधरों के गुण हैं। इस प्रकार कवि ने रूपक-निर्वाह के लिये औचित्य-निर्वाह के प्रति सराहनीय सजगता बरती है।

सद्यःस्नाता के वर्णन में रूप-साम्य और काल्पनिक साम्य की योजना परम्परागत उपमानों के द्वारा की गई है—

बदन पै सलिल-कन जगमगात जोती
इन्दु-सुधा तामें मनो, अमीमय मोती
मोती हार आधो चाह, उर रह्यो लसी
कनकलता उदय होत मानो सुन ससी
सोहै पुनि सुरसरी सी मोती के हारा
रोमावलि मिली मनो जमुना की धारा

१. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४७, पद ६३

होली के प्रसंग का एक मार्मिक और सजीव चित्र देखिये—

पिय कर पिचका देखि कैं, छबि सों नैन ढराइ।
खंजन से मनु उड़ि चले, अरु ढरक मीन ह्वै जाइ॥[1]

प्रिय के हाथों में पिचकारी देखकर नायिका के नेत्रों की भाव-व्यंजक गति के दो रूपों का चित्रण हुआ है। प्रथम रूप में कृष्ण की ओर चंचल नेत्रों के उठने की प्रक्रिया पर खंजन की चंचलता और फिर भाव-स्निग्ध होकर नीचे देखने की प्रक्रिया पर मीन की रस-स्निग्धता का आरोपण किया गया है।

थिरकति रंग तियन पै उपजै अति आनन्द
मानो इन्दु सुधाकर सींचत नव कुमुदिनि के वृंद।[2]

इन्हीं उपमानों के द्वारा एक कल्पित साम्य-विधान भी प्रस्तुत किया गया है—

जनु नव कुमुदिन के मंडल में इन्दु पगत चलि जाइ।

रूप-साम्य पर आवृत कुछ सुन्दर अप्रस्तुत-योजनायें की गई हैं—

छिरकत पिया नन्दलाल, प्यारी पट ओट बचावहि
मनु घन पूरन चंद दूर निकट पुनि आवहि॥[3]

ब्रज को बाल लै गुलाल मोहन लाल छायौ।
मनु नील घन के ऊपर अरुन अम्बुद आयौ॥[4]

नन्ददास की अप्रस्तुत-योजना में तत्सम्बन्धी कला-सजगता और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। उन्होंने इस क्षेत्र में अनेक सूक्ष्म और नूतन प्रयोग किये हैं। प्रकृति पर मानवी चेतना का आरोपण, लाक्षणिक और प्रतीकात्मक और अमूर्त उपमानों का संकलन उन्होंने जिस सजीवता के साथ किया है उसका प्रतिरूप हमें आधुनिक काल की छायावादी काव्य-धारा में ही मिलता है; अन्यत्र नहीं। उनकी उपलक्षित चित्र-योजना में ये उपमान वास्तव में रंगों और रेखाओं का काम करते हैं।

## परमानन्ददास की अप्रस्तुत-योजना

परमानन्ददास की अभिव्यंजना-शैली में कल्पना-तत्व बहुत कम है। कृष्ण के रूप तथा उनकी लीलाओं के चित्र अधिकतर भावनाओं के माध्यम से ही व्यक्त किये गये हैं, यदा-कदा ही अप्रस्तुत-विधानों का सहारा लिया गया है। निम्नलिखित पंक्तियों में विभिन्न उपमानों के आधार पर कृष्ण का रूप-संयोजन किया गया है। प्रकृति अप्रस्तुत और कृष्ण के रूप (प्रस्तुत) में अन्विति के अभाव के कारण विधान अलग-अलग खंडों में विभक्त हो गया है—

१. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ ३६१, पद १८४
२. नन्ददास-ग्रन्थावली, „ ३६१।१८५
३. „ „ „ ३६५।१६०
४. „ „ „ ३६६।१६२

देखत ब्रजनाथ वदन कोटि वारौं
जलज निकट नैन मन उपमा विचारौं।
कुंडल ससि सूर उदित अघटन की घटना
कुंतल अलिमाल तापै मुरली फल रटना।

परम्परागत प्राकृतिक उपमानों के द्वारा काल्पनिक और रूप-साम्य का संयुक्त संयोजन पृथक्-पृथक् तीन विखरे हुए चित्र प्रस्तुत करता है। आगामी चार पंक्तियों में कृष्ण के रूप पर वर्षा का आरोपण किया गया है—

जलद कंठ सुन्दर पीत वसन दामिनी।
वकमाल सक्रचाप मोही सव भामिनी॥
मुकतामनि हार मण्डित तारागत पांति।
परमानंद स्वामी गोपाल सव विचित्र भांति॥[1]

निम्नलिखित पंक्तियों में भी रूप-साम्य और प्रभाव-साम्य दोनों का समन्वित संयोजन किया गया है—

कुंचित केस सुदेस वदन पर वीच-वीच जल वूंद रहे,
मानो कमल-पत्र पर मोती, खंजन निकट सलील गहे।
गोपी नैन-भृंग रस-लम्पट उड़ि-उड़ि परत वदन मांही,
परमानन्द दास रस-लोभी अति आतुर कहं जाहीं॥[2]

प्रथम दो पंक्तियों में 'प्रस्तुत' कृष्ण का रूप है। चित्र उपमानों का वनता है, उपमेय का नहीं। कृष्ण का मुख-कमल, उसपर पड़े हुए जल-विन्दु, निकट ही खंजन : यह योजना कृष्ण के रूप की अपेक्षा एक सरोवर का चित्र अधिक सजीवता से प्रस्तुत करती है परन्तु गोपियों के नयन-रूपी भ्रमरों की रसवृत्ति में उपमेय और उपमान का ऐकात्म्य हो जाता है। गोपियों की प्रेम-भरी काली आकुल आंखें नेत्रों में साकार हो जाती हैं।

उर वन माल विचित्र विराजति जनु घन वीच इन्द्र धनु भासै
गिरा गंभीर सुनत सखि व्याकुल देखत रूप मदन जनु जासै
वालक वृन्द नच्छत्र माल मंहं मानहूं पूरन चंद।[3]

उपर्युक्त तीनों पंक्तियों में योजना का उद्देश्य पृथक्-पृथक् है। प्रथम पंक्ति में उसका आधार है रूप-साम्य, दूसरे में प्रभाव-साम्य तथा तीसरे में लाक्षणिक उपमानों द्वारा कृष्ण के रूप का महत्त्व स्थापित किया गया है।

कृष्ण और राधा के युगल-रूप-वर्णन में अप्रस्तुत-विधान द्वारा उत्पन्न प्रभावात्मकता का एक उदाहरण लीजिए—

---

१. परमानन्दसागर, पृ० ४२, पद १२४
२. ,, ,, पृ० ४७-४८ ,, १४३
३. ,, ,, ,, ७१ ,, २२४

वे कुंचित कच मधुप विसेखित यह सुवेस ग्रथित कर डोरी
वे अम्बुज-मुख यह विधुवदनी वे कोमल कर उरज कठोरी ।[1]

वे गजमत्त प्रबल व्रजनायक यह सारंग रिपु कृस कटि थोरी ।[2]

धर्म-साम्य

यह जोवन-धन द्यौस च्यारि को पलटत रंग सौ पान ।[3]

संयोग-शृंगार के प्रसंग में अन्य कवियों की भांति परमानन्ददास जी ने भी कनक-बेलि और तमाल-वृक्ष की कल्पना की है—

अद्भुत रूप तमाल सों लिपटी कनक वेलि सुकुमारी
वदन सरोज डहडहे लोचन निरखत छवि सुखकारी
परमानन्द प्रभु मत्त मधुप हैं वृषभान सुता फुलवारी ।[4]

अन्तिम पंक्ति की योजना का गूढ़ार्थ द्रष्टव्य है। राधा का मुकुलित यौवन और कृष्ण का मांसल पौरुष फुलवारी और मधुप अप्रस्तुत के द्वारा बड़े भाव-व्यंजक बन गये हैं।

शरीर की नश्वरता के उपमान कई स्थलों पर प्रस्तुत किये गये हैं। उनका रूप प्रायः परम्परागत है—

ये जोवन अंजलि को जल ज्यों जब गुपाल मांगे तब दीजै
दिन दिन घटै रैन ही सुन्दरि जैसे कला चन्द की छीजै ।[5]

प्रभावमूलक साम्य का प्रयोग भी परमानन्ददास जी ने अनेक स्थलों पर किया है, जैसे—

मित्र उदै जैसे कमल कली ।[6]

काल्पनिक तत्वों द्वारा रूप-संयोजन की चेष्टा उन्होंने बहुत ही कम स्थलों पर की है। अनुभूति-व्यंजना में कहीं-कहीं बड़ी ही मार्मिक अप्रस्तुत-योजनायें बन पड़ी हैं। विरह-विदग्ध नायिका का चित्रण है—

जब ते प्रीति स्याम सौं कीनी ।
ता दिन ते मेरे इन नैनन नेकहुं नींद न लीनी ॥
सदा रहति चित चाक चढ्यौ सो और न कछू सुहाय ।

प्रेम-जन्य उद्विग्नता, परवशता और अव्यवस्थित मस्तिष्क के चित्रण के लिए इससे अच्छा अप्रस्तुत और क्या हो सकता था !

---

१. परमानन्द सागर, पृ० ७०, पद २४५
२. ,, ,, पृ० ७०, ,, २४६
३. ,, ,, पृ० १३५, ,, ३९९
४. परमानन्द सागर, पृ० १४०।४१२
५. ,, ,, पृ० १४०।४१३
६. ,, ,, पृ० १४८।४३७

रूप-साम्य तथा काल्पनिक साम्य के संयुक्त विधान के द्वारा कृष्ण के रूप-चित्रण का एक उदाहरण लीजिए—

अरुन अधर कृत मधुर मुरलिका तैसीये चंदन तिलक निकाई,
मनो द्वितिया दिन उदित अर्ध ससि निकसि जलद में देत दिखाई।
अद्भुत मनि कुंडल कपोल मुख अद्भुत उठत परस्पर झांई,
मानौं विधु मीन विहार करत दोऊ जल तरंग में चलि-चलि आई।[1]

प्रेम-लक्षणा भक्ति के भावातिरेक तथा तद्‌जन्य स्थितियों के साथ कृष्ण के रूप-चित्रण में प्रयुक्त अप्रस्तुत-विधान की सरल सहजता ही उसका गुण है—

जा दिन ते आंगन खेलत देखौ, सो जसोदा को पूत री,
तब ते गृह सूं नातौ टूट्यो जैसे कांचो सूत री।
अति बिसाल वारिज लोचन पट राजत काजर रेख री,
रच्छा दे मकरन्द लेत मनो अलि गोलक के वेष री।
राजत द्वै द्वै दूध की दतियां जगमग जगमग होति री,
मनों महातम मन्दिर में परी रतनन की जोति री।
स्रवनन उत्कंठा रहत सदाई जब बोलत बोल तुतराय री,
मानहु कुमुदनी कामना पूजी पूरन चन्द्रहि पाय री।[2]

पौराणिक उपमान द्वारा धर्म-साम्य की स्थापना का एक चित्र देखिए—

तुम्हरो रूप तजि और न भावै चरन-कमल चित बांध्यौ
परमानन्द प्रभु द्रोन वान-ज्यों बहुरि न बूजो सांध्यों।[3]

प्रभाव-साम्य से युक्त निम्नोक्त पंक्तियों में कृष्ण के अभाव में व्रज की शून्य निरर्थकता की स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है—

ऐसी मैं देखी व्रज की बात।
तुम बिन कान्ह कमल दल लोचन जैसे दूल्हें बिन जात बरात।[4]

* * *

ए कृष्ण बिनु सबही दीसतु है चन्द हीन जैसे राति।[5]

कृष्ण के रूप-चित्रण में अनेक स्थलों पर उनकी अप्रस्तुत-योजनाओं में सूरदास का प्रभाव दिखाई पड़ता है। यथा—

प्रात समै सुत को मुख निरखत प्रमुदित जसुमति हरषित नंद
दिनकर किरन मानो बिगसत उरप्रति अति उपजत आनन्द

---

१. परमानन्दसागर, पृ० १५२।४४८
२. „ „ „ १५८।४६७
३. „ „ „ १७८।५२३
४. „ „ „ १८७।५५०
५. „ „ „ १८७।५५२

वदन उघारि जगावत जननी जागो मेरे आनन्द कन्द।
मनहु पयोनिधि सहित फेन फट दई दिखाई नौतन चंद ॥[१]

परमानन्दसागर में ऐसे स्थान बहुत कम हैं जहाँ उत्प्रेक्षाओं और उपमा की झड़ी लगा कर कवि ने प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति की हो, अपवाद-रूप में कुछ पद ऐसे मिलते हैं जहां उनका ध्येय सचेष्ट अप्रस्तुत-विधान रहा है।

परमानन्ददास मूलतः भक्त थे। उनके पास भावनाओं की अपरिमित पूंजी थी। नन्ददास की सी जागरूक कला-चेतना की उनमें न्यूनता है। उनके काव्य की चित्रोपमता और सजीवता बिना अप्रस्तुत का सहारा ग्रहण किये हुए व्यक्त हुई है। आलंकारिक विधान उसमें बहुत कम है। परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टि से उनकी अप्रस्तुत-योजना का अधिक महत्व नहीं है। परम्परागत उपमानों पर आधृत साम्यमूलक विधान ही उन्होंने अधिक किए हैं। हां, अनुभूत्यात्मक उपमेय के उपयुक्त सार्थक उपमान-संयोजन में उनकी अनुभूति की तीव्रता का परिचय अवश्य मिल जाता है।

## कुम्भनदास

कुम्भनदास की अप्रस्तुत-योजना का रूप भी परम्परागत ही अधिक है। प्रायः पुराने उपमानों का ही प्रयोग उनकी रचनाओं में हुआ है।

गोवर्धन-पूजा के अवसर पर गौरवर्णा गोपियों द्वारा घिरे हुए गोवर्धन के चित्रण में यद्यपि परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग हुआ है, परन्तु कवि की नूतन सूझ से उसमें सजीवता आ गई है—

चहूं ओर गोपी कंचन-तन मानों गिरि पहिर्यो हार।[२]

कंचन-वेलि बनी व्रज-बाल, ज्यों लपटी घनस्याम-तमाल।[३]

वैभवपूर्ण जीवन से गृहीत 'कुंदन पर चुन्नी' की शोभा की कल्पना में उन्हें वसुधा पर श्री वल्लभ की शोभा का साम्य प्राप्त हुआ है—

जो पै श्री वल्लभ प्रकट न होते, वसुधा रहती सूनी,
दिन-दिन प्रति छिन-छिन राजत है ज्यों कुन्दन पर चुनी।[४]

वर्ण-साम्य के द्वारा राधा-कृष्ण के शरीर तथा शृंगार-सज्जा के चित्रण के निमित्त अप्रस्तुत-योजना की गई है। यहां भी उपमान परम्परागत ही हैं।

गज-मुक्ता की माल कंठ सोहै मानो नील गिरि सुरसरि धंसि आई,
राधा नागरि मानो घन दामिनि बीच छिपाई।[५]

१. परमानन्द सागर, पृ० २०७।५९४
२. कुम्भनदास, पृ० २९, पद ५९
३. ,, ,, ३३ ,, ६५
४. ,, ,, ४० ,, ८५
५. ,, ,, ४१ ,, ८८

श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर वर्षा के उपकरणों का आरोपण अन्य कवियों की भांति ही कुंभनदास ने भी किया है—

श्री अंग जलद-घटा सुहाइ वसन दामिनी
इन्द्र-धनु-वनमाल, मोतिनि हार बलाक डोर।[1]

पहिरे सुभग अंग कसूंभी सारी सुरंग
भूमि हरियारी में चन्द्र वधू सी सोहै।[2]

कुसुम्भी सारी में लिपटी हुई गौरवर्णा राधा का समस्त सौन्दर्य अपनी पूरी सुकुमारता के साथ 'चन्द्रवधू-सी' के द्वारा व्यक्त हो रहा है।

निम्नलिखित पंक्तियों में कृष्ण के असीम सौन्दर्य का सागर भी पूर्ण गाम्भीर्य और असीमता के साथ लहराता हुआ दृष्टिगत होता है। उनमें अवगाहन करते हुये गोपिका के नेत्रों की व्यंजना सागर की असीमता से अभिभूत व्यक्ति का रूप अंकित कर देती है—

सुन्दरता-सिंधु तजिहै मरजादा बाढ़्यौ अति विस्तार
जुवतिनि-नैन रहे थकि तामें तरत न पावत पार।[3]

अत्यन्त सीमित अलंकरण-सामग्री के द्वारा उन्होंने एक ही उपमेय के भिन्न-भिन्न चित्र प्रस्तुत किये हैं। नयन-सम्बन्धी इन पदों में चित्रों के विविध रूप देखिए—

प्रथम चित्र है—

स्याम सेत अति ही स्वच्छ, बंक चपल चितवनी,
मानहुं सरद-कमल ऊपर खंजन द्वै लरत री।
अलकावलि मधुप-पांति अंग अंगन छवि कहि न जाति री,
निरखति सौन्दर्य मदन कोटि पाइनु परत री॥[4]

ये पंक्तियां कृष्ण के स्वच्छ चपल नेत्र और घुंघराली लटों को नेत्रों में साकार करने में समर्थ हैं।

द्वितीय चित्र इतना प्राणवान नहीं है। बंधे-बंधाये उपमानों की परिगणना पाठक के हृदय में कुछ भी प्रभाव डालने में असमर्थ है—

हरि के नैन की उपमा न बनै,
खंजन मीन चपल कहियतु ए एसेनि कौन गनै।
राजीव कोकनद इंदीवर और जाति सब रही विचारि जिय अपने।[5]

तीसरे चित्र में दृश्य प्रथम योजना का ही है परन्तु उपमान के माध्यम से ही उपमेय का संकेत किया गया है तथा प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का प्रयोग किया गया है। अप्रस्तुत

१. कुम्भनदास पृ० ४२, पद ९३
२. " " ४३ " ९४
३. " " ५९ " १४५
४. " " ५९ " १४७
५. " " ६० " १४९

सरोवर ही प्रस्तुत बन गया है और व्यंजना के द्वारा प्रस्तुत (कृष्ण) पर घटित होता है—

सरद सरोवर सुभग अंग वदन-कमल चारु फूल्यो री माई,
ता ऊपर बैठे लोचन दोउ खंजन मत्त भए मानो करत लराई।
कुंचित केस सुदेस सखी री। मधुपनि की माला फिरि आई।[1]

राधिका के नख-शिख सम्बन्धी पदों में भी अप्रस्तुत-विधान का रूप पूर्णतया परम्परागत है। केवल पद के प्रारम्भ में थोड़ा बहुत वैचित्र्य दिखाई पड़ता है। राधिका के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य पर उनके सदृश उपमानों को वार डालने की बात कही गई है—

कुँवरि राधा तू सकल सौभाग्य सींव
या वदन पर कोटि सत चन्द्र वारौं
खंजन कुरंग सत कोटि नैननि ऊपर
वारने करत जिय में न विचारौं।[2]

इसी प्रकार जंघाओं पर शत कोटि कदली, कटि पर शत कोटि सिंह, गति पर शत कोटि मत्त गज, नासिका पर शत कोटि शुक, दशनों पर कुंद, ओष्ठों पर बंधूक, वेणी पर नाग इत्यादि उपमानों को न्यौछावर किया गया है। निम्नोक्त पद में यह स्थापना की गई है कि विविध उपमानों के सार-तत्व के ग्रहण द्वारा राधिका के सौन्दर्य का निर्माण हुआ है—

विधाता एको विधि न बच्यौ।
लै इन सबको सार राधिका तेरे तन आन सच्यौ॥
कर पद कमल, जंघ कदली-गति, मत्त गयंद मराल,
ग्रीव कपोत, उरज श्रीफल, कटि केहरि, भुजा मृनाल।
मुख चन्द्रमा अधर बिम्बा विद्रुम बन्धूक सुरंग,
तिल प्रसून शुक नाक, नयन जुग खंजन मीन कुरंग।
दसनावली वज्र, विज्जुलता दार्यो कुंद-कली,
छवि रुचि कनक, वचन पिक के सम मोर मधुप अवली॥[3]

एक अन्य पद में प्रभावात्मक सादृश्य के आधार पर चमत्कार-मूलक अप्रस्तुत-योजना में कवि का कौशल दिखाई पड़ता है—

सखी री! जिनि व सरोवर जाहि।
अपने रस को तजि चकवाकी बिछुरि चलति मुख चाहि,
सकुचत कमल अकाल पाइके, अलि व्याकुल दुख दाहि।
तेरो सहज आन सब की गति, इहि अपराध कहि काहि
इक अद्भुत ससि रच्यो विधाता सरस रूप अति जाहि।[4]

---

१. कुम्भनदास, पृष्ठ ६०, पद १५२
२. „ „ ६३, पद १५६
३. „ „ ६५, पद १६२
४. „ „ ६६, पद १६७

सखी राधिका से कहती है—सरोवर पर मत जाना, नहीं तो तेरी सहज गति से ही दूसरों की गति विपरीत हो जाती है। तेरे मुख में चन्द्रमा का उदय जान कर कमल संकुचित हो जाता है। भ्रमर दुःखी हो जाता है, चक्रवाकी इस भ्रम में पड़ कर व्यथित होकर पुकार उठती है कि उसके वियोग का समय आ गया। भ्रांति-अलंकार के इस संयोजन में चमत्कार-भावना ही प्रधान है। व्यतिरेक और प्रतीप कुम्भनदास के प्रिय अलंकार हैं। उपमा-उत्प्रेक्षा आदि की अपेक्षा उन्होंने इनका प्रयोग अधिक किया है। नख-शिख के परम्परागत वर्णन में भी इसका अभाव नहीं है—

तेरे तन की उपमा को देख्यो,
ये विचारि के कोउ नांहिन भामिनि।
कहा बापुरी कंचन कदली कहा केहरि गज,
कपोत कुंभ पिक कहा चन्द्रमा कहा बापुरी दामिनि।
कहा कुरंग सुक बंधूक केकी कमल या आगे,
श्री देखिये सबको निःकामिनि॥[1]

तथा

कमल, मीन, मृग-जूथ भुलाने, वर कटाच्छ फेरे को।[2]

तीखे नयन अथवा तीक्ष्ण कटाक्ष का एक अप्रस्तुत-विधान देखिये। सुरति-रण के लिए सन्नद्ध सशस्त्र सैनिक प्रस्तुत है—

आजु आंजी आछी अंखियां सारंग नैनी मान सों
लगति मनो गज वेलि की गांसी सानि धरी खरसान सों
ओर कोर चलि जाति स्यामता तकति तरुणि नैन बान सों
स्याम सुभग तन घात जनावति प्रगटत अधिक उनमान सों
घूंघट में मन्मथ को पारधी तिलकु-भाल भृकुटी कमान सों
कुम्भनदास सजि सुरति लरन चली गिरिधर रसिक सुजान सों।[3]

कल्पित साम्य-विधान द्वारा राधिका की मादक अंगड़ाई का चित्र बड़ी सुन्दरता से खींचा गया है—

सोइ उठी वृषभान-किसोरी।
अलसानी अंगराइ मोरि तनु ठाढ़ी उलटि उभय भुज जोरी।
दुव कर बीच बदन यौं राजत मोहे मोहन प्रीति न थोरी,
नाल सहित मानौं सरोज-जुग मधि बंध्यो इन्दु गरब गहोरी।

---

१. कुम्भनदास, पृष्ठ ६७, पद १६८
२. ,, ,, ६७, पद १७१
३. ,, ,, १०१, पद २६८

तिहिं छिनु कछुक उरज ऊँचे भये सोभित सुभग कहैं कवि कोरी,
मनु द्वै कमल सहाइ सहित अलि उठे कोपि मन संकन जोरी ।[1]

प्रतीक-पद्धति का प्रयोग भी यदा-कदा कुम्भनदासजी ने किया है। कोमल प्रतीक का एक उदाहरण लीजिए—

प्रभु नव घनस्याम ! तुम बिनु
कनकलता सूखी मानो ग्रीष्म काल
अधर अमृत सींचि लेहु गिरधरन लाल ।

कनकलता स्पष्टत: ही गौरवर्णा गोपियों की तथा ग्रीष्मकाल उनके विरह-काल का प्रतीक है —'घनस्याम' ही ग्रीष्मकालीन वल्लरी को जीवन-दान दे सकता है।

'टोड को घनो' प्रसंग के पदों में स्थिति-जन्य वैपम्य को उपयुक्त प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया गया है। म्लेछों के उपद्रव के भय से जब 'श्री गोवर्द्धन' को 'टोड को घनो' जैसे बीहड़ स्थान में ले जाया गया तो कुम्भनदास ने अपनी सख्य-भक्ति की प्रेरणा से श्रीकृष्ण को उपालम्भ और व्यंग्य से भरी हुई उक्तियाँ सुनाईं। ये उक्तियाँ प्रतीक-पद्धति में हैं और प्रसंग के अनुकूल अभिव्यंजना के निर्माण में सार्थक हुई हैं—

भावत तोहिं टोड कौ घनौ ।
काँटे बहुत गोखरू बूड़े फारत सिंह परायौ तनौ ।
आवत जावत बैठि निवारे बैठत है जहाँ एक जनौ ।
सिंघ कहा लोखरी को डरतें छाड़ि दियौ भौन अपनौ ।
तब बूड़त तें राखि लिये हैं सुरपति तौ तुनहू न गन्यौ ।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धन धर इह तौ नीच ढेढ़िनी जन्यौ ।[2]

कुम्भनदास की अप्रस्तुत-योजना में विदग्धता और चमत्कार-तत्व प्रधान हैं। अष्ट-छापी कवियों में सूर और नन्ददास के बाद इन्हीं का स्थान निर्धारित किया जा सकता है।

## कृष्णदास की अप्रस्तुत-योजना

कृष्ण के रूप-चित्रण में कृष्णदास ने भी प्रायः परम्परागत उपमानों का प्रयोग किया है। प्रभावात्मक साम्य और रूप-साम्य दोनों के सम्मिश्रण से प्रस्तुत कृष्ण के सौन्दर्य तथा उसके प्रभाव का एक चित्र देखिये—

भौंहें मन्मथ-चाप, वक्र लोचन बान
सीस सोभित मत्त मयूर चन्द्रावली,
उदित उडुराज सुन्दर सिरोमनि वदन
निरखि फूली नवल जुवती कुमुदावली ।

---

१. कुम्भनदास, पृ० १०७, पद ३१८
२. ,, पृ० १२७, पद ३६६

सकुच प्रफून बिम्बाफल हँसति,
कहत कछु प्रगट होत कुन्द दसनावली ॥[1]

प्रथम दो पंक्तियों में साम्य का आधार प्रभाव तथा शेप पंक्तियों में रूप है।

शरद-कमल पर भ्रमरों तथा उसके निकट खंजन की अवस्थिति की कल्पना कृष्णदास ने भी की है। शृंगार की मादकता से भरे हुए कृष्ण के चंचल नैन ऐसे शोभित होते हैं—

मानो सरद-कमल पर खंजन मधुप अलक घुँघराले।[2]

घनश्याम सिंधु में मीन की कल्पना भी कृष्णदास ने कृष्ण के श्यामल शरीर में शोभित उनके नेत्रों के लिये की है—

एजू मीन घनस्याम सिंधु में विलसत लेत झुकारे।[3]

परम्परागत उपमानों में भी नई और सूक्ष्म कल्पनाओं के समावेश से कृष्णदास ने उनमें प्राण भर दिये हैं।

मन की हरन, विगसन मुख-कमल की
सोभा कहा कहौं देखन उदित तरुनी
तरुन जलद नवस्याम के संग में
रसभरी भेंटति भूतल-मरनी ॥[4]

प्रथम पंक्ति में कृष्ण के किशोर मुख-मण्डल में कमल के विकास को देखने के लिये लालायित तरुणियों की उत्सुकता की व्यंजना हुई है। नये कजरारे बादलों का धर्म है पृथ्वी के ताप को मिटाकर उसे रस तथा जीवन प्रदान करना। घनस्याम कृष्ण बादलों के तथा पृथ्वी पर भक्त जनों के हृदय के प्रतीक बनकर कृष्ण के लीला रूप और माधुर्य भक्ति की रस-स्निग्धता का व्यक्तीकरण करने में पूर्ण समर्थ हो सके हैं।

संयोग-शृंगार के प्रसंग में तमाल और लतिका का संयोजन कृष्णदास ने भी किया है—

स्याम धाम कमनीय वरन सखि, मानो तरुन घन नव तमाल कौ
जुवती लता गात उरभारी, पान करत मधु मधुप-माल कौ ॥[5]

कृष्णदास ने वृन्दावन-वर्णन में नभ के सांगरूपक की प्रभावपूर्ण संयोजना भी की है। साम्य का आधार, धर्म और रूप, दोनों ही हैं—

वृंदावन अद्भुत नभ-देखियत, विहरत कान्हर प्यारौ
गोवरधन-धर स्याम चन्द्रमा, जुवतिन-लोचन तारौ

---

१. कृष्णदास, पृ० २२७, पद ६ (अष्टछाप के कवि)
२. ,, ,, २२७ ,, ७
३. ,, ,, २२७ ,, ७
४. ,, ,, २२८ ,, ११
५. ,, ,, २२९ ,, १७

> नुपद किरन रोमावलि वैभव, उर नव मनिगन हारो
> ब्रज-जन-नैन-चकोर मुदित मन, पान करत रस धारो
> कृष्णदास निरखि रजनीकर, जलधि हुलस बारम्बारो ।[1]

वृन्दावन-रूपी आकाश में कृष्ण साक्षात् चन्द्र हैं, युवतियों के लोचन तारे हैं। इस पंक्ति की योजना में केवल रूपक-तत्व का निर्वाह करना ही कवि का अभीष्ट नहीं है; कृष्ण के रूप तथा गोपिकाओं के निर्निमेष नेत्रों का चित्रांकन भी इसके द्वारा हुआ है। अगली पंक्तियों में रूपक-तत्व के निर्वाह के लिये ही योजना की गई है। 'जलधि' शब्द का प्रयोग दर्शनीय है। जलधि के उपमेय का उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु चन्द्र रूप-कृष्ण को देखकर ब्रजजन के हृदयोल्लास का व्यक्तीकरण ही यहां लेखक का ध्येय रहा है।

परम्परागत अप्रस्तुत-विधान में कहीं-कहीं उन्होंने नये स्पर्श दे दिये हैं—

> कमल मुख देखत कौन अघाय।
> सुन री सखी! लोचन अलि मेरे, मुदित रहे अरुझाय।
> मुक्तामाल लाल उर ऊपर, जनु फूली बनजाय।

प्रेमासक्ति के प्रसंग में राधिका का रूप-वर्णन करते हुए कवि ने सुन्दर और सार्थक साम्य-विधान प्रस्तुत किया है। उपमान वही पुराने हैं, परन्तु प्रेम-प्रसंग की सरसता ने उनके रस में भी मांसल नूतनता भर दी है—

> कंचुकी के बंद तरकि तरकि टूटे, देखत मदनमोहन घनस्यामहिं।
> काहे को दुराव करत है री नागरि! उमगत उरज दुरत क्यों यामहिं।
> कछु मुसकात दसन छवि सुन्दर, हँसत कपोल लोल भ्रू भ्राजहिं।
> रवि-ससि जुगल परे रति-फंदन, स्रवननि पलक ताटंक के नामहिं।
> वदन-कमल पर, अलक मधुप वर, खंजन नैन लेत विस्रामहिं ॥[2]

प्रेमासक्ति के प्रसंग का ही एक और चित्र देखिए—

> कंचन मनि-मरकत रस-ओपी।
> नंद-सुवन के संगम सुख कर अधिक विराजति गोपी।
> मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित, सुरति धुजा सुख रोपी
> वदन कांति कै सुन री भामिनि! सघन चंद श्री लोपी
> प्राननाथ के चित चोरन को, भौंह भुजंगम कोपी।

कृष्ण और राधिका के संगम-सुख में कंचन के मरकत मणि के रस में अभिभूत होने की कल्पना तथा गोपिका में गिरिधर पिय की सुरति-धुजा के आरोपण में उनकी मौलिक और सूक्ष्म कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है।

केलि-क्रीड़ा के उपरान्त कृष्ण के भवन से निकलती हुई नायिका के प्रति एक सखी

---

१. कृष्णदास, पृ० २२६, पद १८
२. कृष्णदास, पृ० २२३, पद ३७

के वचन में कृष्णदास की अप्रस्तुत-योजना द्वारा भाव-व्यंजना की शक्ति का परिचय मिलता है—

असन उदय डगमगति चरन गति, कवन भवन तें तू आई री।
सरद सरोवर स्याम अंग महिं, प्रमुदित तन-मन न्हाई री।

श्याम के शरीर के साथ शरद-सरोवर से साम्य का आधार उसकी शुभ्र शीतलता-प्रदायनी शक्ति ही है। इस कल्पना में शृंगार-भावनाओं की उष्ण मादकता और सात्विक पुण्य भाव का अपूर्व सामंजस्य हो सका है।

राधिका के वदन की शोभा का वर्णन भी व्यतिरेक के विभिन्न प्रयोगों द्वारा हुआ है—

कहि न परे तेरे वदन की ओप।
झलकनि नव मोतिनहिं लजावत, निरखत ससि सोभा भई लोप।
पद्म न लागति चाहति प्रिय तन, उन्नत भौंह घटा टोप।
चपल कटाच्छ कुसुम सर तानति, फुरत अधर कछु प्रेम प्रकोप।[1]

श्याम के अंक में शोभित गौरवर्णा राधिका के लिये वर्ण-साम्य पर आधृत परम्परागत उपमानों के संयोजन द्वारा अप्रस्तुत-विधान भी किया गया है—

देखो भाई मानों कसौटी कसी।
कनक बेलि वृषभानु नंदिनी, गिरिधर उर जु बसी।
मानों स्याम तमाल कलेवर, सुन्दर अंग मालती घुसी।
चंचलता तजि कैं सौदामिनि जलधर अंग लसी।
तेरो वदन सुधार सुधानिधि, विधि कौने भांति हँसी।
कृष्णदास सुमेरु सिंधु तें सुरसरि धरनि धंसी।[2]

कसौटी में कनक-रेखा, तमाल में मल्लिका तथा जलधर में चंचलता तजकर स्थिर रूप से विद्यमान विजली की कल्पना परम्परागत ही है।

रूप और प्रभाव-साम्य का सम्मिलित प्रयोग इन पंक्तियों में किया गया है—

भृकुटि धनुपयुत नैन कुसुम सर जिहि के लागत सो पहिचानै।

कृष्ण और राधिका के सुखमय दाम्पत्य-भाव की स्थापना के लिये भी सार्थक अप्रस्तुत-योजना कृष्णदास ने की है—

व्रज-सर की कुमुदिनी तू, हरि हैं वृन्दावन-चन्द।
वचन किरन विगलित अमिय, पीवहिं श्रुति-पुट स्वच्छंद
तू करनी वर नन्दसुत लाल है मत्त गयन्द
कृष्णदास प्रभु गिरिधर नागर, रति-सुख आनन्द सन्द।[3]

---

१. कृष्णदास, पृ० २३५, पद ४७
२. ,, ,, २३६ ,, ५१
३. ,, ,, २३८ ,, ६५

परकीया भाव से उत्प्रेरित लोक-लाज का अंकुश तोड़कर कृष्ण के प्रेम में उन्मत्त गोपियों से सम्बद्ध इस अप्रस्तुत-योजना में सौन्दर्य-तत्व की हानि चाहे हुई है, परन्तु परकीया-प्रेम की उत्कट तीव्रता इसके माध्यम से बड़े ही कौशल के साथ व्यक्त हो सकी है—

मानो व्रज-करिनि चली मदमाती हो।
गिरिघर गज पै जाय ग्वालि मदमाती हो।
कुल-अंकुस माने नहीं चली संकल वेद तुराय,
वृन्दावन वीथिन फिरैं, तैसिय चालि सुभाय।
अवगाहै जमुना नदी करनि तरुनि जल केलि,
सब मिलि छिरकैं स्याम कों सुंड दंड भुज पेलि।

## चतुर्भुजदास की अप्रस्तुत-योजना

चतुर्भुजदास जी की अप्रस्तुत-योजना का रूप भी अधिकतर परम्परागत है। रसमग्न यशोदा का चित्र चकोर और चन्द्र के परम्परागत उपमान-संयोजन द्वारा खींचा गया है—

सादर कुमुद चकोर जू नैननि रूप सुधा रस प्यावैं।[1]

कुमुद और चकोर दोनों के संयुक्त नियोजन से एक ओर चकोर की निर्निमेष दृष्टि और दूसरी ओर कुमुद के विकास, दोनों में यशोदा का रसयुक्त और निर्निमेष नेत्रों से कृष्ण को देखने का चित्र अंकित होता है। मुख के सौन्दर्य को देखकर चन्द्रमा के लज्जित होने की कल्पना भी पिष्टपेषित है—

निरखि वदन उडुपति अति लाजै।[2]

इसी प्रकार मरकत, कनक और घन-दामिनी के द्वारा राधा-कृष्ण के वर्ण-सौन्दर्य का अंकन भी अन्य कवियों की तरह चतुर्भुजदास ने भी किया है—

सुभग मरकत स्याम मकर कुंडल वाम
कनक रुचि सुचि वसन लज्जित घन-दामिनी।[3]

गोप-वृन्द के बीच में शोभित बालक कृष्ण का सौन्दर्य-सम्बन्धी अप्रस्तुत-विधान भी सामान्य ही है—

उपमा कही न जाइ सुन्दर मुख आनन्द।
बालक वृन्द नच्छत्र प्रकटे पूरन चन्द।[4]
नैन कटाच्छ हरत हरिनी मन।[5]

घन और दामिनी में राधा-कृष्ण के युगल रूप की छाया तो देखी ही गई है—

---

१. चतुर्भुजदास, पृष्ठ ६, पद ८
२. ,, ,, ६, ,, ९
३. ,, ,, १७, ,, ३२
४. ,, ,, ४३, ,, ८०
५. ,, ,, ४६, ,, ८६

नव घन गिरिधरन अंग संग मनहुं दामिनी ।[१]

फहराते हुये नील तथा पीत पटों में भी बादल और दामिनी का चित्र खींचा गया —

नील पीत पट फरहरात है मनु दामिनि डरि जावै ही ।

तमाल और मल्लिका, मरकत और कनक-बेलि का संयोग भी इसी अवसर पर अप्रस्तुत रूप में काम में लाया गया है—

मनहुँ तरुन तमाल मल्लिका अंग अंग अरुभावे हो,<br>
गौर स्याम छबि मरकत मनि पर कनक बेलि लपटावै हो ।[२]

मुख पर लहराती हुई लटों की तुलना सरोज पर मंडराते हुये भौंरों के साथ परम्परागत रूप में ही की गई है—

बदन सरोज निकट कुंचित कच भांति मधुप के टोलनु की।

'चंद-बदन' और 'कटि-केहरि' की योजना में भी कवि ने परम्परा का ही पालन किया है—

गौर बदन में कांति बदन की सरद चंद उनमान की,<br>
विश्व मोहिनी बाल दसा में कटि केहरि सु बंधान की ।[३]

निम्नलिखित योजना में कल्पना साधारणता की सीमा का अतिक्रमण कर विदग्ध हो गई है—

सहज उरज पर छूटि रही लट।<br>
कनक लता तें उतरि भुवंगिनि अमृत<br>
पान मानो करति कनक घट।[४]

उरोजों तक लटकती हुई घुंघराली लटों के कनक-घट में रक्खे हुये अमृत पीने की कल्पना सुन्दर बन पड़ी है—

प्यारी चम्पे की सी माल।[५]

इस विधान में तन्वंगी राधिका का गौर वर्ण तथा सौकुमार्य तो साकार होता ही है, कृष्ण के वक्षःस्थल की सज्जा का उपकरण बनने के कारण इस उपमान की सार्थकता और भी प्रमाणित हो जाती है—

सुभग सुहास भरी मानो प्यारी चम्पे की सी माल,<br>
उर धरै कुंवर रसिक गिरधर पिय नव वर सुंदरी रगमगी बाल।[६]

---

१. चतुर्भुजदास, पृ० ७१, पद ११६<br>
२. ,, ,, ७२ ,, ११७<br>
३. ,, ,, १०८ ,, ६६<br>
४. ,, ,, ११० ,, २००<br>
५. ,, ,, ११०, ,, २१२<br>
६. ,, ,, ११५ ,, २१२

अन्य कवियों की भांति चतुर्भुजदास जी ने भी आलम्बन के मुख में कमल, लटों में भ्रमर, दसन में दामिनी, गति में गज-गति, तथा नैनों में खंजन के दर्शन किये हैं—

विमल वारिज वदन, जानि मनसिज सदन,
कुटिल कुंतल अलक आये मधु को सैन,
दसन दामिनि लसत, मंद वारिक हँसत
वंक चितवनि चारु विस्व मनु हरि लेन,
व्रज-जुवति-प्रानपति-चलत गज मत्त गति।[1]

* * *

अंवुज वदन, नयन जुग खंजन, क्रीड़त अपने रंग,
कुंचित केस सुदेस मनहुं अलि, सोभित पाग प्रसंग।[2]

विरह की अवस्था में नेत्रों की आतुरता में मीन की तड़पन भी उन्होंने देखी है—

अंखियां मीन विमुख दरसन जल तलफत गिरधर लाल।[3]

आसक्त नेत्रों की चंचलता का चित्रण करते समय उन्हीं उपमानों का प्रयोग बिल्कुल ही पृथक् रूप में किया गया है—

नैना अधिक चलवले रहत नहिं चैन।
धावत तकत स्याम-अम्बुज मुख मनहुं मधुप मधु-चाहत लैन।[4]

तथा

दृष्टि परे मानो मधुकर तिहिं छिनु सहज सरोजहिं धावै।[5]

नेत्रों में लुब्धक का आरोपण भी किया गया है और उससे सम्बद्ध प्रायः सभी सामग्री कृष्ण के व्यक्तित्व में जुटाई गई है—

मन मृग वेध्यो मोहन नैन वान सौं।
गूढ़ भाव की सैन अचानक तकि तान्यो भृकुटी कमान सौं।
प्रथम नाद-वल घेरि निकट लै, मुरली सप्तक सुर-बंधान सौं।
पाछें वंक चितै मधुरे हँसि घात करी उलटी सुठानि सौं।[6]

पुरुष की रस-लोलुप और स्त्री की एकनिष्ठ भावनायें भी परम्परागत उपमानों के माध्यम से व्यक्त हुई हैं—

हम वृन्दावन मालती तुम भोगी भौंर भुवाल हो।[7]

साधारण जीवन से गृहीत उपमान द्वारा गुण-साम्य विधान का एक उदाहरण लीजिये—

---

१. चतुर्भुजदास पृ० ११७-१८, पद २१८
२. ,, ,, ११८ ,, २१९
३. ,, ,, ११८ ,, २२०
४. ,, ,, १२२ ,, २३१
५. ,, ,, १२४, ,, २३७
६. ,, ,, १२४ ,, २३६
७. ,, ,, १२८ ,, २४६

अब कैसे बिलगु होइ मेरी सजनी
दूध मिल्यो जैसे पान्यो ।[1]

पौराणिक उपमान के द्वारा कृष्ण के रूप-वर्णन में उनकी कल्पना का परिचय मिलता है—

भोरहि स्याम बदन देखन कों आलस अंग, छवि सोहनी,
मनु सोभा निधि मथि कै काढ़ी मनसिज मन को मोहनी ।[2]

मानिनी नायिका की वाह्य उपेक्षा और अंतरंग की प्रीति का बरबस उमड़ना 'कांच कलस की झांई' के माध्यम से बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त हुआ है। नायिका के नेत्रों में उमड़ती हुई आतुरता अपने आप ही व्यक्त होती जान पड़ती है—

ज्यों ज्यों ठानति मान मौन धरि मुख रुख राखि रुखाई ।
त्यों त्यों प्रगट होत उर अंतर कांच कलस जस झांई ।[3]

वर्षा का उद्दीपन रूप कामदेव की सेना के रूप में भी चित्रित किया गया है—

आयौ री ! पावस-दल साजि गाजि मदन नरेश प्रबल ।
जानि प्रीतम अकेले नव-कुंज सदनु ।
पावन बाजी गज बदरा मतवारे कारे झरे,
आवत डरपावत बग पांति रदनु ।
धुरव धुंकारे मोर कोकिला पिक करत सोर
बूंदनि बान मरि चपला असि कदनु
चत्रभुज प्रभु गिरिवरधर की सहाइ करि राधे
जोवत पथ, पल न त्यागि तेरो ही बदनु ।[4]

रति-रन में विजयिनी नायिका पर सम्बद्ध रूपक के आवश्यक तत्वों का समावेश हुआ है—

रजनी राज लियो निकुंज नगर की रानी ।
मदन महीपति जीति यहां रनु स्रम-जल सहित जंभानी ।
परम सूर सौन्दर्य भृकुटि धनु अनियारे नैन बाल संधानी ।
दास चतुर्भुज प्रभु गिरिधर रस-सम्पति विलसी यों मनमानी ।[5]

निम्नलिखित अप्रस्तुत-योजना में कवि की सूक्ष्म कल्पना का परिचय भी मिलता है। नायक अन्य किसी स्त्री के पास रात्रि बिता कर आया है। जागरण के कारण उसके नेत्र रक्तिम हो रहे हैं, विभिन्न अंगों पर नख-क्षत विद्यमान हैं। भृकुटी में वंदन लगा हुआ है। मानों ये सभी रण में पराजित कामदेव की हार के परिचायक हैं।

---

१. चतुर्भुजदास, पृष्ठ १३७, पद २७१
२. ,, ,, १३८ ,, २७३
३. ,, ,, १४६ ,, २९२
४. ,, ,, १५१ ,, ३०८
५. ,, ,, १५८ ,, ३२६

लाल ! रसमसे नैन आजु निसि जागे ।
अति बिसाल अरसात अरुन भए रति-रन के रंग पागे ।
सुन्दर स्याम सुभगता प्रगटी अंग अंग नख-छत दागे,
मानहु कोपि निदरि सनमुख सर साथ भये अरि भागे ।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधरन अधिक छवि बंदन भृकुटी लागे,
मानहुं मन्मथ-चाप भेंट धरि रह्यो जोरि कर आगे ।[1]

'नखक्षतों में बाणों तथा वंदन-युक्त भृकुटी में कामदेव के शस्त्र डालने का यह आरोपण वाह्य आधार पर नहीं हुआ है । इन्हीं प्रक्रियाओं द्वारा काम-व्यथा शान्त होती है, अतएव इस योजना में निहित व्यंग्यार्थ द्वारा यह व्यक्त करना कवि का अभीष्ट है कि नायक रति-क्रीड़ा द्वारा कामाग्नि शान्त करके घर लौटा है । इस प्रकार चतुर्भुजदासजी की अप्रस्तुत-योजना में अधिकतर रूढ़ियों का ही पिष्टपेषण हुआ है ।

## छीतस्वामी की अप्रस्तुत-योजना

छीतस्वामी की कला में भी अप्रस्तुत-योजना का स्थान बहुत महत्वपूर्ण नहीं रहा है । उन्होंने भी परमानन्ददास की भांति अनुभूति और अनुभावों का चित्रण बिना किसी आलंकारिक माध्यम से किया है । उनके काव्य की सजीवता में कल्पना का योग विविध उपमानों के माध्यम से नहीं हुआ है इसीलिये अप्रस्तुत-विधानों की संख्या इनी-गिनी तथा उनका रूप परम्परागत है । कहीं-कहीं उसका प्रयोग विचारों तथा सिद्धान्तों की व्याख्या और व्यक्तीकरण के लिए हुआ है यथा—

श्री विट्ठल आगें और पंथ जैसे जलकूप ।[2]

गुण-साम्य के आधार पर यह विधान प्रस्तुत किया गया है ।

रूप-चित्रण के लिए कहीं-कहीं काल्पनिक साम्य के आधार पर अद्भुत तत्व से युक्त अप्रस्तुत-विधान भी उन्होंने किया है जिसमें कवि की दृष्टि चमत्कारमूलक अधिक रही है—

लाल सारी पहिरि बैठी प्यारी, आधो मुख ढांपि
ठाढ़े मोहन दृग निरखत ।
एक दिसि चंद छवि, एक दिसि मानों आधो सूरज अरुन में
यह छवि मनहिं विचारि लालन मन हरखत ।[3]

नायिका के मुख पर लाल वस्त्र का हल्का अवगुंठन है। उसका आधा मुख छिपा हुआ है, उसके लिये कवि ने कल्पना की है मानों एक ओर चन्द्र उदित है और दूसरी ओर लालिमा से युक्त अरुण ।

एक ही उपमान का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न रूप से किया गया है । जल-कूप

---

१. चतुर्भुजदास, पृ० १६५, पद ३४६
२. छीतस्वामी और उनके पद, पृ० १०, पद २३
३. ,, ,, ३८ ,, ८६

अप्रस्तुत का उदाहरण काठिन्य के प्रतीक रूप में पहले दिया जा चुका है। कृष्ण के रूप-चित्रण के प्रसंग में उसका दूसरा ही रूप ग्रहण किया गया है—

नैननि निरखें हरि कै रूप।
निकसि सकत नहिं लावनि-निधि तें मानों पर्‌यो कोउ कूप।[1]

कूप में पड़े हुए व्यक्ति की असमर्थता और कृष्ण के प्रति रूपासक्ति की विवशता के सूक्ष्म अन्तर पर कवि की दृष्टि नहीं पड़ पाई है। इसलिए यहां साम्य-विधान केवल बाह्य आधार पर ही टिका हुआ है। प्रभाव की दृष्टि से रस-तत्व की हानि ही हुई है।

संयोग-शृंगार की उष्णता में भी कहीं-कहीं अप्रस्तुत-योजना का योगदान मिला है—

अति हि कठिन कुच ऊंचे दोउ तुंगनि से
गाढ़े उर लाइके सुमेटी कान्ह हूक
खेलत में सर टूटी उर पर पीक परी
उपमा को वरनत भई मति मूक।[2]

परम्परागत उपमानों के विधान में कहीं-कहीं बड़ी खींचतान आ गई है। कृष्ण के शरीर पर लगे हुए नख-क्षतों में बादल के बीच द्वितीया के चन्द्र की कल्पना की गई है—

कंकन पीठि गड़्यौ उर नख छत जानो घन-मांझ द्वैज कौ चंद।[3]

परन्तु सर्वत्र ही सजीवता का अभाव नहीं है। खंडिता नायिका की इन उक्तियों में यद्यपि परम्परागत उपमानों का सहारा लिया गया है परन्तु उनके द्वारा ही परस्त्री-रत नायक का भी सजीव चित्र खींचा जा सका है। रात भर जगे हुए नायक की उनींदी आँखें, अस्तव्यस्त रूप और वेश-भूषा नेत्रों में सजीव हो उठते हैं—

झपि झपि आवत नैन उनींदे कहा कहौं? यह बात
ज्यों जलरुह तकि किरन चंद की अति समित मुंदि जात
कहुं चन्दन कहुं वन्दन लाग्यौ देखियतु सांवल गात
गंगा सरसुति मानों जमुना अंग ही मांझ लखात।[4]

हरि-चरणों की उपासिका के रूप में 'यमुना' का मानवीकरण किया गया है—

तट नितम्ब भेंटति नित गति सुछंदिनी
सिकता-गन मुकता मानो कंकन जुत भुज तरंग
कमलनि उपहार ले पिय चरन वन्दनी॥
श्री गोपेन्द्र-गोपी, संग, स्रमजल कन सिक्त अंग
अति तरंग निरखि नैन रस सुकंदिनी॥[5]

---

१. छीतस्वामी और उनके पद, पृ० ४६, पद १०४
२. ,, पृष्ठ ६५, पद १५१
३. ,, ,, ७२ ,, १७०
४. ,, ,, ७२ ,, १७१
५. ,, ,, ८१ ,, १६३

छीतस्वामी के निम्नलिखित पद में अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से ही यमुना के माहात्म्य और रूप का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन चित्रों में सौन्दर्य-बोध की अपेक्षा रूपक का यांत्रिक निर्वाह ही अधिक है।

> दोऊ कूल खम्भ, तरंग सीढ़ी मानो
> जमुना जगत वैकुंठ निसैनी
> अति अनुकूल कलोलनि के मरि
> लिये जात हरि के चरन-कमल सुख दैनी
> जनम जनम के पाप दूर करनी
> काटनि कर्म धर्मधार छैनी
> छीत स्वामी गिरिधरजू की प्यारी
> सांवरे अंग कमल-दल-नैनी ॥[1]

## गोविन्द स्वामी

गोविन्द स्वामी ने कृष्णावतार के आध्यात्मिक पक्ष का निरूपण रूपक की सहायता से किया है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साथ अध्यात्म-संकेत का नियोजन निम्नोक्त रूपक की मुख्य विशेषता है। कृष्णावतार में कृष्ण पूर्ण ब्रह्म के, गोपियां तथा राधा उनकी आनन्द-प्रसारिणी तथा आह्लादिनी शक्ति की तथा वृन्दावन गोलोक-धाम का प्रतीक है। कृष्ण के लीला-रूप की स्निग्धता का ध्वन्यार्थ भी रूपक की अन्तिम दो पंक्तियों में छिपा हुआ है।

> रूप किरनि वरसत व्रजजन के नैन चकोर हुलासी हो।
> राका राधापति परिपूरन षोडस कला गुन रासी हो।
> वालक वृन्द नक्षत्रन मानो वृन्दावन व्योम विलासी हो।
> दिवस विरह रति-ताप नसावत पीवत नैन सुधा सी हो।
> हरत तिमिर सब घोख मंडल को गोविन्द ह्वै जोन्ह प्रकासी हो।[2]

रूप-साम्य तथा प्रभाव-साम्य दोनों के ही आधार-ग्रहण द्वारा इस योजना में इतनी प्रेषणीयता आ सकी है।

मानवीय चेष्टा का आरोपण भी कहीं-कहीं प्रकृति पर हुआ है—

> केतकी तरुनी मनों करत हास।[3]

निम्नलिखित पंक्तियों में परम्परागत उपमानों को ही नये उपमेयों के लिये प्रयुक्त किया गया है। राधिका के उरोजों के श्याम अंश पर पड़ी हुई मुक्तामाल घन और दामिनी के संयोग की छवि को भी लज्जित करती है।

---

१ छीतस्वामी और उनके पद, पृष्ठ ८२, पद १९५

२. गोविन्द स्वामी, पृष्ठ २, पद ३

३. ,, ,, ५१ ,, १०६

मुक्ताहार उरज कुच अंतर घन दामिनि की छवि छलिता ।[1]

कल्पित सादृश्यमूलक एक अप्रस्तुत-योजना देखने योग्य है—

स्याम सुभग तन सोहही नव केसर के बिंदु ।
ज्यों जलधर में देखिये मनहुं उदित बहु इंदु ॥[2]

होली के उल्लासपूर्ण और उद्दीपक वातावरण की इस सृष्टि में अप्रस्तुत-योजना का बहुत बड़ा योग रहा है । प्रभाव-साम्य के द्वारा ये उद्दीपन और भी उष्ण बन गये हैं ।

कमलनि मार होत परस्पर मुख समूह की झेलें ।
मधुर सुगन्ध केतकी लै लै मनहुं काम की सेलें ॥[3]

फागुन के मादक वातावरण में फूलों का सौरभ कामोद्दीपन में बड़ा सहायक होता है—'काम की सेलें' द्वारा उसमें निहित मधुर तीक्ष्णता बड़े कौशल के साथ व्यक्त हुई है ।

इसी प्रकार—

छिड़ाइ लये फगुआ दे जसुमति काम नृपति की जेलें ।[4]

काम-भावना की अभिव्यक्ति में काम-नृपति की जेल से मुक्ति की मौलिक कल्पना में भी तत्सम्बन्धी स्थिति, गुण और भावनाओं की संयुक्त अभिव्यक्ति अत्यन्त सफलता के साथ हुई है ।

गौरवर्ण राधा और श्यामवर्ण श्याम के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति परम्परागत प्रसिद्ध उपमानों के द्वारा गोविन्द स्वामी ने भी की है—

घोख नृपति सुत स्याम तमाल राधा जु माधुरी वेलें
खंजन कवि लजावन रस भरे सुंदर नैन बड़ेले ।[5]

परम्परागत उपमानों में नये चित्रों का अंकन राधा के मुख के सौन्दर्य-वर्णन में भी मिलता है—

विथुरी अलक बदन छवि राजत ज्यों दामिनी घन-डोरी हो ।

मुख पर बिखरी हुई अलकें गौर-वर्ण पर यों शोभित होती हैं मानो दामिनी पर घन की एक लीक बन गई हो । इसी प्रकार राधा के वक्ष पर लटकते हुए घुंघराले केशों के वर्णन के लिये मौलिक कल्पना की गई है—

कुच पर कच बिलुलिता, लागत परम सुवेस,
मानों भुजंगम चहुं दिसा, आये अमृत पीवन केस ।[6]

---

१. गोविन्दस्वामी, पृष्ठ ५६, पद १२०
२. ,, ,, ६१ ,, १२१
३. ,, ,, ६२ ,, १२३
४. ,, ,, ६२ ,, १२३
५. ,, ,, ६२ ,, १२३
६. ,, ,, ६५ ,, १२५

कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के घातक प्रभाव की अभिव्यक्ति के लिये व्याघ रूपक का प्रयोग किया गया है। कृष्ण-रूपी व्याघ ने उनके मन-मृग को किस प्रकार बींध दिया है—

चितवन कठिन, कठोर कठिन, मृग विषान से जानि
मुरलीनाद व्याव घंटा, दीपक मुख मुसकानि
भौंह धनुष लोचन साइक, बंधत बंध हिरनानि।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि रूपक के विभिन्न तत्वों का निर्वाह हो गया है परन्तु सौन्दर्य-दृष्टि से इस प्रकार की योजना का अधिक महत्व नहीं है।

एक ही उपमान को रूप और धर्म-साम्य के आधार पर विभिन्न उपमेयों के लिये प्रयुक्त करके भी गोविन्द स्वामी ने अनुभूति और अभिव्यंजना के संतुलित प्रयोग के सामर्थ्य का परिचय दिया है—

तन पुलकित भुज भेंटहीं करत सुधाधर पान री प्यारी,
इहि छवि वाहि न पूजहीं, कलंक विचारि री प्यारी
जदपि सकल ब्रज सुन्दरी, कवहुं न मन अरुझाइ री प्यारी
चातक जलधर बूंद ज्यों भुव जल तृषा न जाइ री प्यारी।[2]

अधरपान में सुधा का माधुर्य, आनन के रूपास्वादन में चन्द्र की अनुहार, चन्द्रमा में कलंक के कारण नायिका की तुलना में उसकी हीनता की स्थापना तथा राधा के प्रति कृष्ण की विशेष प्रेम-भावना एक साथ ही व्यक्त हो गई है।

वर्ण-साम्य के आधार पर डोल-प्रसंग की यह कल्पना उपमानों के परम्परागत होते हुए भी नई है—

भूषन अंग वने हीरा मानिक जटित मानो,
घन तड़ित छवि राजत नील पीत दुकूले।

झूले पर झूलते हुए राधा का नील निचोल और कृष्ण का पीताम्बर हवा में उड़ रहा है। ऐसा जान पड़ता है मानों वादल और विजली एक साथ शोभा पा रहे हों। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वादल और विजली की कल्पना प्रायः सभी कवियों ने कृष्ण और राधा के युगल-रूप-वर्णन में की है।

हिंडोले पर झूलती हुई राधा के उरोजों, उस पर लटकती हुई माला और उसके नैनों की गति-चित्रण के लिये काल्पनिक साम्य पर आधृत अप्रस्तुत-योजना का एक चित्र देखिये—

हार भार कुच चारु चपल दृग सहज चलत अनुहारी
मनहुँ चारु खंजन, खेलत वारिज उडुराज मँझारी।[3]

सूरदास तथा नन्ददास की भांति ही गोविन्द स्वामी ने भी 'जुवती जूथ' के हाथों में

१. गोविन्दस्वामी, पृष्ठ ६६, पद १३०
२. गोविन्दस्वामी, पृ० ७१, पद १३४
३. ,, ,, ७६, पद १४३

शोभित 'कंचन थार' के लिए यह काल्पनिक साम्य प्रस्तुत किया है—

जुवति जूथ मिलि आवहीं हाथन कंचन-थार
मानहुँ कमलनि ससि चढ़ि चले नृप दसरथ दरबार।[1]

कृष्ण के सौन्दर्य का निर्निमेष नेत्रों से पान करती हुई गोपियों का चित्रण भी परम्परागत उपमानों के सहारे हुआ है—

प्रफुल्लित बदन सुधाकर निरखत गोपी नयन चकोर किये।[2]

घनश्याम कृष्ण में घन की विशेषताओं का आरोपण अधिकतर कवियों ने विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन रूप में किया है, बादलों में सूर और नन्ददास को भी 'घनश्याम की अनुहारि' दिखाई दी है; परन्तु गोविन्द स्वामी ने संयोग-शृंगार का वर्णन उद्दीपन तथा आलम्बन दोनों रूप में किया है। निम्नलिखित पद में घन के गुणों से आभूषित कृष्ण का रूप व्रजबालाओं को मोहित कर रहा है—

देखो माई उत घन इत नन्दलाल।
उत बादर गरजत चहुँ दिसि, इत मुरली सब्द रसाल।
उत राजत है धनुष इन्द्र कौ इत राजत बनमाल॥
उत दामिनि चमकत है अति छवि इत पीत बसन गोपाल
उत धुरवा इत चित्र किये हरि बरखत अमृतधार।
उत बगपांति उड़त बादर में इत मुक्ताफल हार
उत कोकिल कोलाहल कूजत इत बाजत किंकिनि जाल
गोविन्द प्रभु की बानक निरखत मोहि रहीं व्रजबाल।[3]

संयोग-लीला का आलम्बन-रूप में वर्णन करते समय भी वर्षा का आरोपण उसके ऊपर किया गया है—

दुहुँ दिसि नेहँ उमगि घन आयो।
बरखत सुधा सुहात सेज पर हरखि मदन लपटायो।
आनन्द केलि झेलि रस चुंबन, वर विहार झरु लायो।[4]

पावस का मानवीकरण करके उस पर नर्तक की चेष्टाओं के आरोपण तथा पावस-प्रकृति के विभिन्न उपकरणों में संगीत-सभा के विभिन्न उपकरणों के स्थापन में गोविन्द स्वामी की मौलिक कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है—

पावस नट-नट्यो अखारो वृन्दावन अवनी रंग
निर्तत गुन रासि बरुहा पपैया सब्द उघटत
कोकिला गावत तान-तरंग

---

१. गोविन्द स्वामी, पृ० ७६, पद १५२
२. ,, ,, ८५, पद १६२
३. ,, ,, ६१, पद १७८
४. ,, ,, ६१, पद १७६

जलधर तहां मंद मंद सुलप संच गति भेद—
उरपि तिरपि मानु लेत मधुर मृदंग
गोविन्द प्रभु गोवर्द्धन सिंघासन पर बैठे
सुरनी लता मध्य रीझे ललित त्रिभंग॥[1]

राधा और कृष्ण के युगल-स्वरूप वर्णन में भी इसी प्रकार का आरोपण किया गया है—

गौर स्याम तन नील पीत पट घन दामिनि द्वंदु विराजत
निरखि निरखि व्रज जन मन फूलना।
उर पर वन माला सोहै इन्द्र धनुष मानो
उदित नयो मोतिन माल वग पांति समतूलना।
बरसत नव रूप वारि घोष श्रवनि रतन-खचित
गोविन्द प्रभु निरखि कोटि मदन भूलना॥[2]

संयोग-श्रृंगार के प्रसंग में राधा और कृष्ण का वर्णन घन और दामिनी, कनक-बेलि और तमाल रूप में अन्य कवियों की भांति ही गोविन्द स्वामी ने भी किया है—

प्यारी अति सुकुँवारि सुकंचन वेली सी
सुन्दर स्याम तमाल सो आतुर है लसी
कोटि काम लखनि कान्ह अरु कामिनी
मानो राजत घन स्याम संग सौदामिनी।[3]

तथा

गौर स्याम तन नील पीत पट मनु घन दामिनी जोरे।[4]
गोविन्द प्रभु के तू कंठ लागि री नवघन में जैसे दामिनि लसत।[5]

व्यतिरेक द्वारा उपमान की हीनता की स्थापना करके भी प्रस्तुत की श्रेष्ठता स्थापित की गई है—

नख सिख भूषन की सुन्दरता निरखत लजित अनंग।[6]

विशद गुणों की स्थापना उपमेयों में बहुत कम हुई है; जहां हुई है उसमें सौन्दर्य के प्रति अभिभूत भावनाओं का व्यक्तीकरण न होकर महिमा का व्यक्तीकरण हुआ है—

जसुमति गृह उदयो हो मानो रवि चौदह भुवन सिरताज।[7]

---

१. गोविन्द स्वामी, पृ० ६२, पद १८१
२. ,, ,, ६५, पद १९४
३. गोविन्द स्वामी, पृ० ६७, पद १९६
४. ,, ,, ६६ ,, २०१
५. ,, ,, ६६ ,, २०१
६. ,, ,, ६८ ,, १९९
७. ,, ,, १०८ ,, २२५

स्याम भुजन बीच प्यारो बदन विराजित
मानों जलधर तें निकस्यो पूरन ससी।[1]

उपमेयों के स्थान पर उपमानों की स्थापना द्वारा भी अप्रस्तुत-योजना की गई है—

बदन कमल ऊपर बैठे री मानों जुगल खंजरी।
ता ऊपर मानो मीन चपल अरु ता पर अलकावलि गुंजरी।
और ऐसी छवि लागै री मानो उदित रवि निकट फूली
किरन कदम्ब मंजरी।[2]

नेत्रों के स्थान पर खंजन, ललाट के स्थान पर मीन और अलकावलि में भौंरों का कल्पना तो की ही गई है, साथ ही रवि के निकट रश्मि और कदम्ब के निकट खिली हुई मंजरी की योजना के द्वारा कृष्ण की रूपाभा और वर्ण तथा राधिका के गौर-वर्ण और सौकुमार्य का अनुपम संयोजन गोविन्द स्वामी ने प्रस्तुत किया है।

नेत्रों के लिये खंजन और मीन का प्रयोग भी साधारण और परम्परागत रूप में हुआ है—

कहा री कहौं नैननि की सोभा।
खंजन मीन वारि लै डारों निरखि-निरखि मेरो मन लोभा।[3]

मानिनी नायिका के बड़े-बड़े लोचनों में व्यक्त रोष के लिये अप्रस्तुत-विधान का कौशल द्रष्टव्य है—

घूमत अरुन तरुन मदमाते देखियत मानिनी मान मोचन।
गोलक छवि मानो अरुन कमल में जुगल अलि परे संकोचन।[4]

अवगुंठन के वातावरण में छिपते और उघरते हुए नायिका के सौन्दर्य का सादृश्य-विधान बादल और बिजली के साथ किया गया है—

आधो बदन दुराइ छबीली गिरधर को मन मोहै
ज्यों ससि बिंब बादर से निकस्यो छिनु ढाप्या घन सोहै।[5]

तथा

हितवनि चितवनि घूंघट की ओट में ज्यों वारि घन घेरे।[6]

प्रभाव-साम्य का एक सुन्दर उदाहरण गोविन्द स्वामी के पदों में दूतिका के वचन में मिलता है। दूती कहती है कि तुम दोनों के बीच में तो मैं चौगान की गेंद हो रही हूं। इसी अप्रस्तुत-

१. गोविन्द स्वामी, पृ० १६१, पद ३६८
२. ,, ,, १७३ ,, ४३६
३. ,, ,, १७४ ,, ४४३
४. ,, ,, १७४ ,, ४४४
५. ,, ,, १८१ ,, ४७०
६. ,, ,, १८० ,, ४६६

विधान के माध्यम से कृष्ण और राधा के बीच मध्यस्थता के कारण उसकी गति का सजीव चित्रण हो सका है—

तिहारे बीच परें सो बावरी हों चौगान की गेंद भई री।[1]

मान के प्रसंग में राधा के रूप-सौंदर्य और मान-मोचन के चित्रण के लिये जो अप्रस्तुत-योजनायें की गई हैं वे भी द्रष्टव्य हैं—

सेत अंगिया तामें कीनी तिलवारी देखनि यों आपु बनाई।
छोटेइ कुचन पर तन इक स्यामताई मानो गुलाब फूलि रहे
अलि छौना झरलाई॥

उस स्थूल चित्रण में सौंदर्य दृष्टि का मादक आह्लाद भरा हुआ है। दूसरे चित्र में भी मान के बाद मिलन का उष्ण चित्रण बादल के उलरने की कल्पना के द्वारा ही साकार हो सका है—

लीजिये मनाइ रिझाइ गोविन्द प्रभु उलरि आये
बादर तामें बीजुरी लहलहाई।[2]

मान-मोचन के प्रसंग में ही अप्रस्तुत-विधान द्वारा निर्मित दूसरा चित्र देखिये—

मोहन कर सों जब घूंघट दूरि कीनो घन में ते चन्द दरस दीन्हों
रिस भरे ये नैन कुसुम गुलाब में मधुप अनुहारि।[3]

रोष त्याग कर नायक के प्रति ढलते हुए नेत्रों की स्निग्धता में भ्रमरी की कल्पना कवि की सौन्दर्य-दृष्टि की सूक्ष्मता की परिचायक है। प्रसंग के अनुकूल ही ये उपमान भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते हैं। वारिज और भौंरों द्वारा निर्मित दूसरा चित्र देखिये—

मिले पिय सांकरी गली।
मदन मोहन पिय हँसि गहि डारी मोतिन चंपकली।
वारिज वदन निरखि वियकित भई घूंघट में न समात नैन अली।[4]

कमल को देखकर भौंरों के आतुर होकर दौड़ने में ही नेत्रों की समस्त आतुरता साकार हो गई है।

हरिदास स्वामी की अप्रस्तुत-योजना का रूप परम्परागत है। सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ही उन्होंने अधिक किया है। उनके उपमानों में कुछ नवीनता नहीं है अन्य कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा संकलित उपमानों को ही उन्होंने अपनाया है—

माई री सहज जोरी प्रकट भई रंग की गौर स्याम घन दामिनि

सांगरूपक भी पुराने हैं और उनका संयोजन व्याख्या के उद्देश्य से किया गया है—

१. गोविन्द स्वामी, पृ० १८६, पद ४६५
२. ,, ,, १६१, ,, ५०१
३. ,, ,, १६२, ,, ५०६
४. ,, ,, १६४, ,, ५११

संसार समुद्र मनुष्य मीन नक्र मक्र अरु जीव बहु बन्दसि
मन व्यास प्रेरे सनेह फन्द फन्दसि
लोभ पंजर लोभी मरजिया पदारथ चार खंड खंडसि
कह श्री हरिदास तेई जीव पार भये जे गहि रहे चरण आनंद नंदसि।
—केलिमाल

इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रतीप, अपह्नुति, उदाहरण इत्यादि अलंकारों की योजना में भी परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण इस प्रसंग में प्रस्तुत किये जाते हैं—

प्रिया जू को मुख देखे चंद्र लजावत
प्यारी तेरी पुतरी काजर हू ते काली मानो द्वै भ्रमर उड़े री बराबर।

उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना का रूप भी प्रायः परम्परागत है—

श्रम जल कन नाहीं होत मोती माला को देह
दामिनि कहत मेघ सों हमारी उपमा देहि ते झूठे येई मेघ येई बीजुरी।

हरिदास के अप्रस्तुत-विधान अत्यन्त साधारण कोटि के हैं।

## मीराबाई की अप्रस्तुत-योजना

मीराबाई के काव्य में भाव-तत्व की तुलना में कला-तत्व बिल्कुल पृष्ठभूमि में पड़ गया है। कला-साधना उन्होंने नहीं की। 'हरि-प्रेम' की अभिव्यक्ति के साधन रूप में ही कुछ अलंकारों का विधान स्वाभाविक रूप से स्वतः ही हो गया है। दूसरे अलंकारों की अपेक्षा रूपक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। विरहानुभूतियों की अभिव्यक्ति में सांगरूपक बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। सर्पदंश के इस रूपक में अनुभूति और अभिव्यंजना के तत्वों का पूर्ण तादात्म्य-सा होता जान पड़ता है—

विरह नागण मोरी काया डसी है लहर-लहर जिव जावै जड़ी
घस लावै।[1]

ढोल के सांगरूपक तथा नृत्यरूपक का संयोजन चेष्टापूर्वक किया गया है परंतु अप्रस्तुत-योजना का ध्येय यहां भी अनुभूति-चित्रण ही है—

विरह-पिंजर की बाड़ सखी री, उठकर जी हुलसाऊं ए माय
मन कूं मार सजूं सतगुर सूं दुरमत दूर गमाऊं ए माय
डाको नाम सुरत की डोरी कड़ियां प्रेम चढ़ाऊं ए माय
ज्ञान को ढोल बन्यो अति भारी मगन होय गुण गाऊं ए माय।

---

१. मीराबाई-पदावली, पृ० १२१, पद ७५, प्रथम संस्करण—परशुराम चतुर्वेदी

तन करूं ताल मन करूं मोरचंग, सोती सुरत जगाऊं ए माय
निरत करूं मैं पीतम आगे, तो अमरापुर पाऊं ए माय ।[१]

उपमा अलंकार की योजना भी सुंदर और स्वाभाविक है, परंतु इनके मूल में सचेष्ट कला नहीं है। अनुभूतियों की अजस्र धारा की अभिव्यक्ति में सादृश्य-योजनायें स्वतः ही आ गई हैं। जैसे—

पानां ज्यूं पीली पड़ी रे रोग कहैं पिड रोग ।[२]
जल बिन कंवल चंद बिन रजनी ।[३]

संयोग-सुख की चरमावस्था में उनके स्वर कोकिल के गान का माधुर्य एकत्रित करने को आकुल हो उठते हैं—

मैं कोयल ज्यूं कुरलाऊंगी ।[४]

कृष्ण के रूप-वर्णन में परम्परागत उपमानों द्वारा अनेक उत्प्रेक्षाओं में काल्पनिक साम्य-योजना की गई है, जिनमें सूरदास इत्यादि कवियों का प्रभाव स्पष्ट है—

कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर छाई ।
मनो मीन सरवरि तजि, मकर मिलन धाई ॥[५]

इसी प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश तथा प्रकृति के अन्य उपकरण उनकी भावनाओं के समभागी बनते हैं, इसका वर्णन वह इस प्रकार करती है—

उमंग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै, दामणि छोड़ी लाज ।
धरती रूप नवा नव धरिया, इंद्र मिलण के काज ॥[६]

अद्भुत के संयोजन में विभावना का सहारा उन्होंने संत कवियों की भांति ही लिया है—

बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झणकार रे
बिन सुर राग छतीसूं गावै, रोम रोम रंग सार रे ।[७]

### अतिशयोक्तिमूलक अप्रस्तुत-योजना

विरह की तीव्र उत्कटता की व्यंजना अनेक स्थलों पर उन्होंने अत्युक्तियों द्वारा की है। परन्तु इन अत्युक्तियों का भाव-पक्ष इतना प्रबल है कि अत्युक्ति-जन्य उपहास नहीं आने पाता। संत कवियों के प्रिय उपमानों का प्रयोग भी मीराबाई ने किया है। जैसे—

---

१. मीराबाई-पदावली, प्रथम संस्करण, पृ० १२७, पद ९२—परशुराम चतुर्वेदी
२. " " " १२० " ७४ "
३. " " " १२१ " १०१ "
४. " " " १२६ " "
५. -- " " ९६ " ९ "
६. " " " १४२ " १४१ "
७. " " " १४४, " १५१ "

मीरां प्रभु गिरिधर मिलें, पाणी मिलि गयो रंग[1]
तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा।[2]

विरहानुभूतियों की तीव्रता की करुणा पूर्ण रूप से हृदय पर व्याप्त हो जाती है। बिहारी की नायिका की भांति उनके विरह में वह उपहासप्रद अत्युक्ति नहीं है जो अपनी क्षीणता के कारण अपनी श्वासों की गति वहन करने में भी असमर्थ है। मीरा की अतिशयोक्तियों का प्रभाव करुणात्मक है—

मांस गले गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
आंगुरिया री मूंदड़ी, आवन लागी बांहि॥[3]

तथा

आऊं आऊं कर गया सांवरा कर गया कौल अनेक
गिणता गिणता घिस गई उंगली, घिस गई उंगली की रेख।[4]

हितहरिवंश की रचनाओं में भी सादृश्यमूलक अप्रस्तुत-विधान ही अधिक किया गया है। उन्होंने अधिकतर परम्परागत उपमानों का प्रयोग किया है। रूप-साम्य और वर्ण-साम्य के आधार पर जो साम्य-विधान उन्होंने प्रस्तुत किया है उसमें उनकी सौन्दर्य दृष्टि की सूक्ष्मता स्पष्ट दिखाई देती है। उपमानों में निहित वर्णों के संकेत से चित्र रंगीन हो उठे हैं—

बीच नन्दलाल ब्रजबाल चंपक बरन ज्यों घन तड़ित बिच कनक मर्कत मनी
इन्द्र-नील-मणि श्याम मनोहर साथ कुम्भ तनु गोरी
श्री फल उरज, कंचन सी देही, कटि केहरि गुण सिंधु झकोरी
बेनी भुजंग चन्द्र सत बदनी कदलि जंघ जलचर गति चोरी॥

काल्पनिक साम्य-विधान में भी उनकी सौन्दर्य-दृष्टि ही प्रधान है। उपमान यहां भी परम्परागत ही हैं, पर उन्हीं के द्वारा एक से एक बढ़कर सुन्दर चित्रों का निर्माण किया गया है—

बदन जोति मनो मयंक अलक तिलक छवि कलंक
दिपति स्याम अंक मानो जलद दामिनी।

* * *

कोमल कुटिल अलक सुठि सोहत अवलम्बित युग गंडन।
मानहु मधुप थकित रस लम्पट नील कमल के खंडन।

चन्द्रमुख की कल्पना तो अनेक कवियों ने की है, परन्तु अलक तिलक में कलंक का आरोपण करके हितहरिवंश ने यह व्यंजित किया है कि चन्द्रमा का कलंक तो उसके सौन्दर्य में घातक

---

१. मीराबाई-पदावली, प्रथम संस्करण, पृ० १३०, पद १०५—परशुराम चतुर्वेदी
२. ,, ,, पृ० १३३, पद ११५ ,,
३. ,, ,, पद ७४ ,,
४. ,, ,, पद ७८ ,,

होता है परन्तु राधिका के चन्द्रमुख में अलक तिलक रूपी कलंक उसके सौन्दर्य की वृद्धि करता है। दूसरा चित्र भी बड़ा सजीव है। वास्तव में ये रूढ़ उपमान भी हितहरिवंश की लेखनी के स्पर्श से नये हो गये हैं।

प्रतीप और व्यतिरेक के प्रयोग प्रायः परम्परागत हैं। उनमें नूतन उद्भावनाओं का अभाव है।

खंजन मीन मृगज मद मेटत कहा कहूं नैनन की बातें
नैननि पर वारौं कोटिक खंजन,
तिलक कुण्डल चन्द्रनि लजावै।

विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजनाओं का प्रयोग बहुत कम हुआ है।

हितहरिवंश के काव्य में रूप-सौन्दर्य का स्थान भाव-व्यंजना से अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए उनके अप्रस्तुत-विधान में भी चित्रात्मकता ही प्रधान है।

## ध्रुवदास की अप्रस्तुत-योजना

ध्रुवदास ने अप्रस्तुत-योजना का प्रयोग व्याख्या तथा चित्रांकन दोनों उद्देश्यों से किया है। दोनों ही वर्गों की योजनाएं उद्देश्य की सिद्धि में सफल बन पड़ी हैं। राधा के रूप-वर्णन में प्रयुक्त लाक्षणिक उपमान तथा अमूर्त भावनाओं का मूर्तीकरण वे तत्व हैं जो उनकी प्रौढ़ और कुशल अभिव्यंजना-शक्ति के परिचायक हैं। राधा के रूप-दर्शन पर फूलों का फूलना, छवि का उसके पैरों पर गिरना, सुकुमारता का उसके सौकुमार्य के सामने सहम जाना इत्यादि सूक्ष्मताओं का उल्लेख करने वाला कवि काव्य-कला का कुशल मर्मज्ञ होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है—

फूलि फूलि रहे सब फूल फुलवारी में के
रीझि रीझि छवि आइ पायन में परी है।
लाड़ली नवेली अलबेली सुख सहज ही
निकसि निकुंज तें अनूप भांति खड़ी है।
नखशिख भूषण लावण्य ही के जगमगे
दीठि सों छुवत सुकुमारता हू डरी है।
हित छुवनि मुखनि हेरत बिकाइ रहे
दामिनि की दुति अरु हीरन हरी है।[१]

परम्परागत उपमानों के संयोजन द्वारा भी राधा के रूप का चित्रांकन किया गया है। व्यतिरेक अलंकार की इस योजना में कवि ने परम्परा को ग्रहण किया है—

बड़े बड़े उज्ज्वल सुरंग अनियारे नैना
अंजन की रेख हेरे हियरो सिरात है।
चपलाई खंजन की अरुनाई कंजन की
उमराई मोतिन की पानिप लजात है।

१. ब्यालीस लीला, भजन शृंगार सतलीला, १ शृंखला, पृ० ८१

राधा के सौन्दर्य का अलौकिक प्रभाव-चित्रण इन परम्परागत उपमानों में अंतर्निहित रूढ़ि-जन्य जड़ता के दोष का निवारण कर देता है—

> सरस सलज्ज नये, रहत हैं प्रेम भरे
> चंचल न अंचल में कैसेहू समात हैं।
> हित ध्रुव चितवनि छटा जेही ओर परै
> तेही ओर बरषा सी रूप की ह्वै जाति है।[1]

शैया-विहार के रूपकात्मक चित्रण में अमूर्त भावनाओं और स्थितियों का मूर्त विधान किया गया है। रूप-सौन्दर्य तथा संयोग की उष्णता यहाँ सजीव है—

> सेज सरोवर राजत है जल मादिक रूप भरे तरुनाई
> अंगनि आभा तरंग उठे तहां मीन कटाक्षनि की चपलाई
> प्यासी सखी भरि अंजलि नैन पिये ते गिरी उपमा ध्रुव पाई
> प्रेम गयन्द ने डारे हैं तोरि कै कंचन कंज चहूं दिसि भाई ॥[2]

प्रभाव-व्यंजक व्यंग्य-साम्य के इस उदाहरण में भी उनकी कला-विदग्धता का परिचय मिलता है—

> ज्यों ज्यों लाल देखे मुख नैनन की तृषा होत
> प्यारी जू को रूप मानों प्यास ही को कूप है।
> डीठि डीठि रही मिलि जैसे एक तारा ध्रुव,
> हौं हूं भूली देखि दशा अति ही अनूप है।[3]

कृष्ण के रूप-वर्णन में अमूर्त के मूर्तीकरण, असम्भाव्य की सम्भावना तथा रूप-साम्य-स्थापना में अप्रस्तुत-योजना का एक सुन्दर रूप मिलता है—

> लाल भाल पर फवि रही, बेंदी लाल अनूप।
> मनो मूर्ति अनुराग की, प्रकट भई धरि रूप।
> नासा पुट मुक्ता फब्यो, चितै रहै दृग द्वन्द्व।
> भाजन भरि तन छलकि परी मनो रूप की बुंद ॥

नायिका का रूप-चित्रण करते समय उन्होंने कुछ नूतन उद्भावनाएं भी की हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में राधिका के दांतों का चित्रण है—

> अरुन स्याम उज्ज्वल दसन, अति छवि सों झलकाय।
> कंज में अलि भुक्तन सहित मनु रंगे वन्दन मांहि।[4]

साम्य काल्पनिक है और उसका आधार है केवल वर्ण। मिस्सी और पान से रंगे हुए दांत

---

१. ब्यालीस लीला, शृंगार सतलीला, १ शृंखला, पृ० ८३, पद ८८
२. ,, ,, ,, पृ० ६१
३. शृंगार सतलीला, १ शृंखला, पृ० ३, पद १०३
४. मनसिंगार सत, पृ० १६

मुख में ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो चंदन से रंजित मुक्ता तथा भ्रमर कमल पर शोभित हो रहे हैं। इस प्रकार की योजनाओं में साम्य-नियोजन का आधार अत्यन्त स्थूल और बाह्य है। रस-व्यंजना में इनका कोई योग नहीं है।

नन्ददास के समान ध्रुवदास ने भी नायिका के व्यक्तित्व पर प्रकृति का आरोपण किया है। नन्ददास की योजना में सौन्दर्य-बोध-तत्व प्रधान था; ध्रुवदास की योजना यांत्रिक और स्थूल है—

रूप की वेलि फली फूल मनोज उरोज भरे रस भारी
पत्र लावण्य हरे भरे रंगन जोवन मोरनि पानिप न्यारी।[1]

क्रिया अथवा गुण-साम्य पर आधृत साम्य-विधान अधिक प्रभावात्मक और सहज हैं; उनमें बुद्धि की खींच-तान नहीं है—

निसिवासर कर कतरनी लिये काल करवाहि
कागद सम भई आयु हो, छिन छिन कतरत ताहि।[2]

अनेक स्थलों पर ध्रुवदासजी की दृष्टि अतिशयोक्तिपूर्ण है। अलंकारों के अनेक परम्परागत रूपों में अतिशयोक्ति की चमत्कार-व्यंजना करना ही उनकी अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य बन गया है। अत्युक्ति-अलंकार के इस उदाहरण में भावव्यंजकता कम चमत्कृत करने का प्रयास अधिक है—

छवि मुरझानी देखि छवि, मृदुताई मृदु अंग
चतुराई जहां चित्र भई, चतुराई गति पंग।[3]

इसी प्रकार निम्नोक्त तद्गुण और भ्रम अलंकार में भी कवि का उद्देश्य अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखाना ही रह गया है—

नेंकु होति ठाढ़ी कुंवर जेहि फुलवारी मांहि
पत्र फूल तहं के सबै पीत वरन ह्वै जाहि॥[4]

तथा

फूलनि को छांड़ि आवत मधुप धाइ
तन की सुवास अति रही वन छाई है।[5]

राधिका के रूप-चित्रण में कहीं-कहीं अतिशयोक्तियों का रूप प्रभाव-व्यंजक बन पड़ा है—

अरुन अधर दशनावली, झलकत परम रसाल।
हीरन की पंकती मनों वन्दन में करी लाल॥[6]

---

१. सिंगार सत, पृ० ४६
२. भजन सत, पृ० १०७
३. हित सिंगार, पृ० २८
४. प्रेमावली, पृ० ६१
५. शृंगार सत, पृ० १२८
६. सभा मंडल ग्रन्थ

ध्रुवदास की अप्रस्तुत-योजना में उनका कलाकार रूप प्रधान है। उसमें उपमान-नियोजन के विविध रूप मिलते हैं। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण किया है—

ऋतुराज पखावज लिये कर बीना शरद प्रवीन
ग्रीसम ताल रसाल धर पावस छाया कीन ॥[1]

अमूर्त प्रस्तुत का मूर्त विधान भी उन्होंने किया है परन्तु उसकी आत्मा में सौन्दर्य नहीं, अतिशयोक्तिजन्य चमत्कार प्रधान है—

छवि ठाढ़ी कर जोरे गुनकला चौंर ढोर
द्युति सेवैं तन गोरे, रति बलि जाति है।
उजराई कुंज ऐन सुकराई रची सैन,
चतुराई चितैं नैन अति ही लजाति है।
राग सुनि रागिनी हूं होत अनुराग बस,
मृदुताई अंगन छुवन सकुचात है ॥[2]

जहां मूर्त प्रस्तुत के लिये अमूर्त प्रस्तुतों की योजना हुई है वे स्थल प्रथम कोटि के विधानों की अपेक्षा अधिक सरस और सजीव हैं। उनके द्वारा प्रसंगानुकूल वातावरण की सृष्टि करने में कवि को बड़ी सहायता मिली है। निम्नलिखित पंक्तियों में ब्रज-प्रकृति का उल्लास और आनन्द बड़ी समर्थता के साथ व्यक्त हुआ है—

मधुर मधुर गति ताल सों कूजत विविध बिहंग
मनो द्रुमनि चढ़ि रागिनी गावत तान तरंग।[3]

जमुना की छवि कहा कहौं तहां न आनंद थोर
मनहुं ढर्यो शृंगार रस करि प्रवाह चहुं ओर।[4]

मत्त फिरत मधुपावली करत मधुर गुंजार
मनहुं मेघ अनुराग के गावत मंगलचार।[5]

अभिव्यंजना के अन्य अंगों के समान ही अप्रस्तुत-योजना के क्षेत्र में भी ध्रुवदास के योगदान को भक्तिकालीन और रीतिकालीन प्रवृत्तियों के बीच की कड़ी माना जा सकता है। उनकी अप्रस्तुत-योजना रीतिकालीन चमत्कार-प्रवृत्ति की ओर ही अधिक उन्मुख है।

रूपक-शैली का प्रयोग हितशृंगार में भी हुआ है। वृन्दावन दिव्य प्रेम के देश का प्रतीक है जिसके सम्राट् हैं श्रीकृष्ण। एक राज्य के लिये आवश्यक सब उपकरणों को एकत्रित करके इस दिव्य प्रेम के राज्य की स्थापना की गई है।

---

१. वन-विहार, पृ० १७
२. सिंगार सत, ,, २८
३. सभा मंडल, ,, ११
४. ,, ,, ६
५. ,, ,, ६

अप्रस्तुत-योजना का प्रयोग कुछ स्थलों पर ध्रुवदासजी ने व्याख्यात्मक दृष्टिकोण से भी किया है। उनके 'वैद्यक-ज्ञान' ग्रंथ में प्रयुक्त रूपक-तत्व को इसके उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। भव-बन्धनों में ग्रसित व्यक्तियों के दुःख से कातर होकर सन्त-रूपी वैद्य तृष्णा तथा विषय-वासना के अन्य रोगों से ग्रस्त रोगियों का आह्वान करता है और उनके उपचार के लिये पथ्य और औषधियां रूपक के माध्यम से प्रस्तुत करता है। ऐसे स्थलों पर अप्रस्तुत-योजना में सौंदर्य-तत्व के स्थान पर बुद्धि-तत्व प्रधान हो जाता है—

लोभ-खटाई मोह मिठाई, वही क्रोध के निकट न जाई
जड़ वैराग्य वृक्ष की लवहु, सोंठ सन्तोषहि आनि मिलावहु
मिरच तीति क्षन करुना चीता, निस्पृह पीपर मिलवहु मीता
कोमलता सब सोंज गिलोई, मधु बानी सों लेहु समोई
हरड़ आमरा सुचि अरु दाया, ताते निरमल ह्वै है काया ॥[1]

## रसखानि की अप्रस्तुत-योजना

रसखानि की अप्रस्तुत-योजना में उनका दृष्टिकोण दो प्रकार का रहा है। संत कवियों के समान उन्होंने प्रसिद्ध उपमानों के माध्यम से प्रेम-तत्व के विभिन्न पक्षों का चित्रण और विश्लेषण किया है। प्रेम में कोमल कठिन तत्वों के साहचर्य की अभिव्यक्ति कमल-तंतु की कोमलता तथा खड्ग-धार की तीक्ष्णता के सहयोग से बड़ा प्रभावशाली बन पड़ा है—

कमल तंतु ज्यों छीन अरु, कठिन खड्ग की धार
मति सूधो टेढ़ो बहुरि प्रेम पंथ अनिवार।[2]

जीव तथा ईश्वर में तादात्म्य स्थापित करने के लिये भी उन्होंने इसी पद्धति का अनुसरण किया है—

एक होइ द्वै यों लसैं ज्यों सूरज अरु धूप।[3]

इसी प्रकार—

कोउ याहि फांसी कहत, कोउ कहत तरवारि
नेजा भाला तीर कोउ कहत अनोखी टारि।[4]

अहं के विगलन की स्थिति का प्रभावपूर्ण चित्रण विरोध-चमत्कार द्वारा भी किया गया है—

पै मिठास या मार के रोम रोम भरपूर
मरत जियै, झुकतौ थिरै, बनै सु चकनाचूर।[5]

१. वैद्यक ज्ञान, पृ० २९-३०
२. रसखानि, पृ० ९ दोहा ९—विश्वनाथप्रसाद
३. „ „ १० „ २४ „
४. „ „ ११ „ २९ „
५. „ „ ११ „ ३० „

इस प्रकार की योजना में संत-कवियों की अभिव्यंजना-शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

दूसरे प्रकार की योजनाओं में सौंदर्य-तत्व प्रधान है। अप्रस्तुत-योजना के सौंदर्य मूलक रूप में सादृश्य-विधान ही अधिक किया गया है, जहाँ उन्होंने अधिकतर परम्परागत उपमानों का प्रयोग किया है। उनका रूप-उद्यान कुसुमित ही नहीं, फलों से भी लदा हुआ है।

> बागन को काहे को जाओ पिया घर बैठे ही बाग लगाय दिखाऊं
> एड़ी अनार सी मोरि रही बहियां दोऊ चंपे की डार बनाऊं
> छातिन में रस के निबुआ, और घूंघट खोलि के दाखि चखाऊं
> ढांकन के रस के चसके, रति फूलनि की रसखानि लुटाऊं।[1]

प्रेम की विह्वलता और आवेश में प्रियतम से मिलने को आकुल अमूर्त भावों के मूर्त उपमान भी सार्थक बन पड़े हैं—

> चारु विलोकनि की निसि मार सम्हारि गई मन मार न सूज्यौ
> सागर को सरिता जिमि धावत रोकि रह्यौ कुल को पुल टूट्यौ।

कृष्ण-भक्त कवियों के चिर-प्रिय उपमान बादल और बिजली का प्रयोग भी रसखानि ने किया है—

> मैन मनोहर बैन बजै सु सजै तन सोहत पीत पटा है।
> यों दमकै चमकै झमकै दुति दामिनि की मनो स्याम छटा है।[2]

मुसलमान कवि रसखान द्वारा प्रयुक्त पौराणिक उपमानों की प्रतीप-योजना भी देखने योग्य है—

> सम्पत्ति सों सकुचाहि कुबेरहि रूप सों दीनी चुनौती अनंगहि।
> भोग कै कै ललचाइ पुरन्दर, जोग कै गंग लई धर मंगहि॥

रूप-सौंदर्य-चित्रण में अप्रस्तुत-योजना का योग देखिये—

> सोई हुती पिय की छतियां लगि बाल प्रवीन महा मुद मानें।
> केस खुले छहरें बहरें फहरें छवि देखत मैन अमानें।
> वा रस में रसखानि पगी रति रैन जगी अंखिया अनुमानें
> चंद पै बिम्ब और बिम्ब पर कैरव कैरव पर मुकतान प्रमानें।[3]

सादृश्य-योजना पर आधृत सन्देह-अलंकार द्वारा होली का सजीव चित्र अंकित किया गया है—

> होरी भई कि हरी भये लाल कै लाल गुलाल पगी ब्रजबाला

## रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की अप्रस्तुत-योजना

रीतिकालीन कवियों की अप्रस्तुत-योजना में एक नवीन तत्व का समावेश मिलता है। वह है फ़ारसी कविता में प्रयुक्त उपमानों तथा परम्पराओं का प्रयोग। इसके साथ ही भक्ति

---

१-३. रसखान, पृ० १६, दोहा १६.

काल की रूढ़ अलंकार-योजना की परम्परा भी चलती रही जिसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। रूपरसिक देवजी की इस उत्प्रेक्षा में परम्परा का निर्वाह ही हुआ है—

स्याम घन तन चंदन छवि देत।
मनहुं मंजु मनि नील सैल पर खिली चांदनी सेत।

सहचरिशरण की अलंकार-योजना में उर्दू और हिन्दी का संगम तथा यवन-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है—

नृत्य करत मन हरत अमित गति हरषत हार हिया करि।
जनु अनंग अंगज पियलोचन, रंगरलनि किया करि।
सहचरि शरण उदार-शिरोमणि, सुखसहवास दिया करि।
तरुणि तिलक तालीम दई तें, हँसि तसलीम किया करि॥[1]

गोपिकाओं का प्रेम-रोग अब 'मर्ज़-इश्क़' में बदल गया है परन्तु भारतीय परम्परा का शुद्ध रूप भी उनकी रचनाओं में विद्यमान है—

मलयज तिलक ललाट पटल पट अटल सनेह सटक सों
मदन विजय जनु करत पुरट मय कटि किंकिणी कटक सों॥[2]

प्रेम-व्यापार की विषमता के चित्रण में सर्प-दंशन का रूपक भी परम्परापूर्ण है। सहचरिशरण की योजना में अन्तर यही है कि नागिन 'जुल्फें' हैं जिनका जुल्म असह्य हो रहा है 'कुटिल अलकें' नहीं—

नहिं उतरेंगी मेर उतारे नितप्रति अधिक मरेंगी
लहरियात अति बांकी एतो मन्त्रादिक न चरेंगी
निरखत कहा तोहि डसिहैं जब सुधि बुधि सकल हरेंगी
रसिक सहचरीशरण नागिनें जुल्फें जुलम करेंगी।[3]

उर्दू के अलंकारों के प्रभाव से दृग बादामनुमा बन गए हैं—

भृकुटि कमा सुखमा सुमुखादिक दृग बादाम नुमा की
दर दीवार मुश्ताक हुए सखि! अय किशोर लखि झांकी।[4]

गोपियों की अतृप्त लालसा और कृष्ण के रूप-सुधा-रस से युक्त व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति में भी ऐसी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है—

रूप सुधारस प्रमुख प्यावदा जिमि जल दा भर मारे
प्यासहि प्यास पुकारत आशिक सहचरिशरण कहा रे

१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ४२४, पद ५५
२. ,, ,, ,, ,, ४२
३. ,, ,, ४२४ ,, ४४
४. ,, ,, ४२८ ,, ७६

जालिम इलम किया कुछ कामिल मोहन प्याऊ वारे
हम तमाम गोरी से गुजरे तेरे गुण अनियारे ।[1]

सहचरिशरण की रचना में प्रभावात्मक साम्य के व्यंजक उपमानों के प्रयोग द्वारा संयोजित उपमा तथा उत्प्रेक्षा का संयुक्त विधान भी किया गया है—

मृदु मुस्कयान भौंह करि बांकी कछु कटारि सुख सारी
नवल नागरी वर सिंदूर काम-कन्दुक पिय-हिय भारी
सहचरिशरण अनूप रूप छवि सुखनिधि सनधि विचारी
जनु अनुरागमयी कृत मुद्रा आशिक उर कर धारी ॥[2]

नागरीदास की अप्रस्तुत-योजना में सच्चे कलाकार की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, उपमान-संकलन की मौलिक क्षमता तथा रस-व्यंजक कल्पना के दर्शन होते हैं। उन्होंने परम्परा-पालन के साथ ही साथ इस क्षेत्र में नये प्रयोग भी किये। उनकी अप्रस्तुत-योजना के परम्परागत रूप में कोरा यान्त्रिक निर्वाह ही नहीं है पुरानी विधा को उन्होंने नये रूप में प्रस्तुत किया है। रूपवर्णन में सागर के सांगरूपक का प्रयोग सूरदास ने पहले भी किया था। नागरीदास ने इस परम्परा को तो ग्रहण किया है परन्तु अंग-प्रत्यंगों के साम्य विधान में मौलिकता से काम लिया है। रूपक में रूप-सृष्टि की सामर्थ्य के साथ ही साथ उसमें प्रभाव-व्यंजकता भी है—

श्याम-रूप सागर में नेत्र पैरवार थके
जोवन तरंग अंग-अंग रगमगी है,
गाजत गहर धुनि बाजत ललित बैन
राजत सिवार लट सोंधे सगमगी हैं।
भंवर त्रिभंगताई पानिप लुनाई जामें
मोती मनि जालन की जोति जगमगी है,
प्रेम मीन प्रबल झकोरनि सो नागरिया
आज राधे लाज की जहाज डगमगी है।[3]

प्रेम-विह्वल राधिका की रागजन्य विवश भावनाओं का व्यक्तीकरण ही इस रूपक का ध्येय है; रूपक की विधा साधन-मात्र है, साध्य नहीं।

काल्पनिक साम्य-विधानों में उनकी जागरूक सौन्दर्य-चेतना के साथ सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के दर्शन होते हैं। उत्प्रेक्षा के निम्नोक्त उद्धरणों में राधा और कृष्ण के चौपड़ खेलने का वर्णन है। प्रत्येक उपमान के संयोजन में रूप और वर्ण-योजना बड़े ही स्वाभाविक और सहज रूप में हुई है। प्रकृति के पुराने उपमानों के लिये नये उपमेयों का संकलन किया है। कवि ने नये उपमानों के ग्रहण द्वारा अपनी मौलिक सूझ का परिचय दिया है—

---

१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ४२३, पद ५७
२. " " ४३८ " १४८
३. नागरीदास, छूटक कवित्त पूर्वार्द्ध, पृ० १२८

स्याम सारि गोरी चलत चांपि चहूंटियत पार
मनो कंवल के अग्र ह्वं आवत भृंग कुमार।

गौरवर्णा राधा की उंगलियों में दबी हुई काली सारि ऐसी लगती है मानों कमल के अग्र भाग से भृंग-शावक निकल रहा हो। दूसरी ओर स्थिति उल्टी है—

जरद मरद घनस्याम पिय ह्वं अंगुरिन गहि लेत
मनु कोयल की चंचु में पीत अम्ब छवि देत

दोनों ही उदाहरणों में उपमानों के संयोजन द्वारा असित तथा पीत प्रतिरूप वर्णों की योजना की गई है।

तीसरी योजना का आधार वर्ण-साम्य न होकर रूप-साम्य है और उसकी चित्रात्मकता भी प्रथम श्रेणी की है।

नागरि पासे परनि की इहि उपमा बरसान।
हाथ रूप सर ते मनो लहरैं निकसत जान॥

फारसी के प्रभाव से उन्होंने भी 'तेगे चश्म' और 'जुल्फ़ की जंजीर' जैसे प्रयोग किये हैं।

उसकी अप्रस्तुत-योजना की सबसे बड़ी विशेषता है, समसामयिक जीवन से गृहीत उपमानों का संकलन।

नायिका के रूप-सौन्दर्य और आभा के लिये दीपशिखा उपमान का प्रयोग तो अनेक कवियों ने किया था, पर रीतिकालीन नारी के सौन्दर्य की तड़क-भड़क और अतिशय दीप्ति के व्यक्तीकरण के लिये नागरीदास उस उपमान से कैसे संतुष्ट हो सकते थे? उन्होंने उसके ऊपर फ़ानूस और शमादानों की पंक्ति का आरोपण किया।

दुरैं दुराये क्यों कुंवरि भौन अंधेरे सांझ।
दिपैं अंग फानूस ज्यों संग सखिन के मांझ॥

बनि बैठी जगमगत दुति पातुर चतुर सुहात
जोय धरी मनमथ मनों समांदान की पांत।

इसके अतिरिक्त हमाम, मुक्कैस, तास, मखतूल जैसे तत्वों को भी उन्होंने उपमान रूप में प्रयुक्त किया है—

नेह पगे रहिये लगे नागर हिम रितु घाम
सुन्दर पानिप सहत है, तिय उर गरम हमाम
..............प्रकट अन्तर को अनुराग
कतर स्वेत मुक्कैस मनु रति पति खेल्यौ फाग
भये जो ठाढ़े न्हाय दोउ चुवैं छबीले बार
मनो स्याम मखतून तें मुक्ता गिरैं सुढार।

इसी प्रकार-चित्त चुराने की प्रक्रिया (प्रस्तुत) का साम्य उन्होंने दिल्ली के जेबकतरों के साथ स्थापित किया है। दिल्ली और मेरठ के जेबकतरों की पुरानी परम्परा का संकेत इन पंक्तियों में मिलता है—

मन हरि मेरो लै गयो तब न भयो चित चेत
ज्यों दिल्ली बाजार ठग, नेत्र कतर धन लेत ।

रूप और प्रभाव-साम्य के द्वारा प्रकृति के उद्दीपन रूप के चित्रण में अप्रस्तुत-योजना का बड़ा सार्थक प्रयोग हुआ है—

बादर लगत धुवां से चपल चमक चुभैं ज्यों छुरी
मोर सोर चहूँ मोरनि ह्वैं मनु रिपु सेना के हौंसत तुरी ।
नागरिया तुलसी बन-बिहर पावक-सी पावस झुकि झुरी ।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि नागरीदास ने इस क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये हैं अवश्य परन्तु ये कृष्ण और राधा से सम्बद्ध सात्विकता की रक्षा इस उपमान-संकलन में नहीं कर सके हैं, यह उनकी सफलता नहीं असफलता है ।

वृन्दावन की रम्य प्रकृति के वर्णन में नागरीदास ने प्रकृति पर मानवीय चेतना का आरोपण भी किया है। कृष्ण के प्रति ब्रजभूमि के एक-एक कण में अनुराग भरा हुआ है, प्रकृति के छोटे-छोटे उपकरण भी राधा-कृष्ण का स्वागत करते हैं और उनके रूप के प्रति आत्मार्पण से उनका अणु-अणु अभिभूत है—

जल बूंदें रहीं ठहरि कैं, कंज दलनि आधार ।
दम्पति के हित सर लियें, मनु मुतियन के थार ।
फूले फूलन स्वेत चिव, अलि बैठे मधु लैन ।
दम्पति हित वृन्दा-विपिन, धारे अगनित नैन ।
स्वेत फूल फूले लतनि, विलुलित हीरा हार ।
जोन्ह ओढ़ पट रुपहरी कुंजन करैं सिंगार ।।

उनकी अतिशयोक्तियों के प्रयोग में भाव और प्रभाव-व्यंजकता का अभाव नहीं है—

घन धारा झरहरि करत अवनी फारि प्रवेस ।
चले यही सर समर मनो करन मूर्छित सेस ।।

—नागर-समुच्चय

नागरीदास की अप्रस्तुत-योजना में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है ।

भगवतरसिकजी की अप्रस्तुत-योजना अधिकतर व्याख्यात्मक है। उसमें कलाकार की चित्रमयता कम, व्याख्याकार का विश्लेषण अधिक है ।

श्री हठीजी के चित्रांकन में अप्रस्तुत-योजनाओं की अपेक्षा लक्षित चित्रों का स्थान ही महत्वपूर्ण है । उनकी अप्रस्तुत-योजना का एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

मोती झुमकन झूमें दहै धे उपमा धरत है राधे को वरन
मुजराज महाराज जान नखत समान फोरनिस-सी करत है ।[1]

अनन्य अली ने व्यापार सम्बन्धी रूपकों का प्रयोग किया है—

---

१. निम्बार्क-माधुरी, पृष्ठ ३३३।१६

जुगल भजन की हाट करि ऐसी विधि व्यौहार।
रसिकन सों सौदा बनै चर्चा नित्य विहार॥
चित डांडी पलरा नयन, प्रेम डोरि सौं बानि
हियो तराजू लेहु कर तौल रूप मन स्यानि।[1]

अनन्य अलीजी का दृष्टिकोण भी व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक ही अधिक है। उनकी रचनाओं में अप्रस्तुत-योजना का परम्परागत रूप मिलता है—

श्रीफल कंचन गिरि किधौं कुन्दन कलस अनूप
उपमा सब फिसली परैं सुनि लै इनको रूप।

## वृन्दावनदास

वृन्दावनदास की अप्रस्तुत-योजना सामान्य कोटि की है। अधिकतर उन्होंने उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया है। निम्नोक्त पंक्ति में प्रस्तुत है राधा का चलना सीखना, उसके लिये संयोजित अप्रस्तुत देखिये—

शोभा का बिरवा मनो यह पवन झोंका खाइ।[2]
गोप सुता तन करति उबरनो आप अपनी रुचि मान
मनु सिसु तड़ित तड़ित सो उरझीं बनत न उपमा आन।

राधा के रूप-चित्रण में विभिन्न उपमानों के द्वारा वर्णों की मिश्रित योजना का सुन्दर उदाहरण मिलता है—

चोटी सरकति पीठि सुही सारी लसी।
मनु अनुराग सुजाल आनि नागिन फंसी।
मनहु सुरसरी वारि कनक-गिरि ते चली
लसति जतन मणि पांति सोइ मनु सुरधुनी॥
इतउत रविजा वारि भई छवि सतगुनी
भई छवि सत गुनी मधि सिन्दूर त्रिवेनी मनो।

राधा के रूप में त्रिवेणी, इन्द्रधनुष और कनक गिरि वर्णों का एक साथ संयोजन किया गया है। रोते हुए कृष्ण की मुद्रा का उत्प्रेक्षा द्वारा बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। विधान है रूप-साम्य का—

दोऊ कर मींड़े हैं अंखियां यह छवि कहा बखानों
कमल भयो सम्पुट मनु आंसू मकरन्द चुवानो।[3]

कृष्ण और राधा के रूप-चित्रण में काल्पनिक साम्य पर आधृत अनेक योजनायें की गई हैं जिनको उद्धृत करना अनावश्यक विस्तार मात्र होगा।

काल्पनिक साम्य-योजना पर आधृत ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

---

१. आशा-अष्टक

२. वृन्दावनदास, पृष्ठ २, पद ३

३. लाड़सागर, पृष्ठ २०, पद २२

नीलाम्बर बदन ढांपि पौढ़ी ब्रज बाला,
पिय समीप छबि अपार बाढ़ो तिहिं काला।
किधौं रूप जाल विंध्यो राका शशि सजनी,
किधौं प्रात उवो होत रोक्यो रवि रजनी।
झीने पट स्वास हलत ऐसी छबि पाई।
उडुगन-पति ऊपर मनु रविजा बहि आई।
जगमगाइ रह्यौ अधिक वेसर को मोती,
मानो जल जाप करत बैठ्यो भृगु गोती।[1]

काल्पनिक साम्य और विविध वर्णों की एक साथ योजना में वृन्दावनदास की उर्वर कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है। नीलाम्बर प्रस्तुत के लिये रजनी तथा रविजा अप्रस्तुत की कल्पना बड़ी मनोहारिणी बन पड़ी है। कवि-दृष्टि केवल वर्ण-साम्य पर ही अटक कर नहीं रह गई है। श्वास के आगमन और प्रत्यागमन से झीना पट हिलता है। उसमें कवि ने जमुना की तरंगित लहरों का चित्र देखा है जिससे निद्रावस्था में राधा के श्वास-प्रश्वास से हिलते हुए वस्त्र का चित्र साकार हो जाता है। अंतिम पंक्तियों में भी कवि की सूक्ष्म कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है।

## घनानन्द की अप्रस्तुत-योजना

अप्रस्तुत-योजना के क्षेत्र में भी घनानन्द की कतिपय विशिष्टताएं है जो उन्हें कृष्ण-भक्ति-काव्य-परम्परा के कवियों से बिल्कुल पृथक् कर देती हैं। इन भक्त-कवियों की अलंकार-योजना की सर्वप्रमुख विशेषता है उसकी ऋजुता और चित्रमयता। घनानन्द के प्रतिपाद्य में अन्तर्वृत्ति का निरूपण अधिक था, इसलिये सहजतापूर्ण चलते-फिरते सजीव चित्र वे नहीं खींच पाये हैं, उनके सौन्दर्य का चित्रण भंगिमापूर्ण, रंगमय और रससिक्त है परन्तु उनमें आलम्बन के अंग-प्रत्यंगों का चित्र न होकर उसके तरल सौन्दर्य का अंकन है; अंग-प्रत्यंगों में झलकते हुए लावण्य की अभिव्यक्ति है जो लक्षित चित्रयोजना के क्षेत्र में बड़ी समर्थ बन पड़ी है। जहाँ तक अप्रस्तुत-योजना का सम्बन्ध है रूपक और विरोध उनके प्रिय अलंकार हैं। विरोध की यह कला अन्य किसी कृष्ण-भक्त कवि में नहीं मिलती। उनकी रचनाओं में विरोधमूलक अलंकारों का प्राधान्य है। इन अलंकारों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि चमत्कार और भावव्यंजना दोनों का मधुर संयोग हो गया है। यह विरोध-तत्व सादृश्यमूलक योजनाओं में भी विद्यमान है।

रूपक घनानन्द का प्रिय अलंकार है। अनेक स्थलों पर उनकी दृष्टि में चमत्कार ही प्रधान हो गया है। उदाहरण के लिये, विरहिणी के ऊपर होली के विभिन्न तत्वों के आरोपण में वैचित्र्य-योजना ही प्रधान है। कामदेव ने फाग खेला है। इसी कारण नायिका का शरीर पीला हो गया है, अश्रुपात, पिचकारी और शृंगार की अस्तव्यस्तता ही मानों होली की

१. लाडसागर, पृष्ठ २८८, पद ६१

अस्तव्यस्त अवस्था है। हृदय की जलन ही होलिका-दाह है जिसमें वह प्राणों को 'होरा' बनाकर तपा रही है—

पीरी परि देह छीनी राजति सनेह भीनी
कीनी है अनंग अंग-अंग रंग बोरी सी।
नैन पिचकारी ज्यौं चल्योई करैं रैन दिन
बगराये बारन फिरत झकझोरी सी
कहां लौं बखानों घन आनन्द दुहेली दसा
फागमई भई जान प्यारे वह भोरी सी
तिहारे निहारे बिन प्रानिनि करति होरा
बिरह-अंगारनि लगाइ हिय होरी सी।[1]

कृष्ण के रूप-चित्रण में वर्षा के रूपक का आरोपण भी किया गया है—

तेरे हित हेली अनुराग बाग बेली करि,
मुरली गरज झूमि-झूमि सरसत है।
लोने अंग रंग जानि चंचला छटा सों पट,
पीत को उमंग ले ले हिये परसत है।
चाह के समीर की झकोरनि अधीर ह्वै ह्वै,
उमड़ घुमड़ चारहु ओर दरसत है।
लोचन सजल क्यों हूँ उघरे न एकौ पल,
ऐसे नेह-नीर घनश्याम बरसत है।[2]

वर्षा ऋतु के विभिन्न उपकरणों का आरोपण कृष्ण के रूप-सौंदर्य तथा प्रेमिका की मानसिक दशाओं पर किया गया है। अप्रस्तुत के माध्यम से प्रेम का आह्लाद, पूर्ण समर्थ रूप में व्यक्त हुआ है।

भक्त कवियों के समान ही युद्ध के रूपक भी घनानंद ने प्रस्तुत किये हैं। प्रिय के मिलन पर काम-जन्य पीड़ाओं का अन्त हो जाता है, प्रेम-विजय की दुंदुभी बजने लगती है :

रूप चमू सज्यो चलि देखि, भज्यो तजि देसहि धीर मवासी।
नैन मिलें उर के पुर पैठते, लाज लुटी न घुटी तिनका सी।
प्रेम दुहाई फिरी घनआनन्द, बांध लिये कुल-नेम गढ़ा सी।
रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी।[3]

उपमा-अलंकार के संयोजन में भी अधिकतर प्रभाव-साम्य का चित्रण ही किया गया है :

---

१. घनानन्द-कवित्त, पृष्ठ ४६, पद ७६—विश्वनाथप्रसाद मिश्र
२. सुजान हित, कवित्त ४२
३. ,, ,, ४८

चित चम्बुक लौह लौं चायनि च्वै चहटै उहटै नहि जेतो गह्यौं।[1]

मन पारद कूप लौं रूप चहै उमहै सुरहै नहि जेतो गह्यौं।[2]

साम्यमूलक अलंकारों में व्यतिरेक, अनन्वय, संदेह, अपह्नुति और प्रतीप इत्यादि अलंकारों का प्रयोग किया गया है। उनके अनेक उदाहरण घनानंद की रचनाओं में देखे जा सकते हैं।

व्रजवासीदास की अलंकार-योजना पर सूरदास का प्रभाव स्पष्ट है। सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग उन्होंने अधिक किया है। उपमायें और उत्प्रेक्षायें पूर्ण रूप से सूरदास के अनुकरण पर लिखी गई हैं—

स सुभग तनु पीत पट, चटकीली द्युति कारि
शोभित घन पर दामिनी, मनु चपलई विसारि॥[3]

तथा—

कुण्डल झलक कपोल छवि, श्रम सीकर के वाग
मानहु मनसिज मकर मिलि, क्रीड़त सुधा-तड़ाग।[4]

आधार रूप में सूरदास की अलंकार-योजना को ग्रहण करने पर भी अनेक स्थलों पर व्रजवासीदास के काव्य में मौलिक स्पर्श दिये गए हैं। रीतिकालीन कृष्ण-काव्य में व्रजविलास की अप्रस्तुत-योजना को ही पूर्ण रूप से पूर्वकालीन भक्त-कवियों की परम्परा में रखा जा सकता है। सूर के समान ही उन्होंने कृष्ण के नूपुरों की रुनझुन में मराल के दर्शन किये हैं—

रत्न जटित पग पांवरी, नूपुर मन्द रसाल,
चरण कमल दल निकट मनु, बैठे बाल मराल।[5]

कहीं-कहीं उपमान मौलिक भी हैं :

पीत हरित सित अरुण रंग चटकीली वनमाल।
प्रफुलित ह्वै छवि की लता मानहु चढ़ी रसाल।

इस अनुकरण में केवल स्थूल अंश ही नहीं ग्रहण किये हैं अमूर्त भावों का मूर्तीकरण भी हुआ है—

मनु आये उत्साह सब धरि धरि गोप सरीर।
देह धरै आनन्द मनहु नन्द तिन मधि लसै।

वर्षा के रूपक में भी सूरदास की कही हुई बातों को यथावत् दुहराया गया है—

नन्द सुकृत वर्षा ऋतु सोई, यशुमति सुकृत प्रकाश वनोई।
तहं घनश्याम श्याम तन उनए, मन्द हसनि दामिनि दुति उनये।
गरजन मन्द मधुर किलकारी, व्रजजन मोरन आनंद भारी।

---

१. सुजानहित, कवित्त १०
२. ,, ,, ११
३. व्रज विलास, पृष्ठ २९८
४. ,, ,, २९७
५. ,, ,, ३००

इस प्रकार के अनेक उदाहरण व्रजविलास से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वास्तव में सूर के भावों की पुनः अभिव्यक्ति करना ही व्रजवासीदास का ध्येय रहा है।

भारतेन्दुजी की अप्रस्तुत-योजना में भक्तों की ऋजु चित्रमयता और रीतिकालीन कवियों की चमत्कार-दृष्टि का संगम हुआ है। भक्त-कवियों का प्रभाव उनकी रचनाओं में अपेक्षाकृत अधिक है। उनकी अप्रस्तुत-योजना का रूप अधिकतर परम्परागत रहा है, तथा उनकी साम्य-योजनायें सरल परन्तु प्रभावात्मक हैं। रूप, धर्म और प्रभाव-साम्य पर आवृत जो योजनायें उन्होंने की हैं, साहित्यिक गुण की दृष्टि से उनका महत्व अधिक नहीं है :

सांचहि दीप सिखा सी प्यारी।

अनन्वय अलंकार का विदग्ध प्रयोग हुआ है।

बहुत सुने कपटी या जग में पर तुम से तो तुम ही देखे।[1]

साम्य-विधान में सन्देह-तत्व के समावेश से सादृश्य-विधान को चमत्कारपूर्ण बना दिया गया है—

कान्ह भये प्रान मय, प्रान भये कान्ह मय
हिय में न जानि परै कान्ह है कि प्रान है।[2]

तथा

प्रीतम पियारे नंदलाल बिनु हाय यह
सावन की रात किधौं द्रौपदी की सारी है।[3]

घनानंद के समान उन्होंने भी श्लेष पर आवृत रूपक-योजनायें की हैं—

अरी हौं बरजि रही बरज्यौ नहिं मानत
सबै छोरि कृष्ण-प्रेम दीप जोरि।
भरि अखंड सनेह एक लौ लगाइ बासों
मन-बाती राखु तामें नित्य बोरि
बिरह प्रकट करि जोति सों मिलाइ जोति
करि पतंग नेम धरम लाज और डारि छोरि
हरीचंद कह्यौ मान, देखिहै तू प्रीति-पंथ
भजिगो वियोग तम मुख मोरि।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में कृष्ण-प्रेम पर प्रदीप के गुणों का आरोपण किया गया है। प्रेम-दीप में सनेह का (तेल) डाला गया है। जिससे लौ (प्रेम) की लौ (ज्योति) प्रकाशित हो रही है। मन ही वर्तिका है इस ज्योति में 'नेम-धर्म' रूपी शलभ जलकर भस्म हो जाता है, यह दीप वियोग-रूपी तम नष्ट करके प्रेम-पथ को आलोकित करता है।

---

१. प्रेम मालिका, पृष्ठ १२
२. प्रेम माधुरी, पृष्ठ ३
३. ,, पृष्ठ ६७
४. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, कार्तिक-स्नान, पृ० १२

प्यारी के रूप पर 'नदी' के आरोपण में संश्लिष्ट चित्रमयता का अभाव है। एक-एक अंग को अलग-अलग उपमानों से सम्बद्ध करने में बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है, चित्र नेत्रों में स्वयं सजीव नहीं हो उठते। उपमान के अवयव वही हैं, केवल उपमेय मे अन्तर है। 'सांवल घन' में श्लेष का प्रयोग भी हुआ है।

प्यारी रूप नदी छबि देत
सुखमा जल भरि नेह तरंगनि बाढ़ी पिय के हेत
नैन मीन कर पद-पंकज से सोभित केस सिवार
चक्रवाक जुग उरज सुहाये लहर लेत गल हार।
रहत एक रस भरी सदा यह जदपि तरु पिय भेंटि
हरीचंद बरसै सांवलघन बढ़त कूल कुल मेटि।[1]

'प्रीति की पतंग' घनानन्द ने भी उड़ाई थी। 'स्नेह' से भीगकर भी उनकी पतंग उड़ रही थी परन्तु भारतेन्दु जी ने उसे परकीया प्रेम की विभिन्न स्थितियों के व्यक्तीकरण का माध्यम बनाया है। प्रीति की पतंग अनेक वर्णों से युक्त है उसमें स्निग्ध रंगीनियां हैं—गुण की डोरी से उसमें मांझा दिया जाता है, बदनामी की उसमें पुंछोरी लगी है। नेत्रों के परेतों पर रस्सी फेरी जाती है—

रूप बिसाइ के मोल लियो मन वाल गुड़ी बहु रंगन जोरी
चाहत मांझो दियो हरिचंद जू ले अपने गुन को रस डोरी
फेरि के नैन परेतन पै बदनामी की तापे लगाइ पिछोरी
प्रीति की चंग उमंग चढ़ाय कै सो हरि हाय बढ़ाय के तोरी।[2]

कृष्ण ने नायिका के हृदय में प्रेमजन्य भावनायें उत्पन्न करके उसे अपने आप भटकने को छोड़ दिया है। प्रेममाधुरी में प्रयुक्त वसन्त के रूपक भी इसी प्रकार मार्मिक हैं। वसन्त के विभिन्न अवयवों को राधिका के व्यक्तित्व पर घटित किया गया है—

नैन लाल कुसुम पलास से रहे हैं फूलि,
फूल माल गले तन झालरि सी लाई है।
भंवर गुंजार हरि नाम को उचार तिमि,
कोकिला सो कुहुकि वियोग-राग गाई है।
हरिचंद तजि पतझार घरबार सबै
बोरी बनि दौरि चारु पौन ऐसी धाई है।[3]

एक ही उपमान पर आधृत करके भारतेन्दुजी ने भिन्न-भिन्न उपमेयों का चित्रण किया है। करुणा, आनन्द और रूप-तत्वों का विश्लेषण उन्होंने सरिता के माध्यम से किया है।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रेमाश्रु-वर्षण, पृ० १८
२. ,, प्रेम-प्रलाप, ,, १६
३. ,, प्रेम-माधुरी, ,, ३४-३५

कान्ह कूबरी के हिय-हुलसे-सरोजनि तैं
अमल अनन्द-मकरन्द जो ढरारे हैं।
कहै रतनाकर यों गोपी उर संचि ताहि
तामैं पुनि आपनी प्रपंच रंच पारे हैं।
आइ निर्गुन-गुन गाइ ब्रज में जो अब,
ताको उद्गार ब्रह्मज्ञान रसगारे हैं।
मिलि सो तिहारो मधु मधुप हमारे नेह
देह में अछेह विष विषम बगारे हैं।[1]

प्रकृति से संकलित रूपक भी प्रायः परम्परागत हैं। जहाज डूबने, हाथी फंसाने, नाव के मंझधार में पड़ने और पट्ऋतुओं के उपकरणों पर आधृत रूपक-योजना उन्होंने की है तथा जगत व्यापार से व्याज वसूल करने और स्वर्ण-निर्माण के रूपक लिखे हैं। इन सभी रूपकों के नियोजन में उनकी दृष्टि विश्लेषणात्मक रही है।

प्रकृति-जगत से गृहीत उपमानों के प्रयोग का व्यापक रूप भी मिलता है। चन्द्र के आकर्षण के कारण समुद्र में ज्वार-भाटा आता रहता है—इस सामान्य घटना को लेकर ही इस सांगरूपक की रचना हुई है—

राधा-मुख-मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सौं,
प्रेम-रतनाकर हिये यों उमगत है।
त्योंही विरहातप प्रचंड सो उमड़ि अति,
ऊरध उसांस को झकोर यों जगत है।
केवट विचार को विचारो पचि हारि जात,
होत-गुनपात तत्काल नभ-गत है।
करत गंभीर धीर लंगर न काज कछू,
मन को जहाज डगि डूबन लगत है।[2]

सांगरूपकों के अतिरिक्त निरंगरूपक भी रत्नाकरजी ने लिखे हैं। उपमेय और उपमान के अंग-प्रत्यंगों का पारस्परिक आरोपण उनमें नहीं है—

ऊधौ ज्ञान भान की प्रभानि ब्रजचंद बिना,
चहकि चकोर चित-चोपि नचिहैं नहीं।
मुक्ति-माल वृथा मढ़त हमारे गले
कान्ह बिना तासों कहौं काकौं मन मोहौंगी।[3]

शब्दालंकारों का विवेचन करते हुए पहले कहा जा चुका है कि रत्नाकरजी को श्लेष से बड़ा

१. उद्धव शतक, कविता ७६—जगन्नाथदास रत्नाकर
२. „ छ० १२, „
३. „ „ ७५, „

मोह था। रूपकों के निर्माण में श्लेष का प्रयोग उन्होंने किया है परन्तु इससे उनके काव्य-सौंदर्य को क्षति नहीं पहुंची है। एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

रीते परे सकल निषंग कुसुमायुध के
दूर दुरे कान्ह पै न तातै चलै चारौ है
कहै रतनाकर बिहाई वर मानस कौं
लीन्यौ है हुलास हंस वास दूरिवारौ है।
पालौ परै आस पै न भावत बतास वारि
जात कुम्हलात हियो कमल हमारौ है।
षट्ऋतु ह्वैहै कहुं अनत दिगंतनि में
इत तो हिमन्त को निरन्तर पसारौ है।[1]

उनके परम्परित रूपक भी सफल बन पड़े हैं—

टूक टूक ह्वैहै मन-मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हूं कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मन मोहन तो बसिकै उजार्यौ मोहि,
हिय में अनेक मनमोहन बसावो ना।[2]

सादृश्यमूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा, सन्देह, व्यतिरेक, प्रतीप, उल्लेख इत्यादि अलंकारों का प्रयोग उन्होंने किया है—

उत्प्रेक्षा अलंकारों के काल्पनिक साम्य-विधान में मूर्त प्रस्तुत के लिये अमूर्त उपमान का प्रयोग द्रष्टव्य है।

मनहु अमल अनुराग भूमि सोहति सुखदाई
हरित आस की दूब चारु चहुं पास लगाई।[3]
इत उत ललित लखाति चटक रंग बीर बघूटी
मनहु अमल अनुराग-राग की उपजीं बूटी॥[4]
कहूं सांझ की किरनि करति कछु कछु अरुनाई
मनु सिंगार की रासि राग-रुचि की रुचिराई।[5]

प्रकृति के विभिन्न तत्वों के लिये उपमान संकलन करते हुए रत्नाकरजी ने उस पर मानवीय क्रिया-कलापों का आरोपण भी किया है। ये कार्यव्यापार अधिकतर शृंगारिक हैं—

---

१. उद्धवशतक, पद ६२—जगन्नाथदास रत्नाकर
२. ,, ,, ४१ ,,
३. हिंडोला ,, ३१ ,,
४. ,, ,, ३ ,,
५. ,, ,, १५ ,,

साजे हरित दुकूल फूल छाजे वनिता वहु
निज निज नाहँ अंक निसंक रही भरि मानहु ।[1]

जहं जहं सरवर झील ताल सोहत जल-पूरित
सलिल सिमिट कहुं लघु सरिता धावति धरपूरित,
अति मलीन दुति-हीन विरह-आधीन छीन-तन
मानहु खोजत फिरत जीवनाधार तिया गन ।[2]

प्रतीप

अंजन विना हूं मन-रंजन निहारि इन्हें
गंजन ह्वै खंजन-गुमान लटे जात हैं ।
कहै रतनाकर विलोकि इनकी त्यों नोक,
पंचवान वाननि के पानी घटे जात हैं ।
स्वच्छ सुखमा की समता की हम तासों खिले,
विविध सरोजनि सों हौज पटे जात हैं ।
रंग है री रंग तेरे नैननि सुरंग देखि,
भूलि भूलि चौकड़ी कुरंग फटे जात हैं ।[3]

सन्देह

वहति तुवार मानो वहति ववारि देह
कैधौं फनिपति फुफकार भरि लायौ है ।
कोऊ किधौं विकल वियोगिनि विनै कै फेरि
तीसरौ त्रिलोचन कौ लोचन खुलायौ है ।[4]

विभिन्न परम्परागत उपमानों के उल्लेख द्वारा भी साम्य-योजना की गई है—

कोउ कहै कंज हैं कलानिधि-सुधासर के
कोऊ कहै खंज सुचि रस के निखारे हैं ।
कहै रतनाकर त्यों साधा करि कोऊ कहै,
राधा मुख-चंद के चकोर चटकारे हैं ।
कोऊ अंग-कानन के कहत कुरंग इन्हें,
कोऊ कहे मीन ये अनंग केतु वारे हैं ।[5]

उपमानों के विशिष्ट गुणों का उपमेय पर तुलनात्मक रूप में आरोपण तथा उपमानों में त्रुटि-निर्देश द्वारा उपमेय की विशेषताओं की ओर निर्देश भी किया गया है—

---

१. हिंडोला, छं० ५
२. ,, ,, ७
३. शृंगारलहरी, छं० २२
४. प्रकीर्ण पदावली, छं० ३४
५. श्रीकृष्णाष्टक, छं० ३

सो तो करै कलित प्रकास कला सोरह लौं,
यामें वास ललित कलान चौगुनी कौ है।
कहै रतनाकर सुधाकर कहाव वह
याहि लखे लगत सुधा को स्वाद फीको है।
समता सुधारि औ विसमता विचारि नीकें
ताहि उर धारि जो विसद ब्रज-टीको है।
चारु चांदनी को नीकौ नायक निहारि कहौ,
चांदनी को नीको कै हमारो चांद नीको है।[1]

विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजनायें भी रत्नाकरजी ने बड़े समर्थ रूप में संयोजित की हैं—

कानन में तो बजे न बजे पर कानन बांसुरी बाजति ही रहै।

विरोधाभास

लाल गुलाल के घूंघरि में ब्रजबालन के इमि आनन तूले,
काम-कलाधर की मनो मूठि सों पावक पुंज में पंकज फूले।

## अतिशयोक्तिमूलक अप्रस्तुत-योजना

रत्नाकरजी की अतिशयोक्तियां रीतिकालीन कवियों के अधिक निकट आती हैं। मीरा और सूर की अतिशयोक्तियों के समान भाव-प्रवणता उनमें नहीं है। उनका रूप रीतिकालीन विरह-व्यंजना के समान ही ऊहात्मक हो गया है। उदाहरण के लिये—

हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल तें,
उमगि तपन तें तपाक करि धावै ना।
कहै रतनाकर त्रिलोक ओक मंडल में
वेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना।
हर कौं समेत हर-गिरि के गुमान गारि
पल में पतालपुर पैठन पठावै ना।
फैले बरसाने में न रावरी कहानी वह,
बानी कहूं राधे आधे कान सुन पावै ना।[2]

यहां राधा के नेत्रों पर ब्रह्म कमण्डलु का आरोपण किया गया है जिसमें कृष्ण-रूपी ब्रह्म का तेज रहता है। पानिप जल को भी कहते हैं। गंगा के वेग को तो शिवजी ने अपने शीश पर धारण कर लिया था, परन्तु राधा के आंसुओं की गंगा को कौन सम्हालेगा; उसके वेग से तो हिमालय पाताल को चला जायेगा। इसी प्रकार रत्नाकरजी की गोपियों की विरह-ज्वाला का ताप विहारी की गोपिकाओं की ज्वाला से कम नहीं है—

दाबि दाबि छाती पाती लिखन लागी सबै,
ब्यौंत लिखिवे को पै न कोऊ करि जात है।

---

१. शृंगारलहरी, छं० ४
२. उद्धवशतक, छ० ८५, जगन्नाथदास रत्नाकर

कहै रतनाकर फुरति नाहीं बात कछु,
　　　　हाथ धर्यौ ही तल थहरि थरि जात है।
ऊधौ के निहोरें फेरि नैकु धीर जोरें पर,
　　　　ऐसो अंग-ताप को प्रताप भरि जात है।
सूखि जात लेखनी कै नैकुं डंक लागें
　　　　अंक लागे कागद बररि बर जात है।[1]

निष्कर्ष यह है कि आधुनिक काल तक आते-आते भक्तिकालीन अप्रस्तुत-योजना की चित्रमयता और भावप्रवणता का केवल परम्परागत अवशेष ही रह गया था। रीतिकालीन भक्तों की रचनाओं में जो युग-जन्य प्रभाव समाविष्ट हुए, वे आधुनिक काल तक चलते रहे। आधुनिक कवियों ने रीतिकाल के मांसल और स्थूल रोमानी तत्वों की प्रतिक्रिया-स्वरूप भक्त-कवियों की शैली के पुनरुत्थान का प्रयास किया, परन्तु अतीत को लौटाना न तो सम्भव था और न तत्कालीन इतिवृत्तात्मक और सुधारवादी कविता का अभीष्ट। अतएव, ब्रजभाषा-काव्य की रोमानी परम्परा का अंत रीतिकाल और भक्तिकाल की अप्रस्तुत-योजना के मिश्रित रूप में हुआ, जिसमें भाव-तत्व गौण तथा वैदग्ध्य और वैचित्र्य अधिक था। इसके उपरान्त भक्ति-कालीन अप्रस्तुत-योजना का चित्रमय रूप छायावादी काव्य में फिर से व्यक्त हुआ। बादल, बिजली, इन्द्रधनुष, पंकज, मधुप, खंजन, सागर, चांद, सरोवर, छायावादी कवियों की प्रगीतात्मक दृष्टि में पूर्ण चित्रमयता के साथ फिर सजीव हो उठे।

## कृष्ण-भक्त कवियों की अप्रस्तुत-योजना : एक सर्वेक्षण

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने अप्रस्तुत-योजना का प्रयोग भावों के उत्कर्ष तथा वस्तुओं के रूपानुभव, गुणानुभव और क्रियानुभव को तीव्र करने के उद्देश्य से किया है और अपने प्रयास में पूर्ण सफल रहे हैं। सूरदास की अप्रस्तुत योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके अप्रस्तुतों में प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, उदासी, अवसाद और खिन्नता के भाव जगाने की सामर्थ्य होती है। प्रचंडता, भीषणता और उग्रता का माधुर्य-भक्ति में कोई स्थान नहीं था, अतएव इन भावों के व्यंजक उपमान प्रायः नहीं प्रयुक्त हुए हैं। उनके उपमानों की संख्या सीमित है, पर प्रयोग-वैविध्य द्वारा उन्होंने एक ही अप्रस्तुत को विभिन्न प्रस्तुतों के साथ सम्बद्ध किया है। उनकी सृजनात्मक कल्पना में प्रसंग के अनुरूप अप्रस्तुतों की आत्मा में परिवर्तन कर देने की शक्ति है। सादृश्य-विधान में सभी प्रकार के साम्य-विधानों का प्रयोग उन्होंने किया है। रूप-साम्य, धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य, काल्पनिक साम्य-विधानों में व्यंजना और लक्षणा के संस्पर्श से प्राण-प्रतिष्ठा हो गई है। अतिशयोक्तियों के स्वाभाविक और सहज-प्रयोगों में उनकी रस-सिद्ध दृष्टि का परिचय मिलता है। सूर की अतिशयोक्तिमूलक अप्रस्तुत-योजनायें प्रायः सर्वत्र ही भाव की उद्दीप्ति के लिये की गई हैं। अतिशयोक्ति सहजोक्ति बन कर निःसृत हुई है।

---

१. उद्धवशतक पृष्ठ १००—जगन्नाथदास रत्नाकर

विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना उन स्थलों पर की गई है जहां उक्ति-वैचित्र्य का विधान अभीष्ट था।

नन्ददासजी की अप्रस्तुत-योजनाओं में सजग सौन्दर्य-बोध प्रधान है। उनकी अप्रस्तुत-योजना का मुख्य ध्येय है चित्रांकन। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने प्रकृति और मानवीय चेतना में साम्य की स्थापना द्वारा प्रकृति को जड़ से चेतन बना दिया है। उनके उपमानों में सन्निहित लक्षणा के कारण ही ये चित्र सजीव हो सके हैं। लाक्षणिक उपमानों के प्रयोग द्वारा उनकी अप्रस्तुत-योजनाओं में सौन्दर्य और अनुभूति का अनुपम सम्मिश्रण हुआ है, इस दृष्टि से नन्ददास सूरदास से अधिक प्रवीण सिद्ध होते हैं। सूरदास की रचनाओं में कवि की संवेदना अधिक है, चित्र-कल्पना कम; नन्ददास में संवेदना और चित्रात्मकता का सफल गुम्फन है। अनेक स्थलों पर चित्र प्रधान हो गया है और भाव उनमें ध्वनित या संकेतित है। दोनों के इस संश्लिष्ट विन्यास को देखकर उनके लिये 'जड़िया' विशेषण बहुत ही उपयुक्त जान पड़ता है। नन्ददास द्वारा प्रयुक्त उपमान प्रायः वही हैं जिनका प्रयोग सूरदास ने किया है परन्तु इनमें सजीवता अपेक्षाकृत अधिक है। विरोध और अतिशयोक्तिमूलक अलंकारों के प्रयोग में भी चित्र-कल्पना के तत्व ही प्रधान हैं। इस क्षेत्र में नन्ददास को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है।

परमानन्ददास की रचनाओं में अप्रस्तुत-योजना रस-सृष्टि के सहायक तत्व के रूप में ही प्रयुक्त हुई है। अनुभूति-व्यंजना में कहीं-कहीं बड़ी ही मार्मिक अप्रस्तुत-योजनायें बन पड़ी हैं। परमानन्द-सागर में ऐसे स्थान बहुत कम हैं जहां सूर और नन्ददास की भांति कवि ने उत्प्रेक्षाओं अथवा उपमाओं की झड़ी लगा दी हो—उनमें नन्ददास की सी जागरूक कला-चेतना का अभाव है। अधिकतर उन्होंने परम्परागत उपमानों पर आधृत साम्यमूलक अप्रस्तुत-योजनायें ही की हैं जो भावों के उत्कर्ष में सहायक बन पड़ी हैं।

कुम्भनदास, कृष्णदास तथा चतुर्भुजदासजी की अप्रस्तुत-योजना का रूप अधिकतर परम्परागत है। उनमें रूढ़ियों का पिष्ट-पेषण हुआ है परन्तु भावों के उत्कर्ष में वे सहायक बन पड़ी हैं। एकाध स्थल पर कुम्भनदासजी ने प्रतीक-योजना भी की है जिसके द्वारा प्रतिपाद्य के अनुरूप अभिव्यंजना का निर्माण हो सका है। इन सभी कवियों की अप्रस्तुत-योजना में एकरूपता है। आलम्बन तथा साधना के पूर्व-निर्धारित रूप के कारण उनकी कल्पना को एक विशेष परिधि में ही रहना पड़ा है।

छीत स्वामी के अप्रस्तुत-विधानों की संख्या इनी-गिनी और उनका रूप परम्परागत है। सिद्धान्तों की व्याख्या के लिये कहीं-कहीं उन्होंने अप्रस्तुत-योजना का सहारा लिया है, और अधिकतर सादृश्य-विधान ही किया है जो केवल बाह्य आधार पर ही टिके हैं। उनकी योजनाओं में चित्रकल्पना और भाव-तत्व का उचित समन्वय नहीं हो पाया है। यद्यपि सर्वत्र ही सजीवता का अभाव नहीं मिलता; परन्तु उनमें आलंकारिक विधान का यान्त्रिक निर्वाह ही अधिक है, सौन्दर्य-बोध या भाव-तत्व कम।

गोविन्द स्वामी की दृष्टि छीत स्वामी की अपेक्षा व्यापक है। उन्होंने एक ही उपमान का प्रयोग कई उपमेयों के लिये किया है। चित्रण और अनुभूति दोनों की व्यंजना करने में

उनकी अप्रस्तुत-योजनायें समर्थ रही हैं। नन्ददास की अप्रस्तुत-योजनाओं के समकक्ष उन्हें निस्संकोच रखा जा सकता है। परम्परागत उपमानों के प्रयोग में उन्होंने नूतन कल्पना के स्पर्श दिये हैं। उन्होंने भी केवल सादृश्य-विधानों की संयोजना ही की हैं।

मीराबाई की अप्रस्तुत-योजनाओं का उद्देश्य स्पष्टतः ही भावोत्कर्ष है। उनके काव्य में कला-साधना नहीं है—'गिरधर नागर' के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति करते हुए कुछ अलंकारों का विधान स्वतः ही उनकी रचनाओं में हो गया है जो विरहानुभूतियों की अभिव्यक्ति में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। उनकी अतिशयोक्तियों में भाव-तत्व इतना प्रबल है कि उनमें अत्युक्ति-जन्य उपहास नहीं आने पाया है।

महत्व की दृष्टि से राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवि ध्रुवदास का नाम नन्ददास और सूरदास के बाद लिया जा सकता है। उनका अप्रस्तुत-विधान भावोत्कर्ष तथा चित्रांकन के उद्देश्यों से किया गया है। अनेक सैद्धान्तिक व्याख्यायें भी अप्रस्तुत-विधान के द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। उन्होंने अमूर्त भावनाओं का मूर्तीकरण किया है तथा लाक्षणिक उपमानों के प्रयोग में उनकी सूक्ष्म कल्पना का परिचय मिलता है। अधिकतर कवियों ने मूर्त उपमानों का ही प्रयोग किया है परन्तु ध्रुवदास के अप्रस्तुत-विधान में मूर्त के लिये अमूर्त उपमानों का विधान प्रचुरता के साथ हुआ है। परम्परागत उपमानों में उन्होंने नूतन स्पर्श दिये हैं। चित्रांकन की दृष्टि से उनके कुछ अप्रस्तुत-विधान नन्ददास के अप्रस्तुत-विधानों की तुलना में रखे जा सकते हैं। मानवीकरण, मूर्त के अमूर्त विधान तथा अमूर्त के मूर्त विधान भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं जिनके द्वारा उनकी प्रौढ़ अभिव्यंजना-शक्ति की प्रतिष्ठा होती है। उनकी अतिशयोक्तियों में चमत्कार-तत्व गौण है; तीव्र प्रभावात्मकता ही उनका गुण है। पूर्व मध्य-कालीन कृष्ण-भक्त कवियों की अप्रस्तुत-योजना का मुख्य योग भावोत्कर्ष तथा चित्रांकन के क्षेत्र में रहा है। औचित्य और संतुलन उनका प्रधान गुण है। कवियों के अप्रस्तुत-विधान की सबसे बड़ी परिसीमा है उपमान-चयन का सीमित क्षेत्र। उनके अलंकरण तथा सज्जा के उपकरण अत्यन्त सीमित हैं, एक ही उपमान को सुविधा के अनुसार विभिन्न स्थानों पर फिट कर दिया गया है। रस-तत्व की विद्यमानता के कारण उनमें विकृति नहीं आने पाई है परन्तु एकरूपता का दोष उनमें सर्वत्र विद्यमान है।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की अप्रस्तुत-योजना में भी पूर्वकालीन विशेषतायें चलती रहीं; अन्तर केवल यह आ गया कि इस काल में कवियों के अप्रस्तुत-विधान में चमत्कार-तत्व का प्राधान्य हो गया। इसके अतिरिक्त सहचरिशरण और नागरीदास जैसे कवियों की रचनाओं में यवन-संस्कृति और वातावरण का प्रभाव मिलता है। नागरीदास द्वारा प्रयुक्त लाक्षणिक उपमानों तथा अमूर्त भावनाओं के मूर्तीकरण में कुशल कलाकार के दर्शन होते हैं, उनमें चित्र कल्पना-प्रधान है। वृन्दावनदास में सूक्ष्म दृष्टि का अभाव है। उनकी अप्रस्तुत-योजनायें साधारण कोटि की हैं। घनानन्दजी रूपक-निर्वाह और विरोधमूलक अप्रस्तुत-विधान में दक्ष थे, उनके अलंकारों में चमत्कार और भाव-व्यंजना का अपूर्व संयोग हुआ है। अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करके उन पर विरोधी गुणों और प्रभाव का आरोपण किया गया है। इन स्थलों पर वाक्-चातुरी और चमत्कार ही प्रधान है। रूपकों के क्षेत्र में भी

वैचित्र्य तत्व ही अधिक है—वास्तव में अप्रस्तुत-योजना की दृष्टि से भी घनानन्द अन्य कृष्ण-
भक्त कवियों की परम्परा से बिल्कुल पृथक् पड़ते हैं; उनकी रचनाओं में रीतिकाल की प्रधान
काव्य-प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। व्रजवासीदास ने सूरसागर में प्रयुक्त अप्रस्तुत-योजनाओं की
ही आवृत्ति की है। भगवतरसिकजी की अप्रस्तुत-योजना अधिकतर व्याख्यात्मक है।

भारतेन्दुजी की अप्रस्तुत-योजना में भक्तों की ऋजु-चित्रमयता और रीतिकालीन
कवियों की चमत्कार-दृष्टि का संगम हुआ है, उनका रूप अधिकतर परम्परागत है। रत्नाकर
की अप्रस्तुत-योजना में भावमय चित्रमयता के स्थान पर बुद्धिजन्य चमत्कार और वैदग्ध्य
अधिक है उनकी दृष्टि विश्लेपणात्मक है। पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों के उपमान-
संकलन का क्षेत्र सीमित होते हुए भी सार्वभौम और व्यापक है, रत्नाकरजी ने जीवन के उन
क्षेत्रों से उपमान संकलित किये हैं जो सार्वभौमता की दृष्टि से अप्रचलित हैं। शृंगारिक
कार्यव्यापारों का भी प्रकृति पर आरोपण उन्होंने किया है, उनकी विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना
में घनानन्द की चमत्कारवादी दृष्टि का प्रभाव दिखाई देता है तथा उनकी अतिशयोक्तियों में
मीरा और सूर की अतिशयोक्तियों के समान भाव-उत्कर्ष की सामर्थ्य नहीं है।

## कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त उपमान

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने उपमानों का संकलन प्रकृति के व्यापक क्षेत्र
से किया है पर उनका रूप अधिकतर परम्परागत है। संस्कृत के आचार्यों ने नख-शिख के
प्रत्येक अंग के पृथक्-पृथक् उपमान निश्चित कर दिये हैं।

नेत्र : शास्त्रीय परम्परा के अनुसार नेत्रों के मुख्य उपमान हैं मृग, मृगनेत्र, कमल,
कमलपत्र, मत्स्य, खंजन, चकोर, भ्रमर, कामवाण। पूर्व-मध्यकालीन कवियों ने इन्हीं उपमानों
का प्रयोग बार-बार किया है। इनकी कल्पना के मूल में आँखों के रूप और व्यापार हैं।
इनके प्रयोग में केवल रूप-साम्य का आधार बहुत कम ग्रहण किया गया है; प्रभाव-साम्य
और धर्म-साम्य का ही प्राचुर्य है। रीतिकालीन कवियों ने फारसी के रूढ़ उपमानों का प्रयोग
भी किया है; नरगिस, बादाम, बन्दूक, कटारी, बर्छी, भाला इत्यादि नेत्रों के उपमान रूप में
प्रयुक्त हुए हैं। आधुनिक कालीन कवियों ने पूर्व-मध्यकालीन कवियों की परम्परा को ग्रहण
किया है।

स्तन : स्तनों के लिये रूढ़ उपमान हैं पूगफल, कमल, ताल, गुच्छ, हाथी का
कुम्भ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, आदि-आदि। इन्हीं गिने-गिनाये उपमानों को कृष्ण-
भक्त कवियों ने ग्रहण किया है। 'कंचन-कलश' उनका प्रिय उपमान है। रीतिकाल में
भगवतरसिकजी ने उसे 'गडुवा' बना दिया है।

मुख : इन कवियों ने स्त्री और पुरुष दोनों के ही मुख के लिये एक ही प्रकार के
उपमान ग्रहण किये हैं। मुख के लिये प्रयुक्त प्रधान उपमान हैं चन्द्र और कमल।

केश : केशों के उपमानों की तालिका अलंकार शेखर के अनुसार इस प्रकार है :
तम, शैवाल, मेघ, बर्हि, भ्रमर, चामर, यमुना-वीचि, नीलमणि, नील कमल, आकाश।
परम्परागत रूप में वेणी के उपमान-रूप में सर्प तथा नागिन का प्रयोग किया जाता है।

कृष्ण-भक्त कवियों ने शिशु कृष्ण के मुक्त केशों की कल्पना भी सर्प-शावकों के रूप में की है। इन्हीं परम्परागत उपमानों में से उन्होंने अपने प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत का संकलन किया है। इन्हीं उपमानों को यथा-अवसर विभिन्न उपमेयों पर आरोपित किया गया है।

प्रकृति से गृहीत उपमानों के द्वारा चित्रों में रंग भी भरा गया है। जलद, जलज, दामिनी, बक-पंक्ति, कपोत, शुक, कुमुदिनी, दिवाकर, गंगा, जमुना, सरस्वती, इन्द्रधनुष, नक्षत्र, चन्द्र, कनक-लता, तमाल, लता, पुन्न पल्लव, बन्धूक, कुंदकली, नव किसलय इन सब उपमानों द्वारा चित्र में रंगों का समावेश किया गया है। आलोक और वर्णों के संकेत के लिये मुक्ता, रत्नों और नक्षत्रों के रंगों की योजना भी की गई है।

अप्रस्तुत-योजना में रंगों का समावेश उनके वर्णन द्वारा नहीं किया जाता, उपमानों में निहित वर्णों में ही उपमेय के वर्ण का संकेत प्राप्त होता है। कृष्ण-भक्त कवियों के उपमान-चयन में रंगों का कुशल चुनाव हुआ है।

साधारण जीवन से गृहीत उपमानों की संख्या बहुत कम है—चक्की का पाट, जहाज का पंछी, लगाम, शतरंज, चौपड़, दरबारी वातावरण, वाणिज्य, हिंडोल, पनारे, पतंग, कूप, कुलाल, चाक, शिकारी, रण, इत्यादि साधारण जीवन से गृहीत वे इने-गिने उपमान हैं जिनका संकलन कृष्ण-भक्त कवियों ने अधिकतर व्याख्या के उद्देश्य से किया है। साधारण जीवन से गृहीत उपमानों का प्रयोग रूप की कोमलता तथा तरलता की अभिव्यक्ति अथवा भावोत्कर्ष के उद्देश्य से नहीं हुआ है; उनका उद्देश्य अधिकतर व्याख्या करना ही रहा है।

इसके अतिरिक्त लावण्य, चपलता, अनुराग, छवि, शृंगार, शोभा जैसे अमूर्त तत्वों को भी उपमानों के रूप में ग्रहण किया गया है। ज्योतिष शास्त्र तथा आयुर्वेद के क्षेत्रों से उपमान-ग्रहण में सार्वभौमता का अभाव हो गया है।

ध्रुवदास और रत्नाकर ने आयुर्वेद के सिद्धान्तों तथा औषधियों का प्रयोग किया है। भारतेन्दुजी ने ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर अनेक राशियों तथा संक्रान्ति का उपमान रूप में प्रयोग किया है—इनका रूप पुस्तकीय है और इनमें चमत्कार-दृष्टि प्रधान है।

उपर्युक्त उपमानों की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णभक्त कवियों ने इस क्षेत्र में परम्परागत उपमानों का प्रयोग ही अधिकतर किया है। उनकी रचनाओं में सबसे अधिक संख्या प्रकृति से गृहीत उपमानों की है। उसके बाद पशु-पक्षी-जगत से संकलित उपमानों का स्थान आता है। उनमें परम्परा-जन्य एकरूपता और एकरसता तो है, परन्तु इन अप्रस्तुतों की एक प्रतीकात्मक स्थिति है जो कृष्ण-भक्त कवियों के आलम्बन के रूप तथा उनकी माधुर्य-भक्ति के दृष्टिकोण का प्रकाशन करती है। राधा-कृष्ण का एक मान्य रूप था; उन मान्यताओं के विपरीत रूप-चित्रण कवि के लिए दोष बन जाता, जैसा कि लक्षित बिम्ब-योजना के क्षेत्र में हुआ है।

अप्रस्तुत-विधान के क्षेत्र में पुनरावृत्ति का दोष विभिन्न कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों के कवियों में मिलता है। उनकी आधारभूत विचारधारा और भक्ति-भावना के अन्तर का उनकी अप्रस्तुत-योजना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके दो कारण हैं; प्रथम, उपास्य के लीला-प्रधान रूप तथा माधुर्य-भक्ति को सब सम्प्रदायों में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। उनका

केन्द्र एक ही है, केवल उनके दृष्टिकोण में अन्तर है; द्वितीय कारण यह है कि तत्कालीन कवियों में कुछ अपवादों को छोड़कर नूतन तथा मौलिक उद्भावनाओं की सामर्थ्य नहीं थी। वल्लभ-सम्प्रदाय के सूरदास, नन्ददास, राधावल्लभ-सम्प्रदाय के ध्रुवदास, निम्बार्क-सम्प्रदाय के नागरीदास इत्यादि ने जिस परम्परा को ग्रहण किया उसमें अपनी प्रतिभा से मौलिकता का संस्पर्श दिया। अन्य कवि उनका अनुकरण और अनुसरण मात्र करते रहे। संस्कृत-शास्त्र का आधार ही इन कवियों ने ग्रहण किया, इसलिये उपमान-संकलन रूढ़ और सीमित अवश्य हो गया है, परन्तु उनमें दृष्टि-विस्तार का अभाव नहीं हैं। अपने संयोजना-कौशल से उन्होंने इन सीमित उपमानों को अनेक उपमेयों के लिए प्रयुक्त करके विविध चित्रों का निर्माण किया है तथा माधुर्य भाव के उत्कर्ष में योग दिया है।

आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित दोनों ही निकषों पर इन कवियों की अप्रस्तुत-योजना खरी उतरती है। भावोत्कर्ष के क्षेत्र में गोपियों की एकनिष्ठ भावनाओं की तीव्रता और तन्मयता उनके माध्यम से अमर हो गई है तथा कृष्ण और उनकी लीलाओं के रूपानुभव, गुणानुभव और क्रियानुभव को तीव्र करने में उनका महत्वपूर्ण योग रहा है।

कृष्ण-भक्त कवियों की अप्रस्तुत-योजना में माधुर्य-भक्ति जैसे कोमल प्रतिपाद्य के अनुकूल मधुर प्रभाव-व्यंजकता, प्रफुल्ल सजीवता और चित्रोपमता है। अप्रस्तुत-योजना की चित्रमयता के कारण उनके काव्य को वास्तविक अर्थों में 'कल्पना तथा अनुभूति की भाषा' कहा जा सकता है।

षष्ठ अध्याय

# कृष्ण-भक्ति-काव्य में संगीत-योजना तथा छन्द

## काव्य तथा संगीत का सम्बन्ध

काव्य तथा संगीत का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिये कविता चित्र-विधा की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिये वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। ताल-पत्र, भोज-पत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत-सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाये बिना ही प्रसन्नचित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिये कुछ न कुछ आवश्यक होता है।[1]

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने कविता और संगीत के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का विवेचन किया है। जैसे एडगर एलेन पो का मत है कि संगीत जब आनन्ददायक विचारों से युक्त होता है तो उसे कविता कहते हैं।[2]

टामस कारलाइल ने काव्य में छन्दों की सार्थकता पर विचार करते हुए कविता को संगीतमय विचार कहा है।[3]

## काव्य में संगीत के तत्व

काव्य में संगीत के तत्वों का समावेश दो रूपों में होता है: (१) आन्तरिक संगीत के रूप में, (२) वाह्य संगीत के रूप में।

---

१. चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ १०६—आ० रामचन्द्र शुक्ल

2. Music when combined with a pleasurable idea is poetry. An anthology of Critical statements—P. 69 —Amar Nath Jha.

3. "For my own part, I find considerable meaning in the old vulgar distinction of poetry being metrical, having music in it, being a song. A musical thought is one spoken by a mind that has penetrated into the inmost heart of the thing; detected the inmost mystery of it". —T. Carlyle.
An Anthology of Critical Statements, P. 60—Amar Nath Jha.

## आन्तरिक संगीत

आन्तरिक संगीत के अन्तर्गत वर्ण-संगीत, शब्द-संगीत, लय और तुक इत्यादि तत्व आते हैं जो भावानुकूल भाषा के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण योग प्रदान करते हैं। काव्य के प्रतिपाद्य भाव तथा उनकी अभिव्यक्ति में प्रयुक्त शब्दों से उत्पन्न ध्वनि एक-दूसरे के पूरक होते हैं, उनका रूप पूर्णतः संश्लिष्ट होता है तथा शब्दों में निहित ध्वनियों के विशिष्ट तथा अनुकूल सामंजस्य से प्रतिपाद्य के अनुकूल भाषा का निर्माण होता है। आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिये बड़ी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता व बड़ी चतुराई की आवश्यकता होती है। रसायन सिद्ध करने में आंच के न्यूनाधिक होने से रस बिगड़ जाता है वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य रूपी रस भी बिगड़ जाता है। किसी-किसी स्थल-विशेष पर संयुक्ताक्षर वाले शब्द अच्छे लगते हैं परन्तु सर्वत्र ललित और मधुर शब्दों का प्रयोग करना ही उचित है। शब्द चुनने में अक्षर-मैत्री का विशेष विचार रखना चाहिये।'[1]

गीतों में आन्तरिक संगीत की अनिवार्यता का विवेचन करते समय डा० दीनदयालु गुप्त ने जो मत प्रकट किया है वह भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—"गायक कवि को अपने पदों को विशेष राग, विशेष स्वरों से मंडित करके उन्हें ताल में बांधना होता है, ताल-बद्ध रूप प्रदान करना होता है अतः संगीत के कलात्मक-पक्ष के आग्रह के कारण शब्दों में लोच लाना तथा परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है। स्वरों का स्थूल स्वरूप, स्वर-संगीत, मुक्त स्वरों का निरूपण तथा उसकी स्थापना, किसी निश्चित स्वर से गीत के वाक्य का आरम्भ करके उसे रागात्मक वाक्य का रूप प्रदान करना तथा इस प्रकार गीत के वाक्य को संगीतात्मक वाक्य का रूप प्रदान करते हुए एक-एक भावात्मक कल्पना को पूरा करते जाना, ताल के आघात के साथ गीत के वाक्यों का सौष्ठव बैठाना तथा रागात्मक लम्बाई का ध्यान रखना, संगीत की इन कलात्मक विशेषताओं पर ध्यान रखने के कारण भ्रमर का भँवरा, माह का महियां आदि विभिन्न उच्चारण बन जाना स्वाभाविक है।"[2]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी काव्य और संगीत के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का विवेचन किया है। "काव्य शब्दों के एक विशेष आरोह-अवरोह, संगति-संक्रम का सम्बद्ध तारतम्य है। शब्द एक ओर जहाँ अर्थ की भावभूमि पर पाठक को ले जाते हैं वहाँ नाद के द्वारा अरूपमूर्त विधान भी करते हैं। काव्य-कला का आधार भाषा है जो नाद का ही विकसित रूप है, अस्तु; काव्य और संगीत दोनों के आस्वादन का माध्यम एक ही है। केवल अन्तर इतना है कि एक का आधार नाद का स्वर व्यंजनात्मक स्वरूप है दूसरे का आधार नाद का आरोह और अवरोह है।"[3]

काव्य और संगीत दोनों स्थिर रूप में एक ही बार नहीं ग्रहण किये जा सकते।

---

१. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ ६—महावीरप्रसाद द्विवेदी

२. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग २, पृष्ठ ८८१—डा० दीनदयालु गुप्त

३. साहित्य का मर्म, पृ० ११—हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रत्येक पंक्ति के साथ कविता का और स्वर के प्रत्येक आरोह तथा अवरोह के साथ संगीत का प्रभाव आगे बढ़ता है—"चित्र को हम एक ओर से दूसरी ओर दाएं से बाएं जिस प्रकार चाहें देखकर समान आनन्द प्राप्त कर सकते हैं; पर कविता और संगीत में गति आगे की ओर बढ़ती है। इसमें पीछे से आगे और आगे से पीछे बढ़कर एक-सा आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते।"[1]

## बाह्य संगीत

काव्य में बाह्य संगीत के तत्वों का प्रयोग तभी होता है जब कवि संगीतज्ञ भी होता है और संगीत-तत्वों का समावेश वह जागरूक होकर करता है। साधारण रूप में इसके समावेश के पांच मुख्य रूप होते हैं—

१. काव्य में संगीत के अनुकूल लय की योजना
२. काव्य में संगीत-शैलियों का प्रयोग
३. काव्य में राग-रागिनियों, नृत्य-रूपों तथा तालों का प्रयोग,
४. काव्य में संगीत की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग
५. छंद-विधान

प्रथम चार तत्वों का सम्बन्ध निश्चित रूप से बाह्य संगीत से है। छन्द-विधान के द्वारा जहां एक ओर काव्य में आन्तरिक संगीत का समावेश किया जाता है, दूसरी ओर उसके द्वारा ताल और राग से सामंजस्य बैठाने में भी सहायता मिलती है। छन्द और संगीत के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का विवेचन, छन्द-प्रकरण के अन्तर्गत आगामी पृष्ठों में किया जायगा।

## कृष्ण-भक्ति काव्य में नाद-मार्ग का महत्व

"भक्ति-मार्ग के अन्तर्गत नाद-मार्ग का अनुसरण भगवान के नाम, गुण और लीला के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा किया जाता है, जिससे चित्त की एकाग्रता उस अखण्ड अमृत-नाद का आस्वादन कराती है। कृष्ण-भक्तों की शासित श्रवण-शक्ति श्रीकृष्ण के शब्द-ब्रह्ममय मुरली-नाद को सुनने का प्रयत्न करती है। संसार में जिस शब्द अथवा नाद या नाम में भक्त को रसात्मकता की प्रतीति होती है वह उसीको भगवान के नाद-रूप की ओर प्रेरित करने वाला समझता है। इस नाते से वह रसात्मक शब्द से अनुराग करता है। इसी सिद्धान्त को लेकर भक्ति के आचार्यों ने अपनी भक्ति-पद्धति में नाद-सौन्दर्यपूर्ण संगीत को भक्ति के अन्तर्गत एक साधन माना है। कृष्ण के नाम-गुणादि का श्रवण, कीर्तन तथा उनके मुरली-नाद का संसार के नादों के बीच ध्यान ही शब्द-योगियों के अनहद नाद-श्रवण मार्ग के अनुरूप भक्तों के नाद का रसीला मार्ग है।"[2]

नाद-मार्ग से परमात्म-शक्ति की प्राप्ति की मान्यता स्पष्ट रूप से संगीत द्वारा प्राप्त अलौकिक आनन्द की ओर संकेत करती है। संगीत की तन्मय स्थिति में चित्रित रूपमंजरी

---

१. साहित्य का मर्म, पृ० ११—हजारीप्रसाद द्विवेदी
२. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, पृ० ७६६—डा० दीनदयालु गुप्त

का यह रूप संगीत के अलौकिक आनन्द की स्थिति का परिचायक है—

राग के मग ह्वै पिय पै जाय कोऊ जाने यह वैठी गाय।[1]

नाद-मार्गीय भक्ति-पद्धति की इस स्वीकृति के कारण ही सभी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में संगीत-तत्व प्रभूत मात्रा तथा विभिन्न रूपों में विद्यमान है और इसी कारण अधिकतर कवियों ने पद-शैली में रचना की है। पद-शैली में यद्यपि छन्द के नियमित विधान का पूर्णतः अभाव नहीं रहता; परन्तु उसमें मात्रा अथवा यति-सम्बन्धी कोई विशिष्ट नियम ऐसे नहीं होते जो संगीत की लोचपूर्ण गति में परिवर्तित न किये जा सकें। इन कवियों की रचनाओं में संगीत-तत्व अनेक रूपों में समाविष्ट है।

## कृष्ण-भक्ति काव्य में संगीत के अनुकूल लय का प्रयोग

कुशल कवि काव्य में नाद-सौन्दर्य के समावेश के लिये लय का भी विवेकपूर्ण प्रयोग करता है। लय स्वर की एक गति होती है। जिस गति से स्वर चलते हैं उनको लय कहते हैं। यह लय कभी विलम्बित, कभी मध्य और कभी द्रुत होती है। संगीत का पूरा आनन्द लेने के लिये स्वर के साथ लय का भी ध्यान रखना चाहिये।[2]

छन्द ही के आधार पर कवि अपने भावों को काव्य का रूप देता है। छंद लय के आधार पर टिका हुआ नाद-विधान है। छंदों में इस प्रकार के नियम होते हैं कि वे स्वतः लय में उतरते आते हैं।

काव्य में इस उद्देश्य की प्राप्ति छन्दों के प्रयोग द्वारा होती है। प्रत्येक छंद की अलग-अलग गति होती है, अतः भिन्न-भिन्न भावों को प्रकट करने के लिये विभिन्न छंदों का प्रयोग किया जाता है। यही कारण है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने पद-शैली में रचना करते हुए भी विभिन्न छन्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। अनेक आलोचकों का यह मत है कि पदों में छंदों की भांति मात्रा, यति आदि के प्रयोग का कोई निश्चित नियम नहीं होता और कृष्ण-भक्त कवियों के पद आध्यात्मिक भावना से परिपूर्ण तथा संगीत-प्रधान होने के कारण प्रायः पिंगल और काव्य-शास्त्र के नियमों में बंधे छन्दों के रूप में प्रकट नहीं हुए। मेरे विचार से इन कवियों के सामने छन्द-विधान की एक निश्चित योजना पद-रचना के समय रहती थी। नंददास की अधिक रचनायें तो छन्दोबद्ध हैं ही; उनकी पदावली में भी भावानुकूल छन्द-विधान मिलता है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा और डा० मनमोहन गौतम ने अपनी कृतियों 'सूरदास' और 'सूर की काव्य-कला, में सूरदास की छंद-योजना की निश्चित रूप से स्थापना कर दी है। हां, इन छन्दों को गेय बनाने के लिये इन कवियों ने स्वतंत्रता का प्रयोग किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में लय-प्रयोग के दो रूप मिलते हैं। (१) शैली-निरपेक्ष भावानुकूल लय-योजना, (२) शैली-सापेक्ष लय-योजना। सूरदास, नन्ददास तथा परमानन्ददासजी की रचनाओं में भावानुकूल लय का प्रयोग किया गया है। कोमल और

१. नन्ददास ग्रन्थावली, रूपमंजरी, पृ० १४२—ब्रजरत्नदास
२. डा० जयदेवसिंह, सारंग, ७ दिसम्बर, १९५४, पृ० ४ (संगीत के सुनने की कला)

मधुर आह्लाद के प्रसंगों में अधिकतर मध्य लय का प्रयोग हुआ है। गतिपूर्ण और ओजपूर्ण स्थलों पर द्रुत लय प्रतिपाद्य की प्रभावात्मकता को द्विगुणित कर देती है, तो करुण और दुःखपूर्ण प्रसंगों में उसका विलम्बित रूप मार्मिकता के संवहन में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। मीरा के काव्य में भी लय-प्रयोग में यह भावानुकूलता उत्कृष्ट रूप में प्राप्त होती है। कतिपय कवियों के लय-प्रयोग के उदाहरण इस प्रसंग में अनुपयुक्त न होंगे। वात्सल्य और संयोग-शृंगार के पद अधिकतर मध्य लय में गाने के उपयुक्त हैं। सूरदास के वात्सल्य-सम्बन्धी निम्नलिखित पद का माधुर्य मध्य लय में नियोजित स्वरलिपि में ही अधिक निखरा है—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकत मानो मत्त मधुप गन मादक मधुहिं पिये।[1]

उपर्युक्त पद में लघु और दीर्घ मात्राओं के समन्वित और संतुलित प्रयोग में यह ध्यान रक्खा गया है कि मध्य लय की स्वर-योजना में शब्दों की खींचतान अधिक न करनी पड़े कि उनका रूप विकृत हो जाये। नन्ददास द्वारा रचित वात्सल्य और संयोग-शृंगार के पद भी मध्य लय के उपयुक्त हैं।

राग केदार

इहि काहू को ढोटा श्याम सलोने गात हैं।
आई हौं देखि खिरक ढिग ठाढ़ो न कछु कहन की बात है।
छवि के वल जीति गरब भरि मैन मनो इतरात है।
नख सिख रूप अनूप रूप छवि कवि पै बरन न जात है
नन्ददास चातक की चोंच पुट सब घन नाहिं समात है।[2]

राग धनाश्री

वेसर कौन की अति नीकी—
होड़ परी प्रीतम अरु प्यारी अपने अपने जी की।
न्याय परों ललिता के आगे कौन सरस को फीको।
नन्ददास प्रभु विलगि जनि मनो कछु इक सरसलली की।[3]

राग सारंग

नन्द जू के लालन की छवि आछी
पायं पैंजनी रुनझुन बाजत चलत पूंछ गहि आछी।

---

१. सूरसागर, पद ९६, स्कन्ध १०, पृ० २६५
२. नन्ददास-ग्रन्थावली—पृ० ३४१, पद ४५
३. ,, ,, ३४९ ,, ६६

अरुन अधर दधि मुख लपटानो तन राजत छोटे छाछो
परमानन्द प्रभु बालक लीला हँसि चितवत फिर पाछो ।[1]

उपर्युक्त पदों में संगीत-सौष्ठव मध्य लय में नियोजित स्वरलिपि में ही पूर्ण रूप से व्यक्त होता है। इन कवियों का ध्यान लय-योजना करते समय संगीत-शैली पर न होकर भाव पर केन्द्रित है। ध्रुपद-शैली में विलम्बित लय अनुकूल पड़ती है। धमार में मध्य अथवा द्रुत लय, इस दृष्टि को उन्होंने आगे सामने नहीं रखा है।

द्रुत-लय का प्रयोग मुख्य रूप से रासलीला और फाग के गीतों में हुआ है। नन्ददास की निम्नोक्त पद-योजना में दीर्घ पंक्तियों के प्रयोग में ध्रुपद-शैली का सा आभास मिलता है, परन्तु रास-प्रसंग की सजीवता उसमें नियोजित शब्दों की द्रुत गति पर ही आधृत है—

रास में रसिक दोऊ आनन्द भरि नाचत
ततथ्रिग थिता ततथेइ ततथेइ गति बोलै।
अंग-अंग विविध किये लाल काछनी कटि सुदेस
कुंडल-झलकत कपोल लोल मुकुट डोलै।
जुवति जूथ नृत्य करत स्याम ग्रीव भुजा धरे
स्यामहि पीत रसना राग तोलै।
नंददास पिय प्यारी की छवि पर त्रिभुवन की
सोभा करौं बिन मोलो।[2]

सूरदास के धमार गीतों की शब्द-योजना द्रुत-लय के बहुत अनुकूल है। राग काफी में बंध कर द्रुत-लय के प्रयोग द्वारा इस गीत की सजीवता द्विगुणित हो जाती है। होली के सामूहिक उल्लास की अभिव्यक्ति में सबसे अधिक सहायक इस पद-रचना में निहित लय की द्रुतता ही है—

राग काफी
खेलत हैं अति रसमसे रंगभीने हो।
अति रस केलि-विलास लाल रंगभीने हो
जागत सब निसि गत भई लाल रंगभीने हो
आये जु आये प्रात, लाल रंगभीने हो।[3]

मीराबाई के पदों में भी कविता की लय के साथ सांगीतिक लय के सामंजस्य-स्थापन की जागरूक चेष्टा मिलती है। संयोग के क्षणों में कृष्ण के अनुराग से सिक्त होकर अपनी उमंग और उल्लास की अभिव्यक्ति उन्होंने छोटे-छोटे चरणों से युक्त द्रुत-लय में बांधे जाने के उपयुक्त योजना द्वारा की है—

---

१. परमानन्द-सागर, पद ८६, पृ० २६
२. नन्ददास-ग्रन्थावली, पद १२६, पृ० ३६६
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० १२१३, पद २८६२

रंगभरी राग भरी राग सूं भरी री
होरी खेल्यां श्याम संग रंग सूं भरी री
उड़त गुलाल लाल बादल भयो री
पिचका उड़ावां रंग रंग री झरी री ।[1]

परमानन्ददास जी द्वारा रचित काफी राग में बंधी होली सम्बन्धी गाली द्रुत लय में गाने की दृष्टि से ही लिखी गई है—

तुम आवो री तुम आवो
मोहन जू को गारी सुनावो
हरि कारो री हरि कारो
यह द्वै बापन बिच बारो
हरि मधुकर जी हरि मधुकर
रस चाखत डोलत घर घर—[2]

विलम्बित लय का प्रयोग इन कवियों ने अधिकतर उन स्थलों पर किया है जहां भावनायें वेदनासिक्त हैं। ऐसे स्थलों पर गीत में दीर्घवर्णों का बाहुल्य है, उसकी पंक्तियां बड़ी हैं और वेदना का भार विलम्बित लय में इस प्रकार झिलता है मानों पीड़ा की कसक व्यक्त करने में कवि-संगीतज्ञ कराह-कराह उठते हैं। इस प्रसंग में सबसे महत्वपूर्ण नाम है मीराबाई का। निम्नलिखित पद विलम्बित लय में होली की लोकगीत-शैली में बड़ी आसानी से बांधा जा सकता है। गुरु वर्णों का बाहुल्य विलम्बित लय की योजना में सहायक होता है—

होरी पिया बिन लागो री खारी
सूणों गांव देश सब सूणों सूणी सेज अटारी
सूणी बिरहण पिव बिन डोले तज गयो पीव पियारी
बिरहा दुख भारी
देस बिदेशा मा जावां म्हारो आणेशा भारी।
गणता गणता घिस गई रेखा आंगुरिया की सारी
आया ना री मुरारी—
बाज्यो झांझ मृदंग मुरलिया बाज्यां कर इकतारी
आयो बसंत पिया घर आरी म्हारी पीड़ा भारी
स्याम मण काहे बिसारी ।[3]

नन्ददास द्वारा रचित खंडिता तथा विरहिणी-प्रसंग के पदों में भी यह गुण विद्यमान है। मालकोस राग और विलम्बित लय में इस पद का प्रभाव द्विगुणित हो जाता है—

---

१. मीराबाई की पदावली, पृ० १४३, पद १४६—परशुराम चतुर्वेदी
२. परमानन्द-सागर, पद ३३५, पृ० १२३
३. मीराबाई की पदावली, पृ० १२२, पद ७९

राग मालकोस

जानन लागे री लालन मिलि बिछुरन की वेदन,
नेह कनौड़े की रूप-माधुरी, श्रंग श्रंग
लागी री सरस हियें वेदन
नंददास प्रभु रसिक मुकुट मनि, कर पै कपोल धरे,
ररकत ठरकत री तिलक मृग मेदन[1]

सूरदास के विप्रलम्भ-सम्बन्धी पद अधिकतर मध्य लय में हैं। भ्रमरगीत के पदों में विलम्बित लय के उपयुक्त मन्थर गति का अभाव है। उसका कारण यह है कि उनकी गोपियों की व्यथा और विषाद में आशा और प्रेमजन्य उल्लास है, अनुभूति-जन्य स्फूर्ति है; जहां विषाद प्रधान है वहां कविता की गति मन्थर है—

राग विहागरो

ऊधो जबहिं जाव गोकुल मनि आगे पैयां लागन कहियो।
अब मोहिं विपद परी दर्सन बिनु सहि न सकत तन दारुन दहियो।
सरद चंद मोहि बैरि महा भयौ, अनिल सहि न परै किहि विधि रहियो।
सूर स्याम बिनु गृह बन सूनो, बिन मोहन काको मुख चहियो।[2]

परमानन्ददास के पद मध्य लय की अपेक्षा विलम्बित लय में गाने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। लय-योजना सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण में भावानुरूपता सूरदास, नन्ददास और मीरा के समान नहीं है। उल्लासपूर्ण और स्निग्ध अवसरों पर भी ध्रुवपद के अनुकूल दीर्घ वर्णों और चरणों का प्रयोग किया गया है। मध्य लय के स्वर-विन्यास में जिनका प्रभाव अत्यन्त साधारण बन पड़ेगा, विलम्बित लय में वे अधिक मार्मिक प्रभाव डाल सकेंगे—

राग गोरी

जा दिन कन्हैया मोसो मैया कहि बोलैगो
ता दिन अति आनन्द गिनो री माई रुनक-झुनक ब्रज
गलिन में डोलैगो।

प्रात ही खिरक माय दुहिबे को धाइ बंधन बछरवा के खोलैगो
परमानन्द प्रभु नवल कुंवर मेरो ग्वालिन के संग बन में किलोलैगो।[3]

## संगीत-शैली सापेक्ष लय-प्रयोग

कृष्ण-भक्त कवियों ने अधिकतर ध्रुवपद तथा कहीं-कहीं धमार-शैली का प्रयोग

---

१. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृ० ३५६, पद १०६
२. सूरसागर, ना० प्र० सभा, दशम स्कन्ध, पृ० १४५, पद ३७०
३. परमानन्दसागर, पद ६८, पृ० २४—सं० गो० ना० शुक्ल

लिया है। उनकी तीसरी शैली है भजन-कीर्तन की जो सामूहिक प्रयोग की अपेक्षा गीत-शैली के अधिक निकट है। उपर्युक्त तीन कवियों के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य सब कवियों ने लय की योजना शैली को ध्यान में रख कर की है। ये सब कवि संगीत तथा संगीत-शास्त्र के ज्ञाता थे। ध्रुवपद तत्कालीन संगीत की सर्वप्रधान शैली थी, गोविन्दस्वामी, कुम्भनदास और चतुर्भुजदास इत्यादि की रचनाओं में पद-विधान अधिकांश में इसी ढंग का है। अतः ध्रुवपद शैली के अधिक अनुकूल है। रास-लीला तथा संयोग शृंगार के प्रसंगों में भी दीर्घ वर्णों से युक्त दीर्घ चरणों का प्रयोग हुआ है। संगीत में भावानुकूलता का निर्वाह इन कवियों ने समयानुकूल तथा विषयानुकूल रागों के चयन द्वारा किया है। लय इनकी अधिकतर विलम्बित है तथा शैली ध्रुवपद की। वसन्त के उल्लास और विरह की व्यथा दोनों के व्यक्तीकरण में लय-योजना प्रायः एक ही प्रकार की रही है—

वसन्त

खेलत बन सरस बसंत लाल कोकिल कूजत अति रसाल।
जमुना तट फूले तमाल, केतकी कुंद नौतन प्रवाल।
तहाँ बाजत बेनु मृदंग ताल, बिच बिच मुरली अति रसाल।
नव बसंत साजि आईं ब्रज की बाल साजें भूषन बसन अंग तिलक भाल।
चोवा चन्दन अबीर गुलाल छिरकत हैं पिय मदन गोपाल।
आलिंगन चुम्बन देत गाल पहिरावत उर फूलनि की माल।[1]

इस उल्लास के विपरीत वर्षा द्वारा उद्दीप्त विरहिणी की भावनाओं के व्यक्तीकरण में भी विलम्बित लय के उपयुक्त लय-योजना की गई है—

आये माई बरिखा के अगिवानी।
दादुर मोर पपीहा बोलत कुंजनि सुनिये बग-पंगति उड़ानी।
घन की गरज सुनि के कैसे जीऊं माई कारे बादर देखि सयानी।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धन धर, लाल भये सुख-दानी।[2]

अन्य कवियों की रचनाओं में भी विलम्बित लय का ही प्रयोग अधिक मिलता है। सबके उद्धरण प्रस्तुत करने में अनावश्यक पिष्टपेषण होगा। इनकी पदावलियों के पाद-टिप्पणी के अन्तर्गत निर्देशित पद इस कथन के प्रमाण-रूप में लिये जा सकते हैं।[3]

साधारणतः किसी गीत को गाने-योग्य बनाने के लिए उसके शब्दों में कुछ तोड़ातानी की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु इन कवियों के पदों में लय की सुष्ठु योजना द्वारा गीत को

---

१. कुम्भनदास, वि० वि० का०, पृ० ३५, पद ७३
२. ,, , ,, पृ० ११४, पद ३४६
३. कुम्भनदास, पद-संख्या २१४, ३३६, ३५२, ३५३
गोविन्दस्वामी, ६५, ५३०-५३१, ५४६, ५४७, ३५०
चतुर्भुजदास, २१, ३२, ३४, ३६, ४८
छीतस्वामी, ४८, ५६, ५७, ६१, १२२, १६२, १६३, १६४, १६७, १८१

संगीत-सम्बन्धी ताल-मात्रा आदि के अनुकूल बनाया गया है।

विविध लयों की इस समर्थ योजना के अतिरिक्त वाह्य संगीत के अन्य तत्वों का समावेश भी इन कवियों की रचनाओं में यथेष्ट मात्रा में हुआ है। यह प्रयोग दो रूपों में हुआ है : (१) शास्त्रीय तथा लोक-संगीत की विभिन्न शैलियों, राग-रागिनियों, तालों और नृत्य-रूपों के प्रयोग द्वारा; (२) संगीत तथा उससे सम्बद्ध सामग्रियों के उल्लेख द्वारा। दोनों तत्वों से सम्बद्ध विभिन्न उपकरणों का पृथक्-पृथक् विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

## पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में विभिन्न संगीत-शैलियों के तत्व

भारतीय इतिहास का पूर्व-मध्यकाल ललित कलाओं के विकास का स्वर्ण-युग कहा जाता है। उस समय ग्वालियर, व्रज-मण्डल और मुगल-दरबार संगीत के मुख्य केन्द्र थे तथा तीनों ही केन्द्रों में संगीत अपनी-अपनी विशिष्टताओं के साथ विकसित हो रहा था। पन्द्रहवीं शताब्दी में ही ग्वालियर के तोमर राजाओं के संरक्षण में संगीत-कला का समुचित विकास हो चुका था। मानसिंह जैसे कलाप्रिय संगीतशास्त्र-वेत्ता के संरक्षण में ध्रुवपद-शैली का परिष्कार और प्रचार पहले ही हो चुका था।

इस समय संगीत-कला का दूसरा केन्द्र व्रज था जहां वृन्दावन और गोवर्धन के कृष्ण-भक्तों द्वारा प्रचारित कीर्तन में संगीत के दूसरे रूप का विकास हो रहा था। इसके अतिरिक्त व्रज में भारतीय संगीत की शास्त्रीय पद्धतियों का संरक्षण भी वैष्णव भक्तों द्वारा हो रहा था। व्रज में वृन्दावन, गोकुल और गोवर्धन संगीत के मुख्य केन्द्र थे।

अकबरी दरबार में शास्त्रीय संगीत को पूर्ण संरक्षण प्राप्त हुआ। अकबर की गुण-ग्राहकता के कारण अनेक संगीतज्ञ उसके आश्रय में रहते थे। उसके संरक्षण में ध्रुवपद-शैली का विकास हुआ। तानसेन जैसे संगीतविज्ञों ने प्राचीन रागों का परिष्कार किया तथा नये रागों की उद्भावना की।

तत्कालीन संगीत के विकास में पूर्वमध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। उन्होंने विविध संगीत-शैलियों का प्रयोग कर उपयुक्त पदों की रचना की तथा उनका प्रयोग अपनी रचनाओं में किया।

### ध्रुवपद-शैली

उस समय ध्रुवपद-शैली का विशेष रूप से प्रचार था। पंडित भावभट्ट ने अपने "अनूप संगीत-रत्नाकर" में ध्रुवपद की व्याख्या इस प्रकार की है—

गीर्वाणमध्यदेशीय भाषा साहित्य राजितम्।
द्विचतुर्वाक्य-संपन्नं नर-नारी-कथाश्रयम्।
शृङ्गार-रस-भावार्थं रागालाप-पदात्मकम्
पादान्तानुप्रास-युक्तं पादांत-युगकं च वा
प्रतिपादं यत्र बद्धमेवं पाद-चतुष्टयम्
उद्ग्राह ध्रुवका भोगांतं ध्रुवपदं स्मृतम्।[1]

---

१. 'संगीत', मासिकपत्र, वर्ष १९४१ के जनवरी-अंक से उद्धृत

ध्रुवपद शैली अकबर के समय में प्रचलित थी। तानसेन के समय में इसका पूर्ण विकसित रूप मिलता है। अनेक संगीताचार्यों ने इस प्रकार का मन्तव्य प्रकट किया है कि प्राचीन ध्रुवा गीति से सम्बन्धित होने के कारण इसका नाम ध्रुवपद पड़ा है। इस शैली में अलंकरण के लिये कोई स्थान नहीं है। इसमें तानों, मुरकियों और खटकों का प्रयोग दोष बन जाता है; उसकी धीर-गम्भीर प्रकृति भ्रष्ट हो जाती है। इसमें विलम्बित लय का ही प्रयोग होता है, उसका रूप स्थिर, गम्भीर और पुरुषोचित होता है। इसमें अधिकतर ईश्वर-प्रार्थना और वीरता के भावों से युक्त पदों का गान किया जाता है। कभी-कभी इतिवृत्तात्मक तथा श्रृंगारिक भाव भी व्यक्त किये जाते हैं। उसमें चार भाग होते हैं: स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग। ध्रुवपद शैली की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी गम्भीरता, जो अन्तरा, संचारी और आभोग में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिस गायक का श्वास जितना लम्बा होगा, वह उतना ही अच्छा ध्रुवपद-गायक होगा। ध्रुवपद शैली के सम्बन्ध में पाद-टिप्पणी में उल्लिखित मत द्रष्टव्य है।[1]

## पूर्वमध्यकालीन कवियों की रचनाओं में ध्रुवपद-शैली का प्रयोग

ध्रुवपद-शैली के लिये आवश्यक उपरिलिखित उपादान कृष्ण-भक्त कवियों के अनुकूल थे। जहाँ तक ध्रुवपद के विषय का सम्बन्ध है, कृष्ण-भक्ति-काव्य में माधुर्य-भाव के प्राधान्य के कारण श्रृंगारिक विषय ही ध्रुवपद शैली में लिखे हुए पदों में भी प्रधान हैं। शौर्य-भाव से पूर्ण अथवा इतिवृत्तात्मक प्रसंग बहुत कम हैं। ये कवि ध्रुवपद-गायन में कहाँ तक पारंगत थे, इसका विशद विवेचन विस्तृत शोध की अपेक्षा रखता है। वृन्दावन के विभिन्न सम्प्रदायों के मंदिरों में गायन-प्रणाली का परम्परागत रूप चला आ रहा है। संगीत-विशेषज्ञों का ध्यान अभी उस ओर नहीं गया है, लेकिन यह बात स्पष्ट रूप से मानी जा सकती है कि ध्रुवपद-गायन में इन कवियों को विशेष योग्यता प्राप्त थी। इसके तीन मुख्य प्रमाण हैं—

१. तत्कालीन कृष्ण-भक्त कवियों के नाम से 'रागकल्पद्रुम' में ध्रुवपदों की प्राप्ति।
२. ध्रुवपद-शैली में प्रयोग करने के उपयुक्त दीर्घ पंक्तियों का प्रयोग।
३. ध्रुवपद-शैली में प्रयुक्त होने वाले तालों तथा ध्रुवपद-शैली का पदों के ऊपर उल्लेख।

'रागकल्पद्रुम' में अनेक कवियों के नाम से जो बड़े-बड़े पद संकलित हैं उन्हें ध्रुवपद-शैली के अन्तर्गत ही रक्खा गया है। यद्यपि उनके स्वर-विधान का प्रामाणिक स्वरूप लिखित रूप में नहीं मिलता परन्तु विविध घरानों में उनका परम्परागत रूप चला आ रहा है। 'रागकल्पद्रुम' में विविध कृष्ण-भक्त कवियों के नाम से ध्रुवपद संकलित हैं।

---

1. This may properly be considered as the heroic song of Hindustan. The subject is frequently the recital of some memorable actions of their heroes and other didactic themes. It also engrosses love matters as well as trifling and frivolous subjects. The style is very masculine or almost entirely devoid of studied ornamental flourishes.

Treatise on Music of North India.—Bhatkhande.

पदों की योजना में जो बड़ी-बड़ी पंक्तियां प्रयुक्त हुई हैं, उनको देखने से यह जान पड़ता है कि ये पद मानो गायक की दीर्घ श्वास-युक्त स्वर-साधना के निकष-रूप में निर्मित किये गये हैं। चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी आदि की रचनायें अधिकतर इसी शैली में लिखी गई हैं। लम्बे-लम्बे वाक्यों के क्रम में रचित पद ध्रुपद-गायक की संगीत-साधना के आधार जान पड़ते हैं। ध्रुवपद-शैली का ठीक रूप निश्चित करना कठिन है, लेकिन यह बात निर्भ्रान्त रूप से कही जा सकती है कि उसमें मौलिक परिवर्तनों की गुंजाइश बहुत कम नहीं होगी, क्योंकि उत्तर-मध्यकाल में खयाल, टप्पा और ठुमरी जैसी अपेक्षाकृत अगम्भीर शैलियों की लोकप्रियता के कारण ध्रुपद-गायकी प्रायः छोड़ ही दी गई थी। आधुनिक संगीत-शास्त्रियों ने संगीत का जो पुनरुद्धार किया है उसमें ध्रुपद-गायकी का परम्परागत और मौलिक रूप ही अधिक होगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। यह विषय विस्तृत शोध की अपेक्षा रखता है। प्रस्तुत प्रसंग में पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की संगीत-योजना में ध्रुवपद-शैली की सम्भावना के निर्धारण के लिये उनके कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं जिनका विधान ध्रुवपद-शैली में गाये जाने के उपयुक्त है—

राग कान्हरो

राजत री वनमाल गरे हरि आवत वन तें।
फलनि सों लाल पाग, लटकि रही वाम भाग, सो छवि लखि सानुराग,
टरति न मन तें।
मोर मुकुट सिर श्रीखंड, गोरज मुख मंजु मंड, नटवर वर वेष
धरें आवत छवि तें।
सूरदास प्रभु की छवि व्रज ललना निरखि थकित तन मन न्योछावर
करें आनन्द बहु तें।[1]

नन्ददास

ध्रुवपद (राग-ललित)

अनत रति मान आये हो जू मेरे गृह,
अरसीले नैंन बैन तोतरात।
अंजन अधर धरें, पीक लीक सोहे आछी,
काहे को लजात झूठी सौंहें खात
पेचहूं संवारत पै पेंचहू न आवत,
एते पै तिरछी भौंह करि चितै गात
नन्ददास प्रभु जो हिय में बसत प्यारी
ताही तें भूलि नाम वाही कों निकसि जात।[2]

---

१. सूरसागर, पृ० ७३४, द० स्कन्ध, पद १३७५
२. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृ० ३५७, पद ६९—व्रजरत्नदास

परमानन्ददास

अति मंजुल जल प्रवाह मनोहर सुरा अवगाहत राजत अति तरणि नन्दिनी।
स्याम बरन झलकत रुप लोल लहर वर अनूप सेवित संतत मनोज
पायु मंदिनी।
कुमुद कुंज वन विकास मंडित सुवास कजत अति हंस कोक मधुर छंदिनी।
प्रफुलित अरविन्द पुंज कोकिल कल सार गुंज गावत अलि मंजु
पुंज विबुध वन्दिनी।[1]

छीतस्वामी

कान्हरो

आजु प्यारी करि सिंगार बैठी अति आनन्द में,
नील सारी पहिरें तन लाल लसें अंगियां।
तिहि समै आए पिय अचानक ही पाछे तें,
चौंकि उठी प्यारी तब वाटी रंग रंगियां।
गोवर्धनधारी लाल कीन्हो रस ही में वस,
छीत स्वामी अपुनें कर गुहे फूल मंगियां।[2]

गोविन्दस्वामी

अहो पिय कैसे कै धरत मृदुल चरन धरनि।
गिरि की कांकरी अति कठिन तृन अंकुर रसनाधर जियहि
सुधि-सुधि करि-करि छतियां जरनि।
गोविन्द वलि इमि कहति पियारी तुम ही जीवनि
तन पुलकित प्रेम अंसुवा ढरनि।[3]

चतुर्भुजदास

विभास

आलस उनींदे नैना घूमत आवत मूंदे
अधिक नीके लागत अरुन वरन
जागे हो सुन्दर स्याम! रजनी के चारो जाम
नेंकहू न पाये मानों पलक परन।
अधरनि रंग-रेख उरहि चित्त विसेख
सिथिल अंग डगमगत चरण
चतुर्भुज प्रभु कहां वसन पलटि आये
सांचीये कहो गिरिराज धरन।[4]

---

१. परमानन्ददास, पृ० २००, पद ५७७—डॉ० गो० ना० शुक्ल
२. छीतस्वामी, वि० वि० का०, पृ० ६४, पद १४६
३. गोविन्दस्वामी, वि० वि० का०, पद ३५७, पृष्ठ ३४६
४. चतुर्भुजदास, वि० वि० का०, पद ३३८, पृ० १६२

अन्य कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार के प्रयोग किये गये हैं। विस्तार-भय से जिनका उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता।

## पदों के ऊपर ध्रुवपद-शैली तथा उसके अनुकूल तालों का उल्लेख

ध्रुवपद-शैली का विशिष्ट रूप से उल्लेख बहुत कम हुआ है लेकिन 'ध्रुवपदांकित' पदों में कोई विशिष्ट नवीनता नहीं है, उनसे मिलते-जुलते अनेक पद मिलते हैं। उदाहरण के लिये, पिछले पृष्ठ पर उद्धृत नन्ददास के पद में 'ध्रुवपद' शब्द का उल्लेख है, लेकिन उसके आगे-पीछे उस प्रसंग में उसी प्रकार के अनेक पद हैं। सूरदास के कुछ पदों के प्रथम चरण के अन्त में 'ध्रुव' लिखा हुआ है लेकिन मेरे विचार से वह शब्द टेक का परिचायक है, शैली का नहीं। केवल नन्ददास की रचनाओं में ही ध्रुवपद शब्द शैली के रूप में उल्लिखित मिलता है; शेष कवियों की रचनाओं में यद्यपि उसका उल्लेख विशेष रूप से नहीं किया गया है, परंतु नंददास के ध्रुवपद-उल्लिखित पदों से उनके पद भी बहुत मिलते-जुलते हैं। ध्रुवपद के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किये हुये उद्धरणों को उनके प्रमाण-रूप में लिया जा सकता है।

जहां तक ध्रुवपद-शैली में प्रयुक्त तालों का सम्बन्ध है उनका उल्लेख भी सर्वत्र नहीं हुआ है। प्रायः सब कवियों की रचनाओं में विविध रागों का उल्लेख तो है परन्तु तालों का उल्लेख बहुत कम हुआ है। सूरसागर में केवल इने-गिने स्थलों पर 'तिताला' का उल्लेख है, जो अधिकतर २६, २७, २८ मात्राओं के छन्दों में लिखित पदों में प्रयुक्त हुआ है। ध्रुवपद-शैली में सबसे अधिक प्रयोग चौताल का होता है। इसके अतिरिक्त झम्पा, तीव्रा और सूलफाक तालों में भी ध्रुवपद गाया जाता है। स्वामी हरिदास की रचनाओं का विश्लेषण करने से यह जान पड़ता है कि उन्होंने अपने पदों की रचना ध्रुवपद-शैली में गाये जाने के लिये की थी। अतएव उनकी लय अधिकतर ध्रुवपद-शैली में प्रयुक्त होने वाले तालों के अनुकूल है। उनके पदों में प्रायः चार पंक्तियां हैं जो ध्रुव-पद के चार अंगों (स्थायी, अन्तरा, संचारी, आभोग) में बैठाने के उद्देश्य से लिखी गई जान पड़ती हैं। उनकी गायन-पद्धति के मूल रूप का पता लगाना कठिन है। उनके सम्प्रदाय के साधु-समाज में प्रचलित गायन-पद्धति के आधार पर कुछ शोध किया जा सकता है, परन्तु कठिनाई यह है कि उस सम्प्रदाय में अवशिष्ट संगीत का रूप भी अब प्रामाणिक नहीं रह गया है। हरिदास जी पहले संगीतज्ञ थे, कवि बाद में, यही कारण है कि 'नाद-विनोद' में उन्हें गंधर्व-कोटि का संगीतज्ञ माना गया है।

इन कवियों की अनेक रचनाओं में चौताल का उल्लेख किया गया है, जिससे प्रमाणित होता है कि यह कवि ध्रुवपद-शैली के गायन में पारंगत होंगे। इसके अतिरिक्त अठताल-एकताल जैसे ताल भी उनके पदों पर उल्लिखित हैं जो ध्रुवपद-गायकी के अधिक अनुकूल पड़ते हैं।[1]

ध्रुवपद-शैली के गायन में मृदंग तथा तबले की संगत की जाती है। इन कवियों की

---

१. पृ० ४७, पद ९५—गोविन्दस्वामी
पृ० १०३, पद ३०४—कुम्भनदास
पृ० १०६, पद ३१४ "
पृ० ३३, पद ३३५ "
पृ० १२०५, पद ३९० "

रचनाओं के अन्तर्गत उन ध्वनियों के समावेश से भी ध्रुवपद-गायन से उनके परिचय का प्रमाण प्राप्त होता है—

ग्रग्रत किट ध्रुं ध्रुं ध्रुं ध्रुं घृं घृं घृं घृं न न न न[1]

सुलभ संच गति लेत ग्रग्रत किट धिधि किट द्रुम द्रम द्रम वाजत मृदंग[2]

धिधिकट धुधिकट मृदु मृदंग वाजे[3]

इस प्रकार ध्रुवपद-शैली के गायन की परम्परा के निश्चित प्रमाण इन कवियों की रचनाओं में मिलते हैं।

## धमार-शैली

उस समय की गायन-प्रणाली की एक दूसरी महत्वपूर्ण प्रशाखा थी धमार-गीतों की। होली से सम्बद्ध गीतों को अधिकतर धमार-ताल में गाते हैं। इन गीतों में गोपी-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन रहता है। धमार ताल के प्रयोग की इस अनिवार्यता के कारण ही कभी-कभी होली के गीतों को 'धमार-गीत' नाम दे दिया गया है। पहले इसे विलम्बित लय में फिर दुगुन, तिगुन और चौगुन में गाते हैं। इसमें लय का चमत्कार प्रधान होता है।

प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने धमार-गीत लिखे हैं जिसमें प्रयुक्त लय के द्वारा होली का उल्लास बड़ी सफलता के साथ व्यक्त हुआ है। ये गीत विभिन्न रागों में लिखे गये हैं। सूरदास के होली-सम्बन्धी पदों की रचना छोटे-छोटे चरणों में हुई है और उनका विन्यास इस प्रकार हुआ है कि उन्हें विलम्बित तथा द्रुतलय में बड़ी आसानी से गाया जा सकता है। लय की तीव्रता की वृद्धि के साथ ही होली के उल्लास का प्रभाव भी बढ़ता चलता है। इन पदों में होरी, कान्हरो, आसावरी, गौरी, काफी, सारंग, टोड़ी, धनाश्री, श्री नटनारायण इत्यादि रागों का प्रयोग हुआ है। प्रसंगानुकूल संगीतात्मकता के समावेश के लिये अनेक पदों में पुनरुक्ति का सहारा लिया गया है। 'मदमाती हो' 'रंगभीने हो', 'रंग होरी', 'रंगभीजी ग्वालिनि' इत्यादि पदांशों तथा 'री', 'हो' इत्यादि शब्दों के प्रयोग की पुनरावृत्ति की गई है।[4] इनमें १४ मात्रा के धमार-ताल के अनुकूल पद-योजना हुई है। एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

खेलत हैं अति रसमसे रंगभीने हो।
अति रस केलि विलास लाल रंगभीने हो
जागत सब निसि गत भई रंगभीने हो
भले जु आये प्रात लाल रंगभीने हो
सकुचत हो कत लाड़िले रंगभीने हो
बहुनायक विख्यात लाल रंगभीने हो।[5]

---

१. पृ० १४८, पद ३५६—गोविन्दस्वामी
२. छीतस्वामी पृ० १५०, पद ३८८
३. ,, पृ० २४, पद ५३
४. द्रष्टव्य, सूरसागर, प्रथम भाग, पृ० १२५२—१२५४
५. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० १२[illegible]३, पद २९६३

नन्ददास ने अपने धमार-गीतों में निम्नलिखित रागों का प्रयोग किया है : वसंत, ललित, टोड़ी, काफी, धनाश्री, सारंग, मारू, गौरी, विहाग, कान्हरा, नायकी। उनके धमार-पदों के चरण सूरदास की अपेक्षा अधिक दीर्घ हैं लेकिन उनमें शब्द-विन्यास इस प्रकार हुआ है कि दुगुन-तिगुन-चौगुन में उन्हें सरलता से गाया जा सकता है।[1]

राग काफी में लिखा हुआ एक धमार-पद यहां उद्धृत किया जाता है—

सुनि निकसी नव लाडिलो श्री राधा राज किसोरि
ओलिन पुहुप पराग भरी रूप अनूपम गोरी
रंगन रंग हो हो होरी
संग अली रंगरली कनक की लै पिचकारी
मोहन मन की मोहिनी देति रंगीली गारी
रंगन रंग हो हो होरी।[2]

गोविन्ददास के धमार-पदों की बहुत ख्याति थी। उनके एकाध पदों पर धमार ताल का भी उल्लेख मिलता है।[3] उन्होंने धमार-गीतों में निम्नलिखित रागों का प्रयोग किया है : जैतश्री, गौरी, वसंत कल्यान, टोड़ी, बिलावल, सारंग, हमीर, काफी, धनाश्री। गोविन्दस्वामी ने भी लय-चमत्कार की दृष्टि से इन पदों की रचना की है। अन्य कवियों की भांति टेक के अन्तिम अंश की आवृत्ति प्रत्येक पंक्ति के बाद तो उन्होंने की ही है, एक पंक्ति के दो चरणों के बीच में भी टेक के कुछ अंशों की आवृत्ति कर दी है, जिसके कारण वे द्रुत लय में गाये जाने के लिये अत्यन्त उपयुक्त बन गये हैं। जैसे—

राग गौरी

सब ब्रजकुल के राई लाल मन मोहना
मन मोहनां निकसे हैं खेलन फागु लाल मन मोहनां
नवल कुंवर खेलन चले। मन०। मुदित सखा संग ॥ लाल ॥
स्याम अंग भूषन सजे। मन०। विमल वसन पहिराई ॥ लाल ॥[4]

तानसेन ने धमार-गायकी गोविन्दस्वामी से सीखी थी। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इसका उल्लेख है। छीतस्वामी, चतुर्भुजदास, कृष्णदास इत्यादि सभी कवियों ने धमार-पद लिखे हैं। इनके पदों की संख्या अपेक्षाकृत कम है और उनमें कोई नवीन विशेषतायें नहीं हैं इसलिये उनका विवेचन इस प्रसंग में पिष्टपेषण-मात्र होगा।

पूर्वमध्यकालीन राधावल्लभीय सम्प्रदाय के कवियों ने अधिकतर कवित्त-सवैया-शैली में अपनी रचनायें की हैं। ध्रुवदास ने लगभग सौ पदों की रचना की है जिनकी पंक्तियां बहुत बड़ी-बड़ी हैं और ऐसा जान पड़ता है कि विशिष्ट संगीत-शैलियों के प्रयोग की दृष्टि

---

१. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृ० ३८०—३६६
२. न० ग्र०, पृ० ३८३, पद १७१
३. ,, पृ० ५३, पद ११०
४. गोविन्दस्वामी, पृ० ६४, पद १२५

से उनकी रचना नहीं हुई है। संगीत-कला उस समय विकास की चरम सीमा पर थी, ध्रुवदास ने अपने काव्य में उसका प्रयोग युग-परम्परा तथा प्रभाव की रक्षा करने के लिये ही किया है।

मीराबाई की रचनाओं में शास्त्रीय संगीत-सम्बन्धी कोई विशेषता नहीं प्राप्त होती; परन्तु लोक-गीत शैलियों का जो शुद्ध रूप उसमें मिलता है उसे देखकर आश्चर्य होता है। होली के पदों में जिस प्रकार की लय और मात्राओं की योजना की गई है उसे उत्तरप्रदेश के पूर्वी भागों में प्रचलित होली-गीतों की शैली में आसानी से बांधा जा सकता है।

राग होरी सिन्दूरा

फागुन के दिन चार रे होरी खेल मना रे।
बिनि करताल पखावज बाजे, अणहद की झनकार रे।
बिनि सुर राग छतीसूं गावे, रोम रोम झनकार रे।
खेल मना रे![1]

इसी प्रकार मिर्जापुरी कजली की स्वर-योजना के अनुकूल रचित यह कजरी-गीत देखिये—

म्हारा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया हिलमिल मंगल गाया जी।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूं मेरे आणंद आया जी।
मगन भई मिलि प्रभु अपणां सूं—भौ का दरद मिटाया जी।
कि अरे रामा चंद कूं देख कुमुदनी फूले, हरखि भई मेरी काया-जी।[2]

इन दो शैलियों के अतिरिक्त भजन-कीर्तन तथा लोक-गीत शैली का समावेश भी इनकी रचनाओं में किया गया है। तीन ताल में बांधने योग्य प्रायः सभी पदों में भजन की साधारण शैली का प्रयोग ही होता रहा होगा, ऐसा अनुमान होता है। इसी लोक-ग्राह्य शैली के प्राधान्य के कारण ही प्रायः सब कवियों ने अपने पदों में सार, सरसी, रूपमाला, विष्णु-पद इत्यादि छोटे-छोटे छन्दों का प्रयोग किया है, जिनका विवेचन छन्द के प्रसंग में किया जायेगा।

लोक-गीत शैली के तत्व, जन्म, बधाई, विभिन्न संस्कार, पर्व तथा त्योहारों-सम्बन्धी पदों में मिलते हैं। उनका सौंदर्य सहगान के रूप में गाने पर ही अधिक उभर सकेगा।

## पूर्व-मध्यकालीन काव्य में राग-रागिनियों का प्रयोग

कृष्ण-भक्त कवियों के पदों के ऊपर किसी न किसी राग का उल्लेख होता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक विशिष्ट परम्परा है जिसके अनुसार विविध राग-रागिनियों का निर्माण उनके स्वरों की प्रकृति के अनुसार हुआ है। विभिन्न राग अपने स्वर-विधान के

१. मीराबाई की पदावली, पृ० १४४, पद १५१
२. मीराबाई की पदावली, पृ० १४४, पद १५०

द्वारा विभिन्न भावों को मूर्तिमान करने में समर्थ होते हैं। किसी राग का स्वरूप गम्भीर होता है तो किसी का चपल, कोई राग पुरुष-प्रकृति के होते हैं और कोई सुकुमार प्रकृति के। इस प्रकार राग-बद्ध पद-रचना करने वाले कवि के लिये सबसे आवश्यक होता है, विषयानुरूप राग का संकलन। रागों में भाव की इसी अनिवार्य स्थिति के कारण संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों में राग-रागिनियों का मानवीकरण करके उनके स्वरूप का विश्लेषण किया गया है उदाहरण के लिये, तानसेन द्वारा विश्लेषित कुछ रागिनियों के रूप यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

मालकोस

मालकोस नीले वसन श्वेत छरी लिये हाथ,
मुतियन की माला गरे सकल सखी हैं साथ।
कोमल को अपमान भलो तनु गोरे विराजत है पट नीले
माल गरे कर श्वेत छरी रस प्रेम छक्यो छवि छैले छबीले
कामिनि के मन मोहत हैं सबके मन भावत रूप रसीले
भोर भये उठि बैठ्यो हि भावत नागर नायक रंग रंगीले।[1]

तानसेन द्वारा लिखित मालकोस के इस स्वरूप-विवेचन में परम्परा का निर्वाह नहीं हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि पुरुष के शौर्य के स्थान पर उसके सबल शृंगारिक व्यक्तित्व को प्रधानता दे दी गई है। दामोदर पंडित के संगीत-दर्पण में मालकोस का ध्यान इस प्रकार किया गया है : मालकोस रक्तवर्ण वाला लाल छड़ी धारण किये हुये वीरों में महावीर है—

आरक्तवर्णो धृतरक्तयष्टिः,
वीरः सुवीरेषु कृतप्रवीर्यः
वीरैर्वृतो वैरि-कपाल-माला,
मालीमतो मालवकौशिकोऽयम्।[2]

रागिनियों के मानवीकरण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया है। उनका परम्परागत रूप प्रायः सुरक्षित है। जैसे तानसेन-कृत भैरवी का रूप इस प्रकार है—

शिव पूजत कैलाश पर दोउ करन में ताल;
श्वेत चीर अंगिया अरुण रूप भैरवी बाल।[3]

संगीत-दर्पण में उसका रूप इस प्रकार है—

स्फटिकरचितपीठे रम्यकैलाशशृंगे,
विकच-कमल-पत्रैरर्चयन्ती महेशम्।
करधृतघनवाद्या पीतवर्णायताक्षी,
सुकविभिरयमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री।[4]

---

१. रागमाला नि० गा०, पृ० ५२४
२. रागाध्याय, श्लोक ५२
३. पृ० ५२३, नि० गा०
४. रागाध्याय, श्लोक ४८

निष्कर्ष यह है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में रागों का घनिष्ठ सम्बन्ध भावों और रस से है। आलोच्य कवियों ने केवल संगीत की प्रमुख राग-रागिनियों का ही नहीं, प्रधान-अप्रधान, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सभी प्रकार के राग-रागिनियों का प्रयोग किया है। प्रमुख राग-रागिनियों की संख्या ३६ मानी जाती है, उन सबका प्रयोग पृथक्-पृथक् कवियों की रचनाओं में जिस रूप में हुआ है, उसका विवेचन पिष्ट-पेषण मात्र होगा। सूरदास तथा चतुर्भुजदास जी के दो पद यहां उद्धृत किये जाते हैं जिनमें इन सभी राग-रागिनियों के प्रयोग का प्रमाण मिल जाता है। सूरदास का पद इस प्रकार है—

ललिता ललित बजाय रिझावत मधुर वीन कर लीने
जात प्रभात राग पंचम षट मालकोस रस भीने
सुर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारंग सुर नट जान
सुर सावंत भूपाली ईमन करत कान्हरो गान
ऊंच अड़ाने के सुर सुनियत निपट नायकी लीन
करत विहार मधुर केदारो सकल सुरन सुख दीन
सोरठ गौड़ मलार सोहावन भैरव ललित बजायो
मधुर विभास सुनत वेलावल दम्पति अति सुख पायो
देवगिरी देसाक देव पुनि गौरी श्री सुखवांस
जैत श्री अरु पुरवी टोड़ी आसावरि सुखरास
रामकली गुनकली केतकी सुर सुघराई गाये
जैजैवंती जगत मोहनी सुर सों वीन बजाये
सूहा सरस मिलत प्रीतम सुख सिंधुवार रस मान्यो
जान प्रभात प्रभाती गायो भोर भयो दोउ जान्यो[1]

चतुर्भुजदास-कृत षटऋतु की वार्ता में इन छत्तीस रागिनियों के उल्लेख में कुछ अन्तर है उसमें उद्धृत रागों की सूची भी यहां प्रस्तुत की जाती है—

मलार, ललित, पंचम, आसावरी, भैरव, मालव, टोड़ी, कल्याण गुर्जरी, मालव, गौड़ी, विलावल, धनाश्री, रंगीली, खमाज, देस, कान्हरो, गौड़ मल्हार, केदारो, पटमंजरी, रामकली, गंधार, वराड़ी, कुंकम, कमोद, नट, गुनकली, माधवी, देस, विभास, हास, काफी, सोरठ, ईमन, जैजैवंती, सारंग।[2]

## विषयानुरूप रागों का प्रयोग

इन कवियों द्वारा प्रयुक्त राग-रागिनियों के क्रम को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पदों के विषय और रागों के संकलन में सामंजस्य का ध्यान रक्खा गया है। सूरसागर के रचना-क्रम में सर्वप्रथम स्थान है विनय के पदों का, जिसके व्यापक विस्तार में अनेक प्रकार

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २७२६
२. खट ऋतु की वार्ता, पृ० १२

के भाव अन्तर्भूत हो जाते हैं इसलिये उसमें विविध रागों का प्रयोग मिलता है। इस प्रसंग में प्रयुक्त राग हैं बिलावल, कान्हरो, मारू, धनाश्री, रामकली, नट, केदारो, सारंग, मलार, परज विहागरो, सोरठ, आसावरी, देवगंधार, नट, टोड़ी, झिझोटी, गौरी, कल्याण, खम्भावती, मुलतानी। मारू राग को छोड़ कर शेष सभी राग दास्य भाव के दैन्य और विनय की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त हैं। मारू राग का परम्परागत रूप वीर रसात्मक है। सूरदास ने उसका प्रयोग विनय के पदों में किया है। डा० मनमोहन गौतम ने विनय-पद में उसकी उपयुक्तता सिद्ध करते हुए लिखा है कि 'विनय के उद्बोधन-पक्ष में उत्साह की मात्रा विद्यमान रहती है इसीलिये सूर मारू राग का प्रयोग विनय में करते हैं।'[1]

मेरे विचार से इन कृष्ण-भक्तों की रचनाओं में वीर रस के प्रसंगों में मारू राग के परम्परागत रूप के निर्वाह की चेष्टा नहीं की गई है। अन्य पुरुषोचित रागों के समान ही मारू राग का भी एक परिवर्तित रूप विकसित हुआ जान पड़ता है। तानसेन की 'रागमाला' में मारू राग का ध्यान इस प्रकार किया गया है—

> मारू के माला गरे दिये प्रेम मधुमात
> तरुणी सुन्दर सांवरी बैठी अति अरसात।[2]

यदि गौतमजी के दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाये तो खण्डिता-प्रसंग में प्रयुक्त मारू राग के पदों का ध्येय शायद नायिका का नायक से वाक्युद्ध की सन्नद्धता का परिचायक होगा। कोमलता और परुषता के इस विभेद को छोड़कर इन पदों में विविध रागों के प्रयोग का औचित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता, रागों का वैविध्य संगीत-कला में पारंगत व्यक्ति के लिये स्वाभाविक था और वही हमें इन पदों में प्राप्त होता है। विनय के बाद राम की कथा को छोड़ कर सम्पूर्ण कथा-भाग बिलावल राग में है। राम-कथा के प्रसंग में आरम्भ के तीन पद, जिनमें राम के ईश्वरत्व की स्थापना है, बिलावल राग में हैं, शेष पदों में उन्हीं कोमल-प्रकृति के मधुर रागों का प्रयोग हुआ है जो विनय के पदों में प्रयुक्त हुए हैं।

जहां तक विषयानुरूपता का सम्बन्ध है मेरे विचार से कुछ स्थलों पर उसका निर्वाह सफलतापूर्वक हुआ है। कवि का दृष्टिकोण यही रहा है कि वह करुण प्रसंगों में हृदय-द्रावक स्वर-लहरी द्वारा श्रोता के नेत्रों से आंसुओं की धारा प्रवाहित कर दे। इसीलिये ऐसे स्थलों पर केदारा और खम्भावती जैसे रागों का प्रयोग हुआ है जिनकी प्रकृति का अनुमान निम्न-लिखित चित्रण से लगाया जा सकता है। केदारो का यह रूप निर्वेद के 'रस-परिपाक' में सहायक होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है—

> शीश जटा सब तनु लटा, गरे जनेऊ नाग
> केदारो इह रूप है धरे ध्यान वैराग।[3]

१. सूर की काव्य-कला, पृ० २६३—मनमोहन गौतम
२. निम्बार्क-माधुरी राग माला, पृ० ५२६—तानसेन
३. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ५२५

तथा

घनासरी रोवत खरी हिरदै विरह अपार,
सब तन पीरी ह्वै रह्यौ, निपट विरहिनी नार ।[१]

विनय के पदों में 'मलार' राग का प्रयोग भी उसमें निहित करुण तत्व के कारण ही किया गया है—

बीन गहे गावत बहुत, रोवत है जलधार
तनु दुर्बल विरहा दही विरहिनि नारि मलार ।[२]

इन वेदना-सिक्त रागिनियों के अतिरिक्त विनय-पदों में उन रागिनियों का प्रयोग भी हुआ है जिनका परम्परागत रूप पूर्णतः शृंगारिक है। विनय-पदों में उनके प्रयोग का औचित्य भावानुरूपता नहीं, प्रभाव की अनुरूपता पर सिद्ध किया जा सकता है। टोड़ी, गौरी, खम्बावती आदि रागिनियां इसी प्रकार की हैं। इन रागों का मूर्तीकरण इस प्रकार हुआ है—

टोड़ी कर वेणी गहे गावत पिय के हेत,
चंचल छवि मृगमोहिनी पहरे वस्तर स्वेत ।[3]

गोरी छवि अति सांवरी अंधकूप धरि कान
तृषावंत नित काम की गावत मीठी तान ।[४]

खंभायत गोरे वदन गावत कोकिल वैन
अति आतुर चातुर खरी कामवती दिन रैन ।[५]

कृष्ण-भक्त कवियों के अत्यन्त प्रिय विलावल राग में भी शृंगार-तत्व की मात्रा गहन है लेकिन सूर ने उसका प्रयोग इतिवृत्तात्मक स्थलों पर और ईश्वरत्व के उद्घाटन के लिये किया है। विलावल के चित्र में व्यक्त उल्लास और रमणीयता की अभिव्यक्ति ही इस स्थल पर कवि का साध्य जान पड़ता है। विलावल का रूप इस प्रकार है—

कामदेव को ध्यान धरि पटते पट संगीत;
करत शृंगार विलावली नीले वस्तर प्रीत ।[६]

राम-कथा के उल्लास और विनोद-पूर्ण प्रसंगों में भी कोमल रागों का प्रयोग ही अधिक हुआ है। वालि-वध, समुद्रोल्लंघन अशोक-वन-विध्वंस, लंका-दहन इत्यादि शौर्य-प्रधान प्रसंगों में मारू राग का प्रयोग हुआ है। सीता-हरण, राम-विलाप इत्यादि जैसे करुण-प्रसंगों में केदारा राग प्रयुक्त हुआ है। केदारा का स्वरूप-विवेचन पहले किया जा चुका है।

---

१. निम्बार्क माधुरी, पृ० ५२६
२. ,, ,, ५२६
३. ,, ,, ५२४
४. ,, ,, ५२४
५. ,, ,, ५२४
६. ,, ,, ५२५

ऐसी स्थिति में संगीत के राग-प्रयोग में विषयानुरूपता के निर्वाह का विवेचन भारतीय संगीत की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर करना ही उपयुक्त होगा। मालकोस और हमीर जैसे रागों में भी शृंगार-भावना के प्राधान्य का यही रहस्य है। सन्धि-प्रकाशकालीन रागों में शान्त रस का प्राधान्य होना चाहिए परन्तु इसी कारण उन रागों में भी शृंगार-भावना से युक्त रचनाओं का समावेश हुआ है। इसे कृष्ण-भक्त कवियों की संगीत-रचना का दोष नहीं माना जा सकता।

## कृष्ण-भक्ति काव्य में संगीत तथा उससे सम्बद्ध सामग्री के उल्लेख

प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में इस प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिससे उनके शास्त्रीय संगीत के पूर्ण ज्ञान का परिचय मिलता है। संगीत के सप्त स्वर, नाद, ३ ग्राम, २१ मूर्छना, ४६ तान, ६ राग और ३६ रागिनी का उल्लेख सूरदास की इन पंक्तियों में देखिये—

सरगम सुनीकैं साधि, सप्त सुरन गाई।[1]

छहों राग छत्तीस रागिनी इक-इक नीके गावेरी।[2]

सकल कला प्रवीन सारि ग म प ध नी।
अलाप करत है उपजत तान-तरंग।[3]

परमानन्द-सागर में उल्लिखित नृत्य-सम्बन्धी पदावली वाद्य-यन्त्रों तथा गायन-शैली का आभास निम्नलिखित पदों में मिलता है—

वाजत वेन रवाव किन्नरी कंकन नूपुर सोरी
तत्थेई तत्थेई सब्द उघटत पिय भले बिहारी विहरत जोरी।[4]

हस्त, कमल, चरन चारु नृत्यत आछी भांति मुख-हास भ्रू विलास।
लेत नैननि ही में मान।
गावत बजावत दोऊ रीझि परस्पर सचु पावत उरप तिरप
होड़न विकट ताने।[5]

दोऊ मिलि राग अलापत गावत,
होड़ा होड़ी उघटत दै करतारी तान।[6]

परमानन्ददास की कविता में अन्य कवियों की अपेक्षा अनुभूति-तत्व बहुत अधिक मिलता है परन्तु इन स्थलों पर आध्यात्मिक मिलन के प्रतीक रास-नृत्य में संगीत-भाव प्रेरित

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ११५१
२. ,, ,, १८३८
३. गोविन्दस्वामी, पृ० १३८, पद ३२२
४. परमानन्दसागर ,, ७२, ,, २०३०
५. ,, पृ० ७३, पद २३१
६. ,, पृ० ७३, पद २३२

और स्वतः स्फुरित न होकर तत्कालीन दरबारी नृत्य और गायन का ही प्रतीक बन कर रह गया है।

कुम्भनदास ने चर और अचर जगत पर संगीत के अलौकिक प्रभाव का चित्रण बड़ी सजीवता से किया है—

गोविन्द करत मुरली-गान।
अधर कर धरि स्याम सुन्दर सप्त सुर बंधान।
विमोही ब्रज-नारि पसु, पंखि सुनै वे धरि कान।
चर स्थिर हो फिरत चल, सबकी भई गति आन।[1]
तान-बंधान रव सम्मिलित, विधिना रची सरस जोरी।[2]
गावत केदार राग, सप्त सुरनि साजै।[3]

कृष्ण के 'दरबार' में विकास प्राप्त करते हुए संगीत का दरबारी रूप व्यक्त करने में कुम्भनदास बहुत सफल हुए हैं। यहाँ तक कि रास-प्रसंग के पदों में ताम्बूल-वितरण भी वे नहीं भूले हैं—

गावति गिरधरन संग परम मुदित रास रंग
उरप तिरप लेत तान नागर नागरी।
सरिगम पध धनि गम-पधनि, उघटति सप्त सुरनि
लेति लाग डाट काल अति उजागरी
चर्वन ताम्बूल देत ध्रुव तालहिं गतिहिं लेत।
गिडि गिडि तत् थुंग थुंग थुंग अलग लाग री।[4]

इसी प्रकार शास्त्रीय नृत्य की मुद्राओं और गति का चित्रण इन पंक्तियों में देखिये—युग-प्रभाव से आच्छादित कवि की दृष्टि में उपास्य देवी के प्रति मर्यादा का भाव पूर्णतः गौण हो गया है—

चल नितंब, किंकिनि कटि लोल, बंक ग्रीवा।
राग तान मान-सहित वैनु नाद सींवा।[5]

इसी प्रकार मृदंग-वादन करती हुई ललितादिक सखियों और संगीत से सम्बद्ध पदावलियों के प्रयोग में भी मध्यकालीन नर्तकों और नर्तकियों का रूप ही उभर कर आता है—

---

१. कुम्भनदास, पृ० २०, पद ३१—वि० वि० कां०
२. „ पृ० २१, पद ३३
३. „ पृ० २१, पद ३४
४. „ पृ० २२, पद ३५
५. „ पृ० २३, पद ३७

आसपास ब्रज युवती राजति, सुघर राग केदारो सच्यो
ललितादिक मृदंग बजावति तान-तरंग सुरंग खच्यो
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धन-धर लाग-दाट मिलि नीके नच्यो[1]

निम्नलिखित उल्लेखों में भी शास्त्रीय संगीत के विभिन्न अंगों का उल्लेख प्राप्त होता है—

भांति-भांति राग गावत सुर अलपात कई
उरप तिरप मान लेत ताता तत-थेई।[2]

सारंग रागे सरस अलापति, सुघर मिलन इक तालै
अतीत अनागत अघघर आनति, सप्तक कंठ भरी इक चालै
अलप सुलप संचवहु मिलवति, किंकनी कूजत जालै
गावति, हस्तक-भेद दिखावति गोवर्धन-धर लालै।

अंतिम पंक्ति का हस्तक-भेद इस नृत्य को 'मुजरा' के समकक्ष ला रखता है।

उरप तिरप लाग दाट थ थ ताता थेई थेई तत
सुघर सरस राग तैसी ए सरद जामिनी।[3]

उरप तिरप तांडव करें, तायेई रचि उघटि तान
सुधंग चाल लेति है संगीत स्वामिनी।[4]

थेई थेई उच्चरति राग-रंगिनी।[5]

उरप तिरप संगीत उघटत तत तत् थेई ताल।[6]

फाग-सम्बन्धी पद भी प्रायः राग-बद्ध हैं, परन्तु उनमें अधिकतर लोकगीत की आत्मा और लय-प्रयोग की चेष्टा की गई है। एक उदाहरण लीजिये—

गावत नटनाराइन, राग मुदित देत चैन,
　　फाग चहुं दिसां जुरि ग्वाल वाल-वृंद टोलना।
बाजत आवत उपंग, वांसुरि-सुर, वेनु, चंग,
　　संख, वंस, झांझि डफ मृदंग ढोलना।
चलत सुर अनेक ताल सुघरराइ जी गोपाल,
　　वेनु मध्य गान भरत होहि होलना।[7]

---

१. कुम्भनदास, पृ० २३, पद ३८
२. ,, पृ० २४, पद ४०
३. ,, पृ० २४, पद ४८
४. ,, पृ० २६, पद ४५
५. ,, पृ० २७, पद ४६
६. ,, पृ० २७, पद ४७
७. ,, पृ० ३६, पद ७४

लाल-संग रास-रंग लेत मान रसिक गनि,
अग्रता, अग्रता, त त तत तत थेई थेई गति लीने
सरिगंम पधनी, गमपधनी धुनि सुनि, व्रजराज कुंवरि गावत री।
अति गति जति भेद सहित ताननि ननननननननन गनि-गनि गति लीन।[१]

इन पंक्तियों का आनन्द उन्हें संगीत में वद्ध करके ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। संगीत से सम्वद्ध पदावली का प्रयोग भी उन्होंने किया है—

उरप तिरप सुलप लेत धरत चरन खाचें।[२]
राग केदारो चर्चरी ताल साजें।[३]

सप्त सुर-भेद बंधान तुम्र नाउं लै
करत गुन-गान मिलि तुम्र हित काजें।[४]

श्री राग के कान्ह मुरली बजावैं
सप्त सुर-भेद अवघर तान विकट सों गति
* * *
चतुर ताल चर्चरी सों मनसि मन लावै।[५]
गावत अडानो राग।[६]
गीत में राग केदार चर्चरी ताल।[७]
रासरंग भीने गावें औघर तान बंधात।[८]

चतुर्भुजदास के कृष्ण की शास्त्रीय राग-रागिनियों में बंधी तानों के साथ कत्थक नृत्य के वोलों और मुद्राओं के थिरकते रूप दृष्टिगत होते हैं—

मदन मोहन रास मंडल में मालव राग रस भार्‌यो गावै
औघर तान-बंधान, सप्त सुर मधुर मधुर मुरलिका बजावैं।
निर्तत सुलप लेत नूपुर सच वड़ विधि हस्तक भेद दिखावें
उघटत सव्द ततथेई ततथेई जुवति-वृन्द मन-मोद वढ़ावै।[९]

होली सम्बन्धी पदों में लोक-जीवन से सम्बन्ध रहते हुए भी शास्त्रीय स्पर्श कुछ मात्रा में आ ही गया है। जैसे—

---

१. छीतस्वामी, पृ० ३, पद ५
२. ,, पृ० ३६, पद ८०
३. ,, ,, ५१ ,, ११८
४. ,, ,, ५१ ,, ११८
५. ,, ,, ५२ ,, ११९
६. ,, ,, ५३ ,, १२१
७. ,, ,, ६० ,, १३९
८. ,, ,, १७ ,, ३१
९. ,, ,, १८ ,, ३४

वृखभानु कुंवरि गान तान सुर बंधान मान
गोविन्द गिरवर प्रसंसि अद्भुत छबि छाजै ।[1]

पैरों की गति और मृदंग की ठनक के साथ ही नृत्य के अन्य अंगों का उल्लेख भी चित्र को सजीव रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ है—

दृष्टि भेद गावत भेद हस्त भेद चरन भेद लागत
मुख मधुर हास को ।[2]

उघटत संगीत सब्द तथेई थेईता गिरिगिरि
थेई थेई सरस परस वाम ।[3]

मृदंग के 'घिधिकटि घिधिकटि' शब्द के साथ स्वर मिलाती हुई कवि की वर्ण-योजना-जन्य अन्तःसंगीत और लय का सामंजस्य देखिये—

नाचत गोपाल संग गोप कुंवरि अति सुघंग
तथेई मंडल मधि राजै ।
संगीत गति भेद मान लेत सप्त सुर बंधान,
घिधिकटि घिधिकटि मृदंग मधुर बाजै ।
मुरली रटति रस को रटन मटकति लटक मुकुट,
चटक पिय प्यारी लटकि लटकि उरसि राजै ।[4]

संगीत और काव्य की शब्दावली के सामंजस्य का एक और उदाहरण लीजिये—

षडज, रिखभ, गंधार, सप्त सुरनि, मधिम, तारलेत ग्रग्रत ग्रग्रत, होरी
जहां रसिक गिरिधर सब्द उघटत ग्रग्रथुंग थुंग गति थोरी ।[5]

संगीत और नृत्य-सम्बन्धी कुछ शब्दों का उल्लेख अन्य स्थलों पर भी मिलता है—

नाचत गति सुघंग चालि हस्तक गहे भेद लिये
ताल मृदंग झांझ बजावत बांसुरी रसा री
तत तततत थेई थेई गावत केदारो राग
सानुराग क्रीड़त रस उपजत अति भारी ।[6]

तथा

थेई थेई थेई वदत मान उरपि तिरपि करत गान
सरस तान राग-रागिनी

---

१. गोविन्दस्वामी, पृ० २४, पद ५३
२. ,, ,, २५ ,, ५४
३. ,, ,, २८ ,, ६१
४. ,, ,, २८ ,, ६२
५. ,, ,, २९ ,, ६३
६. ,, ,, २९ ,, ४६

ताल झांझ जति मृदंग मिलवत वीना उपंग
बाजत पग नूपुर कल धुनी ।
दम्पति उरप तिरप रास करत केलि रति विलास
निरखि प्रेम पुंज निवास कल कामनी ।[1]

होली के कोलाहल-भरे उल्लास की अभिव्यक्ति में विविध वाद्ययन्त्रों का योग बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है । अन्य कवियों की भांति गोविन्दस्वामी भी अपनी अभिव्यंजना-शैली की भावव्यंजकता बढ़ाने के लिए उनका प्रयोग करना नहीं भूले हैं—

भेरि मृदंग दफ झालरी बाजत कर कठताला हो ।[2]

दुंदुभी डिमडिम झालरी बिच बिच बेनु रसाला हो ।[3]

बाजत ताल मृदंग झांझ डफ गावें रागिनी राग
अद्भुत राग जम्यो सुर होरी उरप तिरप गति लाग ।[4]

डिम डिम दुंदुभी झालरी कर मुरज डफताल
मदन भेरि सहनाई गिरिगिरि बिच बिच बेनु रसाल ।[5]

ताल पखावज रबाब झांझ डफ बीना बेनु रसा री ।[6]

संगीत से सम्बद्ध शब्दों का उल्लेख स्फुट रूप में यत्र-तत्र किया गया है—

सप्त सुरनि धुनि बाज ही तान मान संधान री प्यारी ।[7]

राग मलार अलापति सप्त सुरनि तीन ग्राम जोरें ।[8]

सकल कला प्रवीन सारिगमपधनी
अलाप करत हैं उपजत तान तरंग
निर्तत गति जति लेत गृगृत किटिथि तांग तांग बाज मृदंग ।[9]

तान तरंग सुर भेद नद मिलवत जति गति
बिच बिच मिलवत बिकट अवघर ।

घोर मारनी की रेलता में रेलता में गाइनि टेरत लाम्बे लाम्बे सुर ।[10]

---

१. गोविन्दस्वामी, पृ० २०, पद ६५
२. ,, ,, ५३ ,, १११
३. ,, ,, ५७ ,, ११७
४. ,, ,, ५९ ,, १२०
५. ,, ,, ६० ,, १२१
६. ,, ,, ६१ ,, १२२
७. ,, ,, ७३ ,, १३६
८. ,, ,, १०३ ,, २१०
९. ,, ,, १३८ ,, ३२२
१०. ,, ,, १३६ ,, ३२४

कृष्ण और बलराम का नृत्य भी उन्होंने चित्रित किया है—

निर्तत रस दोऊ भाई रंग

सुलभ संच गति लेत ग्रग्रत किट थिथिकिट द्रम द्रम द्रम बाजत मृदंग।[1]

षड्ज पंचम रिषभ सुर अलापत लेत विकट अवघर तान।[2]

गोचारण के उपरान्त लौटकर आते हुए कृष्ण का वर्णन भी उन्होंने नर्तक के रूप में किया है—

ग्रग्रतकिट ध्रुं ध्रुं ध्रुं ध्रुं धृं धृं धृं धृं न न न न

नृत्यत रसिक वर आवत गोधन संग

उरप तिरप मंद चालि मुरलिका मृदंग ताल

संग मुदित गोप बालक गावत तान तरंग।[3]

तथा

त्रिजग भंवरी लेत सुघर ग्रग्र ता थिथिथिकिट थुंग थुंगति

निर्तत रसिक सिरोमनि।[4]

शयन के लिए सन्नद्ध कृष्ण और राधा से भी गोविन्दस्वामी ने *कल्याण* गवाया है—

दम्पति रंग भरे।

बैठे कुंज-महल तें निकसि राग कल्यान अलापत,

रस भरे लेत परस्पर रंग वितान तरे।

लेत अति जति भेद कर किन्नरि इकसरीटोकतान सुढार ढरे।[5]

देखो देखो मुरली भृकुटि नचावत सप्त रंध्र-गाईन संग गावत

भंवरी उपंग सर्व श्रुति बावति उघटत सब्द अधर दोउ पियकें

अंखिय पलक कर ताल बजावति

अचट और अनघात अनागत चपल फरज गति भेद जनावति

कुंडललोल रीझि सिर नावति।[6]

निम्नलिखित पद में कवि का संगीतज्ञ कवि से अधिक प्रधान बन गया है—

सप्त सुर तीन ग्राम इक्कीस मूर्च्छना बाइस सित मति राग मध्य रंग

रंग राख्यों सरगम पध निसा ससस नननन धधधध पपपप मममम

गगग रेरे सासा

जो इन नैननि, सैननि, बैननि गोंनति नयो हस्तक भेद करि दिखाई।[7]

१. गोविन्दस्वामी, पृ० १४०, पद ३२८
२. ,, ,, १४० ,, ३२९
३. ,, ,, १४८ ,, ३५६
४. ,, ,, १५० ,, ३६०
५. ,, ,, १६३ ,, ४०७
६. ,, ,, १६७ ,, ४१८
७. ,, ,, १६८ ,, ४२३

## हरिदास के काव्य में संगीत सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों तथा सामग्री का उल्लेख

दिग टफ तार बजावत गावत भरत परस्पर छिनु छिनु होरी
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज विहारी सकल गुन निपुन
ताता थेई ताता थेई गति जु ठई।
श्रुति पुरि राग केदारो जम्यौ अधरात निसा रोरों सुख
बाजत ताल रबाब और बहुत तरनि तनया कूलहा
कुंज बिहारी नाचत नचावत लाडिली नीके।
औघर ताल धरें श्री स्यामा ताता थेई ताता थेई बोलत संग पीके
ताण्डव लास्य और अंग को गनैं जे जे रुचि उपजत जीके
काहू के हाथ अघौटी काहू के बीन काहू के मृदंग
कोऊ गहे तार काहू के अरगजा छिरकत रंग रह्यौ
परस्पर फाग जम्यौ संकेत किन्नरी मृदंग सूं तार
तीन हू सुर के तान बन्धान धुर धुरपद अपार
नवत मन मृदंगी रासभूमि सुकान्त अभिनै सुनव गति त्रिभंगी
धापि राधा नटति ललिता रसवती नागरी गाइतेप्र नानि तान तुंगी[1]

## राग-रागिनियों के प्रयोग में समय तथा ऋतु-सिद्धान्तों का निर्वाह

भारत के शास्त्रीय संगीत की परम्परा में दिन-रात के आठ प्रहरों के अनुकूल रागों का विधान किया गया है। दिन और रात के क्रम में प्राकृतिक वातावरण में जो परिवर्तन होता है उसी के अनुकूल रागों के विधान में विविधता और परिवर्तन की संयोजना की जाती है। उषाकालीन रागों में कोमल स्वरों की योजना प्रधान होती है, इसीलिए इस काल में रामकली, ललित, भैरव, विभास और भैरवी जैसे सन्धि-प्रकाश राग गाये जाते हैं। सूर्योदय के समय और उसके बाद गाये जाने वाले रागों में शुद्ध और तीव्र स्वरों का आधिक्य होता जाता है। प्रभात-रागों में कोमल गति का प्राधान्य होता है। आसावरी, देव गन्धार, टोड़ी प्रातः-कालीन राग हैं। मध्यकालीन रागों की प्रकृति अपेक्षाकृत गम्भीर होती है। सायंकालीन रागों में 'रेग' कोमल के साथ तीव्र 'म' का प्रयोग होता है। गौरी, पूर्वी, श्री इत्यादि राग सायंकाल में गाये जाने वाले सन्धि-प्रकाश रागों का प्रयोग होता है। रात्रि के प्रथम प्रहर के रागों में दिन के रागों की विशेषता होती है। कल्याण, हमीर, केदारा, ईमन, भूपाली आदि इस समय के राग हैं। विहाग-जैजैवन्ती द्वितीय प्रहर के तथा कान्हरो, अड़ानो, मालकोस तृतीय प्रहर के राग हैं। चौथे प्रहर में प्रातःकालीन सन्धि-प्रकाश रागों का समय आ जाता है।

कृष्ण-भक्त कवियों ने समय-सिद्धान्त का निर्वाह यथासम्भव किया है। पुष्टि-मार्गीय सेवा-विधि में कृष्ण-सेवा के आठ समय रखे गये हैं (१) मंगला, (२) शृंगार, (३) ग्वाल, (४) राजभोग, (५) उत्थापन, (६) भोग, (७) संध्या, आरती, (८) शयन।

---

१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० २२०, २२१, २२३

इन कवियों ने इन विविध प्रसंगों के पदों की रचना में संगीत शास्त्रीय समय-विधान से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। मंगला-प्रसंग में अधिकतर सन्धि-प्रकाश रागों का प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी कवियों ने इस प्रसंग में विभास, रामकली, ललित, भैरव और भैरवी का प्रयोग किया है। कलेऊ में आसावरी और विलावल का प्रयोग हुआ है क्योंकि कलेऊ का समय सूर्योदय के उपरान्त होता है। गोविन्दस्वामी ने मंगला के कई पदों में रामश्री राग का प्रयोग किया है; कहीं-कहीं इस समय-सिद्धान्त का व्यतिक्रम भी मिलता है; ईमन[1] और मालकोस जैसे राग भी मंगला पदों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

शृंगार-प्रसंग में प्रायः प्रातःकालीन रागों का प्रयोग हुआ है तथा वाल-प्रसंग में अधिकतर धनाश्री और सारंग राग प्रयुक्त हुआ है जो संगीत के समय-सिद्धान्त की कसौटी पर पूर्ण रूप से खरा उतरता है। गोचारण, राजभोग और छाक प्रसंगों में अधिकतर सारंग राग प्रयुक्त हुआ है; इसके अतिरिक्त देवगन्धार, टोड़ी, नटनारायण आदि रागों का प्रयोग भी हुआ है।

सन्ध्या-आरती में सायंकालीन सन्धि-प्रकाश तथा रात्रि के राग प्रयुक्त हुए हैं यद्यपि कृष्ण का कार्य-क्रम सन्ध्या के बाद शयन से ही समाप्त हो जाता है, परन्तु शयन-समय के पदों में रीतिकालीन रागों का प्रयोग किया गया है। अनेक स्थलों पर इन पदों में समय-सिद्धान्त के निर्वाह का ध्यान नहीं रखा गया है। केदार, हमीर, भूपाली, अड़ानो, कान्हरो, मालकोस, सब का प्रयोग किया गया है वल्कि इन रागों की प्रकृति के अनुसार समय-सिद्धान्त की उपेक्षा करके विभिन्न प्रसंगों में उनका प्रयोग किया गया है; जैसे मंगला-प्रसंग में मालकोस का प्रयोग।

खंडिता-प्रसंग में अधिकतर रात में गाये जाने वाले करुण प्रकृति के रागों का प्रयोग हुआ है।

संगीत-योजना में ऋतु-कालीन रागों के प्रयोग की ओर भी इन भक्त-कवियों का विशिष्ट ध्यान रहा है। पुष्टि-मार्गीय सेवा में ऋतु-उत्सवों का भी विधान था। इस प्रसंग के कीर्तन में इन कवियों ने शास्त्र-विहित रागों का ही प्रयोग किया है। सम्पूर्ण पावस-प्रसंग में मलार और उसके विविध भेदों का प्रयोग किया गया है। हिंडोल के पदों में हिंडोल और मलार प्रयुक्त हुए हैं। वसन्त-लीला में अधिकतर वसन्तराग और होली के पदों में विविध उल्लासपूर्ण रागों का प्रयोग हुआ है।

## मीरावाई

मीरावाई के पदों पर भी विभिन्न रागों का उल्लेख मिलता है। मीरा के पदों की प्रामाणिकता के विवाद-ग्रस्त होने के कारण उनमें प्रयुक्त रागों की प्रामाणिकता पर भी सन्देह होने लगता है। मीरावाई ने कुछ उन रागों का भी प्रयोग किया है जो अष्टछाप कवियों की रचनाओं में नहीं प्राप्त होते। उनके द्वारा प्रयुक्त राग-रागिनियों की सूची इस प्रकार है—

१. गोविन्दस्वामी, पृ० ११७, पद २५७

तिलंग, ललित, हमीर, कान्हरा, त्रिवेनी, गूजरी, नीलाम्बरी कामोद, मुलतानी, मालकोस, झिझोटी, पटमंजरी, गुनकली, मांड, धानी, पीलू, खम्भाच, पूरिया कल्याण, पहाड़ी जौनपुरी, सोहनी, विहाग, विलावल, सोरठ, प्रभाती, श्याम-कल्याण, रामकली, मलार, जोगिया, होली, सारंग, आनन्दभैरो, बागेश्वरी, खम्भावती, देस आसावरी, टोड़ी, भीमपलासी, देस, मारवा, दरबारी कान्हरा, दरबारी भैरवी, कलिंगड़ा, परज, कजरी छाया टोड़ी, हंस नारायण, मारू, जौनपुरी, जैजैवंती, छायानट, रागश्री, धनाश्री।

इन रागों के प्रयोग में विषयानुरूपता का ध्यान प्रायः सर्वत्र रक्खा गया है। मीरा के काव्य का प्राण है उनकी आत्मानुभूति तथा माधुर्य भक्ति। नटवर नन्दलाल को अपनी भावनाओं का केन्द्र बनाकर कभी उन्होंने चरम-मिलनजन्य नैसर्गिक सुख के गीत गाये, और कभी उनके उद्वेलित हृदय की विरह व्यथायें उनके विरह गीतों में साकार हो गईं। इनके पदों में प्रयुक्त राग प्रायः शृंगार और करुणा-प्रधान हैं, जिनके स्वर-विधान पर झिलकर उनकी शृंगार-भावना का उल्लास अथवा वेदना द्विगुणित हो जाती है। समय-सिद्धान्त के निर्वाह और ऋतु की अनुकूलता की ओर भी उनका ध्यान रहा है। अष्टछाप के कवियों की भांति उनकी साधना किसी साम्प्रदायिक बन्धन में नहीं जकड़ी थी, इसलिए आठ पहर की सेवाविधि इत्यादि का उसमें कोई विधान नहीं है; परन्तु फिर भी कुछ स्थलों पर उन्होंने समय-सिद्धान्त का ध्यान रक्खा है, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। जैसे प्रातःकालीन क्रियाकलापों का जिन पदों में संकेत है उनमें प्रातःकालीन राग प्रयुक्त हुए हैं।

राम मिलण को घणो उमावो, नित उठ जोऊं बाटड़ियां।[1]  
जागो वंसीवारे ललना जागो मेरे प्यारे  
रजनी बीती भोर भयो है घर-घर खुले किवारे।[2]

तथा

जागो म्हांरा जगपति राइक हँसि बोलो क्यूं नहीं।[3]

इस प्रकार के गीतों में प्रभाती राग का उल्लेख है। वास्तव में मीरा का विरह और मिलन रात और दिन पर निर्भर नहीं है—वह तो 'निसवासर' विरहिणी है—इसीलिए उनके गीतों की सात्त्विक कोमलता किसी भी प्रहर व्यक्ति को सांसारिक वैषम्यों और जंजालों से मुक्त कर श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी में तन्मय रखने की सामर्थ्य रखती है।

ऋतु-सिद्धान्त के प्रति मीरा समय-सिद्धान्त के निर्वाह की अपेक्षा अधिक जागरूक है। होली के पदों में अधिकतर होली तथा झिझोटी रागों का प्रयोग हुआ है। जिन पदों में वर्षा-वर्णन तथा वर्षा के रूपक का निर्वाह हुआ है, उसमें उसके अनुरूप मलार राग का प्रयोग हुआ है—

---

१. मीरा-पदावली, पृष्ठ १३१, पद १०८  
२. ,, पृ० १५०, पद १६८  
३. मीरा-पदावली, पृ० ११४, पद ५५

राग मलार

रिमझिम बरसै मेहरा भीजै तन सारी हो
चहुं दिस चमकै दामिणि, गरजै घन भारी हो[1]

तथा

राग मलार

झुक आई बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की
सावन में उमंग्यो मेरो मनवा भनक सुनी हरि आवन की
नन्हीं-नन्हीं बूंदन मेहा बरसै सीतल पवन सोहावन की
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आनन्द मंगल गावन की ।[2]

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवि श्री हितहरिवंश तथा ध्रुवदास ने भी इन्हीं रागों का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग अष्टछाप के कवियों ने किया है । विषय, समय और ऋतु-सिद्धान्त के निर्वाह का ध्यान रखते हुए हितहरिवंशजी ने निम्नलिखित रागों का प्रयोग किया है ।

राग विभास, विलावल, टोड़ी, आसावरी, धनाश्री, वसन्त, देवगंधार, सारंग मलार, गौड़ मलार, गौरी कल्याण, कान्हरी, केदारो राग 'हितचौरासी' में प्रयुक्त हुए हैं । हितचौरासी के अन्त में हितहरिवंशजी ने उनका उल्लेख भी इस प्रकार किया है—

कवित्त

छै पद विभास मांझ सात हैं विलावल में
टोड़ी में चतुर आसावरी में द्वै बनें ।
सप्त हैं धनाश्री में जुगल वसंत केहि
देवगंधार दोय रस से सनें ।
सारंग में षोडश हैं चार मलार एक
गौड़ में सुहायो नव गौरी रस में सनें ।
पद कल्यान निधि कान्हरै केदारो वेद,
बानी हित जू की सब चौदह राग में गनें ।[3]

राधा और कृष्ण के प्रातःकालीन क्रियाकलापों से युक्त पद प्रातःकालीन रागों में हैं; विभास, विलावल, टोड़ी, आसावरी उनमें मुख्य हैं । संयोग-वर्णन में देवगंधार, धनाश्री, सारंग जैसे उल्लासपूर्ण रागों का प्रयोग किया गया है । वसन्त-वर्णन में वसन्त तथा वर्षा के वातावरण-चित्रण में मलार राग का प्रयोग किया गया है । केदारो का प्रयोग करुण प्रसंग में न होकर स्थूल संयोग-वर्णन के लिए हुआ है ।

ध्रुवदास ने भी १०४ रागबद्ध पदों की रचना की है । उनके गीतों का आकार बहुत बड़ा है तथा उन्होंने निम्नलिखित रागों का प्रयोग किया है—ललित, गौरी, भैरव, विलावल,

---

१. मीराबाई की पदावली, पृ० १४७, पद १५८
२. 　　,, 　　,, १४३, पद १४४
३. हितचौरासी, पृ० ४३

टोड़ी, रामकली, विभास, आसावरी, सारंग, धनाश्री, काफी, नट ईमन, केदारौ, मारू, विहाग, वसन्त, मलार, कान्हरो, कल्याण, विलावल, गूजरी।

विषयानुरूपता, ऋतु और समय की अनुकूलता की दृष्टि से ध्रुवदासजी ने भी परम्परा का निर्वाह सम्यक् रूप में किया है। स्वामी हरिदासजी की रचनाओं में निम्नलिखित रागों का प्रयोग हुआ है—

अष्टादश के सिद्धान्त-पदों में विभास, विलावल, आसावरी, कल्याण राग प्रयुक्त हुए हैं। 'केलिमाल' के पदों में कान्हरा, कल्याण, विभास, गौड़, गौरी, केदारा, सारंग, मल्हार, वसन्त, और नट रागों का प्रयोग हुआ है।

## पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में विभिन्न नृत्य-रूपों का प्रयोग

कृष्ण-भक्ति काव्य में विविध ललित कलाओं तथा कविता के तत्त्वों का विन्यास इतना संश्लिष्ट है कि उनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना कठिन हो जाता है। चित्र-कल्पना, संगीत, नृत्य, वाद्य-ध्वनि और भावों के इस सुगुम्फन में प्रधान और गौण, आधार और आधेय तत्त्वों का निर्धारण कठिन जान पड़ता है। लक्षित चित्र-योजना के क्षेत्र में नृत्यों की सजीव चित्रांकन की शक्ति का विवेचन पहले किया जा चुका है।

नृत्य-रूपों के प्रयोग का विश्लेषण करते हुए ऐसा जान पड़ता है कि आलोच्य कवियों के चित्रों की सप्राणता का बहुत-कुछ श्रेय उनके भारतीय नृत्य के परम्परागत तथा सामयिक नृत्य-शैलियों के पूर्ण ज्ञान को है। नृत्य में ये तत्त्व प्रधान होते हैं—(१) आंगिक अभिनय (मुद्रा-प्रदर्शन) (२) सात्त्विक अभिनय (भाव-प्रदर्शन), (३) कलात्मकता (४) वाचिक अभिनय (शब्दों का प्रयोग)। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने इन प्रसंगों में अन्तिम तत्त्व (शब्दों का प्रयोग) की रचना प्रथम चार तत्त्वों की पूर्ति के लिए की है। उनके द्वारा नियोजित नृत्यों के भाव-विन्यास में उनकी कविता के शब्द-विन्यास के साथ पूर्ण सामंजस्य है। नृत्य का प्रदर्शन तथा कविता के भाव एक-दूसरे के पूरक रूप में प्रयुक्त हुये हैं। नृत्य के लिए अपेक्षित ताल, वाद्य-स्वर तथा गायन की सम्मिलित स्वर-बद्ध ध्वनियों की योजना कृष्ण-भक्त कवियों ने सचेष्ट होकर की है।

कृष्ण और गोपियों के नृत्य का चित्रण इतनी सजीवता से हुआ है कि जान पड़ता है मानो कृष्ण और गोपियां चित्रकार हैं, उनकी उंगलियों तथा हाथों का मधुर और भावपूर्ण परिचालन, नेत्रों द्वारा भावाभिव्यक्ति, भृकुटि-कटाक्ष, मुस्कान, कटि की लचक, पगों की गति इत्यादि चित्र में रंगों का कार्य करते हैं, कल्पना में उद्भूत ये रंगीन चित्र कागज पर अंकित चित्रों से कहीं अधिक सजीव और सप्राण बन पड़े हैं। इन चित्रों में परम्परा और तत्कालीन प्रयोग दोनों का समावेश है।

भारतीय संगीत शास्त्र में नृत्य के तीन प्रकार माने गये हैं (१) नाट्य, (२) नृत्य (३) नृत। जहां अंग-संचालन द्वारा हृदय का कोई भाव व्यक्त किया जाये वहां नृत्य में नाट्यतत्त्व होता है। नर्तक अपने नेत्र, होठ, हाथ, भृकुटी इत्यादि अंगों के विशेष कम्पन से क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या, वासना इत्यादि भावों को प्रकट करते हैं। इस क्रिया-कलाप को नाट्य ही कहा जाता है।

नृत्य—नृत्य में नर्तक किसी सम्पूर्ण भाव अथवा किसी आख्यायिका अथवा उसमें अंश को अपने अंगों द्वारा प्रकट करता है।

नृत्त में किसी लहरे परन या टुकड़े को शरीर के अंग-संचालन द्वारा प्रकट करके रस की अभिव्यक्ति की जाती है।

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।
अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्।
नृत्तं ताल लयाश्रयम्।

आलोच्य कवियों ने नृत्य के प्रथम दो प्रकारों को ही अपने काव्य में प्रधान रूप से व्यक्त किया है।

इन तीन प्रकारों के अतिरिक्त शास्त्रीय नृत्य के दो परम्परागत रूप हैं (१) ताण्डव, (२) लास्य। इन दोनों नृत्य-रूपों का आध्यात्मिक महत्व स्वीकार किया गया है। "ताण्डव में 'शिवोऽहं' का भाव शनैः-शनैः जागृत होकर नर्तक को स्वयं शिवरूप का अनुभव कराता है। लास्य स्त्रियों के लिए माना गया है, जिसमें शृंगार और प्रेम की पवित्र भावनाओं के साथ वह दाम्पत्य जीवन को मधुर बना कर अपने पति को परमात्म-भाव से पूजती हुई श्रेय पद प्राप्त कर सकती है।"[1]

ताण्डव नृत्य में उग्र भावों की अभिव्यक्ति होती है और कहा जाता है इसका पूर्ण फल साधना करते-करते पृथ्वी में आश्चर्यजनक भौतिक परिवर्तन कर सकता है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार की अभिव्यंजना होती है। क्रोधाग्नि का प्रज्वलित होना, पृथ्वी-कम्पन, आकाश-गर्जन, विश्व-संहार ताण्डव का प्रभाव है। प्रलयकालीन संहार पर शिव ताण्डव करते हैं। इस अलौकिकता पर हम विश्वास करें या नहीं, पर इससे निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि ताण्डव में उग्र और भयंकर भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रधान होती है। ताण्डव के साथ प्रयुक्त साज भी इसी प्रकार के होते हैं। वादक भी नृत्यकार की तरह रौद्र रस प्रकट करते हैं। डमरू, शंख, घड़ियाल, नौबत, धौंसा मृदंग, तुरही आदि ताण्डव की संगत करने वाले मुख्य वाद्य-यंत्र हैं। ताण्डव की भाव-भंगी, मुद्रा, गति सब आवेशपूर्ण होते हैं। कृष्ण-भक्ति के मधुर-कोमल रूप में ताण्डव नृत्य की अभिव्यक्ति के लिए अधिक अवकाश नहीं था। इसमें वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत और वीभत्स का व्यक्तीकरण होता है। केवल दावानल-पान, गोवर्धन-धारण और कालीयदमन के नृत्य आज भी कत्थक-नृत्य-परम्परा में प्रमुख स्थान रखते हैं।

इन दोनों ही नृत्यों में स्थायी भाव है, उत्साह। कालीयमर्दन नृत्य में नायक श्रीकृष्ण हैं, स्थायीभाव है उत्साह, शत्रुता और उनकी धृष्टता क्रमशः आलम्बन और उद्दीपन हैं। कृष्ण का शस्त्र-संचालन और भुजाओं का फड़कना अनुभाव है तथा उनकी उग्रता संचारी भाव है। वीर रस के ...उत्पादक इस नृत्य को ताण्डव के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन दोनों नृत्यों की जो परम्परा कत्थक में चली आ रही है उसका बीज इन्हीं कवियों की रचनाओं

१. संगीत-कला, पृ० १३५, जनवरी, १९[illegible]१ ("नृत्य के भेद"—माधव जी मृदंगाचार्य)

में माना जा सकता है। नृत्य में नाट्य-तत्त्व की अभिव्यक्ति (भाव-प्रदर्शन) तथा अंग-संचालन के लिए अत्यन्त विस्तृत और व्यापक क्षेत्र प्रदान किया गया है।

लेकिन विलास-प्रधान युग ने जिस प्रकार कृष्ण के मधुर रूप को स्त्रैणता में परिवर्तित कर दिया, इन ताण्डवों में भी शौर्य-रसाभिव्यक्ति की क्षमता नहीं रह गई थी। शृंगारिक तत्वों से युक्त नृत्य-कला का ही प्राधान्य हो गया। एक बात अवश्य है कि कत्थक नर्तक को 'पैर का काम' दिखाने का अवसर इस प्रकार के नृत्यों में अधिक मिला। 'ता तत थेई थुन कड़ान धा' इत्यादि पदाघातों की भिन्नता से उत्पन्न ध्वनि परुष प्रतिपाद्य को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम थी। इन प्रसंगों में प्रयुक्त कवित्त और घनाक्षरी छन्दों में लिखी हुई पंक्तियों का नृत्य के बोलों के साथ दुगुन, तिगुन, चौगुन इत्यादि लयों में सामंजस्य करने में बड़ी सुविधा होती है।

### लास्य नृत्य

लास्य स्त्रियोचित नृत्य है। इसमें शृंगार तथा करुण तत्वों का प्राधान्य होता है, इसलिए इसकी लावण्यमयी सुन्दर अभिव्यक्ति नारी अधिक सार्थकता के साथ कर सकती है। लास्य नृत्य की गति मन्द और कोमल होती है। लास्य तीन प्रकार का होता है (१) विकट, (२) विषम और (३) लघु।

(१) विकट लास्य में नृत्य करते हुए ताल और झनकार के साथ भाव-प्रदर्शन होता है।

(२) विषम लास्य में रेखागणित का ज्ञान होना अनिवार्य है; क्योंकि इसका प्रारम्भ तो यद्यपि सीधी रेखा से होता है और फिर वृत्ताकार हो जाता है। उसके उपरांत टेढ़ी पंक्तियों का निर्माण करके फिर सीधी रेखा बनाई जाती है।

(३) लघु लास्य में कोमल अंग-संचालन होता है।

कृष्ण-भक्ति काव्य में लास्य के ये सभी रूप प्राप्त होते हैं। विषम और विकट रास के संयुक्त रूप का उदाहरण रास-जैसे सामूहिक नृत्य में मिल जाता है, तथा लघु लास्य के तत्व, पनघट-लीला, दान-लीला तथा अन्य प्रसंगों के कोमल अंग-संचालनों से युक्त नृत्य में देखे जा सकते हैं, जिनकी परम्परा आधुनिककालीन कत्थक नृत्य में भी गगरी नृत्य, दही नृत्य आदि के रूप में चली आ रही है। दोनों ही श्रेणियों के नृत्य का यहां पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है।

### रास-नृत्य

कृष्ण-भक्त कवियों ने मुख्य रूप से रास का वही रूप स्वीकार किया है जो रूप श्रीमद्भागवत में है। इसे मण्डल-नृत्य भी कहा जा सकता है। यह वृत्ताकार होता है तथा अन्योन्य करबद्ध पात्र अपने आभूषणों को एक ही ताल पर झंकृत करके नृत्य करते हैं। भागवत में रास का उल्लेख इस प्रकार है—

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥

रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमंडलमंडितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥

* *

वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम्
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥
तत्राति शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥[1]

इन पंक्तियों में न केवल नृत्य है, अंग-संचालन की तीव्र गति के कारण इसे लास्य का विकट रूप भी कहा जा सकता है परन्तु वृत्त-निर्माण तथा अन्य रेखागणितीय स्थितियां उसमें विषम लास्य के तत्वों का समावेश भी कर देती हैं। यहां अंग-संचालन का प्राधान्य है। आगामी पंक्तियों में नाट्य-तत्व का समावेश भी हुआ है।

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै
भंज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गंडलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कवररशनाग्रंथयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥[2]

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि रास-नृत्य में नृत्य के सभी भाव प्रदर्शित किये गये हैं। पद-संचालन, हाथों की मुद्रा, भ्रू-विलास, कटि-संचालन, वस्त्र और कुण्डलों का कम्पन सबका वर्णन हुआ है। नृत्य अपने पूर्ण रूप में मुखरित है।

कृष्ण-भक्त कवियों का रास-वर्णन भागवत के इसी सबल आधार पर हुआ है। उनकी चित्र-कल्पना ने इनको और भी सजीव बना दिया है। गतिपूर्ण चित्रों के अन्तर्गत विविध कवियों के रास-वर्णन का सम्यक् विवेचन पहले किया जा चुका है। इसलिये इस प्रसंग में उसकी आवृत्ति नहीं की जाएगी।

धार्मिक और दरबारी प्रवृत्तियों और शैलियों के स्वस्थ मिश्रण तथा समन्वय से कत्थक नृत्य-शैली का जन्म हुआ। इस शैली के अन्तर्गत एक ओर रासलीला के रूप में लोकनृत्य शैली को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, दूसरी ओर इसके विषय अधिकतर कृष्ण-लीला से सम्बन्धित हैं, और साथ ही साथ उनमें भारतीय नृत्य के परम्परागत तत्व भी मिलते हैं। परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि तत्कालीन दरबारी तथा विदेशी वातावरण का भी इस पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है।

कृष्ण-भक्ति काव्य की विषयगत समानताओं के साथ ही इन दोनों कलाओं में शैलीगत समानतायें भी मिलती हैं। कृष्ण-भक्ति काव्य के समान ही कत्थक नृत्य के प्रतिपाद्य का रूप भी गीतात्मक, रागात्मक, श्रृंगारिक, कोमल और मधुर है; उसी के समान कत्थक

१. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, गीता प्रेस, अध्याय ३३, पृ० ५४१
२. „ „ „ „ „ ३३ „ ५४१

नृत्य में भी अभिव्यक्ति-कला का रूप संकीर्ण और सीमित है। वह कुछ साधारण मुद्राओं और संकेतों तक ही सीमित है। कृष्ण-भक्ति काव्य में जिस प्रकार अनेक स्थलों पर लोक-गीत शैली की प्रचुरता हो गई है परन्तु उसकी आत्मा साहित्यिक है, उसी प्रकार कत्थक नृत्य में भी अनेक स्थलों पर लोक-नृत्य के तत्वों की प्रचुरता हो जाने पर भी उसकी शैली मुख्य रूप से शास्त्रीय और परम्परागत है।

## कत्थक नृत्य-शैली (नटवरी कत्थक)

कत्थक नृत्य की उत्पत्ति के विषय में कोई शास्त्रोक्त प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु उसके बीज कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में मिलते हैं। किम्वदन्तियों और साधारण विश्वास के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कत्थक नृत्य-शैली का जन्म श्रीकृष्ण की प्रेरणा से हुआ तथा उसका विकास मुगल बादशाहों तथा नवाबों के संरक्षण में हुआ।[1] कत्थक नृत्यकारों में यह प्रचलित है कि श्री 'ईश्वरीय जी' को श्रीकृष्ण ने स्वप्न में दर्शन देकर नटवरी नृत्य पर भागवत बनाने की आज्ञा दी। उन्होंने उस भागवत की रचना की तथा अपने तीन पुत्रों खड़गू जी, अड़गू जी और तुलाराम को उसकी शिक्षा दी। और उनके वंशज इस नटवरी नृत्य का विकास करते रहे। ईश्वरीय जी के एक पौत्र श्री प्रकाश जी लखनऊ के नवाब आसफुद्दौला के राजनर्त्तक बने और नटवरी नृत्य का कत्थक नाम इसी समय से प्रचलित हुआ।

इस किम्वदन्ती से यह प्रमाणित होता है कि कत्थक नृत्य का उद्भव पूर्णतया विदेशी प्रभावों के फलस्वरूप नहीं हुआ है; उसका प्रथम प्रयोग कृष्ण की कथा को नृत्य रूप में प्रकट करने के उद्देश्य से हुआ था। 'कथन करे सो कत्थक कहिये' कत्थक की परिभाषा थी, इसी से इस नृत्य का नाम नटवरी कत्थक पड़ा। कत्थक नृत्य का पूर्व नाम नटवरी नृत्य ही इस बात का प्रमाण है कि इसका सम्बन्ध नटवर नंदलाल से है। इसके अतिरिक्त रासलीला में जितने भी पद-संचालन अथवा मंडलों का प्रयोग हाता है वह कत्थक नृत्य के पद-संचालन और मंडलों से बहुत साम्य रखता है।

ब्रजभूमि की रास मण्डलियों के नृत्य में मध्यकालीन नृत्यकला का अवशेष मिलता है। उसका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रसंग में अनुपयुक्त न होगा। सर्वप्रथम सिंहासन पर बालक राधा-कृष्ण तथा दो या चार सखियाँ बनकर बैठते हैं। बीच में श्रीकृष्ण, उनके बाईं ओर राधा और दोनों ओर सखियाँ रहती हैं। उसके आगे मंच होता है। एक ओर वाद्य-वादक तथा गायक बैठते हैं। इनमें एक स्वामीजी होते हैं, जो इन सबके प्रमुख कहलाते हैं। रास का आरम्भ होता है।

---

1. It was during the Moghal Period that the religious art became a courtly art under the patronage of Akbar and under the influence of Persian or Arabic culture imported into India by the Moghals and like the North Indian music, the north Indian dance became more secular in character but retained the Hindu Sentiment and feeling.

Dance in India, G. Venkatachalam, Page 122.

स्वामीजी कृष्ण-राधा और सखियों के चरणस्पर्श करके अपने स्थान पर आकर मंगलाचरण बोलते हैं। मंगलाचरण के पश्चात् थोड़ा-सा गायन होता है और आरती होती है—

आरति जुगल किशोर की कीजै
तन मन धन न्यौछावर कीजै।

आरती के पश्चात् सखियाँ कृष्ण से नृत्य करने को कहती हैं। नृत्य प्रारम्भ होता है। श्री जी ( राधिका ) कृष्ण के गले में बाँह डालकर सिंहासन से नीचे उतरकर नृत्य प्रारम्भ करती हैं, अन्य सखियाँ भी उनका साथ देती हैं। स्वामीजी गाते रहते हैं और जिन शब्दों तथा बोलों का प्रयोग करते हैं वे कत्यक नृत्य के बोलों से बहुत मिलते-जुलते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

नाचत रास में रास विहारी, नचवत हैं ब्रज की सब नारी।
तादनि तादनि तत तत थेई थेई थुगन थुगन देत गति न्यारी।
तिकट तिकट धिलांग धिक तक तोदीम धिलांग तकतो
तिकट तिकट धिलांग धिक तक तोदीम धिलांग तकतो
ता धिलांग धिक धिलांग धिकतक तोदीम तोदीम धेताम धेताम
धिलांग धिलांग धिलांग तक गदगित थेई
तत तता थेई तत तता थेई तत तता थेई
तक तक तक थुन थुन जै जै ककक् कड़ान न कुलंय
गिड़ गिड़ ताता गिड़ गिड़ ताता थुंगा गिड़ता गदगिति थेई
तत तता थेई तत तता थेई तत तता थेई।[1]

इस प्रकार के और भी अनेक बोल दुगुन-चौगुन में लिये जाते हैं। घुटनों के बल, तथा खड़े होकर चक्कर भी लिये जाते हैं। नृत्त और नाट्य का पूर्ण सामंजस्य कत्यक नृत्य के समान ही इन रास-सम्बन्धी पदों में भी मिलता है।

दरबारी वातावरण के प्रभाव से नटवरी नृत्य में अनेक विदेशी शब्दों को स्थान मिलने लगा। 'आमद' और 'सलामी' जैसे शब्द इसके पारिभाषिक शब्द बन गए। आगे चलकर रीतिकाल में पदों का स्थान गजलों और ठुमरियों ने ले लिया। कत्यक नृत्य को तीन भागों में विभाजित किया जाता है।

१. नृत्त—इसमें बोल, परण और टुकड़ों को पैर से निकालते हुए अंग-संचालन किया जाता है। इसमें बोलों का पाठ बहुत शुद्ध होना चाहिये तथा पद-संचालन से बोलों की स्पष्ट प्रतिध्वनि होनी चाहिये।

२. गत-भाव—इसमें अधिकतर कृष्ण की लीलाएँ प्रदर्शित होती हैं। ये शृंगार रस-पूर्ण तथा लास्यमयी होती हैं। आधुनिक कत्यक नृत्य में भावों का आभास मात्र व्यक्त किया जाता है। जैसे कृष्ण का बाँसुरीवादन, गिरिवर-धारण तथा राधिका का जल भरना इत्यादि

---

१. कत्थक नटवरी नृत्य, पृ० ५६

कृष्ण-लीला का एकांग ही प्रस्तुत किया जाता है। कृष्ण की पूर्ण लीलाओं अथवा अन्य कथाओं का उसमें स्थान नहीं है। इसके पश्चात् नृत्यकार पद-संचालन का कौशल प्रदर्शित करते हैं जिसे ततकार कहते हैं।

३. अभिनय—इस अंश में भावपूर्ण पदों के साथ नृत्य किया जाता है, जिसमें एक-एक शब्द को अनेक प्रकार से व्यक्त किया जाता है। उत्तर मध्यकाल में पदों के स्थान पर ठुमरी इत्यादि का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था।

कत्यक नृत्य में दरबारी प्रभाव परवर्ती युग में आया, अथवा दरबारी नृत्य का प्रभाव कृष्ण-भक्त कवियों पर पड़ा, यह निश्चित करना कठिन जान पड़ता है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि रास की पवित्र भावात्मकता पर इस शैली से बहुत आघात पहुंचा। कहीं-कहीं तो उसका रूप इतना विकृत हो गया कि राधाकृष्ण, नृत्य-कला के विषय न रहकर, स्वयं स्त्रैण नर्तक बन गए हैं।

रास में कत्यक शैली के इस प्रभाव के अतिरिक्त दानलीला, मानलीला, होली, माखन-चोरी, कलहान्तरिता, खण्डिता इत्यादि प्रसंगों पर आधृत जो नृत्य आज तक चले आ रहे हैं, उनका बीज भी इन्हीं कवियों की रचनाओं में माना जा सकता है। गगरी नृत्य, पिचकारी नृत्य, इत्यादि कृष्ण की लीलाओं का इस नृत्य-शैली में जो स्थान है, उससे यह प्रमाणित होता है कि सूर तथा उनके साथियों की रचनायें केवल चित्रकला और संगीत की ही नहीं, नृत्यकला की आधार-विषय भी बनीं।[1] 'कृष्ण-त्रिभंग' मुद्रा का विश्लेषण करते हुए एक संगीत के अनुसन्धाता ने लिखा है—'श्रीकृष्णचन्द्र की त्रिभंग मुद्रा के विषय में हमारा विचार है कि उसमें वृक्ष और उससे लिपटी हुई लता का भाव है। एक पैर सीधा वृक्ष की भांति है और दूसरा पास में ही विकसित उसी वृक्ष से लिपटी हुई लता की भांति प्रदर्शित होता है।'[2] शोध-कर्ता का यह विश्लेषण सत्य हो या असत्य, परन्तु इससे अनायास ही 'तमाल पर लिपटी हुई कनक बेलि' का चित्र साकार हो जाता है जो आलोच्य कवियों का सर्वप्रिय उपमान रहा है।

कत्यक नृत्य-शैली में पहले कविता पढ़कर फिर उसका भाव प्रदर्शित किया जाता है और अधिकतर उसके नायक और नायिका कृष्ण तथा राधा ही रहते हैं। इस क्षेत्र में जिन कविताओं का प्रयोग हुआ है उसका प्रतिपाद्य इन्हीं कवियों से ग्रहण किया गया है। विस्तार-भय से केवल एक उदाहरण दिया जाता है—कत्यक नृत्य में नायिका-भेद का आधार स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। कत्यक नर्तकों के सामने 'भाव बताने' के लिए मुग्धा, प्रवत्स्यपतिका, खण्डिता आदि नायिकाओं से सम्बद्ध पंक्तियां दी जाती हैं। इस प्रकार के स्थलों पर साहित्य और कला का घनिष्ठ सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है।

कल्पना कीजिये, भाव बताने के लिये इन कवियों द्वारा रचित विरह का कोई पद रखा

---

1. The Leela of Shree Krishna with Radha and the Gopies of Vrindavan were immortalised in the poetry and painting of the 16th and 17th century and Kathak dance reflected the lyrical beauties of these contemporary art forms.
Dances of India, Ragini Devi—p. 73.

२. 'संगीत-कला', १९४७ मार्च-अंक, पृ० १२६

गया। उसके भाव को व्यक्त करते समय नर्तक नायिका की विरह-व्यथा का चित्रण करता है। नायक की प्रतीक्षा में उत्सुकता, व्यग्रता, द्वार की ओर निर्निमेष देखना, पगध्वनि सुनने के लिये उत्सुक रहना, द्वार के आधे मार्ग तक आकर वापस लौटना इत्यादि अपनी गतियों से आशा और निराशा के भाव व्यक्त करता है। बीतती हुई रात को व्यक्त करने के लिये बार-बार दीपक की मलिनता को देखकर, शीतल समीर, तारों का फीकापन, चन्द्रमा की मन्दता को निरखना, बार-बार मुक्ताहार को छूना तथा दुःखी हृदय को थाम लेना और फिर अन्त में आकाश की लालिमा देखकर अत्यन्त अधीर हो जाना—ये सब भाव व्यक्त करके वह विरहिणी के रूप को साकार कर देता है।

नृत्य के इस भाव-प्रसार को इन कवियों की रचनाओं से विस्तृत भूमि प्राप्त हुई है; बल्कि यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उनके व्यक्तित्व में निहित संगीतज्ञ और साहित्यिक एकात्म होकर एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ है।

मीरा की रचनाओं में नृत्य-कला का शास्त्रीय रूप नहीं मिलता। उन्होंने नाच-नाच कर हरि रसिक को रिझाया था और वह पग घूंघर बांध कर नाची थीं। परन्तु उनका नृत्य गिरधर नागर के प्रति उन्मुक्त आवेश तथा तन्मयता-जन्य था। तत्कालीन और परम्परा-गत नृत्य-शैलियों के अन्तर्गत उन्हें नहीं रखा जा सकता।

पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं के विश्लेषण से यह पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाता है कि इन कवियों को संगीत का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का ज्ञान प्रचुर मात्रा में था। 'संगीत रत्नाकर' के प्रणेता श्री शार्ङ्गदेव ने ऐसे संगीतज्ञों को, जिन्होंने संगीत के स्वर-लय आदि के आधार पर काव्य-रचना की है 'वाग्गेयकार' (गेय वाक् के रचयिता) कहा है—

> यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्
> देशी रागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जन-रंजनम्।[1]

और इस परिभाषा के माप-दण्ड पर सभी कृष्ण-भक्त कवि सफल 'वाग्गेयकार' सिद्ध होते हैं।

## रीतिकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में संगीत-तत्वों का विश्लेषण

### रीतिकाल में संगीत-शास्त्र तथा संगीत-कला की स्थिति

रीति-कालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं की भांति विभिन्न चारु कलाओं का समीकृत और सुगुम्फित रूप नहीं मिलता। इस काल के कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों की मान्यताओं का ही पिष्टपेषण किया है। उनकी रचनाओं में संगीत तत्वों के विश्लेषण के पूर्व तत्कालीन संगीत की स्थिति का एक परिचयात्मक विश्लेषण अनुपयुक्त न होगा।

तत्कालीन संगीत के सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थों को देखने से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि उनमें मौलिकता का पूर्ण अभाव है। औरंगजेब ने अपने राज्य से संगीत-कला का

---

१. संगीत रत्नाकर, चतुर्थ प्रबन्धाध्याय

चिह्न तक मिटा देने का बीड़ा उठा लिया था। उसके उत्तराधिकारियों के दरवार में संगीत को प्रोत्साहन मिला, परन्तु तब तक संगीत की आत्मा पूर्ण रूप से मर चुकी थी। मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित संगीतज्ञ रहते थे। लेकिन इस पुनरुत्थान में अनुरंजन, अलंकरण और चामत्कारिक प्रयोगों का ही प्राधान्य है। इस युग में ध्रुवपद का स्थान खयाल, ठुमरी, दादरा और टप्पा जैसी हल्की-फुलकी और अलंकार-प्रधान संगीत-शैलियों ने ले लिया था। अदारंग और सदारंग के खयालों से दिल्ली-दरवार की विलासयुक्त रंगीनी को बहुत योग प्राप्त हुआ। शोरी मियां के टप्पों के आलंकारिक स्वर बहुत लोकप्रिय हुए। तराना, रेखता, कव्वाली इत्यादि प्रणालियों का प्रचार इसी युग में हुआ।

तत्कालीन संगीत की शैली तथा प्रतिपाद्य में चमत्कार-सृष्टि की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। अनेक स्थलों पर रागों के देवरूप चित्रण में श्लेष द्वारा आधार तथा आधेय में धर्म-साम्य और गुण-साम्य की स्थापना की गई है। यही नहीं, विविध गायन-शैलियों को एक ही गीत में गुम्फित करते हुए चमत्कार-सृष्टि करना उस युग की संगीत-कला की चरम सिद्धि समझी जाती थी।

तत्कालीन काव्य के समान शृंगारिक भावनाओं को उद्दीप्त करना ही संगीतज्ञों का मुख्य उद्देश्य रह गया था। फलस्वरूप उनकी शब्द-योजना भी अधिकतर शृंगारपरक ही होती थी। चमत्कार-प्रदर्शन की वृत्ति भी प्रधान हो गई थी। खयाल-शैली की तानों, खटकों, मुरकियों तथा अन्य आलंकारिक प्रयोगों में चमत्कार-तत्व ही अधिक रहता था। खयाल अधिकतर शृंगारिक होते हैं और उनमें किसी स्त्री की ओर से प्रणय अथवा विरह की अभिव्यक्ति की जाती है। वास्तव में रीतिकालीन कवि और संगीतज्ञ दोनों की एक ही दशा थी। शृंगारपरक प्रतिपाद्य और कला-प्रधान चमत्कारवादिता दोनों की ही मुख्य विशेषतायें थीं। रीतिकालीन संगीत में चमत्कार-प्रदर्शन की वृत्ति चतुरंग-शैली में भी दिखाई देती है, जिसमें खयाल, तराना, सरगम और त्रिवट सबके मिश्रण से संगीत की वैचित्र्यपूर्ण रचना की जाती है। तरानों में भी लय का चमत्कार और द्रुत तानों का प्रयोग उस युग की चामत्कारिक वृत्ति का ही परिचय देते हैं। शब्द-योजना के बिना 'ताना देरेना दीम तोम' इत्यादि अर्थहीन शब्दों के द्वारा संगीत-योजना में चमत्कार-प्रदर्शन का ही बाहुल्य रहता है। टप्पा भी शैली के हल्केपन के लिये प्रसिद्ध है। इसकी गति क्षुद्ध और चपल होती है। ये केवल उन्हीं रागों में गाये जाते हैं जिनका विस्तार अपेक्षाकृत संक्षिप्त होता है। टप्पा पहले पंजाब में ऊंट हांकने वाले गाया करते थे। नवाब वाजिदअली शाह के संरक्षण में ठुमरी का प्रचलन हुआ जो अतिशय चपल स्त्रैण और शृंगार-प्रधान शैली थी। डा० श्यामसुन्दरदास ने उसका उल्लेख इस प्रकार किया है—"अवध के अधीश्वर वाजिदअली शाह ने ठुमरी नामक गायन शैली की परिपाटी चलाई; यह संगीत-प्रणाली का शृंगारिक रूप है। इस समय अकबर के समय के ध्रुवपद की गम्भीर परिपाटी, मोहम्मद शाह द्वारा अनुमोदित खयाल की चपल शैली तथा उन्हीं के समय में आविष्कृत टप्पे की रसमय और कोमल गायकी और वाजिदअली शाह के समय की रंगीली-रसीली ठुमरी अपने-अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं,

लोक की प्रौढ़ रुचि में जिस क्रम से पतन हुआ, उसका इतिहास भी है।"[1]

रीतिकाल की अन्य मुख्य शैलियां हैं गजल और त्रिवट। इनमें भी चमत्कार और स्थूल शृंगारिकता का प्राधान्य था। त्रिवट में मृदंग इत्यादि के वोलों को रागवद्ध करके चमत्कार उत्पन्न किया जाता था और गजल की शृंगारपरक प्रवृत्ति तो प्रसिद्ध ही है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस काल में कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा, युग की प्रतिनिधि काव्यधारा नहीं थी, वल्कि एक पूर्ववर्त्ती दृढ़ परम्परा के अवशेष रूप में ही वची हुई थी।

## रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में वाह्य संगीत के तत्व

इस काल में अनेक कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों के अनुयायियों ने पद-रचनायें की हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्तों का योग इस क्षेत्र में प्रायः नहीं के वरावर है। इसका मुख्य कारण यह था कि पूर्व-मध्यकाल में रचित अष्टछाप के कवियों के पदों को इतना महत्व प्राप्त हो गया था कि वल्लभ-सम्प्रदाय के मन्दिरों की पूजा-उपासना के लिये उन्हीं का प्रयोग आवश्यक माना जाता था। गौड़ीय सम्प्रदाय की रचनायें अधिकतर वंगला और संस्कृत में लिखी गई। राधावल्लभ और निम्बार्क-सम्प्रदाय के भक्तों ने रीतिकाल में अनेक पदों की रचना की। इन कवियों के पद विभिन्न रागों में वंधे हुए हैं। इन रचनाओं में प्रयुक्त मुख्य रागों का उल्लेख इस प्रकार है—देवगंधार, काफी, विहागरो, वसन्त, सोरठ, खमाज, गोरी, कान्हरो, सारंग मल्हार, केदारो, रामकली, विलावल, भैरव, आसावरी।

रागों के प्रयोग में विषय और समय के प्रति अनुकूलता का ध्यान प्रायः सर्वत्र रखा गया है। उदाहरण के लिये, भैरव और गोरी सन्धि-प्रकाश राग हैं जो प्रातः तथा सायंकाल चार वजे से सात वजे के बीच में गाये जाते हैं। इन रागों का प्रयोग अधिकतर उसी समय गाये जाने वाले पदों में किया गया है। इसी प्रकार खमाज राग के द्वारा कोमल भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। इसके गाने का समय है रात्रि का द्वितीय प्रहर, अतएव 'अंखिया नींद घुमाई है' अथवा 'सैन मन्दिर को गवनी है' इत्यादि पदों में खमाज का प्रयोग उपयुक्त रूप में ही हुआ है।

पूर्व-मध्यकालीन भक्तों के समान ही इन भक्तों ने भी होली धमार के पद तथा वसन्त के पद लिखे हैं। इन दोनों ही प्रसंग के पदों में शृंगारिकता प्रधान है, परन्तु उसका स्तर वैयक्तिक न होकर समूहगत है। होली के पदों में अधिकतर काफी राग चलता है। अधिकतर होलियां इसी राग में गाई जाती हैं। इन कवियों ने कान्हरो और गोरी, धनाश्री इत्यादि रागों में अपने पदों को वांधा है। प्रामाणिक स्वरलिपि के अभाव में यह स्थापित करना कठिन हो जाता है कि इन रागों का उस समय क्या रूप था।

होली के विषय को ग्रहण कर इन कवियों ने कुछ रसिये भी लिखे हैं, जिन्हें 'होरी रसिया के पद' नाम से अभिहित किया गया है। रसिया वास्तव में लोकगीत का एक रूप है जिसकी एक विशिष्ट लय और धुन होती है। वसन्त और हिंडोले के पदों की लय भी लोक-

१. हिन्दी भाषा और साहित्य, डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० २६१

गीतों के निकट है यद्यपि शास्त्रीय रागों का उल्लेख उनके ऊपर शीर्षक रूप में कर दिया गया है। वर्षा ऋतु सम्बन्धी पद अधिकतर मल्हार राग में लिखे गये हैं। इन कवियों ने एक राग का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों के पदों में किया है, जो कुशल संगीतज्ञ ही कर सकते हैं। गीत के भाव के अनुसार ही स्वर में विह्वलता, ओज, उल्लास इत्यादि का समावेश किया जाना चाहिये और ऐसा जान पड़ता है कि इन कवियों में इस प्रकार की क्षमता थी।

पदों के ऊपर रागों के उल्लेख के अतिरिक्त अन्य रूपों में संगीत-तत्वों का समावेश इन कवियों की रचनाओं में नहीं हुआ है। नृत्य और वाद्य संगीत का उल्लेख प्रायः नहीं हुआ है। जिस प्रकार इस काल की कृष्ण-भक्ति परम्परा में पूर्व-मध्यकालीन परम्परा का अवशेष मिलता है सामयिक प्रभावों के अतिरिक्त उनमें नूतन और मौलिक उद्भावनायें नहीं हुई हैं, उसी प्रकार उसके संगीत में भी परम्परा का ही पालन होता रहा। संगीत का वास्तविक विकास उस समय तत्कालीन नरेशों और सामन्तों के राजदरबार में ही हो रहा था।

भगवत रसिक, चाचा वृन्दावनदास इत्यादि कवियों की रचनाओं में संगीत की दृष्टि से कोई विशेष नवीनता नहीं मिलती। घनानन्द की रचनाओं में संगीत-तत्व का रूप परम्परागत नहीं है। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में उनके पद आज भी बहुत लोकप्रिय हैं।

कृष्ण-भक्त कवियों का नरेशों तथा सामन्तों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। नागरीदास तथा घनानन्द ही इसके अपवाद हैं। घनानन्द मोहम्मद शाह रंगीले के मीर-मुंशी थे, जो स्वयं भी उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे। उनके दरबार में कला-प्रेमियों को आश्रय मिलता था। घनानन्द के संगीत पर उनके दरबार का प्रभाव मिलता है। उन्होंने अनेक रागों का प्रयोग अपने गेय पदों में किया है जिनमें से मुख्य हैं:—घनाश्री, कलिंगड़ा, सोरठ, पीलू, टोड़ी, काफी, केदारो, जैतश्री, खंभाती, ईमन, सारंग, रामकली, बिहाग, कामोद, कान्हरो, भैरव, कल्याण, हमीर, मल्हार, आसावरी, गोरी, कान्हरा, खंमाज, अड़ाना, पट् ललित, जंगला, मालव, जैजैवन्ती, पूरवी। ये सभी राग शृंगार रस की अभिव्यक्ति के लिये अनुकूल पड़ते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्होंने रागों का प्रयोग भावोत्कर्ष के लिये किया है। स्वरलिपि अथवा इसी प्रकार के अन्य साधनों के उल्लेख के अभाव में यह कहना कठिन है कि उन्हें कैसे गाया जाता था।

भावानुकूलता के अतिरिक्त समय और ऋतु-सिद्धान्त का निर्वाह भी किया गया है। उदाहरण के लिए प्रभातकालीन लीलाओं के वर्णन में अधिकतर भैरव, भैरवी और बिलावल का प्रयोग हुआ है। प्रतीक्षा और विरह के पदों में संध्या तथा रात्रि में गाये जाने वाले राग प्रयुक्त हुए हैं। मल्हार का प्रयोग वर्षा-सम्बन्धी पदों में किया गया है—

मलार

गरजि गगन छाई री माई गरजि गगन छाई।
घटा उमड़ि घुमड़ि भूमि-भूमि भूमि पर आई
दादुर मोर करत सोर गनत नाहीं सांझ भोर
झींगुर झिंगार सुहाई.......................[1]

---

१. घनानन्द, पद ३६, पृ० १६६

एकाध स्थलों पर संगीत सम्बन्धी शब्दावलियों का प्रयोग भी हुआ है—

गावत सप्त सुर तीन ग्राम ताल जंत्र उघटित शब्द गति परत परन[1]

कवि के रूप में उनकी जागरूक कला-चेतना ने संगीत के अनुकूल प्रवाहपूर्ण पदों की रचना की है। फाग का उल्लास इन पंक्तियों में व्यक्त है—

फाग

उमंडि-उमंडि घुमंडि-घुमंडि घुरि-घुरि दुरि-दुरि खेलत
राधा-मोहन रस-फागु खानी।
विकसि-विकसि निकसि अपने-अपने झुंडनि ते झूमत झुकत
झपरि लपरि वातनि घातनि कहत गहत वनक वनी मनमानी
मचत रचत वचत-वचत नचत लचत घिरत भिरत मोरत
झकझोरति करि ऐंचातानी
आनन्द घन भिजवत रिझवत भीजत रीझत रस लेत देत मनमानी
सुखदानी[2]

उनके पदों में उस समय में प्रचलित सभी संगीत-शैलियों का उल्लेख मिलता है। धमार की गतिशीलता के निर्वाह की दृष्टि से अनेक पदों की शब्द-योजना की गई है। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

धनाश्री (धमार)

ऐरी वन वाजी वांसुरिया, कैसे रहूं घर दैया।
कलमलात जियरा मिलवे को, है कोई न धीर धरैया।
आग लगे यह लाज निगोड़ी, करिहै कहा चवैया।
आनन्दघन पिया उघर मिलोंगी, अब डर करत वलैया।[1]

ध्रुवपद की श्वास-साधना के निमित्त भी अनेक पदों की रचना हुई है—

राग सारंग

अति सुगन्ध मलयज घनसार मिलाइ—
कुसुम-जल छिरकाइ उसीर सदन बैठे
मोहन ले राधे-प्रान-प्यारी अति रंगन।
जमुना-तीर वनी री कुंज त्रिविध पवन सुखद पुंज
परसत रोमांच होत छवीली तरंगन।
वृन्दावन संपति, दंपति हुलसत विलसत अति ही,
अपनी भरि-भरि उमंगन

---

१. घनानन्द, पृ० १५१, पद ५
२. घनानन्द-ग्रन्थावली, पृ० ४६६—विश्वनाथप्रसाद मिश्र
३. घनानन्द, पद १, पृ० १४६—शंभुनाथ बहुगुना

आनन्दघन अभिलाष भरे खरे भींगे—
रस-सागर की अतुल तरंगन ।[1]

खयाल-शैली में गाने के लिये पद-रचना भी उन्होंने की है—

पूर्वी खयाल (इकताला)

मेरो मन मेरे हाथ नहीं कहा करिये री बीर
ब्रज मोहन-बिछुरन की सखी री निपट अटपटी पीर
कैसे धीरज धरि हों सखी नैनन भरि-भरि आवत नीर
आनन्द घन ब्रजमोहन जानी प्रान पपीहा अधीर ।

दादरा

तेरी सूरत देखिवे को मेरे लालची नैन भये,
तरसत, बरसत रहत रैन दिन ऐसी चाँह छये ।
ऐहो कान्ह, कहाँ तें कीन्हीं हु जू दिखाई न दीनी अये
आनन्दघन पिया प्रान-पपीहा भरोसे ही गिधये ।[2]

नागरीदासजी ने भी प्रायः परम्परागत रागों का ही प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त राग-रागिनियों में से मुख्य ये हैं—

पद, अरागनो, परज, खमाज, सोरठ, काफी ईमन, विहाग, विभास, मलार, आसावरी, टोड़ी, नायकी, देवगन्धार, बिलावल, सारंग की पूर्वी, कामोद, धनाश्री, केदारो नट, हिन्डोल, रामकली, भिंझोटी, मल्हार, ललित कल्याण, छायानट, भीमपलासी, जैजैवन्ती, हमीर, कान्हरो। इनके अतिरिक्त उन्होंने कुछ नये रागों का भी प्रयोग किया है जिनमें मुख्य हैं सावंत, सारंग तथा ऐराक। नागरीदासजी ने अनेक रागों में 'खयाल' लिखे हैं जो शास्त्रीय-संगीत के क्षेत्र में काफी लोकप्रिय और प्रचलित हैं। निम्नोक्त पद में चमत्कारपूर्ण ढंग से अनेक रागों का उल्लेख किया गया है—

सारंगनैनी काहे तैं कियौ एतो मान !
गौरी अब हट छांड मिले लालन एही ते होत कल्यान
जिन हठ करही नन्द नागर सों मेरु होत देवगान
मुरली राग कान्ह रोपावत सुन हेरी दे कान
रंग रंगीली सुघट नायकी याही ते होत अड़ाण
नन्ददास केदारो गायें याही ते होत विहाग

उन्होंने रागों का प्रयोग समय और ऋतु-सिद्धान्तों के अनुकूल किया है।

दरबारी वातावरण में जिन आलंकारिक चमत्कारों तथा प्रदर्शन-वृत्तियों को संगीत में आश्रय मिल रहा था, उन सबसे नागरीदास का परिचय था, इस बात के पूर्ण प्रमाण मिलते हैं। उनकी रचनाओं में शास्त्रीय-संगीत की अनेक सूक्ष्मताओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिससे

१. घनानन्द, पद १०, पृ० १५१—शं० ना० बहुगुना
२. ,, पद ८५ पृ० ५७, ,, ,,

प्रमाणित होता है कि वे बड़े संगीतविज्ञ रहे होंगे। एक स्थान पर उन्होंने 'अलाप चारी' शब्द का प्रयोग किया है तथा उसका उल्लेख इस प्रकार किया है—'या पदन इन वघाइन हिंडोरा इत्यादि के पदन या अनुक्रम रेखता जवान के इन घुरपदों तथा खयालों की अलापचारी में देने ये दोहा········' गायन आरम्भ करने के पूर्व अलापचारी में उस राग के स्वरों को भरते हैं जिसका गीत उन्हें गाना होता है, जिससे राग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कहीं-कहीं अलापचारी के दोहों के बाद राग की परिभाषा, उसका स्थान और उससे प्राप्त होने वाले प्रभाव का वर्णन करते हैं। जैसे—

खिलत कमोदनि कुसुम ज्यों, निरखि चन्द की कोह।
त्यों जिय सुनत प्रमोद ह्वै, मधुमय राग कमोद।

तथा

छैल छली पनघट रह्यौ, राग कमोदहि गाय।
मंत्र मोही पनिहारिनी, प्रेम वारुनी पाय।

नृत्य-रूपों के प्रयोग में हस्त-संचालन, मंडल और विभिन्न मुद्राओं पर कत्यक शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनका रास नृत्य नन्ददास और सूरदास द्वारा चित्रित रास के समान ही भाव और तन्मयता-जन्य है, उसकी गति और ध्वनि सजीव और सप्राण है—

निर्तत हैं ब्रजबामा, सुन्दर छवि अभिरामा
दामिनि तन-दुति राजै, मुख कुंडल थहरनि साजै
थहरत कुंडल फहरत अंचल, नहिं ठहरत उर माला
खूंटत बेनी फूटत फूल सूं पिय मन लूटत बाला
सरस संगीतन घट तन उघटत ततरंग तकिकट कटि लोनी
तत थेई थेई थेई भ्रूमकट तक थो परन परत सुठौनी
झन झन झनकत किंकिनि खनकत वलियां कंकन
उरप तिरप नट अलग लाग में लेत भुजन भरि अंकन

इसके अतिरिक्त ब्रजलीला ग्रन्थ के शीर्षक 'अथरास लीला खंड' के पदों में कत्यक नृत्य के अनेक बोलों का समावेश हुआ है। 'थे इत इत थेई थेई थेई देती' उरप तिरप, इत्यादि नृत्य की अनेक शब्दावलियों का समावेश किया गया है। एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

थेई ता त्थेई थुग धमकट तमताधा लांग उमट तुघट ठाठ ठटक्यों सु ठट्क्यौ
देखि नवरंगी की ललित कटि भंगी तहां कट्यौ है निकट भूलि भटक्यो सो
भटक्यौ।
नागर नवल नट नृत्यकारी को निहारि लोक विधि वेद वाद पटक्यौ
सो पटक्यौ
पीत पट चटकन लट में लपटि मन मुकुट लटक मांझ अटक्यौ सु अटक्यौ

निष्कर्ष यह है कि संगीत क्षेत्र में अधिकतर कृष्ण-भक्त कवि, परम्परा का ही पिष्ट-पेषण करते रहे। घनानन्द और नागरीदास जैसे कवियों ने, जिनका सम्बन्ध राज-दरबार

से था, उसमें समसामयिक तत्वों का समावेश किया तथा तत्कालीन उदित होती हुई शैलियों के क्षेत्र में नये प्रयोग किये। संगीत और काव्य का सम्बन्ध अब भी सम्पृक्त रहा और पूर्वमध्य काल के समान ही कृष्ण-भक्ति काव्य में तत्कालीन संगीतज्ञों की रसिक-शृंगारी वृत्तियों को आधार भूमि प्राप्त हुई।

## आधुनिक कृष्ण-भक्ति काव्य में संगीत-तत्व

आधुनिक काल के बौद्धिक जागरण के युग में कविता के प्रति दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया उससे मध्ययुग में पल्लवित और विकसित संगीत चित्रकला और काव्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पूर्ण रूप से विच्छिन्न हो गया। आधुनिक काल में जिन कवियों ने पुरानी काव्य-परम्पराओं को बनाये रखा, उन्होंने भी अपनी रचनायें पदों में न करके अधिकतर कवित्त और सवैयों में कीं, और संगीत को उनमें कोई स्थान नहीं प्रदान किया। केवल भारतेन्दु ही इसके अपवाद हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को इस परम्परा का अंतिम कवि माना जा सकता है।

इस काल में संगीत और हिन्दी-कविता के सम्बन्ध-विच्छेद का एक बड़ा कारण यह भी था कि अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद संगीतकारों को विविध देशी नरेशों और नवाबों के दरबारों में संरक्षण प्राप्त हुआ। मध्यकाल की भांति ही शास्त्रीय-संगीत अनेक परिसीमाओं के साथ राजदरबारों में ही लड़खड़ाता और उठता गिरता रहा परन्तु हिन्दी कविता का सम्बन्ध दरबार से टूट कर जनता के साथ स्थापित हुआ। ऐसी स्थिति में दोनों का एक-दूसरे से पृथक् हो जाना स्वाभाविक ही था।

जिस प्रकार जीवन के विविध क्षेत्रों से विषय-ग्रहण करती हुई आधुनिक कविता के विकास-काल में भारतेन्दुजी ने अपने वैयक्तिक संस्कारों के फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति परम्परा को भी बनाये रखा, इसी प्रकार वैयक्तिक तथा पारिवारिक संस्कारों और परिवेश के प्रभाव-स्वरूप उन्होंने काव्य और संगीत का सम्बन्ध भी बनाये रखा। परम्परागत संगीत-प्रयोग के अतिरिक्त लोक-संगीत की ध्वनियों में भी उन्होंने अपनी कविता को ढाला। कदाचित् उनका उद्देश्य इन लोक-गीतों के द्वारा अपना स्वर जनता तक पहुँचाना ही था।

## राग-रागिनियों का परम्परागत रूप

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने अपने पदों में उन सभी रागों का प्रयोग किया है, जिनका प्रयोग मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने किया था। उनके द्वारा प्रयुक्त रागों में से कुछ प्रमुख रागों का उल्लेख इस प्रकार है—

काफी, झिझोटी, सोरठ, पीलू, कलिंगड़ा, हिंडोला, सारंग, भैरवी, पूर्वी, गोरी सिंदूरा, आसावरी, इमन कल्याण, बिहाग, मालव, खमाच, वसन्त, मालकोस भैरव, धनाश्री, देश, अहीरी, विभास, रामकली, भीमपलासी, जोगिया, टोड़ी केदार, कान्हरा, बिलावल, मारू।

संगीत-शास्त्रियों के अनुसार आधुनिक काल तक आते-आते इन रागों के रूप में बहुत परिवर्तन आ गया था। इसके अतिरिक्त अहीरी, जोगिया जैसे रागों का प्रयोग भक्तिकालीन

कवियों ने प्रायः नहीं किया है। भारतेन्दुजी के राग-प्रयोग में भी भक्तिकाल और रीतिकाल की प्रवृत्तियों का संगम मिलता है।

इन रागों के प्रयोग में विषयानुरूपता की ओर कवि का विशेष ध्यान रहा है। उपरि-लिखित प्रायः सभी रागों की प्रकृति कोमल, स्निग्ध अथवा करुण है जो उनके प्रतिपाद्य के अनुकूल पड़ता है। मारू राग का प्रयोग भारतेन्दुजी ने कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा को छोड़कर उसके मौलिक रूप में किया है। पहले कहा जा चुका है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने परुष-प्रकृति के रागों को भी कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल बना लिया था, मारू राग का प्रयोग उन्होंने विप्रलम्भ शृंगार की करुणा और मान-जन्य दैन्य के व्यक्तीकरण के लिये किया था; परन्तु भारतेन्दुजी ने उसका प्रयोग वीररस के उपयुक्त वातावरण से युक्त पदों में किया है। निम्नलिखित पद में प्रसंग यद्यपि शृंगार का ही है, परन्तु युद्ध-रूपक के प्रयोग के कारण मारू राग का प्रयोग अत्यन्त उचित बन पड़ा है—

विजयदशमी मारू

मान गढ़ लंक पर विजय को मानिनी,
आज व्रजराज रघुराज बनि के चढ़े।
भृकुटि-धनु नयन-शर विकट संधानि के,
मुकुट की ढाल करवाल अलकन कढ़े।
कोकिला कड़कि उधरत कड़खन ही,
वदत वन्दी विरद भंवर आगे बढ़े,
कोक की कारिमा वानरो संत लै,
दास हरिचंद रति-विजय आनन्द मढ़े।[1]

राग-प्रयोग में समय तथा ऋतु-सिद्धान्तों का निर्वाह भी भारतेन्दुजी ने सम्यक् रूप में किया है। कृष्ण के प्रातःकालीन क्रियाकलापों तथा लीलाओं के वर्णन में भैरव, भैरवी, आसावरी, विलावल इत्यादि राग प्रयुक्त हुए हैं। आधी रात के समय विरहिणी की व्यथाओं के व्यक्तीकरण के लिये रात्रि में गाये जाने वाले देस, विहाग, सोरठ इत्यादि राग प्रयुक्त हुए हैं। सन्ध्याकालीन प्रतीक्षा में अधिकतर सन्धिप्रकाश राग गौरी का प्रयोग हुआ है। हरिश्चन्द्रजी ने अनेक पदों में रागों का निर्देश न करके 'यथारुचि' राग-प्रयोग की स्वतन्त्रता दे दी है।

'अनत विलम' कर सुबह घर लौटने वाले नायक के प्रति खण्डिता नायिका की उक्तियाँ 'भैरव' राग में वद्ध की गई हैं। कुछ रागों का प्रयोग केवल समय-सिद्धांत को ध्यान में रखकर किया गया है। उदाहरण के लिये, विहाग राग का प्रयोग एक ओर 'जाड़े में पौढ़िवे को पद' की स्थूल क्रीड़ाओं के वर्णन के लिये किया गया है—

रजाई करत रजाई मांहीं
राजा कृष्ण राधिका रानी दिये बांह में बांहीं।[2]

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ४७०, पद ९९
२. भारतेन्दु-राग-संग्रह, पृ० ४७१, पद १०१

तथा

रसिक गिरवर संग सेज सोई भली ।[1]

तो दूसरी ओर विरहजन्य आकुलता के व्यक्तीकरण में भी विहाग का प्रयोग मिलता है—

अरे कोउ लाइ मिलाओ री प्रान-पिया मेरे साथ ।
कैसे भरो जोवन मेरो उमग्यो मरत जिआओ रे ।
इन दुखिया अँखियन को सुन्दर रूप दिखाओ रे ।
'हरीचन्द' दुख अगिन दहकि रही धाइ बुझाओ रे ।[2]

ऋतु-सिद्धान्त के निर्वाह की ओर भी उनका ध्यान रहा है। वसन्त के उल्लास के व्यक्तीकरण के लिये अधिकतर वसन्त राग का प्रयोग किया गया है। होली के पदों में काफी राग की बहुलता है परन्तु विहाग, सिन्दूरा, धनाश्री, देस, आसावरी, पूर्वी, गोरी, कल्याण, अहीरी, विभास, सोरठ, रामकली, पीलू इत्यादि रागों का प्रयोग हुआ है। 'वर्षा-विनोद' के अधिकांश पद मल्हार राग में लिखे गए हैं। मल्हार राग के बोलों का स्वर-बन्ध उन्होंने विविध शैलियों में किया है; ठुमरी, दादरा, ध्रुवपद धमार सब शैलियों का प्रयोग इस राग के गीतों में हुआ है। उनका उल्लेख विविध शैलियों के अन्तर्गत किया जाएगा।

## संगीत तथा नृत्य-सम्बन्धी शब्दावलियों का प्रयोग

भारतेन्दु की रचनाओं में संगीत सम्बन्धी-शब्दावलियों का प्रयोग बहुत ही कम मात्रा में हुआ है और उसका रूप पूर्ण परम्परागत है। उन्होंने विभिन्न शैलियों में प्रयुक्त होने वाले प्रायः सभी प्रमुख तालों का प्रयोग अपने पदों में किया है। चर्चरी, आड़ा, तिताला, झपताल, दादरा, एकताल, चौताल, धमार तालों का प्रयोग मुख्य रूप से हुआ है। नृत्य-रूपों के उल्लेख में भी परम्परा का ही आवेश अधिक मिलता है। रास के पद पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं के अनुकरण पर लिखे गये जान पड़ते हैं—

फिर लीजै वह तान अहो पिय फिरि लीजै वह तान ।
नि नि ध ध प प म म ग ग रि रि सा सा मोहन चतुर सुजान ।
उदित चन्द्र निर्मल नभ मंडल थकि गये देव विमान ।
कुणित किंकिनी नूपुर बाजत झन-झन शब्द महान ।[3]

नृत्य-सम्बन्धी उल्लेख भी प्रायः परम्परागत ही हैं—

लाग डाट सुर-बंधान गावत अचूक तान
ततथेई ततथेई थेई गति अभिरामिनी ।[4]

वाद्य यन्त्रों का उल्लेख भी पूर्वकथित आधार पर हुआ है—

१. राग-संग्रह, पृष्ठ ४७१, पद १०४
२. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३६६, पद १६, मधु मुकुल
३. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६२, पद ७४
४. ,, ,, पृष्ठ ४६४, पद ८१

बजत मृदंग उपंग चंग मिलि मजनन जति तति जास
बढ़्यौ रंग रतिरंग दंग लखि अंग उमंग प्रकास
मुरली रली मली बाजत मिलि बीन लीन सुर खास
ताल देत उत्ताल बजावत ताल-ताल करि हास ।[1]

एक स्थान पर उन्होंने गुजरात के प्रसिद्ध गर्वा नृत्य के लिये गरवा गीत भी लिखा है। जिस प्रकार उन्होंने अनेक प्रादेशिक भाषाओं में रचनायें लिखी हैं, प्रस्तुत गर्वा गीत संगीत के क्षेत्र में भी इसी प्रकार का प्रयोग जान पड़ता है—

गरवो

थारे मुख पर सुन्दर स्याम लहूरी लट लटकै छे
जेते जोई ते म्हारो मन लाल, जाइ जाइ अटके छे
थारा सुन्दर नैन विसाल प्यारा अति रूड़ा छे
जेते जोई ने जग ना रूप लागे मूंडा छे।[2]

तथा

जेतो सुन्दर श्याम सरूप कृष्ण जेवो सोहे छे।
जेते कुंकुम तिलक ललाट म्हारूं मन मोहे छे।
जेते नैणा जुगल विसाल कृपा-रस भरी रह्या छे।
जेमा राधा कृष्ण ना रूप शोभा करी रह्या छे।[3]

## विविध संगीत-शैलियां

भारतेन्दु की रचनाओं में विविध संगीत-शैलियों का प्रयोग हुआ है। हरिदास और सूरदास द्वारा प्रवर्तित और विकसित शास्त्रीय संगीत रीतिकाल में विदेशी तत्वों के सम्पर्क में आया, जिसके प्रभावस्वरूप उसके स्वरूप तथा विधाओं में बहुत परिवर्तन हो गया और रीतिकाल की हल्की-फुल्की, चंचल और चपल शैलियों का प्रयोग हुआ। कृष्ण-काव्य-परम्परा के आधुनिक कवियों ने जिस प्रकार काव्य-अभिव्यंजना के अन्य क्षेत्रों में भक्तिकालीन और रीतिकालीन प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण किया उसी प्रकार भारतेन्दुजी ने संगीत के क्षेत्र में भी अपने समय में प्रचलित प्राचीन तथा अर्वाचीन, भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों का समन्वय किया। पूर्व-मध्यकालीन ध्रुवपदों की रचना उन्होंने विविध रागों में की। पदों में दीर्घ-पंक्तियों, कवित्त, छंद और ध्रुवपद के अनुकूल तालों का प्रयोग तो उन्होंने किया ही है, ध्रुवपद शब्द का स्पष्ट उल्लेख भी अनेक पदों के ऊपर किया गया है। जैसे—

ध्रुवपद मलार

आयो पावस प्रचंड सब जग में मचाई धूम,
कारे घन घेरि चारों ओर छाय।

---

१. भारतेन्दु-ग्रंथावली, पृष्ठ ४७४, पद १११
२. प्रेमप्रलाप, पद ५८, पृष्ठ २९४
३. प्रेमप्रलाप, पद ५९, पृष्ठ २९५

गरजि गरजि तरजि तरजि बीजु चमक चहुँ दिसि
सो वरखत जल धार लेत धरनि छिपाय।
मोर रोर दादुर रव कोकिल कल झींगुर झन करुन
ऐसी समय रहे मिलि कंठ लिपटाय।[१]

धुरपद तोड़ी वा गौड़-मलार (चौताला)

तायेई तायेई तायेई नाचै री मदन मोहन रास रंग
वधुन संग लाग डांट लेत उरप तिरप महामोद बढ़्यौ
व्रज-जुवतिन-मध्य आनन्द राचै री।
ततधा ततधा ततधा बाजै मृदंग सरस तकिटधा
तकिटधा छवि लखि महा मोद मांचै री।
छवि लखि शिव मोहे आय नाचत डमरू बजाय
डिमि डिमि डिमि डिमिर डिमिर जस तहां
हरीचंद विमल वांचै री।[२]

## खयाल-शैली

भारतेन्दुजी ने अनेक पदों की रचना खयाल-शैली में गाने के लिये भी की और अनेक रागों के खयाल लिखे। आधुनिक काल में परिस्थितियों के फेर से दुर्भाग्यवश शास्त्रीय संगीत को उचित संरक्षण नहीं प्राप्त हो सका, नहीं तो कदाचित् भारतेन्दुजी के खयाल भी संगीतज्ञों में ख्याति प्राप्त कर चुके होते। खयाल की शृंगार-सहज चपल वृत्ति के उपयुक्त ही इन पदों की शब्दावली का निर्माण हुआ है। उदाहरण के लिये एक खयाल प्रस्तुत किया जाता है—

खयाल

न जाय मोसों ऐसो झोंका सहीलो ना जाय।
झुलाओ धीरे डर लगै भारी बलिहारी हो बिहारी,
मोसों ऐसो झोंका सहीलो न जाय।
देखो कर धर मेरी छाती धर धर करै पग दोऊ रहे थहराय हाय
'हरीचंद' निपट मैं तो डरि गई प्यारे मोहिनि हे झट गरवा लगाय
न जाय मोसों ऐसो झोंका सहीलो न जाय।[३]

## ठुमरी और दादरा

ठुमरी की शैली खयाल से भी अधिक चपल और चंचल होती है। भारतेन्दुजी के

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५०३, वर्षा-विनोद, पद ५२
२. वर्षा-विनोद, पद ५६, पृ० ५०६
३. प्रेमतरंग, पृ० १६१

समय में ठुमरी और दादरा बहुत प्रचलित थे। उन्होंने अपनी प्रेमतरंग, प्रेमप्रलाप तथा राग-संग्रह आदि कृतियों में अपनी दर्जनों ठुमरियों और दादरों का संकलन किया है। दोनों के कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं।

ठुमरी

झूम झूम के मोरे आये पियरवा।
दौरि दौरि लगे मोरे गरवा॥
हरीचंद लटकीली चाल चलि गर डोर मोतियन को हरवा।[1]

तथा

आज तोहि मिल्यो गोरी कुंजन पियरवा
काहे बोलै झूठे बैन कहै देत तेरे नैन,
देखु न बिथुर रहे मुख पर बरवा।
अंगिया के बन्द टूटे कर सों कंकण छूटे,
अपने प्रीतम जी के लागी है तू गरवा।
हरीचन्द लाज मेरी गाढ़े भुज भर भेंटी,
हूं हूं के उपटि भये चार चार हरवा।[2]

दादरा की गति इससे भी चपल है—

सैयां बेदरदी दरद नहीं जानै।
प्रान दिये बदनाम भये पर नेक प्रीति नहिं मानै,
हरीचन्द अलगरजी प्यारा दया नहीं जिय आनै।[1]

भारतेन्दु द्वारा रचित शास्त्रीय संगीत की इन विभिन्न शैलियों के पदों को देखकर ही उनकी विशेषताओं तथा एक-दूसरे के बीच अन्तर का पता लगाया जा सकता है। भारतेन्दु की काव्य-क्षमता तथा संगीत-प्रियता दोनों का ही प्रमाण इन रचनाओं में मिलता है।

इन शैलियों के अतिरिक्त उन्होंने रेखता, लावनी और गजल भी लिखे, परन्तु उनका सम्बन्ध कृष्ण-भक्ति काव्य और व्रजभाषा से अधिक नहीं है। अधिकतर उनका प्रयोग इतर रचनाओं में किया गया है। धमार-शैली का प्रयोग होली के पदों में किया गया है।

## लोक-गीत शैलियां

भारतेन्दुजी ने दो प्रकार के लोक-गीतों की रचना की है (१) ऋतु-सम्बन्धी लोक-गीत, (२) उत्सव तथा पर्व सम्बन्धी लोक-गीत। प्रथम कोटि के लोक-गीतों में प्रमुख हैं होली,

---

१. प्रेमतरंग, पृष्ठ ३८३, होली-पद ५६
२. प्रेमतरंग, पद २६, पृ० १८३
३. प्रेमतरंग, पद १४, पृ० १८१

बारहमासा, कजली और सावन तथा द्वितीय कोटि के लोक-गीत हैं विवाह-सम्बन्धी बधाई, बन्ना, गाली इत्यादि।

ध्रुवपद और धमार-शैली में लिखी गई होलियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। होली के गीतों में उन्होंने उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में प्रचलित धुन और लय का प्रयोग किया है। डफ की होली के नाम से फागुन के गीतों की रचना की है। दोनों ही प्रकार की लयों का एक-एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है। पूर्व में प्रचलित होली के लोक-गीत की लय विलम्बित होती है। निम्नलिखित पंक्तियां उस लय को ही ध्यान में रखकर लिखी गई हैं—

अरे जोगिया हो कौन देस तें आयो,
हां हां रे जोगी मीठे तेरे बोल (टेक)
आंखें लाल बनीं मदमाती कुसुम फूल के रंग।
मानो शिव बरसाने आयो चेला न कोई संग।
हां हां रे जोगी पहिरे बघम्बर चोल।
हां हां रे जोगी मीठे तेरे बोल।[1]

डफ की होली की लय द्रुत तथा गति चंचल है। अनेक होलियां उन्होंने इस शैली में लिखी हैं। सामूहिक गान में व्यक्त उल्लास इसमें प्रगाढ़ होता है—

डफ की

अरे गुदना रे—गोरी तेरे गोरे मुख पर बहुत खिल्यो गुदना रे
अरे रसिया रे—गोरी वापै घायल मायल होय रह्यो
अरे दुपटा रे—गोरी तापै सुरख अबीरी और फब्यो
अरे मोहना रे—गोरी तेरे संग फिरै घर-बार तज्यो।[2]

'वर्षा-विनोद' में अनेक पद मिर्ज़ापुरी कजली की तर्ज पर लिखे गये हैं। एक पद इस प्रकार है—

मोहैं नंद के कंधाई बिलमाई रे हरी
बहे पुरवाई और बदरिया झुकि आई रामा,
कुंज में बुलाई ब्रजराई रे हरी
रसिया बजाई सुनि सखी उठि धाई रामा
सब जुरि आई रस बरसाई रे हरी।[3]

बारहमासा में भी पूर्व में प्रचलित लोक-गीत की धुन ही मिलती है।

भारतेन्दुजी के काव्य में लोक-गीत के इन तत्वों के समावेश से यह अनुमान होता है कि जिस प्रकार उन्होंने अन्य अनेक साधनों से हिन्दी-कविता को एक संकीर्ण सीमा से निकाल

---

१. प्रेमतरंग, होली, पृष्ठ ३६३, पद ८
२. प्रेमतरंग, होली, पद ७२, पृ० ३८६
३. वर्षा-विनोद, पृ० ५१०, पद ६२

कर जनता की वस्तु बनाने का प्रयास किया, उसी प्रकार शास्त्रीय संगीत के साथ ही साथ उन्होंने जन-संगीत को भी प्रश्रय दिया। हिन्दी-कविता को जनता के निकट लाने के लिए ही कदाचित् उन्होंने लोक-संगीत को अपने काव्य में स्थान दिया हो।

कविता और संगीत का वह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, जो शताब्दियों पहले हरिदास और सूरदास जैसे व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित किया गया था, आधुनिक काल के प्रथम चरण में ही समाप्त हो गया। मध्ययुग के सामन्तीय संरक्षण में जिस कला-चेतना का विकास हुआ था, उसका पूर्ण विकसित रूप हमें कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में मिलता है। आधुनिक युग में जीवन-दृष्टि के परिवर्तन के साथ ही वह चेतना प्रायः समाप्त हो गई।

## कृष्ण-भक्ति काव्य में छन्द-योजना

काव्य में ध्वनि का विशेष क्रम निर्धारित करने से उसमें आह्लादक तत्व और रमणीयता का समावेश होता है। छन्द के माधुर्य और स्वर-संयोजन के लिए कवि अपनी सौन्दर्य-बोध-वृत्ति का सचेतन उपयोग करता है। छन्द-रचना के लिये विशिष्ट नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। प्रत्येक छन्द किसी न किसी नियम से परिचालित होता है। ये नियम प्रत्येक भाषा की प्रकृति और उच्चारण-पद्धति के अनुसार अलग-अलग होते हैं। नियम का यह प्रयोग कवि चाहे सचेतन रूप से करता हो अथवा उनका स्फुरण स्वतः ही हो जाता हो, उनका योग छन्द के अस्तित्व के लिए आवश्यक है।

इस प्रकार छन्द-रचना के प्रति जागरूकता कवि-व्यापार का एक प्रमुख अंग सिद्ध होता है। इस चेतन प्रक्रिया के कारण ही छन्द को एक बाह्य संस्कार मात्र मानकर आज उसका विरोध किया जा रहा है; परन्तु छन्द भी काव्य में मनोभावों के चित्रण का वैसा ही साधन है जैसे कि अभिव्यंजना के अन्य तत्व।

## कृष्ण-भक्त कवियों की छन्द-योजना

कृष्ण-भक्त कवियों की छंद-योजना के दो रूप प्राप्त होते हैं—(१) प्रत्यक्ष छन्द-विधान, (२) गेय पदों में प्रयुक्त छंद-विधान। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि इन कवियों ने छन्दों के नियमों की ओर ध्यान न देकर स्वतन्त्र रूप से पद-रचना की है और उनकी रचनाओं में गेय पदों का अनुपात ही अधिक है। किसी विशेष कवि के सम्बन्ध में चाहे यह बात लागू हो सकती हो, परन्तु समग्र रूप से कृष्ण-भक्त कवियों के पदों में एक विशिष्ट छन्द-विधान मिलता है। प्रस्तुत अध्याय में कृष्ण-भक्त कवियों के छन्द-विधान का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

### सूरदास का छन्द-विधान

सूरदास की पद-योजना पर विचार करते हुए सबसे पहली बात यह ध्यान में रखने की है कि उन्होंने सम्पूर्ण सूरसागर की रचना गेयता को प्रधान रूप से दृष्टि में रखकर की है। सूरसागर में सूर ने अनेक छन्दों को राग-रागिनियों और तालों में बाँधकर नियोजित किया है। अतएव राग-रागिनियों और टेक इत्यादि से पूर्ण रूप से मुक्त छन्दात्मक रचनायें

सूरसागर में प्रायः नहीं हैं। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि वर्णनात्मक प्रसंगों के छंदों में संगीत के वाह्य तत्वों का आरोपण अपेक्षाकृत कम हुआ है। वर्णनात्मक प्रसंगों में प्रयुक्त छन्द अधिकतर हैं चौपाई, चौपई, दोहा और रोला।

इन छन्दों के विधान में शुद्धता और सरलता ध्यान में रखी गई है। डा० व्रजेश्वर वर्मा ने इन वर्णनात्मक स्थलों में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन इस प्रकार किया है—"सूरसागर में जिन सरलतम छन्दों का उपयोग हुआ वे १५ और १६ मात्राओं वाले चौबोला, चौपई और चौपाई हैं, यद्यपि पादाकुलक तथा उसके भेद-प्रभेदों के उदाहरण भी ढूंढ़े जा सकते हैं पर कवि ने पादाकुलक और चौपाई में कदाचित् कोई भेद नहीं समझा, क्योंकि प्रायः एक चरण चौपाई और दूसरा पादाकुलक का एक साथ मिलता है।"[1]

इन छन्दों का प्रयोग भागवत-प्रसंग में हुआ है। अन्य सभी स्थलों पर उक्त छन्दों तथा अन्य छन्दों के विधान में टेक, रे, री, हो, सखि इत्यादि के प्रयोग, राग और ताल बन्ध के द्वारा संगीतात्मकता के समावेश के प्रति पूर्ण सचेष्टता दिखाई पड़ती है। सूरदास के पदों में निम्नलिखित छन्दों का विधान मिलता है—

चौपाई

ह्वै हैं पुत्र भक्त अति ज्ञानी। जाकी जग में चलै कहानी।
मुंडमाल सिव ग्रीवा कैसी। मोसों बरनि सुनावौ तैसी
उमा कही मैं तो नहिं जानी। अरु सिवहू मोसों न बखानी।[2]

चौपई

यह बर दै हरि कियौ उपाय, नारद मन संसय उपजाइ।[3]

तथा

व्यास पुत्र हित बहु तप कियौ, तब नारायन यह बर दियौ
तब नारद गिरजा पै गये, तिन सों ता विधि पूछत भये।[4]

पादाकुलक छन्द में चौपाई की गति की अपेक्षा अधिक चंचलता रहती है, क्योंकि इसके आदि में सदैव द्विकल रहता है—

भये नवद्रुम सुमन अनेक रंग, प्रति लसित लता संकुलित संग।
कर धरे धनुष कटि कसि निखंग। मनों बने सुभट सजि कवच, अंग।[5]

दोहों का प्रयोग शुद्ध तथा मिश्रित दोनों रूपों में हुआ है। सामान्य रूप से दोहे के ऊपर टेक जोड़कर बीच-बीच में हो, री, अरी इत्यादि वर्ण लगाकर, प्रत्येक पंक्ति में अर्धाली

१. सूरदास, डा० व्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७३
२. सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० २५४, पद २२६
३. ,, ,,
४. ,, ,,
५. ,, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५७५

जोड़ कर सूर ने उसका प्रयोग किया है। रोला छन्द के साथ मिलाकर भी दोहे का प्रयोग किया गया है।

वसन्त-वर्णन और जलक्रीड़ा-प्रसंग में भी इसी छन्द का प्रयोग हुआ है।[1]

दोहा और रोला का संयुक्त प्रयोग

दोहा

नन्दराइ सुत लाड़िले, सब ब्रज-जीवन-प्रान।
बार बार माता कहे, जागहु स्याम सुजान।

रोला

जसुमति लेति बुलाइ, भोर भयौ उठौ कन्हाइ
संग लिये सब सखा, द्वार ठाढ़े बल भाई।

डा० मनमोहन गौतम ने अपने प्रवन्ध 'सूर की काव्य कला' में उस समय में प्रचलित छन्द-विधान के विविध रूपों को खोज निकाला है और पदों की गेयता में प्रच्छन्न उन छन्दों के अस्तित्व की स्थापना करके सूर की कला पर लगाये गये एकांगिता के लांछन को मिटाने का प्रयास किया है। यही स्थापना करते हुए उन्होंने सूर की रचनाओं में वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति तथा भाटों की कवित्त-पद्धति का भी उल्लेख किया है। विनय के पदों में जैतश्री राग में बंधा हुआ छप्पय इस प्रकार है—

तब विलम्ब नहिं कियौ जबै हिरनाकुस मार्‌यौ।
तब विलम्ब नहिं कियौ केस गहि कंस पछार्‌यौ॥
तब विलम्ब नहिं कियौ सीस दस रावन कट्टे।[2]
तब विलम्ब नहिं कियौ सबै दानव दह पट्टे॥
कर जोरि सूर विनती करै सुनहु न हो रुक्मिनि रवन
काटौ न फंद मो अन्ध के अब विलम्ब करत कवन।[3]

घनाक्षरी, झूलना और चंचरी दंडकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है।[4]

झूलना दण्डक के प्रयोग में सूर ने विराम के नियमों का उल्लंघन किया है—

जयति नंदलाल जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजबाल आनन्दकारी।[5]

तथा

मातु पितु दुरित उद्धरन, ब्रज-उद्धरन, धरनि उद्धरन सिर मुकुट धारी।
पतित उद्धरन, निज भक्त उद्धरन, जनदीन उद्धरन, कुंडलिन धारी।[6]

---

१. सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, दशम स्कन्ध, पद ६१०
२. " " " " ४३१
३. " " " " १८०
४. " " " " ३६०, २०३८, २०३६, अष्टम स्कन्ध, पद ५
५. " " " " ४६०
६. " " " " २०८१

चंचरी दण्डक में १२, १२, १२, १० के विराम से ४६ मात्रायें होती हैं तथा अन्त में दो गुरु का विधान होता है। यह छन्द भी टेकयुक्त तथा टेकहीन दोनों रूपों में प्रयुक्त हुआ है—

मन्दिर में गये समाइ श्यामल तनु लखि न जाइ
वे सजे हैं रूप कहौ को सकै निवेरी।[1]

विहरत गोपाल राइ मनिमय रचे अंगनाइ
लरकत परिरंगनाय घूटुरुनि डोले।[2]

कहीं ४५ मात्रायें १३, १२, १२, ८ के विराम से हो गई हैं—

अरी मेरे लालन की आज वरस गाँठि सवै
सखिन को बुलाइ मंगल गान करावैं।[3]

१०, १०, १०, १० के क्रम से ४० मात्राओं का प्रयोग भी हुआ है—

ललित आंगन खेल, ठुमुकि ठुमुकि डोलें
झुनुक झुनुक बोलें पैंजनी मृदु मुखर।[4]

चौपाई के साथ गीतिका—

श्री जादवपति व्याहन आयौ, धनि धनि रुक्मिनि हरि वर पायौ।
स्यामधन हरि परम सुन्दर तड़ित बसन बिराजई।
अंग भूषन सूर ससि, पूरन कला मनु राजई।[5]

सार छंद

आवहु वेगि सकल दहुं दिसितें कत डोलत अकुलाने,
सुनि मृदु वचन देखि उन्नत कर, हरषि सबै समुहाने।
पाई पाई है रे भैया कुंज पुंज में टाली,
अवकैं अपनी हटक चरावहु जैहैं भटकी घाली।[6]

विष्णु पद—भक्ति-काल में यह छंद काफी प्रचलित और लोकप्रिय था। सूर ने भी उसका प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है—

---

१. सूरसागर, नागरी-प्रचारिणी सभा, दशम स्कन्ध, पद २७५
२. ,, ,, ,, ,, ,, १०१
३. ,, ,, १० स्कन्ध ,, ९५
४. ,, ,, १० स्कन्ध ,, १५१
५. ,, ,, १० स्कन्ध ,, ४१९
६. ,, ,, १० स्कन्ध ,, ५०३

व्रज वनिता सत जूथ मंडली, मिलि कर परस करैं।
भुज मृनाल भूषन तोरन जुत, कंचन खंभ खरैं।[1]

सरसी

आवहु आवहु इतैं कान्ह जू पाई हैं सब धेनु।
कुंज-पुंज में देखि हरे तृन, चरित परम सुख देनु।[2]

लावनी

'व्रज घर घर आनन्द बढ़्यों अति प्रेम पुलक न समात हिये
जाकों नेति नेति स्रुति गावत, ध्यावत सुर मुनि ध्यान धरे।[3]

समान सवैया

भावी नहीं मिटै काहू की, करता की गति जाति न जानी।
कहाँ कहां तैं स्याम न उबर्यो, किहि राख्यो तिहि औसर आनी।[4]

उपमान

आजु राधिका भोरहीं जसुमति के आई।[5]
गृह द्वारैं ही अजिर में गौ दुहत कन्हाई।[6]

हीर छन्द चंचल गति और प्रवाह की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है—

निसि के उनींदे नैन, तैसे रहे ढरि ढरि।
कीधौं कहुं प्यारी कों लागी टटकी नजर।[7]

कुंडल—यह भक्त कवियों का सर्वाधिक प्रिय छन्द है, अनुभूति और क्रिया में गतिशीलता के चित्रण के लिए इसका प्रयोग हुआ है—

चरन रुनित नूपुर कटि किंकिनि कल कूजै
मकराकृत कुंडल छवि, सूर कौन पूजै।[8]

तरुवर तब इक उपारि हनुमत कर लीन्यौ
किंकर कर पकरि वान, तीनि खण्ड कीन्यौ।

---

१. सूरसागर, स्कन्ध १०, पद ११३६
२. ,, ,, १० ,, ५०२
३. ,, ,, १० ,, ८८
४. ,, ,, १० ,, १३६८
५. ,, ,, १० ,, १३३५
६. ,, ,, १० ,, ७१४
७. ,, ,, १० ,, १२७०
८. सूरसागर, ,, १२८०

जोजन विस्तार सिला पवनसुत उपाटी।
किंकर करि बान लच्छि अन्तरिच्छ काटी।[1]

राधिका

ललिता को सुख दे चले, अपने निज धाम।[2]

तोमर

आकुलित पुलकित गात। अनुराग नैन चुचात।[3]

हरिगीतिका

बाजहिं जु बाजन सकल सुर नभ पुहुप अंजलि वरसहीं
थकि रहे व्योम विमान, मुनि जन जय सबद करि हरषहीं
सुनि सूरदासहिं भयो आनंद पुजी मन की साधिका
श्री लाल गिरिधर नवल दूलह दुलहिणी श्री राधिका।[4]

वीर छंद

वेद कमल मुख परसति जननी अंक लिये सुत रति कर स्याम।
परम सुभग जु अरुन कोमल रुचि, आनन्दित मन पूरन काम।[5]

समान सवैया

गोरस मथत नाद इक उपजत किंकिनि धुनि सुनि स्रवन रमावति
सूरस्याम अंचरा धरि ठाढ़े काम कसौटी कसि दिखरावति।[6]

तथा

ठाढ़ी अजिर जसोदा अपने, हरिहिं लिये चंदा दिखरावति
सोवत कत बलि जाउं तुम्हारी, देखौं धौं भरि नैन जुड़ावति[7]

मत्त सवैया

नील वसन तनु, सजल जलद मनु, दामिनि छिवि भुज दंड चलावति।
चंद्र वदन लट, लटकि छवीली, मनहु अमृत रस व्याल चुरावति।[8]

हंसाल—इसका प्रयोग कालियदमन-प्रसंग में हुआ है—

झिरकि कै नारि, दै गारि गिरिधारि तब, पूंछ पर लात दै
अहि जगायो।

---

१. सूरसागर, पद पृ० ५४०
२. ,, ,, ,, ३७३
३. ,, ,, ,, १२४१
४. ,, ,, ,, १० स्कन्ध १०७२
५. ,, ,, ,, १० स्कन्ध ७७५
६. ,, ,, ,, १० स्कन्ध ७३७
७. ,, ,, ,, १० स्कंध ८०६
८. ,, ,, ,, १० स्कन्ध ७६७

हरिप्रिया—इस छन्द का प्रयोग अधिकतर प्रभातियों में हुआ है—

जसुमति दधि मथन करति बैठी वर धाम अजिर,
ठाढ़े हरि हँसत नान्हि दँतियन छवि छाजै।
चितवत चित लै चुराइ, सोभा बरनी न जाइ,
मनु मुनि-मन-हरन काज मोहिनी दल साजै।[1]

जागिये गोपाल लाल आनंद-निधि नन्द-बाल,
जसुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे।

## परमानन्ददासजी की छन्द-योजना

परमानन्ददासजी के छन्द-विधान में चमत्कार अथवा दीर्घ वर्णों से युक्त लम्बी-लम्बी पंक्तियों का विधान नहीं है। उन्होंने अधिकतर सार और सरसी छन्दों का प्रयोग किया है।

परमानन्ददासजी के अधिकतर पद टेक-युक्त हैं। टेकों की मात्रा का कोई निश्चित विधान नहीं है।

सरसी छन्द

जनम फल मानत जसोदा माय। टेक।
जब नंदलाल धूरि धूसर बपु, रहत कंठ लपटाय,
गोद बैठ गहि चिबुक मनोहर, बात कहत तुतराय।
अति आनन्द प्रेम-पुलकित तन, मुख चूंवत न अघाय,
परमानन्द मोद छिन छिन को, मो पै कह्यो न जाय।[2]

सार छंद

आज गोकुल में बजत बधाई। टेक।
नन्द महर के पूत भयो है, आनंद मंगल गाई।
गाम गाम तें जाति आपनी, घर घर तें सब आई॥
उदय भयो जाके कुलदीपक, आनंद की निधि छाई।
हरदी तेल फुलेल अछत दधि, बन्दनवार बंधाई॥[3]

निम्नलिखित पद में सार और सरसी छन्दों का संयुक्त विधान हुआ है—

नंद-गृह बाजत कहूं बधाई। टेक।
जुरि आई सब भोर आंगन में जन्मे कुंवर कन्हाई।

---

१. सूरसागर, पृ० ३११, पद ७६४
२. परमानन्दसागर, पृ० २, पद २
३. ,, ,, ,, २ ,, ३

सुनत चलीं सब ब्रज की सुन्दरि कर लिए कंचन थार।
कुमकुम केसर अच्छत स्रीफल, चलत ललित गति चाल।
आज मैया यह भली भई है, तुम घर ढोढा जायौ।
हृदै कमल फूल्यौ जो हमारौ, सुनत बहुत सुख पायौ।[1]

टेक के बाद तीसरी और चौथी पंक्ति में २७ मात्राओं के सरसी छंद का विधान है। तृतीय पंक्ति में गणना करने पर तो २८ मात्रायें आती हैं परन्तु पाठ में 'लिए' का 'ए' लघु रूप में उच्चरित होता है।

सवैया

वदन निहारति है नंदरानी। टेक।
कोटि काम सतकोटि चंद्रमा, कोटिक रवि, वारति जिय जानी।
सिव बिरंचि जिहि पार न पावत, सेष सहस गावत रसना री।
गोद खिलावति महरि जसोदा, परमानन्द किये बलिहारी।[2]

सवैया तथा चौपाई छन्द के विधान में बंधे हुए एक पद का उदाहरण देखिये—

हालरौ हुलरावै माता। टेक।
बलि बलि जाऊं घोस सुख दाता।
बलि लोहित कर चरन सरोजे, जे ब्रह्मादिक मनसा खोजे।
जसुमति अपनौ पुन्य विचारै, बार बार मुख-कमल निहारै
अखिल भुवनपति गरुड़ागामी, नन्द सुवन परमानंद स्वामी।[3]

सुनहु जसोदा आज कहूं तें गोकुल में इक पंडित आयौ
अपने सुत कौ हाथ दिखावौ, वोह कहै जो विधि निरमायौ
तुरतहि जन पठयौ देखन को, आनि बुलाय दियौ अरघासन
पांय पखारि पूजि अंजुली लें, तब द्विज पै मांग्यौ अनुसासन।[4]

वीर छंद

तिहारी बान मोंहि भावत लाल। टेक।
पास परोसिन अनख करति हैं, औरें कछू लगावत लाल।
ताकी साखि बिधाता जाने जिहि लालच उठि धावत लाल।
दधि कौ मथन और गृह कारज, तुम्हरे प्रेम बिसारत लाल।
परमानन्द प्रभु कुंवर लाड़िले, निरखि बदन सचु पावत लाल।[5]

---

१. परमानन्दसागर, पृष्ठ १०, पद २८
२. ,, ,, ११, पद ३०
३. ,, ,, १४, पद ४२। अन्य उदाहरण पद ५४, १६५
४. ,, ,, २०, पद ५८
५. ,, ,, २५, पद ७२

इस छंद में यति-दोष आ गया है।

कवित्त

देखि री रोहनि मैया, कैसे है बलदाऊ भैया,
जमुना के तीर मोंहि झुझुवा बतायो री।
सुबल सुदामा साथ, हंसि हंसि पूछें बात,
आप डरपे अरु मोंहि डरपायो री।
जहां जहीं बोलै मोर, चित्त रहत ताही ओर
भाजो रे भाजो भैया, वह देखो आयो री।
उछंग सों लियो लगाय, कंठ सो रहे लपटाय,
वारी रे वारी, मेरो हियो भरि आयो री।[1]

रूपमाला-शोभन

चरणान्त में न तो शोभन के अनुसार जगण का निर्वाह हुआ है और न रूपमाला के अनुसार लघु-गुरु के प्रयोग का—

धन धन लाड़िली के चरन। टेक।
अतिहि मृदुल सुगन्ध सीतल, कमल के से बरन।
नखचन्द चारु अनूप राजत, जोति जगमग करन।
नंद-सुत मन मोद-कारी, विरह-सागर तरन।[2]

एकाव पद ऐसे भी हैं जिनमें छन्द-विधान का कोई व्यवस्थित नियम नहीं दिखाई देता। हर पंक्ति की मात्रायें पृथक् हैं। उनके साथ जुड़ी हुई टेक की मात्राओं में भी बहुत वैभिन्न्य है—

रास मंडल मध्य मंडित मदन मोहन अधिक सोहत,
लाड़िली रूप निधान।
हस्त कमल चरन चारु नृत्यत आछी भांति,
मुख हास भ्रू विलास लेत नैन ही में भान,
गावत बजावत दोऊ रीझि परस्पर सचुपावत उरप
तिरप होड़न, विकट तान,
परमानन्द प्रभु किसोर औेर निरखत ललितादिक वारति
निज तन-मन-प्रान।[3]

लोक-गीत की धुन में लिखे हुए काफी राग में बंधे एक छंद में १४ मात्रा के छन्द का प्रयोग भी मिलता है, प्रतिपाद्य के अनुकूल समप्रवाही इसकी गति है। १४ मात्राओं के छन्द, सखी, हाकलि इत्यादि छन्दों में त्रिकल-योजना का विधान इसमें नहीं है, परन्तु उसकी

१. परमानन्दसागर, पृष्ठ ३४, पद १००
२. ,, ,, ४३, पद १६०
३. ,, ,, ७३, पद २३१

गतिशीलता में कोई अन्तर नहीं पड़ता—

हरि कारो री हरि कारो ।
यह द्वै वापन विच वारो ।।
हरि नटवा री हरि नटवा ।
राधा जू के आगे लटुवा ।
हरि खंजन री हरि खंजन ।
राधा जू के मन को रंजन ।[1]

अनेक पदों की रचना में दोहा और रोला की मिश्रित योजना की गई है ।

घर घर मंगल होत, कहा है आजु तुम्हारे
वहु विधि करत रसोइ, मद्ध हूँ गयो सकारे ।

रोला

मोहिं देखि सव कोई कह्यौ, ह्यां जिन आवो लाल ।
देव जग्य हम करति हैं, करि पकवान रसाल ।[2]

भ्रमरगीत-विषयक वर्णनात्मक पद चौपाई तथा दोहा छन्द में लिखा गया है। डा० दीनदयालु गुप्त ने भी अपने ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में इसका उल्लेख किया है—

कमल नैन मधुवन पढ़ि आये, ऊधौ गोपिन पास पठाये ।
व्रज जन जीवत हैं केहि लागी, रहते संग सदा अनुरागी ।
सवै सखी एकत भई, निरखत स्याम सरीर ।
आये चित के चोरना, कहां गये वलवीर ।[3]

## कुम्भनदास का छन्द-विधान

रूपमाला

मोहन मधुर कूजत वैंनु ।
सरस गीत संगीत उघटत, घरत मन नहिं चैंनु
जाइ मिलिये प्रानपति सौं, अंग व्याप्यौ मैंनु
दास कुम्भनलाल गिरधर, चलौं सव सुख दैंनु ।[4]

सार छंद

गृह-गृह ते नवला चपला सी, जुरि-जुरि झुंडन आई
लहंगा पीत हरे और राते, सारी श्वेत सुहाई

---

१. परमानन्दसागर पृ० ११३, पद ३३५
२. परमानन्द दास, पृ० ८६, पद २७२
३. डा० दीनदयालु गुप्त के परमानन्ददास-संग्रह से, पद ३२५
४. कुम्भनदास, पृ० ३, पद ४

अति भीनी झलकत नव रततन, जटित करन पिचकाई
कंचुकि कनक कपिल सब पहरें, तहं उरजन की छांई ।[१]

सरसी छंद

रामकली

पलना झूलत नंद लाल ।
बालक-लीला गावति हरषित, देति करन सों ताल
कुंभनदास बड़भागिनि रानी, वारति मुक्ता माल ।[२]

वीर छंद

रतन खचित कंचन को पलना, ता-मधि झूलत गिरधरलाल ।
जसुमति हरषि झुलावति गावति, सुन्दर गुन दै-दै कर तात ।
करि गुलगुली हँसावति हरि कों, कबहुंक मुख सों चुम्बति गाल ।[३]

सार छंद

अधिकतर पदों में सार छंद का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

प्रेम मुदित गावत गीतनि सब, व्रज बरसाने आये ।
श्री वृषभानु कीरति रानी जू, अति आदर करि लाये ।
कुशल सबै पूंछत नंद जू की, निरखि नैन भरि आये ।
देखो या बालक की लीला, कोटिक विघन नसाये ।[४]

सवैया

आजु दसहरा सुभ दिन नीको ।
गिरिधरलाल जवारो पहिरत, बन्यो भाल कुम्कुम को टीको
मात जसोदा करति आरति, वारति हार देत मोतिन को ।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धन धर, त्रिभुवन को सुख लागत फीको ।[५]

कवित्त

चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख-निधान
रास रच्यो कान्ह, तट कलिन्द-नन्दिनी ।
निर्तत जुवती समूह, राग रंग अति कुतूह
बाजति रस मूल, मुरलिका अनन्दिनी ।
बंसीवट निकट तहां, परम रमन भूमि जहां,
सकल सुखद बहत मलय, वायु-मंदिनी ।

---

१. कुम्भनदास, पृ० ३, पद ४
२. „ „ ३, „ ४
३. „ „ ३, „ ५
४. „ „ ५, „ १०
५. „ „ १८, „ २४

जाती ईषद विकास, कानन अतिसय सुवास,
राका निसि सरद मास, विमल चंदिनी ।[1]

हरिप्रिया छन्द

रास रंग नृत्य मान, अद्भुत गति लेत तान,
जमुन-पुलिन परम रवन, गिरिवरधर राजें ।
वनिता सत जूथ मंडल, गंडनि पै झलकै कुंडल ।
गावत केदार राग, सप्त सुरनि साजें ।[2]

द्वितीय पंक्ति में दो मात्राओं की वृद्धि तो अवश्य है परन्तु संगीत में बांधने पर वह दोष दूर हो जाता है । कुम्भनदास ने ओज और गति-पूर्ण स्थलों पर प्रायः इसी प्रकार के बड़े छन्दों का प्रयोग किया है ।

ताटंक छन्द के अन्त में मगण का निर्वाह नहीं हुआ है ।

डोलत फूली सी तू कहा री !
मृगनैनी देखियत है आजु, मुखचंद्र डहडह्यौ भारी ।
कंचुकी पीत लाल लहंगा पर वनी रगमगी सारी ।
काजर तिलक दियो नीकी विधि, रुचि-रुचि के मांग संवारी ।[3]

कवित्तों में ४२ से लेकर ४८ मात्राओं तक की पंक्तियां प्रयुक्त हुई हैं ।[4]

कुम्भनदास के पदों में उपरिलिखित कुछ छन्दों की योजना ही हुई है । दोहा और चौपाई का प्रयोग उन्होंने बिलकुल नहीं किया है । छन्दों के अनेक उद्धरण प्रस्तुत करने में विषय के अनावश्यक विस्तार के भय से विवेचन यहीं समाप्त किया जाता है ।

## नन्ददास की छन्द-योजना

नन्ददास की अधिकांश रचनायें छन्द-शैली में लिखी गई हैं और उनमें राग-रागिनियों तथा तालों का वन्धन नहीं है । पदावली के गीत ही पद-शैली में हैं । उन पदों में प्रयुक्त छन्द-विधान का विवेचन पृथक् रूप से किया जायेगा । शेष रचनाओं के छन्द-निर्णय में कोई कठिनाई नहीं पड़ती । डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में नन्ददास द्वारा प्रयुक्त छन्दों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । नन्ददासजी ने भी सूरदास की ही भांति छन्द तथा पद दोनों शैलियों में लिखा है । अन्तर केवल इतना है कि सूरदास के सागर में पदों का अनुपात अधिक है और नन्ददासजी की रचनाओं में छन्द-वन्धान का । वर्णनात्मक प्रतिपाद्य के व्यक्तीकरण के लिए उन्होंने चौपाई छंद का प्रयोग किया है, अतएव सुदामा-चरित और गोवर्धन-लीला में केवल चौपाई छन्द प्रयुक्त हुआ है । सूरदास की भांति ही वीच-वीच में चौवोला और चौपाई का समावेश भी उन्होंने किया है ।

१. कुम्भनदास, पृ० १९, पद २७,
२. ,, ,, २१ ,, ३४
३. ,, ,, १०७ ,, ३१९
४. ,, ,, ५०, ७४, ८८, २५०

डा० गुप्त के अनुसार चौपई छन्द का प्रयोग चौपाइयों के बीच-बीच ही हुआ है। नन्ददास की कृतियों में चौपाई और चौपई दोनों छन्दों का नाम चौपाई ही दिया हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि कवि ने इन दोनों छंदों में कोई भेद नहीं किया है। जगह-जगह पर १५ पंक्तियों का चौपाई छन्द प्रयुक्त हुआ है। दोहा और चौपाई छन्दों का मिश्रित प्रयोग विरह-मंजरी, रूपमंजरी, रसमंजरी और भाषा दशम स्कन्ध में हुआ है। सोरठा या दोहा किसी नियत क्रम के अनुसार नहीं प्रयुक्त हुए हैं। कहीं ६ और कहीं ८ अर्धालियों के बाद दोहे का प्रयोग किया गया है। कोष-ग्रन्थ अनेकार्थमंजरी और मानमंजरी दोहा छन्द में लिखे गये हैं।

रासपंचाध्यायी और सिद्धान्तपंचाध्यायी तथा रुक्मिणीमंगल में रोला छन्द का प्रयोग हुआ है। भंवर-गीत तथा श्याम-सगाई नामक ग्रन्थों की रचना रोला और दोहा छन्दों के मिश्रित प्रयोग द्वारा हुई है। कविता का आन्तरिक संगीत रोला में लिखे हुए ग्रंथों में पूर्ण रूप में प्रस्फुटित हो सका है।

रासपंचाध्यायी में कुछ दोहों का प्रयोग भी मिलता है। डा० दीनदयालु गुप्त ने इन्हें निश्चित रूप से प्रक्षिप्त माना है। वे कहते हैं—'रासपंचाध्यायी की छपी तथा कुछ हस्तलिखित प्रतियों में रोला छन्दों के बीच कुछ दोहे भी मिलते हैं जैसे प्रथम अध्याय में नीचे लिखे दोहे हैं—

> श्री सुक रूप अनूप की क्यों बरने कवि नंद,
> अब वृन्दावन बरनि हौं जहं वृन्दावन-चंद।
> श्री वृन्दावन-चंद बन कछु छवि बरनि न जाय,
> कृष्ण ललित लीला निमित धारि रह्यौ जड़ताय।[1]

इस प्रकार के दोहे रासपंचाध्यायी के प्रथम अध्याय में दो स्थानों पर हैं। दूसरे अध्याय में भी दो स्थानों पर और पांचवें अध्याय में एक स्थान पर मिलते हैं। विद्वान लेखक के विचार से ये दोहे प्रक्षिप्त हैं। इन दोहों का रोलाओं के बीच कोई क्रम नहीं है। रास-पंचाध्यायी के जिस प्रसंग का ये वर्णन करते हैं उसमें ये पुनरुक्ति-कारक हैं। उदाहरण-स्वरूप नीचे के दोहे और रोला में एक ही भाव है—

> श्री सुक रूप अनूप को क्यों बरने कवि नंद,
> अब वृन्दावन बरनिहौं जहं वृन्दावन चंद।
> अब सुन्दर श्री वृन्दावन को गाय सुनाऊं
> सकल सिद्धि दायक पै सबहो सब विधि पाऊं।[2]

इन दोहों को प्रक्षिप्त मानने का एक बहुत बड़ा तर्क डा० साहब का यह है कि ये दोहे रासपंचाध्यायी की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में नहीं मिलते, तथा इन दोहों की भाषा में उतना लालित्य नहीं है जो रोला छंदों की भाषा में है। इसके अतिरिक्त कुछ दोहे ऐसे भी

१. रासपंचाध्यायी, पहला अध्याय, पृ० ३—श्री मनमोहनलाल
२. रासपंचाध्यायी, पृ० १५७—नन्ददास शुक्ल

हैं जो अन्य कवियों की रचनाओं में भी मिलते हैं। जैसे—

सो हँसि हँसि ऐसे कह्यौ, सुन्दर सबको राउ
हमरौ दरश तुम्हें भयौ, अपने घर को जाउ।[1]

यही दोहा कृष्णदास अधिकारी की रचना में इस प्रकार है—

गोपिन सों हरि हँसि कह्यौ सुन्दर सब को राव
हमरौ दरश तुम्हें भयौ, अपने घर कौं जाव।

भंवर-गीत की रचना मिश्रित छन्दों में हुई है। इसमें प्रयुक्त छन्दों के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। ग्रन्थ तिलोकी छन्द से आरम्भ होता है। दो चरण तिलोकी छंद के प्रयुक्त करने के उपरान्त चार चरण दोहों के प्रयुक्त हुए हैं। अन्त में दस मात्रा की टेक है। भंवरगीत के शेष छन्दों में रोला और दोहा का सम्मिश्रण है। दो चरणों में रोला और उसके बाद दोहा के चरणों का नियोजन हुआ है और फिर उसके नीचे दस मात्राओं की टेक है। सूरदास के छन्द-विवेचन में भी इस प्रकार की छन्द-योजना का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

चौपाइयों के अन्त में लघु-मात्रा का प्रयोग नहीं होता, परन्तु नन्ददास ने ऐसे प्रयोग किये हैं।

## नन्ददास के पदों में छन्द-योजना

कृष्ण-भक्त कवियों के छन्द-विधान के प्रति साधारण मान्यता के विपरीत नन्ददास के पदों में भी छन्दों का निश्चित विधान मिलता है। कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

सरसी छन्द

नंद कुमार भजन सुखदाइक, पतितन पावन करन।
अतुल प्रताप महामहि सोभा, सोक ताप अघहरन।
पुष्टि मर्जाद भजन रस सेवा, निज जन पोषन भरन।

सार छन्द

श्री लछमन घर बाजत आजु बधाई
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम, श्री वल्लभ सुखदाई।
नाचत तरुन, वृद्ध, अरु बालक, उर आनंद न समाई॥
जौ जौ जस बन्दीजन बोलत, विप्रन वेद पढ़ाई।
हरद दूब अच्छत दधि कुंकुम, आंगनि कीच मचाई।[2]

---

१. रासपंचाध्यायी, नन्ददास शुक्ल, पृ० १५७

२. नन्ददास, पृ० ३२६, पद ६। अन्य उदाहरण, पद २६, ३०, ३१, १८६ और १६५

चौपई छन्द

प्रकटित सकल सृष्टि आधार। श्रीमद् वल्लभ राजकुमार।
धेय सदा पद अम्बुज सार। अगणित गुण महिमा जु अपार।
धम्मादिक द्वारे प्रतिहार। पुष्टि भक्ति कौ अंगीकार।
श्री विट्ठल गिरिधर अवतार, नंददास कीन्हों बलिहार।

विष्णुपद

श्री गोकुल युग जुग राज करौ।
या सुख भजन प्रताप तजें तें, छिन इत उत न टरौ।
पावन रूप दिखाइ प्राणपति, पतितन पाप हरौ।[1]

चौपाई

राग धनाश्री

होतहि ढोटा ब्रज की सोभा, देखो सखि कछु औरहि ओभा।
मालिन सी जहं लक्ष्मी डोले, बंदन माला बांधति डोले।
बगर बोहारति अष्ट महासिधि, द्वारे सथिया पूरति नौनिधि।[2]

सोरठा

एरी सखी प्रगटे कृष्ण मुरारी, ब्रज आनंद
दधि कांदौ आंगन नंद के। टेक।
भवन भीर ब्रज नारि, पूत भयौ ब्रजराज के।
बन ठन कैं सब बाम, बसननि सजि सजि कैं गईं।
रोहिनि अति बड़ भाग, आदर दै भीतर लईं॥
बिछुवन की झनकार, गलिन गलिन अति ह्वै रही।
हाथन कंचन थार, उर पर छमकन फब रही।[3]

दोहा

राग रायसो

कनक कलस सुभ मांगलिक, भवनन बीच धराइ।
धुजा पताका तोरने, द्वारहि द्वार बंधाइ॥
जाचक जुरि मिलि आवते, करत सबद उच्चार
पुहुप वृष्टि सुरपति करें, बोलें जै जै कार॥

---

१. नन्ददास पृ० १२७, पद १३। अन्य उदाहरण, पद ३१, १८६
२. ,, पृ० ३३१, पद २४
३. ,, पृ० ३३३, पद २७

पदावली में अनेक पद कवित्त में लिखे गये हैं—[1]

वेद रटत ब्रह्मा रटत, संभु रटत सेस रटत,
नारद सुक व्यास रटत, पावत नाहिं पार री।
ध्रुव जन प्रह्लाद रटत कुंती के कुंवर रटत,
द्रुपद सुता रटत नाथ नाथन प्रतिपार री।
गनिका गज गीध रटत गौतम की नारि रटत,
राजन की रमनि रटत सुतन दै दै प्यार री।
नंददास श्री गुपाल गिरिवर धर रूप जान,
जसुदा को कुंवर लाल राधा-उर-हार री।[2]

सवैया

सुन्दर मुख पै वारों टोना, बैनी, वारन की मृदु कौना,
खंजन नैननि, अंजन सोहै, भौंह सुवंक लोचन अति लौना
तिरछी चितवन यों छबि लागै कंज दलन पाले अलि छौना
जो छवि हैं वृषभानु सुता में सो छबि नाहिं लखी मैं सोना
नंददास अबिचल यह जोरी, राधा रानी स्याम सलौना।[3]

## कृष्णदास की छन्द-योजना

सरसी

टेकहीन पद :

लाल काछिनी सिर पर बांधे, उर सोभित बनमाल
वामभाग वृषभानु नन्दिनी, चंचल नैन विसाल
कृष्णदास दम्पति छबि निरखति, अँखियां भईं निहाल।[4]

टेकयुक्त पद :

मेरे तो गिरिधर ही गुपाल। टेक।
यह मूरत खेलत नैनन में, यही हृदय में ध्यान।
चरन रेनु चाहत मन मेरौ, यही दीजिये दान।
कृष्णदास को जीवन गिरिधर, मंगल रूप निधान।[5]

सार छंद

टेकयुक्त पद :

ग्वालिन कृष्ण दरस सों अटको। टेक।

---

१. अन्य उदाहरण, पद ६, १२, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ४०, ४१, ४७, ५०, ५५, ७०, ७२, ८०, ८१, ८३, ९७, ९९, १००, १०१, १०८, १०३, ११६, ११९
२. ,, पृ० ३२३, पद १
३. ,, पृ० ३४८, पद ६६
४. अष्टछाप परिचय, कृष्णदास, पृ० २२९, पद १४—सं० प्रभुदयाल मीतल
५. वही, पृ० २४० पद ७४; अन्य उदाहरण, पद २४, पृ० २३१

बार बार पनघट पर आवत, सिर जमुना जल मटकी।
मनमोहन को रूप सुधानिधि, पिवत प्रेम रस गटकी।[1]

दोहा

टेकयुक्त पद :

मानो व्रज करिनि चली मदमाती हो। टेक।
गिरिधर गज पै जाय ग्वालि मदमाती हो। टेक।
अवगाहैं जमुना नदी, करति तरुणि जल केलि
सब मिलि छिरकैं स्याम कों, सुंडादंड भुज पेलि।
कुच कुंभस्थल ऊभरे, मुक्ताहार कराय।
मानों गिरि बिच सुरसरी, जुगल प्रवाह बहाय।[2]

रूपमाला

विमल भूषन तारिकागन, तिलक चंद विलास
जय नृत्य मान संगीत रस बस, भामिनी संगरास
वदन स्रम-जल-कन विराजत, मधुर ईषद हास
बन्यो अद्भुत भेष गावत, मुरलिका उल्लास।[3]

वीर छंद

लागी रे लगनियां मोहन सों, लागी रे लगनियां। टेक।
कछु टौना सो डारि गयो री, कैसे भरन जाऊं पनियां।
कृष्णदास की प्यास बुझै जब, निरखों गिरि कै धरनियां।[4]

कवित्त

वृन्दावन कुंजन में, रुचि खसखानों रच्यो,
सीतल बयार झुकि गौखन बहत हैं।
सुगन्ध गुलाबी जल, नाना बहु भांतिन के,
लाय लाय आय सखी सब छिरकत हैं।
धार धुरवा की छूटत हैं तहां पै नीकी,
दादुर मोर पिक स्वांति जल पियत हैं।[5]

माई! मोरन संग मदन मोहन लिये तरंग नाचें
दच्छिन अंग टेढ़ो, सिर टेढ़ो तेसोई धर

---

१. कृष्णदास, पृ० २३२, पद २८। अन्य उदाहरण, पद १२, १५, १८, १६, २०, २१, २४, २६, २७, ३१, ३४, ३८, ४८ इत्यादि
२. कृष्णदास, पृ० २४०, पद ६१
३. " पृ० २३६, पद ६६
४. " पृ० २३२, पद २६
५. " पृ० २३६, पद ६८

टेढ़े किये चरन युगल नृत्य भेद सांचै ।
मृदंग मेघ बजावें, दादुर सुरधुनि मिलावें
कोकिला अलाप गावें वृन्दावन रंग रांचै ।
गावें तहां कृष्णदास, गिरिधर गोपालदास
राग धम्मार, राग मलार मोद मन मांचै ।[1]

चतुर्भुजदास की छन्द-योजना

सरसी

नैन भरि देखहु नंद कुमार । टेक ।
हरद दूब अच्छत दधि कुंकुम, मंडित करहू द्वार
पूरहु चौक विविध मुक्तामनि, गावहु मंगलचार
करत वेद धुनि सर्वं महामुनि होत नछत्र विचार
उग्यौ पुन्य को पुंज सांवरो, सकल सिद्धि दातार ।[2]

सार छन्द

लटकन भाल भृकुटि मसि बिंदुका कठुला कंठ सुहावै
देखि देखि मुसकाइ सांवरो, द्वै दंतिया दरसावै ।
कबहुँ सुरंग खिलौना लै लै, नाना भांति खिलावै ।[3]

चौपाई

नैन विसाल भृकुटि मसि राजै । निरखि वदन उडुपति अति लाजै ।
भाल तिलक लट लटकन सोहै । मंद हँसनि सबको मन मोहै ।[4]

ताटंक

आजु छठी छबीले लाल की । टेक ।
केसर चंदन आरति वारति, मोहन मदन गोपाल की ।
'चत्रभुज' प्रभु सुख-सिंधु बढ़ावत, गिरि गोवर्द्धन लाल की ।[5]

किसी-किसी पद में छन्द-सम्बन्धी व्यवस्था बिल्कुल नहीं है । ऐसा जान पड़ता है कि ध्रुवपद साधना के लिए लम्बी पंक्तियों की आधार-भूमि प्रदान करने के निमित्त इनकी रचना हुई है । एक उदाहरण लीजिये—

दूरि तें आवत देखे दान घाटि
घिरि रहे दुरि रहे दुहुँ ओर सिला की लहाई
जबही छत्र नीको आंई फूलन भरी
दधि की चोरी री

१. कृष्णदास, पृष्ठ २३६, पद ६७ । अन्य उदाहरण, वही पद ६, २५, ५४, ५६
२. चतुर्भुजदास, पृष्ठ २, पद २ । अन्य उदाहरण, पद ३, ४, ५
३. ,, पृष्ठ ६, पद ६
४. ,, पृष्ठ ६, पद ८
५. ,, पृष्ठ ८, पद १३

सो ऐसे में औचक आइ सबै झुकाई।
स्यामा रंग-रंग नारी नैन है कुरंगिनी
री ! रही हैं ठठके आयौ लयौ लली तांई
कीन्हो है बतकहाउ कहा हो कहत स्याम
हमें काम आन देहु
ऐसी अबहीं ते क्यों करत बरिआई।[१]

कवित्त

वारी मेरे कान्ह प्यारे, अबहि दिनमु बारे,
कैसे अति भारौ गिरि, राख्यौ धरि कर पर।
कोमल भुजा तुम्हारी, याते हौं भंभीत भारी,
देखि देखि करत है हिरवो इहि घर घर।
नैंकहूं न वीच पार्यो, आठों-जाम अंधियारो,
बरखत घनघोर घन, सात दिन एक झर।[२]

सवैया

नव वसंत आगम नवनागरि, नवनागरि गिरधर संग खेलति।
चोवा चंदन अगर कुमकुमा, ताकि ताकि पिय सम्मुख मेलति॥
पुहुप अंजुरि जब भरत मनोहर वदन ढांपि अंचर धर पेलति।
चत्रुभुज प्रभु रस-रास रसिक कों, रिझै रिझै सुख सागर झेलति।[३]

वीर छन्द

मुरली मधुर धरे नंद नन्दन, हो हो होरी बोलत जू
लिये सखा संग, देत फूल सब, ब्रज की पौरिनि डोलत जू
बाजत ताल मृदंग झांझ डफ, अरु मुरली सुर जोरे जू
गावत सरस धमारिनि यों रंगु, रसिक मंडली जोरे
स्रवन सुनत सब गोकुल नारी, घर घर तें उठि दौरी जू
सजें समाज सबै जुरि आईं नंद राइ की पौरी जू।[४]

दोहा

लोचन पिय के पारधी, तीछन होय कमान।
बंक बिलोकनि चित बसी, घूमत खोये प्रान॥
लोक कहन लाग्यो कछू, मैं न तज्यी मुख मौन।
हिय चाहत हिय सों मिल्यौ, भुज चहै चतुर्भुज हौन॥[५]

---

१. चतुर्भुजदास, पृष्ठ १५, पद २७
२. " पृष्ठ २४, पद ७०
३. " पृष्ठ ३६, पद ७० । अन्य उदाहरण, पद ७१, ७२, ७३
४. " पृष्ठ ५७, पद ६२
५. " पृष्ठ १४०, वि० वि० का०, पद २७०

छीतस्वामी की छन्द-योजना

सार छन्द

बिनती करत गहै घन बैयाँ।
वृन्दावन तेरे बिन सूनौ, बसत तिहारी छैयाँ।
मैं तो नन्द गोप को छोरा, कहत सबै नंद रैया।
छीतस्वामि गिरिधरन साँवरे, परों पिया मैं पैयाँ।[1]

सरसी

सबनि तें हरि दासनि सों हेतु।
हरि दासनि के निकट बसत हैं, हरिदासनि में चेतु।
हरि दासनि की महिमा जानत, हरिदासनि सुख देतु।[2]

दोहा

राग सारंग

फूले कमल कलिंदजा, केसू कुसुम सुरंग।
कम्पक बकुल गुलाब के, सोंधे सिंधु तरंग।
चंज मुरज डफ बांसुरी, भेरिनि को भरपूरि
फूंकनि फेरी फेरि के, ऊँचे गई सुति दूरि।[3]

अनेक स्थलों पर मात्रायें न्यून अथवा अधिक हो गई हैं।

विष्णुपद

जब तें भूतल प्रगट भये।
तब तें सुख बरसत सबहिन पर, आनंद अमित दये
श्री वल्लभ कुल कमल अमित रवि, अनुदिन उदित भये।
छीत स्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल, जुग जुग राज जये।[4]

सवैया

श्रीनाथ सुमिर मन मेरे। टेक।
भये निहाल सकल सचु पाये, जा पर कृपा दृष्टि करि हेरे।
जहं जहं गाढ़ परति भक्तनि कों, तहं तहं प्रकट पलक में फेरे।
छीतस्वामी गिरधरन श्री विट्ठल, पूरन करत मनोरथ तेरे।[5]

हरिप्रिया छन्द

आयौ रितु-राज साज, पंचमी बसंत आज
मौरें द्रुम अति अनूप अंब रहे फूली।

---

१. छीतस्वामी, पृ० ८४, पद २००
२. ,, पृ० ८३, पद १९९
३. ,, पृ० २३, पद ५७
४. ,, पृ० ४, पद ७
५. ,, पृ० ८४, पद २०१

बेली लपटी तमाल सेत पीत कुसुम लाल
उड़वत रंग स्याम भाम भँवर रहे भूली।
रजनी सब भई स्वच्छ, सरिता सब विमल पच्छ,
उडुगन-पति अति अकास बरसत रस मूली।
जुवति जूथ करत केलि स्यामा सुखसिंधु झेलि,
लाज लीक दई पेलि परसि पगनि कूली।[1]

कहीं-कहीं पदों में नियोजित लम्बी-लम्बी पंक्तियां बिना किसी विधान और योजना के संयोजित की हुई जान पड़ती हैं—

लाल सारी पहिरि बैठी प्यारी, आधो मुख ढांपि ठाढ़े मोहन दृग
निरखत।
एक दिसि चंद छबि एक दिसि मानौ आधो सूरज अरुन में
यह छवि मनहि विचार लालन मन हरखत।
कंठ-कंठसिरी सोहैं कनक बाजूबन्द मुकतन की माल गरै
अरु हुवेल चौकी अंग की संवार रूप-सुधा वारि बरसत।[2]

गोविन्दस्वामी की छन्द-योजना

सरसी छंद

आजु व्रज भयो है सकल आनन्द
नंद महर घर ढोठा जायौ पूरन परमानन्द
नाचत ग्वाल और गोपी सब प्रकटे गोकुल चन्द
विविध भांति बाजे बाजत हैं निगम पढ़त द्विज छंद
छिरकत दूध दही घृत माखन प्रफुलित मुख अरविंद।[3]

विष्णुपद छन्द अनेक पदों में प्रयुक्त हुआ है। गेयता के कारण एकाध मात्राओं की वृद्धि अथवा न्यूनता अवश्य हो गई है। एक टेकहीन पद का उदाहरण लीजिये—

रितु वसन्त बिहरन व्रज सुन्दरि, साज सिंगार चली
कनक कलस भरि केसरि रस सों छिरकत घोख गली
कुसुमित नव कानन जमुना तट, फूली कमल कली
चोवा चंदन और अरगजा, लिये गुलाल मिली[4]

रूपमाला छन्द

अनेक पदों की रचना रूपमाला छन्द में हुई है। १४ मात्रा के एक चरण को टेक रूप में प्रयुक्त किया गया है। शेष पद में रूपमाला छंद है—

---

१. छीतस्वामी, पृ० २०, पद ५४
२. ,, पृ० ३८, पद ८६
३. गोविन्दस्वामी-पदावली, पृ० २, पद ८
४. ,, पृ० ५०, पद १०३

ब्रज जन भयो मन आनंद
जसुमति गृह पलना झूलत, निरखि गोकुल चंद
निरखि हरि की बाल लीला, गावति गीत सुछंद
सुनत सिद्ध समाधि छूटी, भई रवि गति मंद
लजत कुसुमायुध निहारन, सुखद मुख अरविंद।
होत अद्भुत बाल ऊपर, वारतें गोविन्द।[1]

सार छन्द

सुनियत रावल होत वधाई
प्रगट भई त्रैलोक वंदनी, रसिक जनन सुखदाई
देत दान वृषभानु भवन में, जाचक बहु निधि पाई
मनि कंचन मुक्ता पट हीरा अरु नाना विधि पाई।[2]

सरसी छंद

वधाई बाजत रावलि मांझ
श्री वृषभान गोप कें प्रगटी मानों फूली सांझ।
गोपी जन आईं चहुं दिसि तें, गावति मंगलचार।
मंगल-कलस कनक केसर-भरि, बांधी वन्दनवार।
अच्छत दूव रोचना चंदन, भरि भरि लीन्हें थार।[3]

संगीत के स्वर और लय की ओर दृष्टि प्रधान होने के कारण साधारणतः दीर्घ रूप में प्रयुक्त मात्राओं की गणना लघु रूप में की गई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद की अंतिम चार पंक्तियों में सार छन्द की योजना पूर्णतः शुद्ध रूप में हुई है, परन्तु प्रथम दो पंक्तियों को छन्द में बांधने के लिए दीर्घ मात्राओं को लघु करना पड़ता है। प्रथम पंक्ति में गोपाल के 'गो' का द्रुत रूप से उच्चरित होना तथा द्वितीय पंक्ति का थेई-थेई का उच्चारण भी दोनों ही मात्राओं को लघु बनाकर करना पड़ेगा—

नाचत लाल गोपाल रास में, सकल व्रज वधू संगे।
गिडि गिडि तत थुंग तत थुंग थेई थेई, भामिनि रति रस रंगे।
सरद विमल उडुराज विराजत, गावत तान तरंगे।
ताल मृदंग झांझ अरु झालर, बाजत, सरस सुघंगे।
सिव विरंचि मोहे सुर सुनि सुनि, सुर नर मुनि मन भंगे।
गोविन्द प्रभु रस रास रसिक मनि मानिनि लेत उछंगे।[4]

---

१. गोविन्दस्वामी-पदावली, पृ० ६, पद १७
२. ,, पृ० ११, पद २०
३. गोविन्दस्वामी, पृ० ११, पद २१
४. ,, पृ० २६, पद ५७

कुण्डल छन्द

सुरपति लाग मेटि गोवर्द्धन पूजों। टेक।
अपनो कुल देव छांड़ि, सेवो जिन दूजो
तृन जल तहं बहुत होत, पावें सुख गैयां
पाक साक विंजन बहु, अन्नकूट कीनो
गोविन्द प्रभु व्रज जन कों, मांगि कें जु लीनो।[1]

रजनी छन्द

नाचत दोऊ रंग भरे।
जुवति मंडल मधि विराजत, बाहु अंस धरे।
तत थेई तत थेई सब्द दम्पति सुलभ उपजत करे।
ताल झांझ मृदंग बाजत, सुनत जनम हरे।
गोविन्द प्रभु गिरिधर गुन, भागवत उचरे।[2]

ताटंक छन्द—निम्नलिखित छन्द का विधान तो ताटंक छन्द का ही है परन्तु अन्त में मगण के बंधान का निर्वाह नहीं किया गया है—

वंदौं श्री विट्ठल चरनम्
नख सिख विमल कोटि किरनावलि, जन मन कुमुद विकास करनम्
धुज वज्रांकुस चाप चन्द्रमा, रेखा कलस जवा भरनम्
जयति सकल काम पूरन विधि भावन एति गता सरनम्
ते कुरबंतु बसो मम चेतसि, गोविन्द प्रभु गिरिवर धरनम्।[3]

वीरछन्द (कान्हरो)

हटरी बैठे श्री गोपाल।
रतन जटित की हटरी बनी है, मोतिन झालरि परम रसाल
पान फूल अरु सोंधे सहित, सब, बांटत हैं नंद के लाल
रोमावलि प्रेमावलि ललिता, चन्द्रावलि ब्रज मंगल याल
चलो सखी जहं पैंठ लगी है बेंचत हैं गोकुल के गोपाल।

गेयता की प्रधानता के कारण मात्राओं के विधान में कहीं-कहीं व्यतिक्रम आ गया है। यथा—

सात दिवस जलवृष्टि निवारी तबहुं न मघवा दर्प हर्यो।
सुरभी वृंद गोप गोपी जन, बाल विरध दुख दूरि कर्यो।
मात जसोदा लेत बलैया, कुमकुम अच्छत तिलक धर्यो।
अचरज देखि अमर गन बरखे विविध कुसुम बरखा विखर्यो।[4]

१. गोविन्दस्वामी, पृ० ३२, पद ६८
२. " पृ० २७, पद ६०
३. " पृ० ४८, पद ९८
४. " पृ० ३८, पद ७४

सवैया

भादों की राति अंधियारी (टेक)
बोलि लये वसुदेव देवकी, वालक भयो परम रुचिकारी
अब लै जाहु याहि तुम गोकुल, अधम कंस को मोहि डर भारी
सोवत स्वान पहरुआ चहुं दिसि, खुले कपाट गई भौ न्यारी
पाछे सिंह डहारत दूकत, आगे है कालिन्दी भारी।[1]

तथा

नंद नंदन ठाढ़े मग रौंके मारत ताकि उरोज कांकरी।
चंचल नैन उरज अनियारे, तन मन देखियत मदन छाक री।[2]

अनेक पदों की रचना इस छन्द में हुई है।

सूरदास और नन्ददास की भांति ही गोविन्दस्वामी ने भी चौपाई और चौपई का संयुक्त प्रयोग किया है।

निम्नलिखित उद्धरण में प्रथम तथा तृतीय पंक्तियां चौपई छन्द में हैं और द्वितीय चौपाई में—

ब्रज में एक बड़ौ है गाम। गोकुल कहियत जाकौ नाम।
नंद महरि जहं कहियत राजा, मिलि बैठे सब गोप समाजा।
बैठे आय पिता की गोद, देखत श्रीमुख भयौ प्रमोद।[3]

अनेक पदों में गोविन्दस्वामी की प्रवृत्ति बड़े छन्दों की योजना की ओर उन्मुख दिखाई देती है। वे शास्त्रीय संगीत के ज्ञाता थे। ऐसा जान पड़ता है कि अपने पदों को ध्रुवपद-शैली में बांधने के योग्य बनाने की दृष्टि से उन्होंने अपने छन्दों में ४५ से ५० मात्राओं तक की पंक्तियों की योजना की है। ऐसे भी पद हैं जिनकी पंक्तियों में मात्राओं का कोई व्यवस्थित विधान नहीं है। यह अव्यवस्था बड़ी पंक्तियों के पदों में ही नहीं, छोटी पंक्तियों के विन्यास में भी दिखाई देती है। दोनों प्रकार का एक-एक उद्धरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

छुरित गोरज अलक छबि मोपें वरनी न जाई
कनक कुण्डल लोल लोचन मोहन वेनु वजावत।
प्रिय सखा भुज अंसधरें नील कमल दच्छिन कर मधुव्रत।
श्रुति देत छंद मंद मधुरे गावत।
गोविन्द प्रभु वचन चंद जुवती जन नैन चकोर,
रूप सुधा पान करत काहे न जिय भावत।[4]

---

१. गोविन्दस्वामी, पृ० ५ पद ११
२. ,, पृ० २१, पद ४५
३. ,, पृ० ३३, पद ७०
४. ,, पृ० १५२, पद ३६८

इसी प्रकार निम्न पद में छोटी-बड़ी पंक्तियों के मेल और विधान में कोई व्यवस्था दिखाई ही नहीं पड़ती, जिसके कारण छन्द-विधान अत्यन्त शिथिल हो गया है—

उठु गोपाल भयो प्रात देखों मुख तेरो।
पाछे गृह काज करों नित नेम मेरो
विदित भयो भाव कमलनि तें भंवर उड़े जागी भगवान।
बन्दीजन द्वार ठाड़े करत हैं किलोल बसंते।
प्रसंसा गावें लीला अवतार ए बलवीर राजें।
अज हों देखो री मनमोहन मदनमोहन पिय मान मंदिर
ते बैठे निकसि आई द्वारें।[1]

तुक तथा छन्द के दोष इस उद्धरण में इतने स्पष्ट हैं कि इसमें मुक्त छन्द-विधान का सा भ्रम होने लगता है, जो उस काल में असम्भव और अकल्पनीय था।

सवैया का एक और रूप होता है जिसमें ३२ मात्राओं को ८+८+८+८ के क्रम से विभाजित कर दिया जाता है। गोविन्दस्वामी ने भी उसका प्रयोग किया है परन्तु पंक्तियों की मात्राओं और यति के विषय में वह बहुत सचेत नहीं रहे हैं। कहीं पंक्ति ३२ मात्राओं की है, कहीं ३१ की। विविध खंडों में भी कहीं ६ मात्रायें हैं तो कहीं ७। अन्त के खंड में प्रायः सात मात्रायें ही रह गई हैं। एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

बदर पांडु मुख। ललित अधर छवि। भ्राजत कुंडल। मृदुल कपोल
गोरस छुरित। सुदेस केस अति। मुकुट रचित मनि। गन अनमोल
मृगमदतिलक। चपल सुंदर भ्रुव। रूपारंग रंगे। नैन सलोल
उर बनमाल। मधु गंध लुब्धरस। लटपटात मधु। पनि के टोल
कनक किंकनि। नूपुर कूजत। कनककपिस। कटि तट निचोल
ध्रुवबज्राकुंस। कमल विराजत। पद नखद्युति। कोटिचंद नहीं तोल[2]

चंचरी दण्डक में १०, १२, १२, १० के विराम से ४६ होती हैं और अन्त में दो गुरु का विधान होता है। यतिभंग दोष के होते हुए भी इस पद में चचरी दण्डक की ही योजना है—

झूलत नव रंग संग, राधा गिरिधरन चंद
सहचरी चहुं ओर खड़ी, आनन्द भरि गावें
सप्तसुरनि राग रंग, डफ ताल भेरि मृदंग
सुघर राइ उवार, ताल मानिनी, मिलि गावें
बृंदावन जमुन तीर, बोलत पिक मोर कीर,
मंद मंद गरजत घन मेघनि पुनि आवें।

---

१. गोविन्दस्वामी, पृ० १०७, पद २२३
२. „ पृ० १५०, पद ३६१

ब्रह्मादिक सिव सुजान, मोहे सब सुर विमान,
पुष्प वरष करत सबै, गोविन्द बलि जावै ।[1]

गोविन्दस्वामी ने ४५, ४६, ४७ मात्राओं में बंधे टेक-युक्त और टेकहीन अनेक लिखे हैं जिनका विस्तृत विवेचन स्थानाभाव के कारण कठिन है ।

## हितहरिवंश की छंद-योजना

### सारछंद

बन की कुंजनि कुंजनि डोलन । टेक ।
निकसत निपट सांकरी बीथिन, परसत नाहिं निचोलनि
प्रातकाल रजनी सब जागे, सूचत सुख दृग लोलनि
नर्तनि भृकुटि बदन अम्बुज मृदु, सरस हास मधु बोलनि
अति आसक्त लाल अलि लम्पट, बस कीने बिनु मोलनि ।[2]

प्रीति न काहू की कानि बिचारै
ज्यों सरिता सावन जल उमगत सन्मुख सिंधु सिधारै
ज्यों नादहिं मन दिये कुरंगी, प्रगट पारधी मारै ।[3]

प्रीति की रीति रंगीलोई जाने ।
जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपुनपौ मानै
जमुना पुलिन निकुंज भवन में मान मानिनी ठानै ।

### सवैया

प्रात समै दोऊ रस लम्पट, सुरत जुद्ध जय जुत अति फूले
श्रमवारिज घन बिन्दु बदन पर भूषण अंगहि अंगनिफूले
कछु रह्यौ तिलक शिथिल अलकावलि बदन कमल मानो अति भूले ।
हितहरिवंश मदन रंग रंगि रहे नैन बैन कटि शिथिल दुकूले ।[4]

तथा

आजु निकुंज मंजु में खेलत नवल किसोर नवीन किसोरी
अति अनुपम अनुराग परस्पर सुन अभूत भूतल पर जोरी
विद्रुम फटिक विविध निर्मित घर नव कपूर पराग न थोरी
कोमल किसलय सुमन सुपेशल, तापर श्याम विवेशित गोरी ।[5]

### विष्णुपद

यह छन्द राधा के नखशिख-वर्णन में प्रयुक्त हुआ है । पद में टेक नहीं है—

---

१. गोविन्दस्वामी, पृ० ९९, पद २०२
२. हितचौरासी, पृ० ३७, पद ३४
३. हितचौरासी, पृ० ३७, पद ४२
४. ,, पद ३
५. ,, पृ० ७, पद ७३

नख शिख लौं अंग अंग माधुरी, मोहे श्याम घनी।
यों राजत कबरी गूंथित कच, कनक कंज वदनी।
चिकुर चन्द्रकनि बीच अर्ध विधु, मानो ग्रसित फनी।
सौभग रस शिर श्रवत पनारो, पिय सीमन्त ठनी।[1]

सरसी छन्द

कहा कहों इन नैननि की बात। टेक।
ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस, अटके अनत न जात।
जब जब सकत पलक सम्पुट लट, अति आतुर अकुलात
लम्पट लव निमेष अन्तर ते, अलप अलप सत सात।[2]

अन्य कवियों की तरह ही हितहरिवंशजी ने भी गतिपूर्ण स्थलों पर कवित्त छंद का प्रयोग किया है। ४० से लेकर ४४ और कहीं-कहीं ५२ मात्राओं तक की पंक्तियों का नियोजन किया गया है जिन्हें संगीत की लय में ढाल लिया गया है। एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

निर्तत जुवती समूह, राग रंग अति कुतूह,
बाजत रसमूल मुरलिका अनन्दिनी।
वंसीवट निकट जहां परम रमन भूमि तहां,
सकल सुखद मलय वहे वायु मन्दिनी।
जाती ईषद निकास, कानन अतिसय सुवास,
रामा निसि शरद मास विमल चन्द्रिनी।
विलसहि भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुख-सिन्धु झेलि,
नव निकुंज श्याम केलि जगत-वन्दिनी।[3]

हितहरिवंश द्वारा रचित स्फुट वाणी में दोहा, सवैया, छप्पय और कुण्डलिया छन्द का प्रयोग हुआ है।

दोहा

निकसि कुंज ठाढ़े भये भुजा परस्पर अंस।
राधा वल्लभ मुख कमल निरखि नैन हरिवंस।
रसना कटौ जु अनरटौं, निरखि अनफुटौ नैन।
श्रवण फुटौ जो अनसुनौ, विन राधा यस बैन।[4]

अनेक कृष्ण-भक्त कवियों ने पद-शैली के अतिरिक्त छन्दोबद्ध रचनायें भी कीं। ध्रुवदासजी की 'प्रेम चौवनी' चौवन दोहों का ग्रन्थ है। आनन्दाष्टक में भी आठ दोहे संकलित

१. हित-चौरासी पद २६
२. ,, पृ० ३७, पद ६०
३. ,, पृ० ३७, पद ११
४. ,, पृ० ३७, पद २६, २७

हैं। 'भजन-कुंडलिया' में दोहों के साथ कुंडलिया-छंद भी प्रयुक्त हुआ है। एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है—

हंस सुता तट विहरिवो करि वृंदावन वास।
कुंज केलि मृदु मधुर रस प्रेम विलास उपास।
प्रेम विलास उपास रहे इक रस मन माहीं
तेहि सुख कौ सुख कहा कहौं, मेरी मति नाहीं।
हित ध्रुव यह रस अति सरस, रसिकनि कियो प्रसंस
मुक्तन छांड़ें चुगत नहि मानसरोवर हंस।[1]

कवित्त और सवैयों का प्रयोग भी ध्रुवदास जी ने किया है—

कवित्त

रूप की सी फुलवारी फूलि रही सुकुमारी
अंग-अंग नाना रंग नवल विहार ही।
नैन कर कमल अधर हैं बंधूक मानों
दसन झलक पर कुन्द वारि डार ही।
बंदी लाल है गुलाल नासिका सुवर्ण फूल
मोती बने जहां जहां जुही सी विचारही।
छवि ही के खंजन रसीले नैन प्रीतम के,
रीझे तहां ध्रुवसखी चितै प्रान वारही।[2]

सवैया

स्याम घटा उमड़ी चहुं ओरनि पावस की रितु आई सुहाई
नाचत मोर मयूरी बिनोद सों आनन्द की बरखा बरखाई
कौंधे जहां तहां दामिनि कामिनि प्रीतम अंक रही दुरि भाई।
कैसे कहौ ध्रुव जात है सो छवि, देखत नैन रहे हैं लुभाई।[3]

## मीराबाई की छन्द-योजना

मीराबाई की रचनाओं में भी प्रायः वही छन्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका प्रयोग अन्य भक्त कवियों ने अपनी पदावलियों में किया है। इन छन्दों के प्रयोग में दोष आ गये हैं, परन्तु मात्राओं की संख्या तथा अन्य साम्यों के द्वारा अनेक छन्दों का अस्तित्व उनके काव्य में प्रमाणित किया जा सकता है। जिन छन्दों का प्रयोग उन्होंने किया है उनमें मुख्य ये हैं—सार छन्द, सरसी छन्द, विष्णुपद, दोहा, समान सवैया, शोभन, ताटंक, कुण्डल।

सार छन्द का प्रयोग उनके लगभग एक तिहाई पदों में हुआ है। मीरा के जिन पदों में इस छन्द का प्रयोग है उनमें कहीं-कहीं निरर्थक सम्बोधनों के प्रयोग के कारण उन्हें

---

१. भजन-कुण्डलिया १, ध्रुवदास
२. शृंगार सत ४३, ब्यालीस लीला
३. ,, ,,

सदोष कहा जा सकता है, अन्यथा वे पूर्ण रूप से इस छन्द के अन्तर्गत आ जाते हैं। यथा—

मैं तो अपने नारायण की, आप हि हो गई दासी रे !

इसी प्रकार

मैं जमुना जल भरन गई थी, आ गयो कृष्ण मुरारी हे माय

इस पद की प्रत्येक पंक्ति में प्रयुक्त निरर्थक 'हे माय' उसे सदोष बना देता है। परन्तु ऐसे उदाहरण इतने अधिक हैं कि इन निरर्थक शब्दावलियों को निकाल कर इन पदों को सार छन्द के अन्तर्गत रखना अनुचित नहीं प्रतीत होता।

सरसी छन्द

इस छन्द का प्रयोग मीरा के पदों में बहुलता से मिलता है। इन पदों में भी निरर्थक शब्दों द्वारा अन्त ही छन्द की मात्रा में अभिवृद्धि कर उसे सदोष बना देता है।

उदाहरणार्थ—

दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल कर रही सोर छै जी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, चरणों में म्हारो जोर छै जी।

इस छन्द के पदों में अनेक स्थलों पर मात्रा-भंग तथा यति-भंग का दोष आ गया है।

विष्णुपद

इस छन्द के प्रयोग में भी रे आदि के प्रयोग उसे सदोष बना देते हैं। उदाहरणार्थ :

राम नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप कटे रे।
जनम जनम के खत जु पुराने, नाम हि लेत फटे रे।

दोहा छन्द

दोहा छन्द का प्रयोग मीरा ने किया है, परन्तु पूर्णतया छन्द के नियमों का अनुसरण प्रायः नहीं हुआ है। संगीत की लय से सामंजस्य उत्पन्न करने के ध्येय से छन्द के नियमों की उन्होंने पूर्ण उपेक्षा की है। इस छन्द के विषम चरणों में तेरह तथा सम चरणों में ११ मात्राएं होती हैं, परन्तु इनमें भी 'हे' तथा 'री' इत्यादि के प्रयोग से मात्राओं की संख्या बढ़ गई है—

झूठा मानक मोतिया री झूठी जगमग जोति।
झूठा सब आभूखना री सांची पिया जी री पोति ॥

इनके बीच में प्रयुक्त री इस छन्द की गति को असम बना देती है।

इसी प्रकार

अविनासी सूं बालमा है, जिनसूं सांची प्रीत।
मीरा कूं प्रभू मिला है एही जगत की रीत ॥

समान सवैया

आंबा की डाल कोयल इक बोले, मेरो मरण अस जगकेरी हांसी।
विरहा की मारी में बन बन डोलूं, प्रान तजूं करवत ल्यूं कासी।

ताटंक छन्द

उड़त गुलाल लाल भये बादल, पिचकारिन की लगी झरी री।
चोवा चंदन और अरगजा, केसर गागर भरी धरी री।

अन्त का रेखांकित री केवल संगीत की लय बनाने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

कुंडल छन्द

इस छन्द के प्रयोग में भी नियमों का बहुत उल्लंघन किया गया है। प्रयोग की अशुद्धि के परिणामस्वरूप यह पद लिया जा सकता है—

गोहने गुपाल फिरूं ऐसी आवत मन में
अवलोकन वारिज वदन विवस भई तन में।
मुरली कर लकुट लेइ, पीत वसन धारूं
काछि गोप भेष मुकुट, गोधन संग चारूं।

प्रथम पंक्ति के सम चरणों की मात्राओं की विषमता से ही यह सम्पूर्ण पद सदोष हो गया है। इन मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त कुछ वर्णिक छन्दों का प्रयोग भी मिलता है जिनमें मनहर कवित्त मुख्य हैं।

इस प्रकार मीरा के काव्य में छन्दात्मकता के पूर्ण अभाव का निष्कर्ष भ्रममूलक सिद्ध होता है। भाव संगीतबद्ध होकर ही गेय पदों का रूप ग्रहण करते हैं, मीरा के पदों को पूर्ण मुक्त छन्दों की संज्ञा दे देना अनुचित है। उनके काव्य में जो लय तथा संगीत है, उसे सहसा भावनाओं का अजस्र प्रभावमात्र मान लेना तर्कसंगत नहीं है। यह सत्य है कि भाव उनके काव्य की आत्मा है, पर जहां भावनाएं गीत बनकर प्रस्फुटित होती हैं, वहां सचेष्ट कला की भति चाहे न हो, परन्तु कला का अस्तित्व अनिवार्य होता है।

मीरा को संगीत का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने अपने पदों की रचना राग-रागिनियों के अनुसार की है। उनके पदों में अनेक शास्त्रीय रागों का प्रयोग भी मिलता है। इन प्रयोगों को आकस्मिक मान लेना काव्य तथा कला की उपेक्षा के साथ-साथ मीरा के संगीत तथा काव्य ज्ञान की भी उपेक्षा होगी। मीरा के काव्य में छन्दों का प्रयोग भावनाओं की सरस तथा लयपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। यह कहना तो उपयुक्त है, पर उनकी भावनाएं काव्य-नियमों के बन्धन में पड़ी ही नहीं, यह कहना भ्रामक है। उन्होंने पदों की रचना के उपयुक्त अनेक प्रचलित छन्दों में अपनी रचनाएं कीं, जिसमें लोक-गीतों में प्रयुक्त शब्दावलियों का भी प्रयोग किया। लोक-गीतों के इसी प्रभाव के कारण उनके पदों में ऐसे निरर्थक प्रयोग मिलते हैं, जो केवल रोचकता में वृद्धि करने की दृष्टि से ही प्रयुक्त हुए हैं। इनके प्रयोग के साथ-साथ ही उन्होंने छन्दों के नियमों की मर्यादा भंग की है। रे, री, जी, ए माय, हो माई इत्यादि शब्दों का प्रयोग उनके काव्यगत साधारण ज्ञान को स्थानीय लोक-गीतों का पुट देकर अधिक स्वाभाविक तथा गेय बना देता है।

पद-रचना-परम्परा में, और विशेषकर रागबद्ध रचनाओं में इस प्रकार के प्रयोग अक्षम्य नहीं माने जाते। किसी विशिष्ट राग की सुविधानुसार एक ही पद में कई छन्दों का प्रयोग, अथवा दो भिन्न-भिन्न छन्दों के सम्मिश्रण को काव्य-दोष नहीं ठहराया जा सकता।

मीरा के ऐसे अनेक पद हैं जिनमें भिन्न-भिन्न छन्द एकत्रित हो गये हैं। ऐसे पदों को सदोष नहीं माना जा सकता; परन्तु जिन छन्दों का प्रयोग हुआ हो उनका शुद्ध प्रयोग ही अभीष्ट होता है। मीरा के छन्द इस दृष्टि से दोषयुक्त हैं, विविध छन्दों के प्रयोग में मात्राओं में नियम-भंग अनेक स्थानों पर मिलता है, परन्तु यह दोष भी उन्हीं स्थलों पर आया है जहां पद को रागबद्ध करने के लिए विभिन्न तालों के साथ उनका सामंजस्य करने का प्रयास किया गया है। संगीत की सुविधानुसार ह्रस्व की गणना दीर्घ रूप में तथा दीर्घ की गणना ह्रस्व रूप में करना अनिवार्य हो जाता है।

राधावल्लभ, निम्बार्क तथा कृष्ण-भक्ति के अन्य सम्प्रदायों के कवियों ने मुक्तक काव्य की रचना ही अधिक की। अष्टछाप के कवियों ने विविध छन्दों के बन्धान पर टेक और राग के बन्ध द्वारा अपनी रचनाओं को कीर्तन और भजन के उपयुक्त बना लिया था। यह संगीत-तत्व इतना प्रधान हो गया कि इन पदों में छन्दों का अस्तित्व नगण्य माना जाने लगा। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों की प्रवृत्ति यह नहीं रही। पूर्व-मध्यकालीन राधावल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने भी अपनी रचनाओं में दोहा, चौपाई, सोरठा और कवित्त छन्दों में उनका प्रयोग उनके नामोल्लेख के साथ किया। हितहरिवंश ने कुंडलिया छन्द में 'भजन कुंडलियां' लिखीं। दामोदरदास (सेवकजी) ने अपनी वाणी में करखा, छप्पय, गाथा, तोटक, सवैया, सोरठा, दुर्मिल, रोला, दण्डक इत्यादि अनेक छोटे-बड़े छन्दों का प्रयोग किया। श्री हरिराम व्यास की रचनायें पद-शैली में हुई हैं। उनके पद राग-रागिनियों में बंधे हुए हैं। दोहा, रोला और कवित्त छंदों का प्रयोग उन्होंने किया है। छंद भी प्रयुक्त हुए हैं। ध्रुवदास की रचनाओं में दोहा, कवित्त और सवैयों और सोरठों का प्रयोग भी उन्होंने किया है।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में तद्युगीन अन्य काव्य-परम्पराओं में प्रयुक्त छंदों का प्रयोग मिलता है, जिनमें कवित्त और सवैयों की शैली मुख्य है। घनानन्द ने भी कवित्त-सवैये ही अधिक लिखे हैं, पद कम। नागरीदास ने पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रोला आदि छंदों का प्रयोग किया है। श्री हठीजी के राधा-सुधा-शतक में दोहों तथा कवित्त और सवैयों का प्रयोग हुआ है। फारसी के छन्दों का प्रयोग भी कुछ स्थलों पर हुआ है। इस काल तक आते-आते कविता में गेय तत्व अपेक्षाकृत कम हो गये थे। कवित्त-सवैयों की शैली ही प्रधान हो गई थी। इन्हीं छन्दों का प्रयोग तत्कालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में भी मिलता है।

सवैया का प्रयोग भक्ति-काल की ध्रुवपद शैली के पदों में मिलता है। रीतिकालीन कवियों ने इसके सब प्रमुख भेदों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। दुर्मिल, मत्तगयन्द, किरीट, मुक्तहरा इत्यादि इसके प्रमुख भेद हैं जो इन कवियों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं।

घनाक्षरी छन्द भी पंतजी के मत में विजातीय है। "कवित्त छन्द हिन्दी के स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियम के पालनपूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु अक्षर रख दें चाहे लघु, एक ही बात है। छंद की रचना में अंतर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में अक्षर को चाहे वह गुरु हो या लघु एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छंदबद्ध शब्द एक-दूसरे को झकझोरते हुए परस्पर टकराते हुए उच्चरित

होते हैं। भाषा का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली मद्यपान कर लड़-खड़ाती हुई एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। निरालाजी के अनुसार कवित्त हिन्दी का जातीय छंद है, इसे चौताल आदि बड़ी तालों में और ठुमरी की तीन तालों में सफलतापूर्वक गाया जा सकता है, साथ ही इसे काफी प्रभाव के साथ पढ़ भी सकते हैं। रीतिकालीन संगीत में चमत्कार और आलंकारिकता का जो प्रचार हुआ, कवित्त-शैली में लिखी गई रचनायें उसके बहुत अनुकूल पड़ती थीं तथा दरबारों में वाहवाही पाने के लिए रचना का कलात्मक पाठ भी आवश्यक था, कवित्त की गतिपूर्ण लय जिसके बहुत अनुकूल पड़ती थी।

घनानन्द के कवित्तों में छन्द के क्षेत्र की समस्त रीतिकालीन प्रवृत्तियां मिलती हैं, इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने पदों तथा दूसरी कृतियों में अन्य छन्दों का विधान भी किया है।

त्रिलोकी छन्द

सजन सलोना यार, नंद दा सोहना
रसिक बिहारी छैल सुमन मनमोहना
हे हलधर दे वीर चले कित जात हो
निठुर कान्ह महबूब न सुनदे बात हो।

ताटंक—इश्कलता में ताटंक छंद प्रयुक्त हुआ है—

की की खूबी कहें तुसा डी, हो हो हो हो होरी है।
बूका बंदन अगर कुमकुमा, भरें गुलालन झोरी है।

शोभन—गोकुल-विनोद में शोभन छंद का प्रयोग हुआ है—

नंद गोकुल बरनि वानी बिसद जोति निवास।
जहां नित्यानन्द घन अद्भुद करहिं बिलास।

त्रिभंगी

कहां जाहि अरु कहै कहा अब तुम तौ पिय सब गतिनि थकाई।

उनकी कुछ रचनाओं में फारसी छंद का भी प्रभाव मिलता है—

सलोने श्याम प्यारे क्यों न आवौ, दरस प्यासी मरें तिनको जिवावौ
कहां हौ जू कहां हौ जू कहां हौ, लगे ये प्रान तुमसों हैं जहां हौ।
रहौ किन प्रान प्यारे नैन आगे तिहारे कारनें दिन रात जागें।
सजन हित मान के ऐसी न कीजै, भई हूं बावरी सुधि आय लीजै।

पद-शैली की रचनाओं में प्रायः भक्तिकालीन पदों में प्रयुक्त छंदों का रीतिकाल में ही प्रयोग हुआ है। मुख्य छंद हैं सुमेरु छंद, अरिल्ल, सवैया, त्रिलोकी, ताटंक, शोभन और त्रिभंगी।

रीतिकाल में कुछ कवियों ने अपनी रचनाओं को प्रबन्ध रूप देने के लिए रामचरित-मानस की दोहा-चौपाई शैली भी ग्रहण की है। चाचा वृन्दावनदास का 'लाड़सागर' तथा 'ब्रजप्रेमानन्द सागर' और ब्रजवासीदास का 'ब्रजविलास' इसी शैली में लिखा गया है। दोहा-

चौपाई के बीच-बीच में सोरठा, छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग है जिनमें कोई विशेषता नहीं है।

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में भी छन्दों का रूप परम्परागत ही रहा। भारतेन्दुजी ने रूपघनाक्षरी तथा सवैयों का प्रयोग किया। प्रेममालिका, प्रेमतरंग, मधुमुकुल, होली, वर्षा-विनोद आदि राग-रागिनियों में बंधे पदों में लिखी गई हैं जिनमें भी भक्तिकालीन पदों के छन्दों का प्रयोग ही हुआ है। ये छन्द हैं—विष्णुपद, सार, सरसी, ताटंक, वीर। इसके अतिरिक्त होली-लीला, रोला छन्द में लिखी गई है। 'भक्त सर्वस्व' में 'छप्पय' का प्रयोग हुआ है। दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैयों का प्रयोग भी हुआ है। उनके दोहों में 'गागर में सागर' भरने की क्षमता नहीं है। उन्होंने मनहरण कवित्तों की रचना ही अधिक की है। रूप-घनाक्षरी के उदाहरण भी मिलते हैं। एक उदाहरण यहां दिया जाता है—

> ब्रज में अब कौन भला बसिये बिनु बात ही चौगुनो चाव करें।
> अपराध बिना 'हरिचन्द जू' हाय चवाइनै घाल कुठांव करें॥
> पौन सों गौन करै ही लरो परै हाय बड़ोई हियाव करें।
> जो सपनेहुं मिलें नंदलाल तौ सौंतुख में ये चवाव करें॥[1]

उन्होंने बिहारी के ८५ दोहों पर कुण्डलियां लगाई हैं। कुछ दोहों पर कई-कई कुण्डलियां लगाई गई हैं।

छप्पय—विशेषकर स्तोत्रों की रचना इसी छन्द में हुई है। वर्णनात्मक काव्य के लिए भारतेन्दु बाबू ने रोला का आश्रय लिया है। अधिकतर मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग उन्होंने किया है। फारसी छन्दों का प्रयोग उन्होंने अन्य रचनाओं में किया है पर उनके कृष्ण-भक्ति काव्य में उसका प्रायः अभाव ही है।

रत्नाकरजी ने अपने प्रबन्धात्मक काव्यों में रोला छन्द का तथा मुक्तक रचनाओं में कवित्त और सवैयों का प्रयोग किया। इन सभी छन्दों के प्रयोग में वे सिद्धहस्त थे। उनके दोहे बड़े सारगर्भित हैं। व्यावहारिक रूप में तो उन्होंने छन्दों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया ही, 'दोहा-नियम रत्नाकर', 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' इत्यादि के प्रगल्भ विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि वे इस क्षेत्र के आचार्य थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने छप्पय, उल्लाला, बरवै इत्यादि छन्दों का भी प्रयोग किया है। उनके छन्द नियमसंयुक्त हैं, उनका चुनाव विषयानुकूल हुआ है तथा उनमें लय की रमणीयता और माधुर्य है।

इस प्रकार कृष्ण-भक्ति के ब्रजभाषा काव्य में छन्द-विधान का विकास एक विशिष्ट रूप में हुआ है। भक्तिकालीन पदों में जो छन्द प्रयुक्त हुए वही आधुनिक काल के पदों में भी प्रयुक्त होते रहे। ध्रुवपद शैली में गाये जाने वाले पदों की रचना कवित्त, सवैयों और हरिप्रिया जैसे बड़े छन्दों में भक्तिकाल में ही होने लगी थी, रीतिकाल में पहले दो छन्दों का ही प्राधान्य हो गया, आधुनिक काल में दोनों ही परम्परायें चलती रहीं और ब्रजभाषा के साहित्य-क्षेत्र से हटने तक उसमें यही छन्द प्रयुक्त होते रहे।

---

१. प्रेम-माधुरी २०

# सप्तम अध्याय

# कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्य के विभिन्न रूप

कृष्ण के लीला-पुरुषोत्तम रूप और मधुरा भक्ति की भावपरक पृष्ठभूमि के कारण कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा का स्वरूप अन्तर्वृत्ति-निरूपक ही अधिक रहा, इसलिए उसमें प्रवन्ध-रचना के लिए अधिक अवकाश नहीं था। प्रवन्ध-काव्य में कालाश्रयी अनुभूति की अभिव्यक्ति तथा वुद्धि का गाम्भीर्य होता है। उसमें कवि की दृष्टि वस्तुनिष्ठ तथा अधिकतर वाह्यार्थ-निरूपिणी होती है और उसका आधार-फलक भी विशाल और विस्तृत होता है। इसके विपरीत गीति-काव्य में भावनाओं के तीव्र क्षणों की अभिव्यक्ति आत्मनिष्ठ रूप में होती है; उसमें कवि का प्रेरणा-केन्द्र अन्तर्जगत् ही होता है। यही कारण है कि भावुक कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के प्रति अपनी आवेशयुक्त मनःस्थितियों का चित्रण गीतों के रूप में ही किया है। गीति-काव्य का प्राणतत्व है आत्माभिव्यक्ति। यह जितनी ही तीव्र और प्रवल होती है, गीति-काव्य उतना ही श्रेष्ठ होता है।

उसमें विषय की अपेक्षा विषयी प्रधान होता है तथा इसमें कवि की दृष्टि वस्तुपरक न होकर व्यक्तिपरक होती है। यों तो किसी भी कविता में, चाहे वह प्रवन्ध हो अथवा निर्वन्ध, वैयक्तिक तत्व का निषेध नहीं किया जा सकता; कवि का व्यक्तित्व प्रवन्ध-काव्य में भी वाह्य जगत् के प्रति उसकी प्रतिक्रियाओं के रूप में विद्यमान ही रहता है। पृथ्वीराज-रासो, पद्मावत और रामचरितमानस में कवि के व्यक्तित्व की अवस्थिति का निषेध कैसे किया जा सकता है! ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा काल्पनिक पात्र और आख्यान, कवि की भावनाओं की प्रतिक्रियाओं के सहारे ही हमारे समक्ष एक विशिष्ट रूप ग्रहण करके उपस्थित हो सके हैं। तुलसी के राम और जायसी की नागमती अथवा पद्मावती इन कवियों की हृदय-जन्य मान्यताओं के कारण ही एक विशिष्ट रूप ग्रहण कर सके हैं अतः वैयक्तिक तत्व प्रवन्ध-काव्य में भी विद्यमान रहता है पर उसका रूप परोक्ष रहता है। उधर प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति और वैयक्तिक राग गीति-काव्य का प्राण-तत्व होता है। श्रीमती महादेवीजी के शब्दों में "साधारणतः गीति-काव्य व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"[1] कृष्ण-भक्ति के राग-प्रधान रूप और नादमार्गीय साधना के फलस्वरूप इन दोनों तत्वों का गुम्फन बड़े सुन्दर रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४७

'रूप-भेद' के कुछ वाह्य कारण भी होते हैं जो परोक्ष रूप से काव्य-रूप-निर्माण के क्षेत्र में अपना योग देते हैं। कवि का युग, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण उसके अनुभूति-विस्तार की सीमा तथा अन्तःप्रेरणा का रूप इत्यादि वे तत्व हैं जिनके प्रभाव के फलस्वरूप कवि अपनी कविता के काव्य-रूप का निर्धारण करता है। कृष्ण-भक्त कवियों के लिए भी यही बात कही जा सकती है। साधना के राग-प्रधान रूप, भावनाओं के तीव्र उन्मेष और राग-प्रधान जीवन-दर्शन तथा युग-दर्शन के कारण कृष्ण-भक्त कवियों ने गीत को ही अपनी कविता का माध्यम बनाया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है गीतिकाव्य का सबसे प्रमुख तत्व है आत्माभिव्यंजना; उसमें जीवन के वाह्य क्रियाकलापों का स्थान गौण और कवि के अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति प्रधान रहती है। वैयक्तिकता गीति-काव्य का प्रधान स्वर होता है परन्तु उसकी वैयक्तिकता का रूप सीमित नहीं, सार्वभौम होना चाहिए जो पाठक में भी तदनुरूप अनुभूति जागृत कर सके। जहाँ उसकी अनुभूति का रूप उस तक ही सीमित होकर रह जाता है वह गीत-काव्य नहीं, वार्ता-मात्र रह जाता है। आत्माभिव्यंजना के प्रायः दो रूप होते हैं : एक तो जहां कवि किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में अपनी भावनाओं का आरोपण करता है; और दूसरे प्रकार की आत्माभिव्यक्ति वह है, जहाँ वह अपनी भावनाओं को सीधे, प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करता है। एक में कोई माध्यम बना रहता है और दूसरे में कवि प्रत्यक्ष हमारे सामने रहता है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में भी हमें आत्माभिव्यक्ति के ये दो रूप प्राप्त होते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों की भावनायें भी दो रूपों में व्यक्त हुई हैं (१) उपास्य के प्रति कवि के प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन में, (२) गोपी-भाव की अभिव्यक्ति में। द्वितीय कोटि के गीति-काव्य में अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा गोपियों की मार्मिक और भावपूर्ण उक्तियों में कवि-हृदय की आतुर भावनाओं का व्यक्तीकरण हुआ है। प्रथम कोटि की रचनाओं में इन कवियों का रागात्मक आवेश तथा मनोवेगों की तीव्रता प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती है तथा द्वितीय कोटि में गोपियों तथा गोपी-कृष्ण-लीला के माध्यम से। अतएव, कृष्ण-भक्ति-काव्य में गीति-काव्य के दो रूप माने जा सकते हैं : (१) शुद्ध गीति-काव्य, (२) आख्यानात्मक गीति-काव्य।

## शुद्ध गीति-काव्य

इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण नाम है मीराबाई का। उनके काव्य में कल्पना और बुद्धि-तत्व सर्वथा गौण है, अतः उनकी भावनाओं का स्रोत गीति-काव्य के संगीत और काव्य के माध्यम से फूट पड़ा है। उनकी माधुर्य-भक्ति उनके हृदय की कहानी है, जिसमें राग-तत्व प्रधान है। साम्प्रदायिक कवियों की भावाभिव्यक्ति के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेने पर भी उनकी रचनाओं में वस्तुगत दृष्टि का पूर्ण निषेध नहीं किया जा सकता; किन्तु मीरा की अभिव्यक्ति सीधी है, इसीलिए उनके पदों में उनकी अनुभूतियों की तीव्रता और गहनता है पर अनेकरूपता नहीं। विविधता का अभाव उनके काव्य की सरसता में अनेकरसता का अभाव बनकर खटकता है। उनके जीवन में एक ही भाव है और एक ही रस। मधुर

भावना-जन्य उल्लास तथा विषाद की कतिपय भावनायें ही उनके जीवन में व्याप्त हैं। उन्हीं की आवृत्ति उन्होंने बार-बार अनेक पदों में की है। जहां तक कला-पक्ष का सम्बन्ध है उनकी भाषा और शैली भी गीति-काव्य के पूर्णतः अनुकूल है। मीरा की सरल स्वभावोक्तियों के कोमल सौन्दर्य में कृत्रिमता का पूर्ण अभाव है। उनकी कविता का सौन्दर्य उस स्वच्छंद ग्राम-बाला के निखरे हुए सौन्दर्य के समान है, जिसके जीवन में न कोई ग्रन्थियां हैं न आडम्बर। कोमल कल्पना की प्रतिमूर्ति बाला की जिस प्रकार अर्जित सौन्दर्य-प्रसाधनों से युक्त नारी से तुलना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार मीरा की कोमल-कान्त पदावली की काव्य-शास्त्र में निपुण कवियों की पदावली से तुलना करना समीचीन नहीं होगा। परन्तु यह बात भी स्मरणीय है कि उनकी यह सरलता तथा स्वच्छन्दता ग्रामीण अथवा परिष्कारहीन नहीं है। अनुभूतियों के आवेग के संगीत के अनुकूल ही उनकी सरस और कोमल शैली है।

सूरदास के आत्मनिवेदन-सम्बन्धी पदों में भी आत्माभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष रूप मिलता है। इस प्रसंग में यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि सूरदास के इन पदों में सर्वत्र वैयक्तिक राग नहीं है। विनय के पद उनके आत्मनिवेदन तथा उनके उपास्य देव की भक्त-वत्सलता के उदाहरण हैं—इन गीतों की भाषा सरल और साधारण है। अनेक स्थलों पर माया, अविद्या, तृष्णा इत्यादि का वर्णन किया गया है; इन पदों में व्यक्त दैन्य और आत्मनिवेदन में ही वैयक्तिक तत्व मिलता है और केवल दैन्य-मिश्रित निर्वेद पर इनकी मार्मिकता निर्भर है। विनय के पदों में वही स्थल प्रधान हैं जहां इन भावों की अभिव्यक्ति हुई है—

जा दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।[1]

* * *

सपने माहिं नारि कौ भ्रम भयौ, बालक कहूं हिरायौ
जागि लख्यौ ज्यों कौ त्यों ही है, ना कहुं गयौ न आयौ
सूरदास समुझे की यह गति, मन ही मन मुसुकायौ।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यों गूंगे गुर खायौ।[2]

इस प्रकार की प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति कुछ अन्य स्थलों पर भी मिलती है। आत्म-ज्ञान, नाम-महिमा इत्यादि प्रसंगों में भी कवि हमारे सामने आकर बोलता है। परन्तु इस प्रत्यक्षाभिव्यक्ति के होते हुए भी इन पदों में सर्वत्र गीति-तत्व का समर्थ और शुद्ध रूप नहीं मिलता। केवल सूर में ही नहीं, अन्य कवियों की स्तोत्र-पद्धति की रचनाओं और महिमा-वर्णन के प्रसंगों में कवि की भावनाओं का अन्तःस्फुरण नहीं होता प्रत्युत उसका बौद्धिक विश्वास ही बोलता हुआ जान पड़ता है। पहले मस्तिष्क उपास्य की अलौकिकता और महानता को

१. विनय-पद, ८६
२. सूरसागर, स्कन्ध ४, पद १३—ना० प्र० स०

स्वीकार करता है, उसके बाद कवि आलम्बन की गरिमा से अभिभूत होता है। मस्तिष्क और हृदय की इस सम्मिलित प्रक्रिया में प्रगीतमूलक आवेग भी गौण पड़ ही जाता है।

इस प्रकार के पद इन कवियों के व्यक्तित्व की विशिष्टता का निर्देश करते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें आत्माभिव्यंजना का शुद्ध रूप मिलता है तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति में पूर्ण तादात्म्य हो गया है। विषय-वस्तु और अभिव्यंजना की यही एकतानता इन शुद्ध गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है।

अतः प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति होते हुए भी ये पद प्रगीत-काव्य की दृष्टि से उन पदों की अपेक्षा निम्न कोटि के ठहरते हैं, जिनमें गोपी के माध्यम से कृष्ण-भक्त कवि अपनी भावनाओं का व्यक्तीकरण करता है। इन पदों का विवेचन प्रगीत-काव्य की दूसरी कोटि के अन्तर्गत किया जायेगा। कहीं-कहीं इस प्रकार के शुद्ध भावना-प्रधान और प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति से युक्त प्रगीतों की रचना बड़े सुन्दर रूप में बन पड़ी है। उदाहरण के लिए छीतस्वामी-कृत ये पद लीजिये—

अहो विधना तोपै अँचरा पसारि मांगौ
जनम-जनम दीजै याही ब्रज बसिवौ।
अहीर को जाति समी नन्द घर
घरी-घरी घनस्याम हेरि-हेरि हँसिवौ।
दधि के दान मिस ब्रज की बीथिन में
झकझोरिनि अंग-अंग को परसिवौ।
छीत स्वामी गिरधरन श्री विट्ठल
सरद रैनि रस रास को विलसिवौ।[१]

प्रान प्यारो, कुंवर नैंकु गाइये
आनन कमल अधर सुन्दर धरि मोहन वेनु बजाइये।
अमृत हास मुसकानि बलैया लैउं नैनन की तपन बुझाइये।
परम दुसह विरहानल व्यापत तन सब गरत जुड़ाइये
उभय कर कमल हृदय सों परसि के विरहिन मरत जिवाइये।
'छीत-स्वामी' गिरिधर तुम से पति पूरन भाग जो पाइये॥[२]

इन पदों में आत्माभिव्यंजना का शुद्ध रूप है। कवि के अन्तर्जगत् में उद्वेलित पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति इन पदों में हुई है। इस प्रकार के पदों में घटनाओं अथवा इतर पात्रों के लिए बिल्कुल स्थान नहीं है।

प्रो० गमर ने गीति-काव्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि गीति-काव्य परिष्कृत

१. छीतस्वामी, पद ११७—वि० वि० कां
२. छीतस्वामी, पद ११६

अवस्था को प्राप्त किए हुये समाज का काव्य-रूप है। विकासशील मानव की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है जहाँ इच्छा, आकांक्षा, भय आदि मनोभाव उत्पन्न होते रहते हैं। इन्हीं भावनाओं को अभिव्यक्त करना गीतिकाव्य का एकमात्र उद्देश्य होता है।[1]

कृष्ण-भक्त कवियों का युग राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से यद्यपि पराभव का युग था, पर ललित कलाओं के विकास की दृष्टि से वह चरम विकास का युग माना जाता है। मध्यकाल में भक्ति की पुनः प्रतिष्ठा में भी तत्कालीन जनता की अन्तर्मुखी भावनाओं के उन्नयन का इतिहास प्राप्त होता है। ये पद उसी स्थिति के परिचायक हैं। इन पदों में एक ही विचार, एक ही भाव अथवा एक ही अवस्था का चित्रण हुआ है। भाव, विचार और अवस्था की अखण्ड एकता इनमें मिलती है। यह अन्विति कृष्ण-भक्त कवियों के इन पदों में आरम्भ से अन्त तक मिलती है। इस प्रकार के पद इन कवियों के व्यक्तित्व की विशिष्टता का निर्देश करते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें आत्माभिव्यंजना का शुद्ध रूप मिलता है तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति में पूर्ण तादात्म्य हो गया है। विषय-वस्तु और अभिव्यंजना की यही एकतानता इन शुद्ध गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है।

## लीला-गीत

पहले कहा जा चुका है कि कृष्ण-भक्ति-काव्य का अधिकांश भाग किसी न किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के चौखटे में बांधकर रचा गया है जिनमें गोपी-भाव से आराधना की गई है। विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में थोड़े-बहुत वैभिन्न्य के साथ गोपी-भाव की आराधना को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया गया है। जहाँ तक उनकी रचनाओं में प्रगीत-तत्व के निर्वाह का प्रश्न है, यह बन्धन वरदान ही सिद्ध हुआ है। यों तो प्रगीत-काव्य भावना-प्रधान होता है, कल्पना और बुद्धि-तत्व का उसमें स्थान नहीं होता, परन्तु इन रचनाओं में अपने व्यक्तित्व में गोपी-भाव की कल्पना ने पुरुष कवियों की भावनाओं को प्रगीत-काव्य के उपयुक्त कोमलता प्रदान की है। माधुर्य भावना की उत्कटता और तीव्रता के कारण वस्तुगत आधार होते हुए भी उनकी दृष्टि वैयक्तिक रही है। माधुर्य-भक्ति में आलम्बन हैं कृष्ण और आश्रय हैं गोपियां। गोपियों की उक्तियों में कवि के हृदय का आभास मिलता है। आलम्बन के रूप और लीला-वर्णन में भी प्रधान उद्देश्य कवि-हृदय का उनके प्रति आकर्षण और अनुराग व्यक्त करना है। इसलिए मीरा की अन्तःप्रेरित काव्य-रचनाओं के समकक्ष इन्हीं रचनाओं को रखा जा सकता है, जिसमें कवि परोक्ष में रहकर भी प्रत्यक्ष रहता है। गीति-काव्य के संश्लिष्ट विधान में गोपियों की प्रतीकात्मक स्थिति के कारण कोई अन्तर नहीं पड़ता, यही इस बात का प्रमाण है कि उनके हृदय की अनुभूतियां भक्त-हृदय की शुद्ध अनुभूतियां हैं।

इन कवियों के हृदय की अनुरक्ति और आसक्ति इन पदों में फूट-फूट पड़ी है। कृष्ण-लीला के दो मुख्य रूप हैं—प्राकृत लीलायें, (२) अतिप्राकृत लीलायें। मानव-लीलाओं के

---

1. Hand Book of Poetics, P. 40, Chapter 11 —F. B. Gummer.

चित्रण में भक्तों के अनुराग तथा अतिप्राकृत लीलाओं में उनकी आस्था का व्यक्तीकरण हुआ है और अधिकांश स्थलों पर यह आस्था हृदय-जन्य है, मस्तिष्क-जन्य नहीं। लीला (विषय) तो निमित्त-मात्र ही है। निम्नलिखित पद में विरहिणी व्रजांगना की गद्गद वाणी में कवि के विरह-जन्य सन्तप्त उद्गार देखिये—

कहा करौं उह मूरति मोरे जिय तें न टरई।
सुन्दर नंद-कुवर के बिछुड़े निसदिन नींद न परई।
बहुविधि मिलनि प्रान प्यारे की सु एक निमिख न बिसरई।
वे गुन समुझि-समुझि चित नैननि नीर निरंतर ढरई।
कुछ न सुहाई तलावेली मन विरह अनल तन जरई।
'कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु समाधान को करई'[1]

इस प्रकार के स्थलों पर गोपिकाओं की भावनाओं के साथ कवि का पूर्ण तादात्म्य है। यहाँ तक कि गोपियों के माध्यम से बोलता हुआ उनका हृदय मीरा की प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्तियों के समकक्ष आ जाता है। कुम्भनदास की ही एक उक्ति उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा रही है—

बिरह बात की चोट जु जाहिं लागै सोई जानै
भोगिये ते समुझि परै जिय कहें कहा मानै।
होत न चैनु निमिष, निसि बासर, बहुत जलद आनैं।
कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु बिथा कौन मानें।[2]

इन पंक्तियों में मीरा की प्रसिद्ध पंक्तियों 'हेरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरो दरद न जाने कोय' से किसी प्रकार कम तीव्रता और उत्कटता नहीं है। इस प्रसंग में समस्त कृष्ण-भक्त कवियों की रचनायें उद्धृत करना अनावश्यक जान पड़ता है। उनकी भाव-प्रवणता का विश्लेषण प्रथम अध्याय में 'प्रतिपाद्य का अनुभूत्यात्मक रूप' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इन सब कवियों का प्रतिपाद्य भगवत-लीला का वर्णन करना है। इनमें गीत का शुद्ध रूप नहीं मिलता। इनमें नियोजित कथात्मक और वर्णनात्मक तत्व कवि के व्यक्तित्व को परोक्ष में डाल देता है।। जहाँ लीला-गान में कथा का आग्रह अधिक है वहाँ उन्होंने कथा, परिस्थिति अथवा पात्र का आधार ग्रहण किया है और कवि की भावनाओं की प्रत्यक्षता में स्पष्ट अवरोध आ गया है। यहां आत्माभिव्यंजना शुद्ध न होकर मध्यान्तरित है, लेकिन जैसाकि उपर्युक्त उद्धरणों से प्रमाणित होता है, गीति-काव्य का प्राणतत्व, भावों का तीव्र उद्रेक, भावों का ऐक्य और अन्विति उनमें पूर्ण और आदर्श रूप में है। प्रसंग के अनुकूल कहीं भाव को अधिक महत्व मिलता है और कहीं आख्यान को। अधिकतर कवियों ने भागवत के दशम स्कन्ध में उल्लिखित कृष्ण-लीलाओं का ही गान किया है। केवल सूरदास

१. कुम्भनदास-पदावली, पद २१४—वि० वि० कां०
२. ,, पद ३३६

ने अन्य स्कन्धों की अन्य अवतारों से सम्वद्ध कथाओं का वर्णन किया है इसलिए सूरसागर में कुछ ऐसे पद हैं जहाँ सूरदास का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से वर्णनात्मक हो गया है। गीति-काव्य की दृष्टि से इन पदों का अधिक मूल्य नहीं है। अधिकतर पद भाव-प्रधान हैं और बाल-लीला, गोदोहन, गोचारण, चीरहरण, गोवर्धन-धारण, नागलीला, दान-लीला इत्यादि सरस प्रसंगों को ही उन्होंने लिया है। इन पदों में आख्यान, भावों को प्रकर्ष प्रदान करने के लिए निमित्त रूप में लिया गया है। आख्यान गौण है, कृष्ण और राधा तथा गोपिकाओं की शृंगार-भावना प्रधान। उस भावना की अभिव्यक्ति अपने-आप में पूर्ण स्वतन्त्र, भावात्मक और सरस है।

इस प्रकार के विरह के पदों में कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने व्यक्तित्व को गोपियों, राधा, यशोदा और कृष्ण के व्यक्तित्व पर ढाल कर व्यक्त किया है, परन्तु उसका रूप पूर्णतः स्वतःप्रवृत्त है। इस विरह का रूप शुद्ध आत्माभिव्यंजक न होते हुए भी अत्यन्त मार्मिक है, आत्मप्रकाशन के अप्रत्यक्ष होते हुये भी विभिन्न पात्रों की भावनाओं के माध्यम से इन कवियों ने अपनी ही आत्माभिव्यक्ति की है।

इन लीला-गीतों के अन्तर्गत ही उन गीतों को भी रखा जा सकता है जहाँ राधा और कृष्ण के रूप तथा लीला-चित्रण में कल्पना का सहारा लेकर सुन्दर अप्रस्तुत-विधान किये गये हैं। इन पदों का विवेचन कृष्ण-भक्त कवियों की अप्रस्तुत-योजना नामक अध्याय में पहले किया जा चुका है।

इस प्रकार आत्माभिव्यंजना, अनुभूति-वैशिष्ट्य और भावों के ऐक्य की दृष्टि से कृष्ण-भक्तों द्वारा रचित गीति-काव्य उच्च कोटि का गीति-काव्य सिद्ध होता है। गीत-रचना के तीन सोपान माने गए हैं।[1] प्रथम वह स्थिति है जहां कवि की प्रेरणा का बीजारोपण और उसके मनोवेगों का प्रकाशन होता है; द्वितीय स्थिति वह होती है जब भावोद्रेक अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है, और कवि अपने मनोवेगों को विचार के साथ समन्वित कर उनके व्यक्तीकरण का उपयुक्त माध्यम ढूंढ़ता है; तृतीय स्थिति में कवि की अन्तिम मनःस्थिति की अभिव्यंजना होती है, भाव और विचार एकात्म होकर गीत का निर्माण करते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों के गीतों में इन तीनों स्थितियों की नियोजना क्रम से हुई हैं। प्रेरक तत्व है कृष्ण का रूप और उनकी लीलायें; विविध लीलाओं के प्रति उसके मन की प्रतिक्रियाओं को द्वितीय स्थिति माना जा सकता है। परिणाम रूप में भावों की जो पूर्णता और समाहित प्रभाव-ऐक्य उनकी रचनाओं में मिलता है उससे यह प्रमाणित होता है कि उनमें भावों का अन्तिम संतुलन भी विद्यमान है। उनकी अभिव्यंजना में भावों की अखण्ड एकता है, जिनमें उनकी गीतात्मकता झंकृत हो उठी है।

## कृष्ण-भक्त कवियों के लोक-गीत

प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में ब्रज में प्रचलित लोक-गीतों का अस्तित्व सुरक्षित मिलता है। शास्त्रीय रागों तथा साहित्यिक भाषा के स्पर्श से उन्होंने उनका

1. Lyrical forms in English, P. 11—Norman Hepple

रूप परिष्कृत कर दिया है परन्तु लोक-गीतों की आत्मा और प्रकृति की रक्षा करने का प्रयास उन्होंने सर्वत्र किया है। इन गीतों में भावुकता और सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति वर्णनात्मक ढंग से हुई है। गीत का शुद्ध सहज रूप उनमें विद्यमान है। उनमें व्रज की लोक-संस्कृति का सहज अकृत्रिम रूप प्राप्त होता है। जहां भक्ति-मार्ग में नाद-मार्ग की प्रधानता से काव्य में शास्त्रीय संगीत के तत्वों का समावेश बहुलता से हुआ, वहीं इन भक्त कवियों ने लोक-गीतों का भी परिष्करण किया। कृष्ण की जीवन-लीलायें लोक-गीतों में पहले भी गाई जाती थीं, इन कवियों के हाथ में उन गीतों का अनगढ़ और अपरिष्कृत रूप परिष्कृत और सुघर बन गया। किसी भी मत का प्रचार करने के लिए उन माध्यमों का प्रयोग करना पड़ता है जिनसे जनता पूर्ण रूप से परिचित हो। लोक-गीतों का सहज संगीत इस दृष्टि से शास्त्रीय संगीत से कहीं अधिक उपयुक्त था; साथ ही यह बात भी थी कि भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति लोकगीतों में ही अधिक सहज स्वाभाविक और तीव्र होती है। कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के लीला-गान में लोक-गीतों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया और उनके कृतित्व से इन गीतों का रूप परिष्कृत हो गया। परन्तु इस साहित्यिक स्पर्श के होते हुए भी उनके हृदय की कहानी बिना किसी कृत्रिमता से व्यक्त हुई है। उनका रूप मर्मस्पर्शी और भावव्यंजक है। उनमें व्यक्तिगत उल्लास और वेदना का व्यक्तीकरण भी है तथा वैयक्तिक भावनायें समूह रूप में भी शाश्वत बन गई हैं। जन्म, मुंडन, विवाह तथा अनेक सांस्कृतिक पर्वों के अवसर पर लिखे गये गीतों में वैयक्तिक वेदना और उल्लास का सम्बन्ध समूह से स्थापित किया गया है।

इस प्रसंग में एक बात ध्यान में रखने की है कि इन लोक-गीतों में भावात्मकता कम है, वर्णनात्मकता अधिक। इसका मुख्य कारण यह है कि भावना की अभिव्यक्ति उन्होंने शुद्ध गीतों में की है, जहां प्रचार की भावना तथा आवश्यकता का ध्यान इन कवियों को नहीं रह गया है। कृष्ण की अपार्थिव लीलाओं को पार्थिव रूप देने के साधन-रूप में लोक-गीत लिखे गये हैं। यही कारण है कि कृष्ण-जन्म, पालना, गोचारन, छठी, विवाह, ज्यौनार इत्यादि गीतों में उन सब तत्वों और शैलियों का समावेश किया गया है जो तत्कालीन ब्रज-जीवन तथा संस्कृति के मुख्य अंग थे। इन सभी प्रसंगों में लोकगीत बहुसंख्यक हैं। प्रत्येक कवि द्वारा रचित लोक-गीतों को यहां उद्धृत करना अनावश्यक विस्तार मात्र होगा, अतएव कुछ गीतों का ही विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। इस क्षेत्र में भी प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में एकरूपता है, परन्तु प्रसंग-सहज हास-उल्लास का सामूहिक रूप बड़ी कुशलता के साथ चित्रित किया गया है। ये पद अधिकतर द्रुतलय में लिखे गये हैं और सहगान के लिए बहुत उपयुक्त हैं। सूरदास द्वारा रचित बधाई का एक गीत लीजिये—

धनि धनि नन्द जसोमति, जनि जग पावन रे।
धनि हरि लियौ अवतार, सुधनि दिन आवन रे।
दसएं मास भयौ पूत पुनीत सुहावन रे।
संख चक्र गदा पद्म चतुर्भुज भावन रे।
बनि ब्रज सुन्दर चलीं सु गाइ बधावन रे।

कनक थार-रोचन दघ तिलक बनावन रे।
पांइन परि सब वधू, महरि बैठावन रे[1]

व्यक्तिगत-उल्लास से युक्त ढाढ़िन की अपने पति के प्रति उक्तियों में नन्द के वैभव, और तत्कालीन समाज में प्रचलित प्रथाओं और रीति-रिवाजों का परिचय मिलता है—

कृष्ण-जनम सुनि अपने पति सौं हँसि ढाढ़िन यों बोली जू
जाउ जाउ तुम नन्द नृपति कें दान-कोठरी खोली जू
तुमहिं मिलैगो बागो बीरा दछिना भरि-भरि झोरी जू
हमको लइयौ नखसिख गहना जेहरि सहित सु जोरी जू
लैयौ कंत जुगति सौं लइयौ हम चढ़िबे कों डोली जू
छोटी-सी मैं सौहने सौंगनि टहलि करनि कों गोली जू
साज सहित इक घुड़िया लैयो, गैया दूध अतोली जू
सुन्दर सों इक हाथी लइयो, हथनी संग अमोली जू
सज्जा सहित इक ढुलिया लइयौ और पानन की ढोली जू
बीरी करि करि मोहिं खवावै लैयो संग तम्बोली जू[2]

पुत्र-जन्म के समय का हास-उल्लास और वातावरण तथा ढाढ़ी का उत्साह ब्रज में छाये हुए उल्लास का व्यक्तीकरण करने में पूर्ण समर्थ है। प्रायः सब अष्टछाप के कवियों ने इस प्रकार के बधाई-गीतों की रचना की है और सबकी रचनाओं में व्यक्त सामूहिक उल्लास में एक-एक व्यक्ति लीन दिखाई पड़ता है।[3] पलना और छठी के गीतों में पूर्ण वर्णनात्मकता है; कहीं बाल-कृष्ण का रूप-वर्णन है तो कहीं नन्द के वैभव का वर्णन; कहीं-कहीं यशोदा तथा वात्सल्यमयी गोपियों के उल्लास का भी चित्रण है।

इस प्रकार के गीतों में ग्राम-गीतों के सोहर या सोहिल रूप का प्रभाव मिलता है, इनमें पुत्रोत्पत्ति के आनन्द का वर्णन होता है।

विवाह-गीतों की रचना अधिकतर सूरदास ने ही की है, अन्य कवियों ने राधा-कृष्ण के विवाह-वर्णन में लोकगीत-शैली का समावेश नहीं किया है। ज्योनार-गीतों की रचना कलेऊ तथा राजभोग-प्रसंग के पदों में हुई है। यह स्त्रियों का सह-गीत है, जिसमें प्रायः अनेक स्वादिष्ट व्यंजनों की विस्तृत सूची होती है। ससुराल वालों के लिए यदि ज्योनार गाया जाता है तो उसमें गालियों की मीठी बौछारें भी जोड़ दी जाती हैं। श्याम-सगाई प्रसंग में कुम्भनदास द्वारा रचित ज्योनार-गीत इसमें इसके उदाहरण रूप में लिया जा सकता है—

करि भोजन को पांति सबनि को कनक पटा बैठाये।
ढिग ढिग धरी सबनि कों झारी जमुनोदक भरि लाये।

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २८
२. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३७
३. द्रष्टव्य : गोविन्दस्वामी, पद २-१३; कुम्भनदास, पद १-६; परमानन्ददास, पद १-१२; चतुर्भुजदास, पद १-१८

कंचन थार अरु फटिक कटोरा प्रथक-प्रथक करि राखे
परोसनहारि पुरोहित रस-हित अमृत वचन मुख भाखे
बूंदी सेव मनोहर लडुआ मगद और मोहन थार
खुरमा खाजा जलेबी फेनी घेवर घृत तरे जू अपार
गूझा मठरी सक्करपारा तवापुरी रसभीनी
उड़द दार पूठन भरि हींग देकरि कचौरी कीनी
उपरेठा को खांडि पागि कै चन्द्रकला रुचि लाई
सिद्ध करी रिस घृत सों पूरित जेंवत अति सचु पाई
खासापूरी खरमंडा लोवा वासोंदी और मलाई
विविध भांति पकवान बनाये साजी बहुत मिठाई

* * *

भोजन कियौ सबन सुख मानौं, सब मिलि अंचवन कीनौ
हस्त अंगोछि बीड़ी कर लीनौ, पान खात सुख दीनौ
इस विधि छप्पन भोग कियौ सब भयौ जु मन आनन्द
कुंवरि कुंवरि मुख चन्द्र निहारति कटत सकल दुख-दन्द

अन्य कवियों ने भी इसी प्रकार के ज्योनार-गीतों की रचना की है। काव्य-कला की दृष्टि से इनका महत्व प्रायः नगण्य है, परन्तु संगीत-शैलियों में विविध लोकगीत-शैलियों के समावेश में लोक-संगीत और शास्त्रीय संगीत के एक गुम्फित और समन्वित रूप के विकास की चेष्टा मिलती है। इसके अतिरिक्त झूले के गीत में भी लोक-गीतों के तत्व ही प्रधान हैं; उनका विवेचन 'कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा विविध रागों के प्रयोग' नामक प्रसंग में किया जा चुका है।

काव्य-कला की दृष्टि से इन लोक-गीतों का महत्व नगण्य है। उनमें उनकी भावुक कल्पना, साहित्यिक सौष्ठव अथवा कला-निपुणता के दर्शन नहीं होते, परंतु अपने शास्त्रीय संगीत के साथ इन कवियों ने विविध लोक-गीत शैलियों का जो समन्वय किया है, उसके द्वारा कला के क्षेत्र में उनके नये प्रयोगों तथा एक गुम्फित और समन्वित रूप के विकास की चेष्टा मिलती है।

## रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों का गीति-काव्य

रीतिकाल की चमत्कार और प्रदर्शन-प्रधान प्रवृत्तियों में गीति-काव्य के विकास के लिए अधिक अवसर नहीं था। कवि का व्यक्तित्व एक आश्रयदाता की मुट्ठी में रहता था, अतएव हृदय के भावोद्रेक के चरम पलों की अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिए कोई अवसर नहीं था। अब कविता का प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति न रहकर आश्रयदाता का गुण-गान करना रह गया था, केवल मनोरंजन और प्रशस्ति-गायन के उद्देश्य से लिखी गई कविता की प्रेरणा, भावना नहीं, आवश्यकता थी। जीविका के लिए लिखी गई कविता में कवि की स्वतन्त्र भावनाओं तथा स्वच्छन्द व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने भी अधिकतर मुक्तकों की ही रचना की। कुछ कवियों ने भक्तिकालीन पद-परम्परा को बनाये रखा, परन्तु इस क्षेत्र में नवीन उद्भावनाएँ कुछ नहीं हुईं। पदों का रूप अधिकतर वर्णनात्मक ही रहा। शैली की दृष्टि से गीति-काव्य के लिए आवश्यक अनुबन्धों को पूरा करके भी ये शुद्ध गीतों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। नागरीदासजी की पद-रचना का विवेचन, संगीत के अध्याय में पहले किया जा चुका है। इन्होंने भक्तिकालीन मानदण्डों को ही ग्रहण किया और अपने पूर्ववर्ती कवियों से ही प्रेरणा ली। गीति-काव्य के विकास में इनका योग केवल इतना ही माना जा सकता है कि परम्परा के इस पिष्ट-पेषण में गीतिकाव्य की परम्परा विरोधी परिस्थितियों में भी पोषित होती रही। अलबेली अलि और चाचा वृन्दावनदास का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। अलबेली अलि ने भी पूर्ववर्ती कवियों के अनुकरण पर रागबद्ध पदों की रचना की, परंतु काव्य-रूप की दृष्टि से इन पदों का कुछ महत्व नहीं है।

वृन्दावनदासजी की रचनाओं में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यंजन का पूर्ण अभाव है। लाड़-सागर तथा अन्य कृतियों में उन्होंने केवल राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। इस लीला-वर्णन में पूर्ववर्ती भक्त-कवियों की भावुक कल्पना और सौंदर्य-दृष्टि नहीं मिलती। उनके गीतों को वास्तव में उन परिष्कृत लोक-गीतों के विकास की एक कड़ी माना जा सकता है, जिसका प्रारम्भ हमें पूर्वमध्यकालीन कवियों की रचनाओं में मिलता है। लाड़सागर में मुख्य रूप से राधा और कृष्ण के विवाह का वर्णन है, जिसमें लोक-परम्पराओं का आधार ग्रहण किया गया है। उनके गीतों में भावनाओं का समूहगत रूप व्यक्त है। उक्तियों की पुनरावृत्ति है। विवाह के विविध लोकाचारों तथा प्रथाओं का चित्रण है। शुद्ध गीति-काव्य का वैयक्तिक उल्लास उसमें नहीं मिलता, व्यक्ति की भावनायें समूह में स्वर मिलाकर मुखरित हुई हैं। जैसे—

सोरठा—राग परज की अलाप चारी

> राति जगावनि काज, कीरति महल बधावनो।
> सजियत मंगल साज, मंगल दिन प्रापत भयो।
> गनत रहत छिन जाम, जब तें कुंवरि लयो॥
> ब्याह समै अभिराम भूरि, भाग्य दृग लखि परयो।
> घर घर हुलसी वाम बाट बुलावन की चहांति[1]

शैली की दृष्टि से इन पदों में गीतात्मकता का पूर्ण अभाव है। प्रत्येक पद छन्दोबद्ध है; अनेक पदों में छन्द-उल्लेख और राग-उल्लेख साथ-साथ मिलते हैं। कहीं-कहीं अलापचारी जैसे संगीत के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है, जिससे उनके शास्त्रीय संगीत के परिपक्व ज्ञान का प्रमाण मिलता है। बाह्य संगीत के इन तत्वों के होते हुए भी उनकी रचनाओं में सहज और आन्तरिक संगीत का अभाव है। लाड़सागर के अनेक पदों में लम्बी-लम्बी २५, ३० पंक्तियां प्रयुक्त हैं।

---

१. लाड़सागर, पद २४, पृ० ११५

इस प्रकार आत्माभिव्यंजन, भावोद्रेक, भाषा-शैली, संगीतात्मकता आदि गीति-काव्य की किसी भी कसौटी पर वृन्दावनदास के पद शुद्ध नहीं ठहरते। उनके गीतों को केवल लोक-गीतों का परिष्कृत रूप माना जा सकता है। अधिक कुछ नहीं।

निष्कर्ष यह है कि विकास की दृष्टि से रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने गीति-काव्य के क्षेत्र में कुछ नवीन उद्भावनायें नहीं कीं। परम्परा का ही पालन करते रहे। भावाभिव्यंजना का रूप अत्यन्त साधारण रहा। अलंकार और चमत्कार-वृत्ति के कारण जो प्रभाव पड़े वे गीति-काव्य के स्वरूप में बाधक ही हुए, साधक नहीं।

भारतेन्दु के हाथों हिन्दी-कविता की पद-परम्परा का पुनरुत्थान हुआ। संगीत-सम्बन्धी अध्याय में उनके पदों के रूप तथा उनमें प्रयुक्त शैलियों का विवेचन किया जा चुका है। उनके अनेक पद भावाभिव्यंजना की दृष्टि से बड़े ही सरस और सफल बन पड़े हैं यद्यपि उन पर भी पूर्व-मध्यकालीन भक्तों की रचनाओं का प्रभाव आदि से अंत तक विद्यमान है। रीतिकालीन गीति-काव्य में भावनाओं की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति में अवरोध आ गया था, परन्तु भारतेन्दु की रचनाओं में फिर भावुक हृदय के सहज उद्रेक के दर्शन होते हैं। उनके विनय-सम्बन्धी पदों में सूरदास के विनय-पदों की छाया स्पष्ट है। उनका आत्मनिवेदन शुद्ध आत्माभिव्यंजक शैली में किया गया है। प्रेम-मालिका, प्रेम-प्रलाप, प्रेम-फुलवारी और राग-संग्रह में यह शुद्ध रूप विद्यमान है—

प्रभु हो ऐसी तौ न बिसारौ।
कहत पुकार नाथ तव रूठे कहुं न निवाह हमारौ।
जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नित ही करत बुराई।
तौ फिर भले होइ तुम छांड़त काहे नाथ भलाई।
जो बालक अरुझाइ खेल में जननी सुधि बिसरावै।
तौ कहा माता ताहि कुपित ह्वै ता दिन दूध न प्यावै।
दयानिधान कृपानिधि केशव करुण भक्त भय-हारी।
नाथ न्याव तजते ही बनिहै हरीचंद की बारी।[1]

गीतों के इस शुद्ध रूप के अतिरिक्त उसका अध्यंतरित रूप भी मिलता है। कवि के परोक्ष अस्तित्व के कारण उनकी भावात्मकता में कोई अन्तर नहीं आया है। भक्त कवियों के समान ही उनकी भावनायें भी गोप-बालाओं की भावनाओं से एकात्म होकर व्यक्त हुई हैं। इस अध्यन्तरित रूप में भी शुद्ध आत्माभिव्यंजकता मिलती है।

भारतेन्दु के साथ ही व्रजभाषा के गीति-काव्य के इतिहास का युग समाप्त होता है। सामयिक परिस्थितियों के कारण इस काल के कवियों का दृष्टिकोण बहिर्मुखी होता गया। विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए कविता का उपयोग किया जाने लगा, ऐसी स्थिति में भाव-प्रेरित गीति-काव्य की रचना के उपयुक्त भूमि नहीं प्राप्त हो सकती थी। कविता में अनुदिन वर्णनात्मकता और इतिवृत्तात्मकता की वृद्धि

१. प्रेम-प्रलाप, पृ० २७४, पद ४

होती गई। बौद्धिक युग के इस आविर्भाव के साथ ही भावोन्मेष और उद्रेक से युक्त गीति-काव्य-परम्परा प्रायः समाप्त हो गई। कुछ समय उपरान्त छायावादी कविता के प्रादुर्भाव के साथ गीति-काव्य का इतिहास पुनः आरम्भ हुआ, परन्तु इस काव्य की प्रेरणा, पृष्ठभूमि तथा साहित्यिक रूपाधार सब कुछ अपनी पूर्व परम्परा से बिल्कुल भिन्न था। ब्रजभाषा के गीति-काव्य का इतिहास भारतेन्दु जी के समर्थ योगदान के उपरान्त ही समाप्त हो जाता है, जिन्होंने अंतिम दिनों में उसकी लड़खड़ाती हुई क्षीण स्थिति को अपने स्पर्श द्वारा गौरवपूर्ण और स्थायी बना दिया। समय और युग के आग्रह से कृष्ण-काव्य-परम्परा दूसरी परम्पराओं को स्थान प्रदान कर पीछे हट गई, पर भारतेन्दु द्वारा पुनः प्रतिष्ठित शास्त्रीय संगीत और लोकगीतों की विविध शैलियों का समन्वित रूप आज भी जीवित है।

## मुक्तक-रचना

मुक्तक-रचना के क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों के योग-दान का विश्लेपण करने के पूर्व मुक्तक के स्वरूप का संक्षिप्त विश्लेपण करना उचित जान पड़ता है। मुक्तक निबंन्ध-काव्य का दूसरा रूप है। गीतिकाव्य और मुक्तक में काफी समानता दिखाई देती है, परन्तु दोनों की आत्मा में एक मौलिक अन्तर होता है, जिसके कारण उनके कलेवर में भी अन्तर आ जाता है। भारतीय काव्य-शास्त्र की विवेचना करते समय अनेक आचार्यों ने 'मुक्तक' की परिभाषा दी है। सब आचार्यों के मतों को यहां उद्धृत करना अनावश्यक होगा। उन सब परिभाषाओं में मुक्तक-विषयक एक सामान्य तथ्य की स्थापना की गई है; वह यह है कि मुक्तक उस काव्य को कहते हैं जो पूर्वापर सम्बन्ध से रहित होता है। मुक्तक काव्य में विभाव, अनुभावादि से पुष्ट रस-परिपाक इतना पूर्ण होना चाहिए कि पाठक को अपनी रसवृत्ति के लिए पूर्वापर का सहारा न ढूंढ़ना पड़े।

मुक्तक में भावाभिव्यक्ति का वह सहज उद्रेक नहीं मिलता जो गीति-काव्य में मिलता है। मुक्तककार की कला-चेतना गीतकार की अपेक्षा अधिक जागरूक तथा उसकी दृष्टि अपेक्षाकृत वस्तुपरक होती है। गीतिकाव्य के समान मुक्तक में विषय-वस्तु और अभिव्यंजना की एकतानता नहीं रहती। उसमें तो कवि बाह्य स्वरूप की रचना के प्रति भी बहुत जागरूक रहता है। रागात्मक आवेश और आत्मनिष्ठता गौण पड़ जाती है और काव्य का कला-पक्ष प्रधान हो जाता है। मुक्तक के रस-परिपाक में चमत्कार-तत्व का भी काफी महत्वपूर्ण योग रहता है। उक्ति-विदग्धता तथा चमत्कार मुक्तक-काव्य की विशेषता मानी जाती है फलतः रचना-कौशल उसमें प्रमुख तत्व बन जाता है। इस प्रकार मुक्तक-रचना की प्रक्रिया गीत-सृजन-प्रक्रिया से भिन्न होती है। कला-तत्व के प्राधान्य के कारण उसमें बौद्धिक तत्व प्रधान हो जाता है। बुद्धि और अनुभूति में एकात्म नहीं होता, दोनों का अस्तित्व अलग बना रहता है। भावों की छटा अलग दिखाई देती है और कला-विदग्धता अलग। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने मुक्तक-काव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि "मुक्तक में रस के छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है।" लेकिन साथ ही साथ उन्होंने उसकी स्वतन्त्र रस-व्यंजक शक्ति का भी संकेत करते

हुए इस विद्या की अनेक प्रकार से प्रशंसा की है। उनके शब्दों में, यदि प्रबन्ध-काव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक-काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता।[१]

छन्द-विधान का कौशल मुक्तककार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। गीतों में छन्दों का प्रयोग अधिकतर चरम भावावेश की स्थिति के अनुकूल लय-निर्माण के लिए किया जाता है तथा एक बार उसे अमान्य भी किया जा सकता है, उसकी उपेक्षा भी की जा सकती है; परन्तु मुक्तक में छन्द-निर्वाह सयत्न किया जाता है। छन्दों के प्रयोग में एक-एक मात्रा का ध्यान रखना पड़ता है अन्यथा वह दोषपूर्ण हो जाता है। मुक्तक तो छन्द की इकाई मात्र है, गीति-काव्य की भांति उसमें आद्यन्त एक ही अनुभूति के अनुस्यूत होने के कारण आन्तरिक भावान्विति नहीं होती। भाव-ऐक्य के अभाव में मुक्तक कोई समाहित प्रभाव नहीं डालता। मुक्तक काव्य की सबसे बड़ी सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि अर्थ की संक्षिप्तता रस-परिपाक अथवा अर्थ-सौरस्य के लिए बन्धन न बन जाए।

## मुक्तक-रचना के क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों का योग-दान

पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने अधिकतर रागबद्ध पदों की ही रचना की है। प्रतिपाद्य का रूप चाहे भावात्मक हो चाहे वर्णनात्मक अथवा व्याख्यात्मक, उन्होंने गीत की विधा को ही अपनाया है। यहाँ तक कि कवित्त, सवैया, कुण्डलिया आदि छन्दों के नियमों का यथावत् पालन करते हुए भी अनेक पदों में राग और ताल का उल्लेख कर तथा टेक की पहली पंक्ति जोड़कर उसे गीत का रूप दे दिया गया है। इस प्रसंग में एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

राग अड़ानों

गोकुल की पनिहारी, पनिया भरन चली,
बड़े-बड़े नैन तामें खुभि रह्यौ कजरा।
पहिरे कसूंभी सारी, अंग-अंग छबि भारी
गोरी-गोरी बाँहन में मोतिन के गजरा।
सखी संग लिये जात, हँसि-हँसि करत बात
तन हू की सुधि भूली सीस धरें गगरा।
नन्ददास बलिहारी, बीच मिले गिरधारी,
नैनंनि की सैननि में भूलि गई डगरा।[२]

ऐसी स्थिति में इन राग-बद्ध मुक्तकों में अनुस्यूत भावान्विति को ही प्रधान कर उन्हें गीत मानने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है।

मुक्तक की विषयपरकता को लेकर कृष्ण-भक्ति काव्य में वर्णनात्मक या व्याख्यात्मक पदों को लेकर फिर दूसरा प्रश्न उठता है। उदाहरण के लिए एक पद लीजिये—

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २६८—रा० चं० शुक्ल

२. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृ० ३५३, पद ८३

राग विभास

गोकुल गाउ रसीले पिय कौ, मोहन देखि मिटत दुख जिय कौ।
मोर मुकुट कुण्डल वनमाला, या छवि सों ठाढ़े नंदलाला।
कर मुरली पीताम्बर सोहैं, चितवत ही सबकौ मन मोहैं।
मन मोहियो इन सांवरे हो चकित-सी डोलत फिरौं।
और कछु न सुहाय तन मन, बैठि उठि गिरि-गिरि परौं।
मदन बात सुभार लागे, जाइ पीव न कछु कही
और कछू उपाय नाहीं स्याम वैद बुलावहीं।[1]

उपर्युक्त पद में स्वीकृत विधा गीत है, इसका छन्द-विधान भी बिल्कुल स्पष्ट है; परन्तु विषय की वर्णनात्मकता को देखते हुए इस प्रकार के पदों को गीति-काव्य के अन्तर्गत रखा जायेगा अथवा मुक्तक के, यह प्रश्न उठता है। यहां भी हमें निरपेक्ष दृष्टि रखनी होगी और मुक्तक शैली के विविध उपकरणों और विशेषताओं के अभाव में इन वर्णनात्मक गीतों को भी गीत ही मानना होगा, मुक्तक नहीं। वास्तव में इन पदों में न गीति-काव्य के लिए अपेक्षित भावान्विति है और न मुक्तक की सुगुम्फित शैली और कला-प्रधान दृष्टि। केवल विषयपरक दृष्टि को कसौटी बनाकर उन्हें मुक्तक काव्य के अन्तर्गत नहीं रक्खा जा सकता।

वास्तव में मुक्तक के क्षेत्र में पूर्व-मध्यकालीन कवियों की सिद्धि का कोई महत्व नहीं है। केवल ध्रुवदास, रसखान, हितहरिवंश और राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कुछ अन्य कवियों की रचनायें इसके अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

वर्णनात्मक मुक्तक

मुक्तक-रचना के क्षेत्र में सर्वप्रमुख नाम है रसखान का। उनके द्वारा रचित कविता तथा सवैये मुक्तक रचना की विभिन्न कसौटियों पर पूर्ण रूप से खरे उतरते हैं। एक-एक छन्द अपने-आप में एक इकाई है; चार पंक्तियों में ही सम्पूर्ण चित्र का निर्माण बड़ी कुशलता से किया गया है। उनके मुक्तकों की सबसे बड़ी विशेषता है भाव और अभिव्यंजना की एकतानता, जो उन्हें गीति-काव्य के निकट ला देते हैं, चित्रात्मकता, भावातिरेक और उक्ति-वैदग्ध्य का यह सामंजस्य अन्यत्र दुर्लभ है—

धूरि भरे अति सोहत स्याम सु तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी,
खेलत खात फिरैं अंगना, पग पैजनियां अरु पीरी कछोटी,
वा छवि को रसखानि बिलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी,
काग सुभाग कहा कहिये हरि हाथ सों ले गयो माखन रोटी।[2]

मुक्तक के लिए प्रौढ़, प्रांजल और समासयुक्त भाषा अनिवार्य मानी जाती है। क्योंकि मुक्तक के छोटे आकार में भावों का सागर भरने के लिए इसी प्रकार की भाषा आदर्श मानी जाती है। रसखान की भाषा मृदुल, मंजुल और गतिपूर्ण होते हुए भी बोझिल नहीं

१ सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १७६४
२. निम्बार्क माधुरी, पृ० ५३२, पद ४

है तथा उसमें गागर में सागर भरने की शक्ति है। उनके मुक्तकों में व्यक्त एक-एक चित्र अमर है। अनुप्रासमयी शब्दावली इस प्रकार से सँजोई गई है कि उनकी भाषा की गतिपूर्ण लय में आंतरिक संगीत फूटा पड़ता है। उनके आवेग की तीव्रता इस प्रकार की भाषा का सहारा प्राप्त कर बड़े ही कोमल प्रभाव की व्यंजक बन जाती है। साधारणतया मुक्तक की गेयता श्रेष्ठ कोटि की नहीं होती; परन्तु रसखान के कवित्त और सवैयों की गीतात्मकता में हृदय को झंकृत कर देने की शक्ति है। उनके प्राणों का कम्पन, उनकी भाषा की लय संगीत की गति के साथ मिलकर सहृदय को अलौकिक रस से अभिभूत कर देती है।

## ध्रुवदास तथा राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अन्य कवियों द्वारा रचित मुक्तक

परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से मुक्तककार के रूप में ध्रुवदास का स्थान पूर्व मध्यकालीन कवियों में सबसे पहले रखा जाएगा। उन्हें छन्द-शास्त्र तथा काव्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। 'ब्यालीस लीला' में संकलित अनेक कृतियाँ मुक्तक शैली में ही लिखी हुई हैं; दोहा, सोरठा या कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग उन्होंने किया है। प्रतिपाद्य के वैविध्य के आधार पर उनके मुक्तकों को भी उपदेशात्मक, आख्यानात्मक, कलात्मक और भावात्मक श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है। इन मुक्तकों में रीतिकालीन कवियों की कला-सूक्ष्मता अथवा तनिक में अधिक बात कह देने की क्षमता नहीं मिलती। उनकी दृष्टि तो बहिर्मुखी है पर उसके चमत्कार-नियोजन में वैदग्ध्य नहीं है। लेकिन सर्वत्र उसका अभाव भी नहीं है। शब्द-क्रीड़ा से युक्त अतिशयोक्ति में कला के प्रति जागरूकता के कारण ही भाव और अभिव्यंजना का पार्थक्य स्पष्ट दिखाई देता है—

मधुर तें मधुर अनूप तें अनूप अति,
　　रसनि कौ रस सब सुखनि कौ सार रे।
बिलास कौ बिलास निज प्रेम की है राजै सदा
　　राजै एक छत्र दिन विमल विहार रे।
छिन छिन तृषित चकित रूप माधुरी में,
　　भूले सेई रहें कछु आवै न विचार रे।
प्रेमहू को विरह कहत जहां डर आवै
　　ऐसे हैं रंगीले ध्रुवतन सुकुमार रे।[1]

अपने-आप में स्वतन्त्र और पूर्ण भाव-चित्रों का निर्माण भी उन्होंने किया है—

अलक संवारन ब्याज कै, परस्यौ चहत कपोल।
मृदुल करनि डारति झटकि, रसमय कलह कलोल।[2]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने भी मुक्तक शैली अपनाई है। कल्याण पुजारी, नेही नागरीदास इत्यादि की वाणी में कवित्त और सवैयों का परिष्कृत और सुघर रूप मिलता

१. ब्यालीस लीला, हितशृंगार, ६५
२. रस-रत्नावली ।५। ब्या० लीला

है। वास्तव में इन मुक्तकों को भक्तिकाल की पद-शैली और रीतिकाल की मुक्तक शैली के बीच की कड़ी माना जा सकता है। श्रृंगार रस से ओत-प्रोत अनेक सम्पूर्ण भाव-चित्रों का निर्माण इन कवियों ने किया है, जिनमें उक्ति-विदग्धता, भाषा-शिल्प और चित्र-कल्पना का मँजा हुआ रूप सर्वत्र विद्यमान है। एक उदाहरण लीजिये—

आजु प्रिया मुख की छवि देखत ह्वै गयो मोहन लाल लट्टू ।
पलकैं न लगें उत नैन लगे इत देह संभारत नाँहि लट्टू ।
अब हाथ से छूटि गई मुरली अरु आपुही ते गयो छूटि पट्टू ।
पाई प्रिया हिय लाय लये कहे फूली 'कली' अली देखि भट्टू ।[1]

विभिन्न क्रिया-कलापों के वर्णन में निहित आख्यान-तत्वों में भावनाओं का स्पर्श देकर चित्र को पूर्ण किया गया है। बारहमासा और षटऋतु सम्बन्धी मुक्तकों की रचना में ऋतु-परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले भावों की अभिव्यक्ति में उनके समर्थ अभिव्यंजना-कौशल का परिचय मिलता है।

विषय-वैविध्य तथा शैली, दोनों ही दृष्टि से, राधावल्लभ-सम्प्रदाय की मुक्तक रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। रीतिकालीन काव्य-वैदग्ध्य और वैचित्र्य तथा भक्तिकाल की गीतात्मकता और चित्र-कल्पना का उनमें अपूर्व संयोग मिलता है।

## रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की मुक्तक रचनायें

रसखान तथा अन्य पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों के मुक्तकों में भावतत्व की प्रधानता थी, रीतिकाल में युग-दर्शन के फलस्वरूप मुक्तकों में कला-तत्व की अति हो गई। रीतिकालीन कवियों को ब्रजभाषा का परिष्कृत और परिमार्जित रूप उत्तराधिकार में मिला। युग-सहज प्रदर्शन-भावना और कला-प्रियता से भाषा का रूप और भी मँज गया और उसी की शक्ति से जो शब्द-कौशल उन्होंने अपने मुक्तकों में प्रदर्शित किया वह हिन्दी मुक्तक के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रीतिकाल की अन्य काव्य-परम्पराओं के समान ही तत्कालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में भी इस कौशल के दर्शन होते हैं। एक ओर उन्होंने कोमल कान्त पदावली के प्रयोग द्वारा अपने छन्दों को लय और गति से भर दिया; दूसरी ओर चमत्कार-प्रधान शब्द-योजना से भाषा को व्यंजक बनाया। भाषा की सूक्ष्म कारीगरी के उदाहरण रूप में हठीजी, नागरीदास और घनानन्द की भाषा को लिया जा सकता है। इन कृष्ण-भक्त कवियों ने युग-प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से अपनाया है। दरबारी कवियों का काव्य-आदर्श ही इन कवियों का भी आदर्श रहा। प्रथम श्रेणी के कवि आश्रयदाता को रिझाने के लिए चमत्कार और विदग्धता का आश्रय ले काव्य-रचना करते थे। सूक्ष्म पच्चीकारी से भाषा को गढ़-गढ़ कर संवारते थे। कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण की प्रशस्ति में इस कवि-कर्म की पूर्ति कर रहे थे। उनके पास तो दरबारी कवियों से भी अधिक अवकाश था; क्योंकि आश्रयदाता नन्दलाल की कृपा से उनके पास भोग-विलास और ऐश्वर्य की समस्त सामग्री सदैव

---

१. श्री कल्याण पुजारी पदावली, पद १४८

विद्यमान रहती थी। निम्नलिखित मुक्तक में वर्णित प्रशस्ति किसी आश्रित कवि की प्रशस्ति से किसी भी प्रकार कम नहीं है। अतिशयोक्ति, उक्ति-चमत्कार और विदग्धता ही इसमें प्रधान हैं—

काम सरसी-सी रमा उमा दरसीसी पट फूल अरसी सी
घन दामिनि उसीसी है।
प्रेम भरसी सी मोह फसन फसी सो लोक लज्जा उफसीसी
कान्ह रूप में रसी सी है।
लरी लरसी सी कटि राजै हरि सी सी हठी उर में बसी सी
दुति जग में जसी सी है।
सिद्ध कर सी सो हिये अंगन ससी सी करै, रति की हँसी सी
दीसी उर में वसी सी है।[1]

शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से युक्त इस प्रकार के अनेक मुक्तक प्राप्त होते हैं जिनमें अलंकार-समृद्धि की अति हो गई। इस अति के कारण ही इन मुक्तकों में हृदय को रस से अभिभूत कर सकने की शक्ति नहीं है। केवल शब्दालंकारों के चमत्कार से न तो स्वाभाविक संगीत का निर्माण होता है और न उसका प्रभाव ही स्थायी होता है। यही कारण है कि इन भक्त कवियों द्वारा रचित मुक्तक केवल क्षणिक प्रभाव उत्पन्न करने की ही सामर्थ्य रखते हैं।

नागरीदास के मुक्तकों का रूप इतना कृत्रिम नहीं है। उनकी भाषा में संगीत की स्वाभाविक गति है, चित्रांकन शक्ति है तथा चमत्कार के हल्के स्पर्शों से उन्होंने अपने मुक्तकों को सहज-सुन्दर रूप प्रदान किया है। निम्न उदाहरण से वह बात स्पष्ट हो जायगी—

गोकुल गांव गली में मिली गोरी ऊजरी सारी उठी तन में लसि,
आवत देखि के मोहन को रहि गोहन सोहन जोन्ह जनूं वसि,
नागर भीरें कक्यो न टरी ह्वं निसंक तबंक जुटी भृकुटी कसि,
पातरे लंक की लंगरि ग्वारि सु आंगुरी गाल गड़ाय दई हँसि।[2]

भाव और चित्र-प्रधान मुक्तकों की इस श्रेणी के अतिरिक्त कृष्ण-भक्त कवियों ने ऋतु-सम्बन्धी मुक्तकों की रचना में भी अपना योग प्रदान किया। वसन्त, पावस, फाग इत्यादि प्रसंगों में कवित्त और सवैये उन्होंने भी लिखे, लेकिन इस क्षेत्र में उनकी सिद्धि का अधिक मूल्य नहीं है। रूढ़िगत वर्णन और सीमित कल्पना का प्रयोग ही इन रचनाओं में अधिकतर हुआ है। नागरीदास का ही एक कवित्त उदाहरण रूप में दिया जाता है—

भादों की कारी अंध्यारी निसा झुकि बाहर मंद फुही बरसावै,
स्यामा जु आपनी ऊंची अटा पै छकी रस-रीति मलारहि गावै,

---

१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ६३८
२. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ६२१—श्री नागरीदासजी

ता समं मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावें
पौन मया करि घूंघट टारे दया करि दामिनि दीप दिखावें।[1]

रीतिकालीन मुक्तककारों में घनानन्द को शीर्ष पर रखा जा सकता है। भावानुरूप
शब्दावली तथा शब्द-शक्तियों की पहचान और उनके प्रयोग की सामर्थ्य के कारण उनका
एक-एक मुक्तक उनकी उक्ति-विदग्धता का उदाहरण बन गया है। इनके मुक्तकों का रूप
रूढ़िबद्ध नहीं है, उसमें चमत्कार है पर वह केवल बुद्धिजन्य नहीं है। उनका सम्बन्ध हृदय से
भी है। उनके मुक्तकों में चमत्कार-तत्व हृदय की वाणी का अनुसरण करता है इसलिए उनका
प्रभाव रूढ़िबद्ध मुक्तकों के समान क्षणिक और अस्थायी नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने मुक्तक-रचना में प्रायः दो ही
प्रवृत्तियों को अपनाया (१) कलात्मक प्रवृत्ति के रूप में। जहां कलागत चमत्कार-प्रदर्शन
ही कवियों का ध्येय बन गया है, जिन कवियों ने अलंकार अथवा चमत्कार की अति नहीं
की है उनकी रचनाओं में चित्र, लय और वैदग्ध्य का सुन्दर सामंजस्य है अन्यथा उनका
प्रभाव क्षणिक और अस्थायी ही बन पड़ा है। (२) भावात्मक प्रवृत्ति के रूप में। घनानन्द
ही इस वर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं। मुक्तक के क्षेत्र में रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों का
योग पूर्व-मध्यकालीन कवियों की अपेक्षा बहुत अधिक रहा है।

## आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में मुक्तक काव्य की स्थिति

युग-दृष्टि में परिवर्तन के कारण रीतिकाल की वे सीमायें टूटने लगीं जिनके कारण
काव्य का रूप, विषय तथा शैली दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त संकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु-युग
के अनेक प्रमुख कवियों ने उसके रीतिबद्ध रूप को परिवर्तित और परिष्कृत किया। प्रताप
नारायण मिश्र, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह इत्यादि इस काल के
प्रधान मुक्तककार थे। विषयगत परिष्कार की प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण इस युग में
कृष्ण-भक्ति और शृंगारपरक विषयों पर अधिक नहीं लिखा गया, केवल परम्परा के अवशेष
रूप में ये प्रवृत्तियां बनी रहीं। रीतिकाल में प्रचलित कवित्त-सवैयों की शैली का ही मुख्य
रूप से प्रचलन रहा, और इन कवित्त-सवैयों में ब्रजभाषा का ही प्रयोग हुआ; परन्तु कृत्रिमता
और परिष्करण तथा अलंकरण की अति इस काल की भाषा में नहीं मिलती। इस काल के
मुक्तकों की भाषा का रूप अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है। छन्द और भाषा के परम्परा-
गत रूप के ग्रहण करने पर भी ये कवि लकीर के फकीर नहीं बने रहे। उनके हाथों में मुक्तक
पूर्ण रूप से रूढ़ि-ग्रस्त नहीं रह गया, लेकिन भाषा, छन्द और अलंकार तीनों ही क्षेत्रों में
आधार परम्परागत ही रहा। छन्द और भाषा के समान ही इन मुक्तकों में अलंकार को भी
परम्परागत रूप में स्वीकार किया गया, लेकिन रीतिकाल का कलागत परिष्कार अब कविता
का साध्य न बन कर साधन-मात्र रह गया था।

विषय की दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन मुक्तकों को कई भागों में विभाजित किया जा

---

१. वर्षा के कवित्त।१६।—नागरीदासजी

सकता है, परन्तु तत्कालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य में मुक्तक रचना का परम्परागत रूप ही थोड़े-बहुत अन्तर के साथ मिलता है। समस्या-पूर्ति की प्रतियोगितायें तत्कालीन साहित्य-समाज में बहुत लोकप्रिय और प्रचलित थीं जिसमें कवि की अन्तःप्रेरणा की अपेक्षा अभिव्यंजना की सामर्थ्य अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। किसी भी विषय पर समस्यायें दे दी जाती थीं और कवि अपने-अपने ढंग से उनकी पूर्ति करते थे—वाक्‌विदग्धता पर ही उनकी प्रभावात्मकता निर्भर रहती थी। इन समस्यापूर्तियों में अधिकतर शृंगार रस प्रधान रहता था। भारतेन्दुजी की इस प्रकार की रचनाओं में भक्तिकालीन भावात्मकता और रीतिकालीन उक्ति-वैदग्ध्य का सुन्दर संयोग हुआ है। एक उदाहरण लीजिये—

सिसुताई अजों न गई तन तें तऊ जोवन जोति बटोरे लगी,
सुनि के चरचा, हरिचंद को कान कछूक दे भौंह मरोरे लगी,
बीच सासु जिठानी सों पिय तें डरि घूंघट में दृग जोरे लगी,
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरे लगी।[1]

बारहमासा और षट्‌ऋतु सम्बन्धी मुक्तकों में अनेक स्थलों पर उनकी कलात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। विरहिणी नायिका के व्यक्तित्व पर वसन्त के गुणों का आरोपण कर मानो वे नायिका को उसकी ओर आकर्षित होने की प्रेरणा देते हैं—

पीरो तन पर्‌यौ फली सरसों सरस सोई,
मन मुरझायौ पतझार मनो लाई है।
सीरो स्वांस त्रिविध समीर सी बहति सदा,
अँखिया बरसि मधु झरि सी लगाई है।
हरीचंद फूले मन मैन के मसूसन सों
ताही सों रसाल बाल बादि के बौराई है।
तेरे बिछुरे ते प्रान कंत के हिमंत अंत
तेरी प्रेम जोगिनी बसंत बनि आई है[2]

इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु का आरोपण नायिका पर किया गया है। भारतेन्दुजी के मुक्तक काव्य में भी भक्ति और रीति दोनों परम्पराओं के तत्व विद्यमान मिलते हैं।

रत्नाकरजी कवित्त और सवैये लिखने में बड़े दक्ष थे। उद्धवशतक, शृंगारलहरी और वीराष्टकों में उन्होंने अपनी मुक्तक-रचना-कौशल का परिचय दिया है। एक ओर उद्धव-शतक का प्रत्येक छन्द अपने-आप में पूर्ण है, वह मुक्तक काव्य की समस्त विशेषताओं से युक्त है; और दूसरी ओर रत्नाकरजी ने इन कवित्तों को कथा-प्रसंग के अनुसार संगृहीत करके उसे प्रबन्ध-काव्य का रूप प्रदान किया है। वास्तव में उद्धवशतक में हमें मुक्तक का वह रूप मिलता है जिसका विवेचन दण्डी ने किया था। पद्य के भेद प्रस्तुत करते हुए उन्होंने मुक्तक को सर्गबन्ध का अंग भी माना है—

---

१. भा० ग्र० प्रेम माधुरी, पृ० ८०
२. भा० ग्र० प्रेम माधुरी ३५, पृ० १५३

मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धांगरूपत्वावनुक्तः पद्यविस्तरः।[1]

इसी प्रकार राजशेखर ने भी इस बात का प्रतिपादन किया कि मुक्तक स्वतन्त्र और निराकांक्ष अर्थ-द्योतन में समर्थ होने पर भी प्रबन्ध के बीच समाविष्ट हो सकता है।[2]

रत्नाकर के उद्धवशतक की प्रबन्धात्मकता में मुक्तक तत्व को इसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार मुक्तक-क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों के योग के तीन सोपान मिलते हैं। पूर्व-मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में राग और तालबद्ध कवित्त तथा सवैयों में इन छन्दों की परम्परा का पुनः निर्मित रूप मिलता है। वाह्य संगीत के आवरण तथा गीति-काव्य के प्राधान्य के कारण उनका मुक्तक-रूप गौण और प्रगीत-रूप प्रधान हो गया है। रसखान तथा ध्रुवदास इत्यादि ने अपने मुक्तकों पर से बाह्य संगीत का आवरण हटाकर उन्हें शुद्ध मुक्तक-रूप प्रदान किया। उनके मुक्तकों में भाव और चित्र-कल्पना के साथ उक्ति-विदग्धता का सामंजस्य तो किया गया है, पर उक्ति-वैचित्र्य-तत्व गौण ही रहा है। कलात्मक परिष्कृति भी साध्य नहीं बन गई है। रीतिकालीन कवियों की प्रशस्ति-प्रधान चमत्कारीवादी दृष्टि में उक्ति-वैदग्ध्य और कलागत परिष्करण साध्य बन गया। मुक्तकों के आयाम को अनेक आश्रित कवियों ने अपने कला-प्रदर्शन का अखाड़ा बनाया और इस क्षेत्र में अपनी सूक्ष्म पच्चीकारी का कौशल दिखाया। आधुनिककालीन मुक्तकों की रचना में परम्परा का ही अनुसरण होता रहा। गीतों का परम्परागत रूप तो भारतेन्दुजी के साथ ही समाप्त हो गया था, परन्तु इन मुक्तकों की परिपाटी आगे भी चली। छायावाद के आविर्भाव के पहले तक खड़ीबोली ब्रजभाषा के मुक्तकों में प्रयुक्त छन्दों और शैलियों को ही ग्रहण कर उन्हें नये रूप में संवारती रही।

## कृष्णभक्त कवियों द्वारा रचित प्रबन्ध-काव्य

प्रबन्ध का अर्थ है जो बन्ध-सहित हो, अर्थात् जिस काव्य में शृंखलाबद्ध रूप में किसी वस्तु का वर्णन हो, उसे प्रबन्ध-काव्य कहते हैं। प्रबन्ध-काव्य का कथानक सापेक्ष होता है, जिसमें पूर्वापर सम्बन्धों की स्थिति सदैव बनी रहती है। कथा की पृष्ठभूमि-निर्माण के लिए प्रकृति-वर्णन और देश-काल-चित्रण का स्थान भी महत्वपूर्ण रहता है। प्रबन्ध-काव्य विषय-प्रधान होता है जिसके कारण उसमें वर्णनात्मक तत्वों का आधिक्य हो जाता है। इसी कारण इस प्रकार के काव्य को वाह्यार्थ निरूपक काव्य की संज्ञा दी जाती है। प्रबन्ध के दो रूप माने गये हैं: महाकाव्य तथा खण्ड-काव्य। प्रथम में कवि एक उदात्त लक्ष्य की पूर्ति का उद्देश्य अपने सामने रखकर जीवन के सम्पूर्ण अंगों का वर्णन सर्गबद्ध रूप में करता है और द्वितीय में जीवन के किसी एक खण्ड या अंश को लेकर ही उसका क्रमबद्ध वर्णन किया जाता है।

कृष्ण-भक्ति की काव्य-परम्परा में एक भी महाकाव्य की रचना नहीं हुई, यद्यपि अनेक

१. काव्यादर्श, दण्डी, अध्याय १, श्लोक १३
२. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, पृ० १४३-४४

कवियों ने कृष्ण के जीवन का आद्यन्त चित्रण किया; परन्तु शैली और विषय दोनों ही दृष्टि से यह चित्रण महाकाव्य के अनिवार्य अनुबन्धों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। कृष्ण और राधा के प्रति इन कवियों का दृष्टिकोण भावात्मक और रागात्मक था। हृदय की अत्यधिक भावुकता में गीतों का स्रोत फूट निकलता है और महाकाव्य के लिए वस्तु-परक, गम्भीर और बुद्धि-समन्वित दृष्टि की आवश्यकता होती है। राधा के कंकण, किंकिणी और नूपुरों की झनकार तथा कृष्ण के मोरमुकुट, पीताम्बर और वैजयन्तीमाल से टकराकर उनकी कल्पना शत-शत गीतों के रूप में मुखरित हुई है। कृष्ण-भक्ति में कल्याण का सन्देश शाश्वत और सार्वभौम आधारों पर टिका होने पर भी समष्टिगत और समाजगत नहीं है; वह व्यक्ति के कल्याण का ही निर्देश करती है। महाकाव्यकार की दृष्टि वैयक्तिक नहीं; समाजगत होती है; कथा, चरित्र-चित्रण, भाव-व्यंजना सबकी एक विशाल पृष्ठभूमि होती है। उसमें केवल बाह्य आकार की ही महत्ता नहीं, आन्तरिक महत्ता भी होती है। उसकी गरिमा रागात्मक उल्लास और वेदना की तीव्रता पर नहीं, त्याग, बलिदान और कर्तव्य की भावना पर निर्भर रहती है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में भावजन्य आवेश और उद्रेक का जो रूप था उसकी अभिव्यक्ति के लिए गीत ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम था। उनकी दृष्टि विषयगत नहीं थी, किसी महान संदेश अथवा गम्भीर जीवन-दर्शन का प्रतिपादन उनका उद्देश्य नहीं था। उनके नायक में अलौकिक गुण कूट-कूट कर भरे हुये थे, पर उनकी भावुक दृष्टि ने उस अलौकिकता को भी अपनी कोमल भावनाओं के उद्दीपन रूप में ही ग्रहण किया है; उनका अनुकरण या अनुसरण करने की उन्होंने कल्पना भी नहीं की है। उनका हृदय तो कृष्ण के लीला-रूप पर ही अधिक टिका है। ऐसी स्थिति में महाकाव्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्णता की उपलब्धि उन्हें कैसे हो सकती थी! महाकाव्य में सर्वांगपूर्ण जीवन का चित्रण होता है, महत् चरित्र तथा महत् जीवन की सरस व्याख्या रहती है; किसी उच्चादर्श अथवा पारमार्थिक सत्य की स्थापना होती है। उसमें लोक-परलोक, सद्-असद्, प्राचीन-नवीन का समन्वय होता है। इस प्रकार के उदात्त और विशद प्रतिपाद्य के लिए उपयुक्त अभिव्यंजना-तत्वों का निर्देश भी भारतीय काव्य-शास्त्र में किया गया है। उनकी कसौटी पर भी कृष्ण-भक्ति काव्य की एक भी रचना पूर्ण रूप से खरी नहीं उतरती। सर्गबद्धता और पूर्वापर सम्बन्ध का इनमें प्रायः अभाव है। छन्द-सम्बन्धी नियमों का पूर्ण रूप में उल्लंघन किया गया है। नायक के प्रख्यात रूप में महाकाव्य का नायक बनने योग्य सब गुण विद्यमान हैं, पर इन कवियों ने उन्हें आदर्श नायक बनाने की कल्पना भी नहीं की। वे उनके मधुर मानव-रूप के प्रति ही अपनी भावनाओं के उन्नयन में लगे रहे। महाकाव्य के उपयुक्त वर्णनात्मकता और विशाल पृष्ठभूमि का भी उनके काव्य में अभाव है। निष्कर्ष यह है कि उनके प्रतिपाद्य का स्वरूप ही महाकाव्य के उपयुक्त नहीं था; यही कारण है कि सूरदास, वृन्दावनदास और ब्रजवासीदास जैसे कवियों ने यदि कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण किया भी है, तो उसमें महाकाव्य के उपयुक्त तत्वों का समावेश नहीं कर पाये हैं। उनकी आत्मा गीति-काव्य की ही रही है। प्रबन्ध-गरिमा के अभाव में गीति-तत्वों से विहीन स्थल बिल्कुल ही मार्दवहीन और नीरस बन पड़े हैं।

### खंडकाव्य

कृष्ण-भक्ति काव्य में ऐसे प्रबन्ध-तत्व अवश्य विद्यमान हैं, जिन्हें खण्डकाव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। खण्डकाव्य में जीवन के एक ही अंग का चित्रण होता है, परन्तु वह खण्ड और उसमें व्यक्त अनुभूति अपने-आप में पूर्ण होती है। खण्डकाव्य में महत् चरित्र या महत् जीवन की स्थापना अनिवार्य नहीं होती। उसमें काल्पनिक, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक पात्रों के जीवन के किसी अंश अथवा घटना को लेकर काव्य-रचना की जाती है। उसमें वर्णनात्मकता प्रधान होती है। खण्डकाव्य में एक कथा-सूत्र का होना अनिवार्य होता है, परन्तु उसके विधान में महाकाव्य के लिए निर्दिष्ट उपबन्ध आवश्यक नहीं होता। उसमें नाट्य सन्धियों के निर्वाह की अनिवार्यता नहीं होती; आदि, मध्य और अवसान के नियोजन का भी कोई नियम नहीं रहता। इसका कारण यही है कि खण्डकाव्य में जीवन के सर्वांग निरूपण के अभाव के कारण कथा का उत्थान-पतन नहीं होता, प्रासंगिक कथाओं का बहुत कम प्रयोग किया जाता है। सर्गबद्धता भी खण्डकाव्य का अनिवार्य उपबन्ध नहीं है। सर्गों के अभाव में भी खण्डकाव्य की कथा का विकास सफलतापूर्वक किया जा सकता है, क्योंकि उसमें कथा-विस्तार का क्षेत्र बहुत सीमित होता है।

कृष्ण-भक्त कवियों के खंडकाव्यों में कथात्मकता के साथ गीतात्मकता का सामंजस्य है। खंडकाव्य के तत्व इस काव्य में मुख्यतः तीन रूप में मिलते हैं।

१. कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के आधार पर लिखे गये खंडकाव्य। इस श्रेणी की मुख्य कृतियां हैं नन्ददास-कृत रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त-पंचाध्यायी, गोवर्धन लीला, सुदामाचरित, रुक्मिणीमंगल। ये सभी रचनायें वर्णनात्मक और छन्दोबद्ध हैं।

२. काल्पनिक आख्यानों पर आधृत विशिष्ट आध्यात्मिक सिद्धान्तों के निरूपण के उद्देश्य से लिखित खंडकाव्य। यथा, रूप-मंजरी और विरह-मंजरी।

३. पद-शैली में लिखे गये साहित्य में निहित खंड-कथानक।

### नन्ददास के खण्डकाव्य

खंडकाव्य-रचयिता के रूप में कृष्ण-भक्त कवियों में सबसे प्रथम स्थान नन्ददासजी का है। श्रीमद्भागवत के आख्यानों पर आधृत करके सभी कवियों ने अपनी कृतियों की रचना की है, परन्तु ये रचनायें मुक्तक रूप में लिखी होने के कारण एक विशिष्ट घटना या व्यक्तित्व का आभास-मात्र प्रस्तुत करती हैं, उनका सांगोपांग चित्रण नहीं प्रस्तुत करतीं। जो अन्तर एक झलकी (Skit) और एकांकी में होता है, वही अन्तर एक संक्षिप्त पद में नियोजित घटना और खंडकाव्य की कथानक-योजना और चरित्र-चित्रण में होता है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण से सम्बद्ध विभिन्न आख्यानों का संयोजन विविध रूपों में किया गया है। नन्ददासजी का रासपंचाध्यायी, रुक्मिणीमंगल, श्यामसगाई, सुदामा-चरित, गोवर्धन-लीला और भ्रमर-गीत जैसी कृतियां भागवत के आख्यानों पर ही आधृत हैं। खंडकाव्य की दृष्टि से इन सब कृतियों का अलग-अलग स्थान है।

**रासपंचाध्यायी—प्रख्यात आख्यान**

रासपंचाध्यायी पांच अध्यायों में रचित एक खंडकाव्य है। यह एक प्रतीकात्मक काव्य है जिसमें रास की आध्यात्मिकता की भावमूलक व्यंजना की गई है। कृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं, गोपिकायें जीवात्मा की प्रतीक हैं जो ब्रह्म की अंश-रूप हैं। आनन्द-रूप ब्रह्म से विच्छिन्न होकर, सांसारिक माया-मोह में बंधी हुई इन आत्माओं की सार्थकता यही है कि वे फिर रस-रूप ब्रह्म में लीन हो जायें। रास में गोपियों के विरह में जीवात्मा के विरह-चित्रण के साथ ही रसरूप ब्रह्म के साथ उनकी मिलनावस्था का वर्णन किया गया है। इस प्रतीकात्मक अर्थ के निर्वाह में भाव-व्यंजना प्रधान है और कथानक-योजना गौण हो गई है। यद्यपि रासपंचाध्यायी, भागवत में वर्णित इसी प्रसंग पर आवृत है, परन्तु उसे भागवत का कोरा अनुवाद-मात्र नहीं कहा जा सकता; कथानक-योजना में कवि का कलाकार सचेत है। विषय के अनुरूप पृष्ठभूमि के निर्माण तथा विषय को अपनी इच्छानुकूल ढालने के लिए उसने अनेक मौलिक प्रयोग तथा परिवर्तन किये हैं। भागवत में २९वें अध्याय से लेकर ३३वें अध्याय तक रासलीला का वर्णन है; परन्तु खंडकाव्य के उपयुक्त वातावरण-निर्माण के लिए उन्होंने स्वतन्त्र और मौलिक वर्णनों का समावेश किया है। 'पंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय के आरम्भ में ही उन्होंने शुकदेवजी की वन्दना, वृन्दावन की अलौकिक शोभा और माहात्म्य-वर्णन तथा शरद्-पूर्णिमा के सौन्दर्य का चित्रांकन उनकी स्वतन्त्र और मौलिक कल्पनायें हैं; जब कि भागवत में शरद् ऋतु और चन्द्रोदय का वर्णन केवल दो श्लोकों में कर दिया गया है।

*नाटकीय स्थिति की मौलिक उद्भावना*

प्रथम अध्याय में ही एक नाटकीय स्थिति के संयोजन द्वारा नन्ददासजी ने अपनी मौलिक प्रबन्ध-कल्पना के सौष्ठव का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। वह प्रसंग है प्रथम अध्याय में कामदेव के आगमन और उस पर गोप-कृष्ण द्वारा विजय-प्राप्ति का वर्णन। इससे कथा में रोचकता आ गई है। भागवत में इस प्रकार का कोई प्रसंग नहीं है। डा० दीनदयालु गुप्त ने इस प्रसंग के समावेश का एक प्रतीकात्मक महत्व भी माना है। वे कहते हैं "इस प्रसंग के लाने का नन्ददास का आशय यह दिखाना है कि गोपी-कृष्ण रास में लौकिक काम-वासना का कोई समावेश नहीं है।"[1]

*अनावश्यक विस्तार-निवारण*

इसके अतिरिक्त कथानक-संयोजन में नीरसता और एकरसता का निषेध करने के लिए उन्होंने कुछ स्थलों को संक्षिप्त भी कर दिया है। भागवत में मुरली-नाद सुनकर सब ब्रज-बालाएँ कृष्ण से मिलने के लिए आतुर हो उठी हैं। उस समय नन्ददास की दृष्टि केवल उनकी भावनाओं के चित्रण की ओर ही रही है। वे किन-किन कार्यों को छोड़कर किन अवस्थाओं में भागीं, इसका परिगणनात्मक वर्णन नन्ददासजी ने भागवतकार के समान नहीं किया है। भागवत में उसका वर्णन विस्तार से किया गया है।

---

१. अ० वल्लभ-सम्प्रदाय, पृ० ८२६—दीनदयालु गुप्त

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥५॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिद् अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥६॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अंजन्त्यः काश्च लोचने
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ।[1]

इसी प्रकार कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर भागवत की गोपियों के समान नन्ददास ने अपनी गोपियों से कृष्ण की अनेक अलौकिक लीलाओं का अनुकरण नहीं कराया है। कृष्ण के साथ उनके तादात्म्य का संकेत-मात्र देकर वे भावनाओं के अंकन में लग गये हैं। भागवतकार ने उनकी तादात्म्य स्थिति का चित्रण करते समय पूतना का स्तन-पान तथा अन्य राक्षसों के वध की घटनाओं का अनुकरण करवाया है—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीलाभागवतस्तास्ता ह्यनु चक्रुस्तदात्मिकाः ॥
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् ।
तोकायित्वा रुदन्त्यन्या पदाहच्छकटायतीम् ॥
दैत्यायित्वा जहारान्यामेकाकृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ।[2]

आध्यात्मिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से चाहे ये वर्णन उचित हों, परन्तु माधुर्य के आस्वाद में इनसे व्याघात ही पहुंचता है। नन्ददास के जागरूक साहित्यकार ने उन्हें इन प्रसंगों को छोड़ देने के लिए विवश कर दिया है।

शेष अध्यायों में भी भागवत के ३०वें अध्याय का अत्यन्त क्षीण प्रभाव रह गया है। नन्ददास की सक्षम शैली और कल्पनाशक्ति के कारण वर्णन बिलकुल मौलिक ही जान पड़ता है। कथा-योजना में कोई मौलिक परिवर्तन शेष अध्यायों में नहीं किया गया है। वास्तव में रासपंचाध्यायी घटना-प्रधान खण्डकाव्य न होकर भाव-प्रधान और लक्ष्य-प्रधान खण्डकाव्य है जिसके द्वारा ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध का चित्रण करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार के प्रतीकात्मक काव्य में चरित्र-चित्रण का रूढ़ रूप ग्रहण नहीं किया जा सकता; गोपिकाओं में व्यक्तित्व की स्थापना कुछ विशिष्ट मान्यताओं के आधार पर की गई है। वे माधुर्य भक्ति की साधिकायें हैं और उस साधना में राग-तत्व के प्राधान्य के कारण गोपियों का व्यक्तित्व प्रगीतात्मक बन गया है। इसलिए चरित्र-चित्रण की सामान्य कसौटियों पर उन्हें नहीं आंका जा सकता। कर्मठता, कर्तव्यशीलता, नैतिकता तथा अन्य सांसारिक आचार-व्यवहार के आधार पर उनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता; नैतिकता की कसौटी पर गोपियों का चरित्र-चित्रण तो निकृष्ट कोटि का सिद्ध हो जायेगा। कवि की कृतियों की

१. श्रीमद्भागवत पृ० ५३४, अध्याय २६
२. श्रीमद्भागवत, अध्याय ३०, पृ० ५३७।१३-१६

समीक्षा के लिए उसके द्वारा गृहीत जीवन-दर्शन को ध्यान में रखना आवश्यक होता है, रास-पंचाध्यायी की गोपिकायें इस प्रकार एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। कर्मठता और साहस का उनमें अभाव नही है; पर वह भाव-प्रेरित है, आवेगजन्य है। वे लौकिक जीवन के संघर्ष और पूर्णता की नहीं, प्रेम-प्रधान आध्यात्मिक भक्ति के पागल प्रेम और शक्ति की प्रतीक हैं।

खण्डकाव्य का तीसरा तत्व है विविध विषयों का वर्णन। इसमें महाकाव्य के समान विशाल और विशद पार्श्वभूमि और पृष्ठभूमि का चित्रण नहीं होता; परन्तु इसके चित्रित एकांश से सम्बद्ध वर्णनों का समावेश आवश्यक और अनिवार्य होता है। वर्णन और कथावस्तु का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। कथानक के अन्तर्गत आने वाले वर्णन के दो रूप होते हैं—(१) आलम्बन रूप, (२) उद्दीपन रूप। कृष्ण और गोपियों का रूप-वर्णन आलम्बन विभाव के, तथा वृन्दावन, शरद्-वैभव आदि का वर्णन उद्दीपन विभाव के वर्णन के अन्तर्गत रखा जा सकता है। शुकदेवजी के नखशिख-वर्णन में लौकिक भावनाओं के माध्यम से व्यक्त आध्यात्मिक रास को सुदृढ़ आध्यात्मिक पृष्ठभूमि प्रदान करने में बड़ा सहायक हुआ है। रास के भाव-मूलक प्रतिपाद्य के अनुकूल पृष्ठभूमि का निर्माण रास के घटना-स्थल और रम्य प्रकृति के वर्णन द्वारा किया गया है। वृन्दावन का उल्लसित हृदय पुष्पों, वृक्षों और लताओं के माध्यम से व्यक्त हो रहा है। यमुना की कलकल और शुभ्र ज्योत्स्ना के साथ मल्लिका का सौरभ एक पुण्य सात्विक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सकने में समर्थ हो सका है। प्रकृति-वर्णन अधिकतर उद्दीपन रूप में ही किया गया है।

पंचाध्यायी में वर्णन का दूसरा क्षेत्र है—रास-वर्णन, जिसकी सजीवता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। अभिव्यंजना के सभी तत्वों की दृष्टि से यह अनुपम कलाकृति है। संगीत और चित्रकला का इससे सुन्दर सामंजस्य अन्यत्र दुर्लभ है। नृत्य की मुद्राओं और हाव-भाव के चित्रण द्वारा सम्पूर्ण रास-लीला मानों एक शब्द-चित्र के रूप में अंकित हो गई है।

रस-परिपाक की दृष्टि से रासपंचाध्यायी का मूल्यांकन करना कठिन है। उसका मुख्य विषय है प्रेम, जिसके द्वारा उद्‌भूत शृंगार रस अथवा भक्ति की शब्दावली में 'मधुर रस' के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का विशद चित्रण किया गया है। गोपियों के प्रेम की तीव्रता और गहनता दर्शनीय है। सूरदास के समान ही नन्ददास की गोपियों के विरह में भी यही बात कही जा सकती है कि उनका विरह परिस्थिति-जन्य न होकर बैठे-ठाले का खेल है; परन्तु इस दोष का निराकरण पूर्ण रूप से हो जाता है यदि सम्पूर्ण प्रसंग की प्रतीकात्मकता को ध्यान में रखकर इन कवियों की विरह-व्यंजना की विवेचना की जाये। सूर का (सभी कृष्ण-भक्त कवियों का) वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थितियों के अनुरोध से नहीं।[१] अभिसार, प्रतीक्षा, स्वरभंग, अनुभावों तथा आशंका, उच्छ्वास, सन्ताप इत्यादि विरह-दशाओं का चित्रण सजीवता के साथ किया गया है। पंचाध्यायी का अंगी रस

१. भ्रमरगीत-सार भूमिका, पृष्ठ ७—रामचन्द्र शुक्ल

है माधुर्य रस, जो अन्त में शान्त रस का उद्रेक करता है। रास-वर्णन में अलौकिकता-जन्य अद्भुत प्रभाव के समावेश में अद्भुत तत्व का समावेश भी हो गया है—

अद्भुत रस रह्यौ रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चलौ सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि ॥[1]

शैली की दृष्टि से पंचाध्यायी की सबसे बड़ी सार्थकता है प्रतिपाद्य के प्रति उसकी अनुकूलता, जो नन्ददास में विशेष रूप से मिलती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कथा का सूत्र अत्यन्त क्षीण है, परन्तु नन्ददासजी अपनी प्रबन्ध-कल्पना के बल पर ही भावना और आख्यान का समन्वय कर सके हैं। उनके आख्यान तथा खण्डकाव्यों के संक्षिप्त होने का एक कारण यह भी है कि उन्होंने जिस अनुभूति को पकड़ा है वह उद्रेक के छोटे-से क्षण की अनुभूति है; इसी कारण उनके खण्डकाव्यों में कथा और प्रगीति-तत्व का सुन्दर मिश्रण हो सका है।

**रूपमंजरी**

रास-पंचाध्यायी के समान ही 'रूपमंजरी' भी अन्योक्तिमूलक खण्डकाव्य है। परन्तु इसका कथानक प्रख्यात न होकर उत्पादित है। रूपमंजरी इसकी नायिका है। सांसारिक प्रेम का त्याग कर वह अपार्थिव रसपुरुष कृष्ण के साथ अपनी भावनाओं का सम्बन्ध स्थापित करती है। इसको सगुण भक्ति-काव्य-परम्परा का प्रथम प्रेमाख्यानक-काव्य कहा जा सकता है। इसमें फारसी मान्यताओं के स्थान पर भारतीय मान्यतायें स्वीकार की गई हैं, विरह के आँसू रूपमती (नायिका) के पल्ले पड़े हैं, उपास्य का स्त्री-रूप न स्वीकार करके उसे पुरुष-रूप में ही ग्रहण किया गया है। रूपमंजरी शुद्ध गोपी प्रेम-पद्धति की राधिका की प्रतीक है। इन्दुमती मानो उसकी सहायक और पथ-प्रदर्शिका है जो उसके इष्ट के लिए सदैव प्रार्थना करती रहती है। डा० दीनदयालु गुप्त ने रूपमंजरी के आख्यान को कवि के जीवन से सम्बद्ध माना है, उनके तर्क काफी प्रबल और सशक्त हैं। वे कहते हैं—

"कथानक की नायिका रूपमंजरी नंददास की मित्र रूपमंजरी ही है। कवि ने रूपमती की सखी जिस इन्दुमती का वर्णन किया है उसके चरित्र-वर्णन में इस बात के प्रमाण मिल जाते हैं कि कवि स्वयं अपने को रूपमती की सहचरी इन्दुमती बनाकर लिख रहा है।"[2]

यह प्रसंग रोचक होते हुए भी काव्य-रूप के विवेचन से अधिक सम्बन्ध नहीं रखता, इसलिए इसका सूत्र यहीं छोड़ा जाता है। केवल इतना ही कह देना आवश्यक है कि शृंगार के साथ ही साथ इसमें माधुर्य-भक्ति के तत्व संग्रथित हैं। स्थान और पात्रों के नाम भी प्रतीकात्मक हैं। निर्भयपुर के राजा धर्मवीर की कन्या रूपमंजरी अत्यन्त सुन्दर थी। इस वर्णन में मानो यह संकेत निहित है कि 'निर्भीक चित्त होकर धैर्य के साथ धर्म का आश्रय लिये हुए रूपनिधि-परमात्मा का अंश रूपमंजरी-आत्मा ही इस प्रेम-मार्ग पर चलकर उसमें लीन हो सकती थी।[3] कथानक में प्रतीक-योजना स्पष्ट है।

---

१. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३५, ६०—रासपंचाध्यायी
२. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, पृष्ठ ७१२—दीनदयालु गुप्त
३. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृष्ठ १०७

इस रूपवती पुत्री के लिए वर खोजने का कार्य एक ब्राह्मण को सौंपा गया, जिसने लोभवश उसका विवाह क्रूर, कुरूप और अयोग्य वर के साथ करा दिया; रूपमंजरी और उसके माता-पिता के अपार दुःख का वर्णन करने के उपरान्त कवि फिर माधुर्य-भक्ति के विश्लेषण में लग जाता है। घटनाओं के उतार-चढ़ाव के द्वारा कृति को रोचक बनाने का प्रयास कवि ने नहीं किया है। विवाह होने के उपरान्त रूपमंजरी के जीवन की घटनाओं के वर्णन तथा पति के दुर्व्यवहार इत्यादि के प्रति वह पूर्ण रूप से उदासीन बना रहा है। रूपमंजरी के चरित्र के अनेक प्रसंग जो इस आख्यान को अधिक रोचक बना सकते थे, छोड़ दिये गए हैं। कवि का ध्यान कथावस्तु के विस्तार और सहायक घटनाओं के संयोग से कथा को पूर्ण बनाने की ओर गया ही नहीं है। कथानक के बीच अर्पित मर्मस्पर्शी प्रसंग प्रबन्ध-काव्य को रोचक बनाते हैं और कवि की अनुभूतियों के साथ तादात्म्य स्थापित करने में भी सहायक होते हैं; परन्तु रूपमंजरी में कवि ने इस बात की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया है। रूपमंजरी के आख्यान में कथा के उत्कर्ष, अवसान आदि अवस्थाओं के निर्वाह पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया है।

चरित्र की दृष्टि से इसमें एक पात्र की प्रधानता है जिसका व्यक्तित्व भी रासपंचाध्यायी की गोपियों के समान प्रगीतात्मक है। कोमलता और भावुकता ही जिसमें प्रधान है। व्यक्तित्व में अनेकरूपता के समावेश का वहाँ अवसर ही नहीं मिला है। रूपमंजरी के संपूर्ण व्यक्तित्व का अर्थ है प्रेम-बाधाहीन-स्वच्छन्द प्रेम ; इसीमें जीवन के शेष तत्व समाहित हो गये हैं। इन्दुमती दूसरी पात्री है, कृष्ण का चरित्र परोक्ष रूप में ही वर्णित किया गया है।

वर्णनात्मकता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इसमें रूप-वर्णन का ही प्राधान्य है। प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में हुआ है और वह षटऋतु के परम्परागत रूप में वर्णित है। रूप-वर्णन के अन्तर्गत रूपमंजरी का रूप-वर्णन विस्तार से और कृष्ण का संक्षेप में किया गया है। रूपमंजरी के वर्णन में नखशिख-परम्परा तथा नायिका-भेद वर्णन का सहारा ग्रहण किया गया है; मुग्धा, अज्ञातयौवना, सद्यःस्नाता इत्यादि के रूप में रूपमंजरी के चित्रण में नन्ददास की कल्पना ने अपनी पूरी शक्ति और अभिव्यंजना-शक्ति ने अपनी पूरी सामर्थ्य का प्रयोग किया है। उनका उल्लेख अप्रस्तुत-योजना और चित्रांकन के प्रसंग में किया जा चुका है।

कृष्ण का रूप-वर्णन दो स्थलों पर हुआ है—(१) प्रथम स्वप्न-दर्शन में, (२) फाग-प्रसंग में। दोनों ही स्थलों पर वर्णन का रूप परम्परागत है।

पृष्ठभूमि-निर्माण के लिए इसमें दृश्यों और स्थलों का सांगोपांग विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। प्रकृति के दृश्यों के वर्णन में विस्तार का अभाव है। उद्दीपन रूप में प्रकृति के परम्परागत वर्णन अवश्य मिलते हैं। सांसारिक क्षेत्र में कुंठा के द्वारा ही भगवत्-भक्ति की ओर हृदय उन्मुख होता है यह ध्वनि भी मानों इस तत्व के समावेश द्वारा कवि देना चाहता है। इन्दुमती उसके मन में परकीया प्रेम के रस के अंकुर का आरोपण करती है, लेकिन उसके लिए किसी लौकिक व्यक्ति को न चुनकर वह श्रीकृष्ण को उपपति चुनती है। वह उसे गोवर्धन पर्वत पर ले जाकर कृष्ण की मूर्ति के दर्शन करवाती है। स्वप्न में रूपमंजरी को कृष्ण के

दर्शन होते हैं, कृष्ण के रूप-वर्णन का कवि को अवसर प्राप्त होता है और वह उसे बड़े विशद रूप में प्रस्तुत करता है। अपनी भावनाओं के आलम्बन इन्हीं कृष्ण के रूप के प्रति रूपमंजरी आसक्त हो गई, कल्पना में ही उनका संयोग-सुख प्राप्त हुआ और फिर तो कृष्ण की लीला-भूमि व्रज-वृन्दावन को छोड़कर और कहीं वह रह ही न सकी। इन्दुमती भी उसे ढूंढ़ती हुई वहीं पहुँची, वहाँ रूपमंजरी को रास में मग्न देखकर वह भी आनन्दमग्न हो गई। इस प्रकार रूपमंजरी को कथाविन्यास की दृष्टि से निस्संकोच एक प्रतीकात्मक काव्य कहा जा सकता है।

रूपमंजरी में विरह के पूर्वराग रूप का प्राधान्य है, जिसका हेतु है उसकी सखी द्वारा गुण-श्रवण, स्वप्नदर्शन, मूर्तिदर्शन। हावभाव और 'हेला' का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया है। षट्ऋतुओं के माध्यम से यह विरह परम्परागत रूप में वर्णित हुआ है, कहीं-कहीं उसमें ऊहात्मकता भी आ गई है।

संयोग-शृंगार का स्थूल रूप भावना अथवा स्वप्न के स्तर पर ही वर्णित है। विरह-विदग्धा रूपमती स्वप्न में कृष्ण के साथ संयोग-सुख प्राप्त कर संयोग-हर्षिता का रूप प्राप्त कर लेती है। स्वप्न-स्तर पर वर्णित होकर भी अनेक स्थलों पर स्थूलता का समावेश हो गया है। रस-संचार की दृष्टि से रूपमंजरी सार्थक है। इसमें परवर्ती रीतिकालीन विरह-व्यंजना के भी कुछ तत्व मिल जाते हैं।

रासपंचाध्यायी के समान ही रूपमंजरी में भी कवि का उद्देश्य माधुर्य-भक्ति के सैद्धान्तिक पक्ष का भावात्मक और साहित्यिक स्तर पर विश्लेषण करना मात्र है। ये दोनों ही लक्ष्य-प्रधान, भाव-प्रधान, प्रतीकात्मक खण्डकाव्य हैं, जिनमें से आध्यात्मिक तत्व को हटा लेने पर उनका महत्व आधा भी नहीं रह जायेगा।

**रुक्मिणी-मंगल**

घटना-प्रधान खण्डकाव्य

इस वर्ग के अन्तर्गत नन्ददास के 'रुक्मिणी-मंगल' और 'स्यामसगाई' आते हैं। रुक्मिणी-मंगल ग्रन्थ श्रीमद्भागवत के ५२-५४ अध्यायों की कथा पर आधारित है। श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध प्रख्यात आख्यान के आधार पर इसकी रचना हुई है। कथानक बहुत संक्षिप्त है। इस अभाव की पूर्ति पृष्ठभूमि और प्रकृति के भावपूर्ण और मार्मिक चित्रण के द्वारा भी की गई है। रुक्मिणी के पूर्वराग के जीवन्त चित्र अंकित किये गये हैं। द्वारावती के वैभव-चित्रण द्वारा प्रबन्ध-काव्य के उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण हो सका है। द्वारिकापुरी के वर्णन में तत्कालीन नागरिक जीवन के वैभवपूर्ण जीवन के स्पर्श प्राप्त होते हैं, लेकिन मुख्य रूप से नन्ददासजी की दृष्टि प्राकृतिक वैभव के चित्रण पर ही केन्द्रित रही है। उत्प्रेक्षाओं में कवि की कल्पना-शक्ति की उर्वरता का परिचय मिलता है। वास्तव में इस वर्णन में प्राकृतिक और नागरिक वैभव का समन्वित रूप चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

कृष्ण के कुण्डनपुर पहुंचने पर वहां के नागरिकों की उत्कंठा और कृष्ण को देखने की उत्कट अभिलाषा में आज के लोकप्रिय नेताओं को देखने के लिए साधारण जनता की उत्कंठा

और व्यग्रता साकार होती हुई जान पड़ती है; अन्तर यही है आज की साधारण जनता को एक निश्चित व्यवधान और दूरी से अपने 'नेता' के दर्शन का अवसर मिलता है। नंददास द्वारा चित्रित साधारण जनता की भावनायें और कार्य अपेक्षाकृत निकट के हैं—

पुर के लोगनि सुनी कि श्री सुन्दर वर आये,
जहां वहां ते धाये देखि हरि विस्मय पाये।
कोउ कटीली भौंहनि निरखत विवस खरे हैं।
कोऊ दृगन छवि गिनत गिनावत हार परे हैं।
कोउ लखि ललित कपोलनि मधुरी बोलनि अटके।
मद गज ज्यों परे चहले वहले फेरि न मटके।[1]

कृष्ण और रुक्मिणी का रूप-वर्णन भी खण्डकाव्य की विविध विषयों के वर्णन-तत्व संबंधी कसौटी पर पूरा उतरता है।

कृति का अंगी रस है शृंगार। वीर रस का तो केवल स्पर्श-मात्र कर दिया गया है। यद्यपि शौर्य की अभिव्यक्ति के लिए कृति में यथेष्ट अवसर था। इसका कारण यह जान पड़ता है कि रुक्मिणी-मंगल चूंकि मंगल-काव्य है, इसलिए अमंगलकारी घटनाओं के परिहार के लिए कवि सचेष्ट रहा है।

स्याम-सगाई

दूसरा घटनाप्रधान खण्डकाव्य है स्याम-सगाई। यह कृति आकार में बहुत छोटी है। इसलिए कभी-कभी तो इसे केवल 'पद्य कथा' का उत्कृष्ट उदाहरण मान लेना ही उपयुक्त जान पड़ता है; परन्तु कथानक का एक निश्चित विधान इसे स्वतःपूर्ण बना देता है। इसी कारण इसकी संक्षिप्तता को देखते हुए भी इसे खण्डकाव्य के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता है कथा-प्रणाली की रोचकता। आगे चलकर यही प्रसंग 'गारुड़ी लीला' के रूप में विभिन्न कवियों के द्वारा कृष्ण-चरित से सम्बद्ध किया गया। कथानक का रूप पूर्णतः प्रख्यात नहीं है इसलिए उसका सारांश दे देना यहां अनुचित नहीं जान पड़ता। राधा के रूप-सौंदर्य की ओर आकर्षित होकर यशोदा वरसाने की 'कीर्ति', राधा की मां, के पास उसके साथ कृष्ण के विवाह का प्रस्ताव भेजती हैं। कीर्ति यह कहकर कि मेरी राधा तो भोली-भाली है कृष्ण अत्यन्त चंचल और चोर हैं, प्रस्ताव को ठुकरा देती है। राधा अपनी सखियों के परामर्श से सर्प द्वारा काटे जाने का बहाना करके मूर्छित हो जाती है, सखियां कालिय नाग का दमन करने वाले कृष्ण को बुलाकर नाग का विष उतरवाने का परामर्श देती हैं। कृष्ण जाते हैं, राधिका ठीक हो जाती है और कीर्ति कृष्ण के साथ-साथ राधा की सगाई करके कृतज्ञता का ज्ञापन करती है। वास्तव में इस कृति को खण्डकाव्य कहने में बड़ी हिचक होती है। इस प्रकार के खण्ड-कथानक सूरसागर में यथेष्ट संख्या में भरे पड़े हैं। केवल उसकी प्रबन्ध-शैली ही एक वह तत्व है जिसके कारण इसे मुक्तक मानने में कठिनाई होती है। सूरदास द्वारा प्रणीत स्याम-सगाई-सम्बन्धी पद इससे किसी प्रकार कम रोचक नहीं हैं।

१. नन्ददास-ग्रन्थावली, पृ० २०७, २०८, छं० सं० ८४, ८७, ८८

पहले कहा जा चुका है कि सभी कृष्ण-भक्त कवियों की काव्य-रचना का आलम्बन कृष्ण की लीलायें थीं। यदि पदों में अन्वित प्रबन्धात्मकता का विश्लेषण करने लगें तो प्रायः सभी कवियों के गीतों में प्रबन्धात्मकता के तत्व विद्यमान मिलते हैं, परन्तु उन्हें प्रबन्धकाव्य नहीं कहा जा सकता। सूरसागर के विस्तार और सम्पूर्णता को देखते हुए यह बात विचारणीय हो जाती है कि सूरसागर प्रबन्धकाव्य है अथवा अप्रबन्ध-काव्य। प्रबन्धकाव्य में पूर्वापर-सम्बन्ध एक अनिवार्य तत्व होता है। सूरसागर में कथा का क्रम विद्यमान है। द्वादश स्कन्धात्मक विभाजन भी प्रबन्ध के अनुरूप है। उसका आधार-ग्रन्थ है प्रबन्धात्मक काव्य श्रीमद्भागवत। सूरसागर की रचना उसी क्रम के अनुसार हुई है। राम-कृष्ण तथा अन्य अवतारों की कथा में प्रबन्धात्मकता का निर्वाह किया गया है, चौपाई या चौपई-जैसे वर्णनात्मक छन्दों द्वारा उनका गान किया गया है, राम-कथा और कृष्ण-कथा वय-विकास की दृष्टि से ही लिखी गई हैं।

कृष्ण-चरित के वर्णन में कथा-क्रम का यद्यपि पूर्ण ध्यान रखा गया है, परन्तु एक-एक प्रसंग पर अनेक पद मिलते हैं और प्रबन्धकाव्य में पुनरावृत्ति दोष बनकर आ जाते हैं। श्रीकृष्ण का अवतार रस-प्रधान है, यही कारण है कि सूरसागर के बृहद् आकार में भी प्रगीतकार की सूक्ष्म और कोमल आत्मा का सुकुमार स्पन्दन ही अधिक है।

जन्म से लेकर कृष्ण बदरी-वनगमन तक सम्पूर्ण कृष्णचरित का वर्णन क्रमानुसार ही किया गया है। केवल महाभारत के युद्ध का अंश इसमें नहीं है। इतना सच होते हुए भी सूरसागर को *प्रबन्धकाव्य* नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कथा-क्रम के निर्वाह-मात्र से किसी काव्य को प्रबन्धकाव्य नहीं कहा जा सकता, एक पद का दूसरे पद से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक पद अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र है, प्रबन्धकाव्यों में प्रसंगों की पुनरुक्ति नहीं होती; वहां तो कथा का विकास सबसे प्रमुख तत्व होता है। सूरसागर की कथा में प्रसंगों और घटनाओं की अनेक पुनरुक्तियां हैं। कथा को अग्रसर करना कवि का लक्ष्य नहीं है; उसका उद्देश्य तो विविध लीलाओं का वर्णन करना मात्र है। कुछ लीलाओं के वर्णन में, छन्दबद्ध और पदात्मक, दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है। स्वतन्त्र गीतों की अपेक्षा छन्दात्मक पदों में कथा का दृष्टिकोण अधिक प्रधान है।

एक बात और; प्रबन्धकाव्य में जीवन के बाह्य रूप का चित्रण होता है। अनुरंजन तत्व कम और आदर्शात्मक लोकहित और मर्यादा के तत्व अधिक होते हैं और उसमें कवि का दृष्टिकोण वस्तुगत होता है। उसमें समाज, जगत् और व्यक्तित्व का चित्रण प्रमुख होता है। सूरसागर में कृष्णचरित का केवल लीला-अंश ही प्राप्त होता है। मर्यादा और लोक-कल्याण के तत्वों का उसमें अपेक्षाकृत अभाव है। रसलीला के अनिर्वचनीय अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति ही कवि का साध्य है, फलस्वरूप वह अन्तर्द्रष्टा अधिक है, बाह्य जगत् का चित्रकार कम। उसकी दृष्टि विषय की व्यंजना करते हुए भी विषयी-प्रधान है।

'परमानन्द सागर' तथा अन्य कवियों द्वारा रचित पदावलियों की गीतात्मकता इतनी मुखर है, और प्रबन्ध-तत्व के उपकरण उनमें इतने कम हैं कि उनके प्रबन्धकाव्य होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों के गीतों और मुक्तकों में छोटे-छोटे

कथानकों का प्रयोग हुआ है। उनका रूप अधिकतर परम्परागत है। कल्पना के अल्प पुट से उन्हें प्रभावपूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है, परन्तु उन्हें खण्डकाव्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।

प्रबन्ध-रचना के क्षेत्र में दूसरे उल्लेखनीय कवि हैं, राधावल्लभ-सम्प्रदाय के रीतिकालीन कवि श्री वृन्दावनदास, जिन्होंने कृष्ण-कथा को सागरों में बांधा है। उनके प्रमुख ग्रन्थ लाड़सागर में गेय पदों की प्रधानता है, जिनमें दोहा, अरिल्ल, सोरठा, कवित्त, छप्पय, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। 'लाड़सागर' में राधा-कृष्ण की शैशवावस्था, और किशोरावस्था की लीलाओं का वर्णन हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दस प्रमुख प्रकरणों में विभक्त है। जिनका उल्लेख इस प्रकार है—(१) राधा-बाल-विनोद, (२) कृष्ण-बाल-विनोद, (३) कृष्ण-सगाई, (४) कृष्ण प्रति जसुमति-शिक्षा, (५) विवाह (६) लाड़िली जू को गौनाचार, (७) लाल जू को महिमानी को बरसाने आइबौ, (८) राधा-छवि-सुहाग, (९) जसुमति-मोद-प्रकाश, (१०) राधा-लाड़-सुहाग; ये सभी प्रकरण यद्यपि आख्यानात्मक हैं, परन्तु केवल इसी आधार पर लाड़सागर को प्रबन्धकाव्य नहीं कहा जा सकता, एक ओर उसमें जीवन के विशद और गम्भीर तत्वों का अभाव है, दूसरी ओर प्रगीत तत्वों का भी; शैली की दृष्टि से भी उसे प्रबन्धकाव्य नहीं माना जा सकता। अतएव पद-शैली में लिखे होने पर भी इसे प्रगीतात्मक गीतिकाव्य न कहकर आख्यानात्मक और वर्णनात्मक मुक्तक कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। गीतिकाव्य के कोमल और सुकुमार प्रतिपाद्य की भांति ही उसमें प्रगीत की अभिव्यक्ति के उपयुक्त कोमल-कान्त पदावली और शैली का भी अभाव है।

वृन्दावनदास का दूसरा उल्लेखनीय ग्रंथ है 'ब्रज प्रेमानन्द सागर'। डा० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में, "ब्रज प्रेमानन्द सागर अपनी विशालता, विविध रसों की परिपूर्णता, महाकाव्य शैली की अनुरूपता और वर्ण्य विषय की विविधता के कारण महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित-मानस की दोहा-चौपाई शैली में कथानुबन्ध-पूर्वक राधा-कृष्ण के शैशव से लेकर विवाह-पर्यन्त क्रीड़ा-कौतुक का वर्णन इसमें प्राप्त होता है।"[1]

सम्पूर्ण ब्रज प्रेमानन्द सागर का विभाजन लहरियों में किया गया है। कृष्ण की उन्हीं लीलाओं का वर्णन किया गया है जो माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में रस-परिपाक की दृष्टि से सहायक होती हैं। प्रबन्ध-काव्यत्व की कसौटी पर अन्य रचनाओं की अपेक्षा यह ग्रंथ अधिक खरा, केवल एक तत्व के कारण, माना जाता है; वह है इस ग्रन्थ की वर्णनात्मक शैली और कुछ अंशों में एक प्रसंग का दूसरे प्रसंग से पूर्वापर-सम्बन्ध। परन्तु ब्रज प्रेमानन्द सागर की आत्मा मुक्तक की ही है। उसमें प्रबन्धकाव्य की सर्गबद्धता का पूर्ण अभाव है। अधिकांश प्रसंग कृष्ण के समग्र जीवन के अंश होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व रखते हैं। इस ग्रन्थ की प्रबन्धात्मकता सूरसागर अथवा परमानन्दसागर की प्रबन्धात्मकता से अधिक भिन्न नहीं है। केवल छन्दोबद्धता और क्रमिक विकास का चित्रण ही इसमें अधिक है। सम्पूर्ण ग्रंथ की रचना दोहा और चौपाई की अर्धालियों में हुई है। कृष्ण के अलौकिक तथा लोक-

---

१. राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृष्ठ ५४२—विजयेन्द्र स्नातक

कल्याण की भावना से सम्बद्ध चरित्र को प्रमुखता नहीं दी गई है। प्रबन्ध-काव्य की समग्रता और गाम्भीर्य का इसमें पूर्ण अभाव है।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में भी प्रबन्ध-तत्वों का समावेश मुख्यतः दो रूपों में हुआ है—(१) मुक्तक काव्य में निहित आख्यानक तत्वों के रूप में; (२) प्रबन्धात्मक शैली में लिखे गये लीला-काव्य के रूप में। इस काल की रचनाओं का काव्यरूप चाहे कुछ भी हो, उनकी आत्मा एक ही है। कृष्ण-भक्ति काव्य में माधुर्य तत्वों के प्राधान्य के कारण प्रबन्ध-काव्यों के उपयुक्त गम्भीर प्रतिपाद्य का प्रायः अभाव रहा है। रीतिकाल में चाचा वृन्दावनदास तथा ब्रजवासीदास जैसे कवियों ने क्रमबद्ध कथा-वर्णन के रूप में प्रबन्धतत्व के निर्वाह का प्रयत्न किया है, परन्तु माधुर्य-भाव के प्राधान्य के कारण उन्हें व्यापक और विशद पृष्ठभूमि नहीं प्राप्त हो सकी है। वास्तव में यदि देखा जाये तो कृष्ण के चरित्र में लोक-कल्याण-तत्व का अनुपात राम के चरित्र की अपेक्षा कम नहीं है; परन्तु विभिन्न कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में लीला-पुरुष कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई और माधुर्य भक्ति के प्रचार-प्रसार के कारण उनके व्यक्तित्व में उदात्त और विशद तत्वों का प्रायः अभाव हो गया। रीतिकाल में जिन कवियों ने प्रबन्धकाव्य लिखा, विधा की दृष्टि से वह प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत केवल विभिन्न लीलाओं के पूर्वापर प्रसंगों और वर्णनात्मक शैली के आधार पर ही रक्खे जा सकते हैं। ये ग्रन्थ सर्गबद्ध न होकर विभिन्न लीलाओं के आधार पर प्रकरणों में विभाजित हैं, जो भक्तिकालीन गीतिकाव्य के आख्यानात्मक प्रकरणों से भिन्न नहीं हैं। अन्तर केवल यही है कि वहां वे रागबद्ध पदशैली में लिखे गये हैं और यहां वर्णनात्मक दोहा और चौपाई शैली में। ब्रज प्रेमानन्द सागर में लीलाओं की लहरियां हैं, ब्रजविलास में विभिन्न लीलायें हैं। चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, पृष्ठभूमि-चित्रण, देश-काल इत्यादि का चित्रण प्रबन्धकाव्य के बिल्कुल अनुकूल नहीं है। उनकी भाषा-शैली प्रसादगुणपूर्ण और विवरणात्मक है। उनके विषय में यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने सूरसागर के भावों को रामचरितमानस की शैली में पिरोने का प्रयत्न किया है पर शरीर और आत्मा का यह समन्वय सार्थक नहीं हो पाया है।

## आधुनिक काल के प्रबन्धकाव्य

आधुनिक काल में भी ब्रजभाषा में आख्यानात्मक, मुक्तक और गीतिपूर्ण आत्मा से युक्त प्रबन्धकाव्य लिखे गए। भारतेन्दुजी के गेय पदों में सूरसागर का ही अनुकरण हुआ है। कृष्ण-जन्म के प्रसंग में मथुरा की घटनाओं को प्रायः छोड़ दिया गया है। बाल-लीला के प्रसंग में कृष्ण और राधा के अलौकिक चरित्र का वर्णन नहीं हुआ है। पूर्वराग, वंशीवादन, नयन, रहस्यभेद, गोवर्धन-धारण, पनघट-लीला, राधा का विरह, कृष्ण के प्रयत्न, विविध लीलायें, चीर-हरण, राधा-कृष्ण-विवाह, हिंडोला, होली, खंडिता, भ्रमरगीत इत्यादि का समावेश इसके अन्तर्गत प्रायः परम्पराबद्ध रूप में ही किया गया है।

प्रबन्ध के क्षेत्र में उन्होंने कई प्रकार के प्रयोग किये। 'हिंडोला और होली' को वर्णनात्मक काव्य माना जा सकता है जिसमें प्राकृतिक पृष्ठभूमि में दृश्य-चित्रण किया गया

है। दृश्य में कार्यकलाप भी हैं और पार्श्व-भूमि भी; परन्तु घटना का अभाव होने के कारण उसे खण्डकाव्य नहीं कहा जा सकता। देवी-छद्मलीला, तन्मयलीला, दान-लीला, तथा रानी छद्मलीला को कथाकाव्य का नाम दिया जा सकता है। देवी-छद्मलीला और रानी-छद्मलीला की कथावस्तु उत्पाद्या है, जिसके द्वारा कृष्ण के प्रसिद्ध आख्यान में उन्होंने नये स्पर्श दिये हैं। ये कथायें सर्वथा मौलिक, सरल और सरस हैं। देवी-छद्मलीला में एक छोटा-सा प्रकरण है—

### देवी-छद्मलीला

बहुनारी-रत नायक कृष्ण से मिलने के लिए राधिका की एकनिष्ठ नारी-भावना विवशता से व्याकुल हो रही थी। दूसरी स्त्रियों के प्रति प्रिय की दुर्बलता को देखते और समझते हुए भी अपनी भावनाओं के उद्रेक से वे असहाय थीं; ऐसी स्थिति में ललिता ने एक उपाय का विधान किया। राधिका ने देवी का रूप ग्रहण किया और मन्दिर में अधिष्ठित हो गई। समस्त सखियों ने गोपों तथा पुजारियों का वेश धारण किया, कृष्ण वहां पहुंचे और पूजन का उपक्रम करने लगे; यशोदा ने पूजा करते समय वर मांगा—

'अटल सोहाग लहै राधा मेरी दुलहिन ललित ललैया।'

राधा का नाम सुनते ही मूर्ति मुस्करा उठी, पुजारियों के ओठों पर भी दवी मुस्कान दौड़ गई, कृष्ण को सन्देह हो गया, उन्हें लगा प्रसाद की माला में भी राधा के स्वेद की गंध आ रही है, परीक्षा लेने के लिए पान का बीड़ा देवी के अधरों से लगाने के बहाने अपने नख भी मूर्ति के ओठों से लगा दिये और फिर रहस्य खुल गया। कृष्ण राधा के चरणों में गिर पड़े। राधा का मान टूट गया। काव्य में एक निश्चित कथा-विधान है पर इसे खण्डकाव्य नहीं कहा जा सकता। परिपार्श्व, चरित्र-चित्रण उद्देश्य इत्यादि की कसौटी पर यह खरा नहीं उतरता; उसे अधिक से अधिक एक कथा-काव्य (Verse Tale) कहा जा सकता है।

### रानी-छद्मलीला

रानी-छद्मलीला आठ छन्दों की एक छोटी-सी रचना है। इसमें पदों का प्रयोग नहीं हुआ है। प्रत्येक छंद में दस पंक्तियां हैं और उनमें तीन विभिन्न छन्दों का व्यवहार हुआ है। पहले एक दोहा है फिर चौपाई (चार पंक्तियों की) और उसके बाद हरिगीतिका के चार चरण हैं।.

राधा ने एक दिन कृष्ण की समस्त प्रवंचनाओं का प्रतिशोध लेने का षड्यन्त्र रचा। वन में वृन्दा ने राधा की आज्ञा से नव खंडों का महल निर्मित किया और राज-दरबार के सब उपकरण वहां जुटा दिये गये। कृष्ण को पकड़ लाने का फरमान जारी हुआ। सखियां कृष्ण के पास पहुंचीं और उन्हें बताया कि कुमुद-वन की रानी ने उन्हें अनधिकार कुमुदवन में प्रवेश करने के अपराध में पकड़ बुलाया है। कृष्ण वहां पहुंचे और रानी को दंडवत् किया। राधा को पहले दया आ गई, पर उन्होंने यह सोचा कि यह नारी-लोभ से यहां आये हैं तो सपत्नी-भाव से जलने लगीं। कृष्ण से कहा कि तुम झूठे हो, झूठ बोलने से बढ़कर कोई अपराध नहीं है। तुम्हें दण्ड मिलेगा। कृष्ण ने सफाई दी, 'मैंने झूठ कब बोला है ?' और

राधा फूट पड़ी, 'तुम तो कहते थे राधा को छोड़कर मुझे और कोई प्रिय नहीं है; आज रानी का नाम सुनकर यहां क्यों दौड़ आये।' कृष्ण ने प्रेमयुक्त वचनों से कहा, 'मैं तो तुम्हारा सदैव अपराधी हूं, फिर भी तुमको छोड़कर कहां जाऊं।' इसमें भी भारतेन्दु की उद्भावना पूर्ण रूप से मौलिक है। दानलीला, तन्मय-लीला, वेणु-गीति का आधार मुख्यतः भागवत तथा सूर-सागर हैं।

भारतेन्दुजी की ये रचनायें खण्डकाव्य की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। कथा-बिन्दु यद्यपि पूर्ण है पर खण्डकाव्य के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि, वर्णन और विधान का इनमें पूर्ण अभाव है। वास्तव में इन्हें आख्यानात्मक मुक्तक या पद्य-कथा कहा जा सकता है। कथा, वर्णन, पृष्ठभूमि, चरित्र-चित्रण कोई भी तत्व इसमें पूर्ण नहीं मिलता। माधुर्य-रस का सम्यक् प्रतिपादन भी इनमें नहीं मिलता। अजस्र रस-प्रवाह का उनमें अभाव है; केवल मन को कुछ क्षणों के लिए उत्फुल्ल और चमत्कृत कर देने वाले छींटे ही उनमें मिलते हैं, जो प्रबन्धकाव्य की आत्मा के बहुत अनुकूल नहीं पड़ते।

भारतेन्दुजी की भांति ही रत्नाकरजी ने हिंडोला नामक वर्णनात्मक काव्य लिखा। इसमें भी दृश्य-चित्रण ही प्रधान हैं। नन्ददास के रासपंचाध्यायी की शैली का अनुकरण उन्होंने किया है और सम्पूर्ण काव्य रोला-छंद में रचित है। उद्धव-शतक के काव्य-रूप के विषय में मतभेद है। उसे प्रबन्ध-मुक्तक माना जाये अथवा शुद्ध प्रबन्ध, इस विषय में मतैक्य नहीं है। उसकी रचना क्रम से नहीं हुई है। उसमें ११८ घनाक्षरियां हैं और प्रत्येक छंद का अलग अस्तित्व तथा महत्व है। साथ ही साथ इन मुक्तकों के संकलन में कथा-क्रम का भी निश्चित निर्देश मिलता है। कथा-विकास क्रम से विभिन्न शीर्षकों में विभाजित है। वे शीर्षक इस प्रकार हैं—

१. उद्धव का ब्रज-गमन
२. उद्धव की ब्रज-यात्रा
३. उद्धव का ब्रज पहुंचना
४. उद्धव-वचन
५. गोपियों का प्रत्युत्तर
६. बिदा
७. प्रत्यागमन
८. उद्धव के वचन कृष्ण के प्रति

विविध सुन्दर तथा काल्पनिक प्रकरणों के पुट से कहानी को रोचकता प्रदान की गई है। वास्तव में उद्धवशतक में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों काव्य-रूपों का सुन्दर समन्वय हुआ है। साधारणतः भ्रमरगीत की रचना मुक्तक रूप में ही की गई है। रत्नाकरजी ने उसके विधान में प्रबन्ध-तत्वों का समावेश बड़े कौशल के साथ किया है। इसकी कथा इतनी प्रख्यात है कि उसके लिए किसी प्रकार के स्पष्टीकरण अथवा पार्श्वभूमि की आवश्यकता नहीं रह जाती।

काव्य का आरम्भ मंगलाचरण से होता है। विषय को प्रस्तुत करने के लिए बड़ी उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत की गई है। यमुना-स्नान के अवसर पर एक मुरझाये हुए कमल को

देखकर उन्हें मलिनमुख-विरहिणी राधिका का स्मरण आ जाता है। इसी के फलस्वरूप
उद्धवशतक की रचना होती है। कथा आरम्भ से अन्त तक चलती है, उनमें चरित्र-चित्रण,
संवाद और उद्देश्य की योजना भी हुई है। गोपियों के भावनिष्ठ, साधनापरक व्यक्तित्व
तथा रसावतार कृष्ण के व्यक्तित्व का अंकन बड़ी कुशलता से हुआ है। भक्त-हृदय के प्रतीक
के रूप में गोपियों के चित्र बड़े समर्थ बन पड़े हैं। उद्धव के चरित्र में क्रमिक विकास का
चित्रण हुआ है। यद्यपि उसकी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है तथा उसका प्रतीकात्मक महत्त्व
है; परन्तु इस विकास-चित्रण में रत्नाकरजी की मौलिक प्रतिभा का काफी परिचय मिलता
है। उनके संवादों में मार्मिकता तथा तार्किकता का संयोग भी बड़ी कुशलता के साथ किया
गया है। सम्पूर्ण कथा-विधान और सौन्दर्य संवादों पर ही आवृत है। वास्तव में रत्नाकरजी
के समय से हिन्दी में प्रबन्धकाव्यों का आविर्भाव होने लगा था। उन्होंने 'हरिऔध' अथवा
सत्यनारायण 'कविरत्न' के समान कृष्ण-भक्ति के प्रतिपाद्य तथा भावपक्ष का आधुनिकीकरण
तो नहीं किया; परन्तु युग की बौद्धिकता तथा तत्कालीन काव्य-शिल्प का प्रभाव उनके ऊपर
स्पष्ट दिखाई देता है।

प्रबन्ध के क्षेत्र में सत्यनारायण कविरत्न के भ्रमरदूत की विवेचना के बिना यह प्रसंग
अधूरा रह जायेगा।

भ्रमरदूत में कथानक-तत्व अत्यन्त संक्षिप्त परन्तु महत्वपूर्ण है। उसमें परम्परा और
प्रयोग का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। कथा के परम्परागत रूप में अनेक परिवर्तन किये गए
हैं तथा उसमें नूतन तत्वों का भी समावेश हुआ है। इस काव्य की प्रमुख पात्री हैं यशोदा,
जिनमें तत्कालीन भारतीय नारी की परिसीमाओं की छाया मिलती है। अशिक्षित होने के
कारण वे पत्र नहीं लिख सकतीं। वे चिन्तातुर बैठी हैं कि मधुप मानों कृष्ण का प्रतीक
बनकर आ जाता है और यशोदा अपनी व्यथा तथा संदेश उसको सुनाती हैं। उन्होंने कृष्ण-
कथा के अविश्वसनीय तत्वों को तर्क और बुद्धि-तत्वों द्वारा रंजित करके उनका आधुनिकीकरण
कर दिया है। इस प्रकार कथानक-विन्यास और चरित्र-चित्रण दोनों ही क्षेत्रों में सत्यनारायणजी
ने केवल परम्परा का ही पिष्ट-पेषण नहीं किया है। मध्यकालीन भ्रमरगीतों में विप्रलम्भ शृंगार
प्रधान है। श्रीकृष्ण का चरित्रांकन भी नये ढंग से किया गया है। कृष्ण का अभाव केवल व्यक्ति
को ही विक्षिप्त नहीं बनाये है, समष्टि का अहित भी उनकी अनुपस्थिति में चित्रित किया गया
है। उनके बिना ब्रज की जनता नेता-विहीन हो गई है। स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व की
भावनाओं की शिक्षा देने वाला कोई नहीं रह गया है। यशोदा के चरित्र में मानों राष्ट्रमाता
का रूप साकार हो गया है। इस प्रसंग में इस बात का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है कि
'भ्रमरदूत' को भक्तिकाव्य नहीं कहा जा सकता; वास्तव में ब्रजभाषा की यह प्रथम और कदाचित्
अंतिम प्रबंधात्मक कृति है जिसमें कृष्ण-चरित्र और उनसे सम्बद्ध कथानक का आधुनिकीकरण
किया गया है। इसके उपरान्त खड़ीबोली के लिए क्षेत्र प्रदान करने के लिए ब्रजभाषा पीछे
हट गई है।

प्रबंधकाव्य के क्षेत्र में इन कवियों की सिद्धि अधिक महत्व की नहीं है। कृष्ण की मधुर
उपासना में प्रबंध-कौशल के लिए अधिक अवसर नहीं था। नंददास के गान्धकाव्यों को इस

क्षेत्र में शीर्ष-स्थान प्रदान किया जा सकता है।

## निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण से सिद्ध होता है कि कृष्ण-भक्त कवियों के योग का महत्व हिन्दी गीति-काव्य के इतिहास में अक्षुण्ण है। उनके गीतों में अनुभूति की तीव्रता, तन्मयता तथा आत्मा की वह कांपती आवाज है जो हृदय से निकलकर सीधी हृदय को बींध देती है। एक ओर उनमें अपार्थिव आलम्बन के प्रति रागात्मक भावनाओं में विभोर कर देने की शक्ति है, दूसरी ओर चिरंतन अपूर्ण मानव-भावनाओं की कातर व्यग्रता उनमें व्यक्त है। भाषा-माधुर्य तथा कला-सौष्ठव की कसौटी पर चित्र-कल्पना और संगीत से युक्त होकर उनकी भावनायें सदा के लिए अमर हो गई हैं। उनके मुक्तक भी हिंदी-साहित्य के इतिहास में अपनी एक निश्चित परम्परा छोड़ गए हैं।

कृष्ण-भक्ति के प्रतिपाद्य में व्यापक और विशद तत्वों का अनुपात बहुत कम है, इसलिए इन कवियों ने विराट् को भी कोमल स्वरों में ही बांधा है। कृष्ण-भक्त कवियों के व्यक्तिपरक, रोमानी और भावना-प्रधान प्रतिपाद्य में प्रबंध-कौशल के लिए अधिक अवसर नहीं था। उसमें प्रबंधकाव्य के अभाव का कारण यह नहीं था कि कृष्ण-भक्त कवियों में प्रबंधकाव्य के विषय की व्यापकता के निर्वाह, विशद चरित्र-चित्रण और स्फीत तथा परिमार्जित शैली के प्रयोग की क्षमता नहीं थी; बल्कि इसका कारण यह था कि प्रबंधकाव्य की वस्तुपरक जीवन-दृष्टि, व्यापक अनुभूति तथा तदनुकूल शैली के लिए उनके व्यक्तिपरक दृष्टिकोण में कोई स्थान नहीं था।

## उपसंहार

# अभिव्यंजना-शिल्प के क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों की सिद्धि

वैष्णव-भक्ति के पुनरुत्थान-काल में मधुर मानव कृष्ण के प्रति विविध भक्त-कवियों की अनुभूतियों की जो व्यंजना हुई, वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास में शुद्ध अनुभूत्यात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। साधारण विश्वास है कि ये कवि मूलतः भक्त थे, उनका कवि-पक्ष तो इष्ट की उपलब्धि में साधन-मात्र था; परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। कृष्ण-भक्त कवियों की कला-चेतना साधारण अनुमान से कहीं अधिक जागरूक थी। ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्त काव्य की दीर्घकालीन अजस्र परम्परा में जिन कवियों ने अपना योग दिया, काव्य-कला के सूक्ष्मतम उपकरणों और शैलियों से उनका पूर्ण परिचय था। काव्य-अभिव्यंजना के प्रत्येक अंग में उनका एक निश्चित योग है। परम्परा का आधार ग्रहण कर युग-प्रभाव का उसके साथ समन्वय करके उन्होंने काव्य-अभिव्यंजना के विभिन्न अंगों का परिष्कार किया तथा नये मानकों की स्थापना की।

### शब्द-समूह

ब्रजभाषा की समृद्धि तथा परिष्करण में कृष्ण-भक्त कवियों का एक निश्चित और बहुमूल्य योग रहा है। संस्कृत तथा हिन्दी की अन्य उपभाषाओं से शब्द ग्रहण कर उन्होंने ब्रजभाषा के रूप को परिमार्जित और परिष्कृत किया और कृष्ण की लीला का गान करने के लिए अपनी भाषा में समस्त मधुर उपकरणों का समावेश किया। नाद-सौन्दर्य और चित्र-कल्पना के समर्थ संयोजन का सबसे अधिक श्रेय उनकी भाषा को है। प्रतिपाद्य के उपयुक्त भाषा-प्रयोग उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का प्रयोग इसी दृष्टि से किया गया है। इन सभी शब्दों के प्रयोग में इन कवियों का ध्यान एक उद्देश्य पर केन्द्रित रहा है, वह है भाषा में प्रतिपाद्य की मधुर-कोमल प्रवृत्तियों के प्रति अनुरूपता और इस उद्देश्य में वे पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। शब्द-समूह के इस विस्तार का उद्देश्य पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं रहा है; अधिकांश स्थलों में उसमें तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का प्रयोग प्रतिपाद्य के अनुकूल भाषा-निर्माण के उद्देश्य से किया गया है।

नन्ददास के कोश-काव्य तथा सूरदास की 'साहित्य-लहरी' की भाषा से यह सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा में संस्कृत शब्दावली के समावेश द्वारा ब्रजभाषा की समृद्धि में योग प्रदान करना उनका स्पष्ट उद्देश्य था। विदेशी सत्ता के राजनीतिक प्रभाव से विदेशी भाषा का ही उस समय

बोलबाला था, भारतीय भाषाओं का कोई महत्व शेष नहीं रह गया था, भारतीय संस्कृति के समान ही भारतीय भाषा के अस्तित्व को भी चुनौती दी जा रही थी। कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा भाषा-परिष्कार उसी चुनौती की स्वीकृति थी, जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा के संस्कृत-निष्ठ तथा परिष्कृत रूप का निर्माण हुआ।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा में विदेशी संस्कृति के प्रभाव के कारण अनेक फारसी और अरबी के शब्दों से युक्त भाषा का प्रयोग हुआ, तथा यह भाषा कृष्ण-भक्ति-काव्य के सात्विक माधुर्य को व्यक्त करने में असमर्थ रही। यह प्रयोग उनकी उदार नीति, अथवा प्रतिपाद्य के प्रति अनुकूल भाषा-प्रयोग की चेष्टा का परिणाम नहीं था, प्रत्युत उसमें इन कवियों के सांस्कृतिक पराभव और मौलिकता के अभाव का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों की भाषा-परम्परा को ही आगे बढ़ाया। आधुनिक काल के ब्रजभाषा-कवियों ने भी पूर्वमध्यकालीन भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त भाषा को ही आदर्श रूप में ग्रहण किया। इन कवियों ने भी संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा का प्रयोग किया तथा यत्र-तत्र हिन्दी की अन्य उपभाषाओं से शब्द ग्रहण किये। विदेशी शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में बहुत ही कम हुआ है।

कृष्ण-भक्ति परम्परा के प्रायः सभी कवियों ने लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ से युक्त अनुकरणात्मक शब्दों के सहारे कृष्ण के अतीन्द्रिय रोमानी रूप और गो-चारण जीवन के अनेक स्निग्ध और सबल चित्र प्रस्तुत किये हैं। उनमें निहित प्रसंग-गर्भत्व के द्वारा उनकी भाषा की व्यंजक शक्ति द्विगुणित हो गई है।

पहले कहा जा चुका है कि विषय और भावानुरूप भाषा का प्रयोग करने के लिए ये कवि बड़े सतर्क रहे हैं। इसी जागरूक सतर्कता के फलस्वरूप प्रतिपाद्य में मधुर तत्वों के प्राधान्य के कारण उनके द्वारा निर्मित ब्रजभाषा में ओजपूर्ण और गम्भीर शब्दावली का अभाव है। कृष्ण-भक्ति के दर्शन में चिन्तन की अपेक्षा राग-तत्व का प्राधान्य था, इसलिए गम्भीर चिन्तन के उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में नहीं हो सका। गोपियों का माध्यम स्वीकार करने के कारण उनकी भाषा में स्त्रियोचित शब्दावली का प्राधान्य हो गया है। उनमें तीव्र से तीव्र भावनाओं के व्यक्तीकरण की क्षमता है, परन्तु बौद्धिक चिन्तन और गम्भीर तत्वों की व्याख्या के लिए वह उपयुक्त नहीं सिद्ध होती। अपनी इसी परिसीमा के कारण आगे चलकर ब्रजभाषा व्यावहारिकता की कसौटी पर खरी न उतर सकी।

## मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ

पूर्वमध्यकालीन कवियों ने अपनी भाषा में अनेक मुहावरों को भी स्थान दिया; अधिकतर ये मुहावरे नारी-हृदय के सहज और तीव्र उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के सफल माध्यम बने हैं तथा वक्रता में रस-तत्व के समावेश के लिए मुहावरों का साहाय्य ग्रहण किया गया है। रीतिकालीन कवियों ने मुहावरों का प्रयोग बहुत कम किया है। केवल घनानन्द ही इसके अपवाद हैं; परन्तु घनानन्द ने उनका प्रयोग ज़बांदानी, अथवा उक्ति-विदग्धता, के

उद्देश्य से किया है, रसनीयता के उद्देश्य से नहीं। आधुनिककालीन कवियों के मुहावरों में भक्तिकालीन रसनीयता और रीतिकालीन वाग्वैचित्र्य का सामंजस्य मिलता है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में नैतिक और बौद्धिक तत्वों के अभाव के कारण लोकोक्तियों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। जो थोड़ी-बहुत लोकोक्तियाँ प्रयुक्त भी हुई हैं वे अधिकतर प्रेम-प्रधान और अनुभूतिपरक हैं। बुद्धि-तत्व के आधार पर नीर-क्षीर का विवेक और चिंतन उनमें नहीं है।

## वर्ण-योजना तथा शब्दालंकार

पूर्वमध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना शास्त्रीय कसौटियों पर पूरी उतरती है। इस क्षेत्र में जागरूक रहते हुए भी वर्ण-साम्य-स्थापन उनका व्यसन नहीं बन गया है, तथा सर्वत्र ही उसमें औचित्य की रक्षा की गई है। अधिकतर उसका प्रयोग भाव-व्यंजना के उपयुक्त मधुर-कोमल भाषा के निर्माण के लिए किया गया है। श्रुतिपेशलता, प्रतिपाद्य के प्रति अनुकूलता और प्रसाद और माधुर्य गुण की रक्षा सर्वत्र हुई है। रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना में कहीं-कहीं आग्रह की अति हो गई है और उसने व्यसन का रूप धारण कर लिया है; परन्तु अधिकतर उसमें उपरिकथित गुणों की रक्षा की गई है। आधुनिककालीन कवियों की रचनाओं में दोनों ही दृष्टियों का संगम है।

शब्दालंकारों द्वारा चमत्कार-नियोजन पूर्वमध्यकालीन कवियों का साध्य कभी नहीं बना। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि इस काल के कवियों ने चमत्कारप्रधान शब्दालंकारों का बहुत कम प्रयोग किया है। घनानन्द के अतिरिक्त रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने भी श्लेष और यमक के चमत्कार नहीं दिखाये; परन्तु आधुनिककालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य परम्परा के कवियों ने शब्दालंकारों के द्वारा चमत्कार और वैदग्ध्य का नियोजन प्रभूत मात्रा में किया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन कवियों ने काव्य-कला की परम्परा रीतिकालीन आचार्यों और शृंगारी कवियों से ली थी। इनके काव्य में रीतिकालीन परम्परा का अवशेष शिल्प के इन रूढ़ रूपों में मिलता है। वैयक्तिक संस्कारों की प्रेरणा से उन्होंने भक्त-कवियों का प्रतिपाद्य ग्रहण किया और रीतिकाल की चमत्कारपूर्ण तथा आलंकारिक अभिव्यंजना-शैली उन्हें विरासत में मिली। भक्तिकालीन आत्मा को रीतिकालीन कलेवर प्रदान करने तथा कृष्ण-भक्ति-काव्य में शब्दालंकारजन्य वैदग्ध्य और चमत्कार के प्रयोग का श्रेय आधुनिक कवियों को ही प्राप्त है।

## शब्द-शक्तियाँ

कृष्ण-भक्ति काव्य में ऋजु-तत्वों के प्राधान्य के कारण अभिधा-शक्ति का ही प्राचुर्य है। लक्षणा-शक्ति का प्रयोग अधिकतर चित्रांकन के लिए किया गया है। सूक्ष्म लाक्षणिकता तथा प्रतीकात्मकता का उसमें प्रायः अभाव है। उनकी शैली लाक्षणिक और सांकेतिक नहीं है क्योंकि अमूर्त के मूर्त्तीकरण अथवा मूर्त के अमूर्त्तीकरण करने का अवसर इन कवियों के प्रतिपाद्य में अधिक नहीं था। अपार्थिव के पार्थिव रूप के निर्माण में अदृश्य सांकेतिकता नहीं, दृश्य साकारता है, इसलिए लक्षणा की सूक्ष्म बारीकियाँ इस काव्य में नहीं मिलतीं।

घनानन्द की रचनाओं में लक्षणा के सूक्ष्म प्रयोग मिलते हैं। इस क्षेत्र में भी घनानन्द ही एक अपवाद हैं जिनकी रचनाओं में लाक्षणिक चमत्कार अनेक स्थलों पर साध्य बन गया है।

आलोच्य कवियों का व्यंजना-प्रयोग सर्वत्र भाव द्वारा प्रेरित है तथा सूरदास से लेकर रत्नाकर तक की रचनाओं में कुछ विशिष्ट स्थलों पर ही उनका प्रयोग हुआ है। भ्रमरगीत, खंडिता-प्रसंग तथा मानलीला-प्रसंगों में उसका प्रखर और सबल रूप प्रकट हुआ है। खंडिता नायिकाओं की वचन-विदग्धता में रति-भाव की अवस्थिति से रसात्मक स्थितियों का निर्माण किया गया है; इसी प्रकार मुग्धा गोपियों के उपालम्भों और वचन-चातुरी में उनके प्रेम-विवश रूप का परिचय मिलता है। गोपियों के प्रति यशोदा की कटूक्तियों में उनका वात्सल्य फूटा पड़ता है। व्यंजना के इस भाव-प्रेरित रूप का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। सूर के दृष्टकूटों तथा नन्ददास की कुछ रचनाओं में उसके चमत्कारमूलक रूप का प्रयोग भी मिलता है, परन्तु ऐसे पदों की संख्या बहुत कम है। व्यंजना के क्षेत्र में भी केवल घनानन्द ही अपवाद हैं; व्यंजना द्वारा वैदग्ध्य की सृष्टि करना उनका प्रधान उद्देश्य रहा है। भारतेन्दु तथा रत्नाकर ने पूर्वमध्यकालीन भक्तों का ही आदर्श ग्रहण किया है, उनकी व्यंजनायें भाव-प्रसूत हैं। इनकी भाव-प्रेरित वचन-वक्रता में भी व्यंजना का ही कौशल दिखाई देता है।

## चित्रांकन

कृष्ण-भक्त कवियों की चित्र-योजना हिन्दी-काव्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखती है। कृष्ण की रूप-प्रतीति तथा उनकी लीलाओं के चित्रण के लिए इन कवियों ने अपनी कविता का ग्रन्थिबन्धन चित्रकला के साथ किया और तत्कालीन चित्रकला को अनन्त सौन्दर्य की निधि राधा-कृष्ण जैसा आलम्बन प्रदान किया। इन कवियों की रचनाओं की आधार-भूमि पर पल्लवित और विकसित मध्यकालीन चित्रकला की राजपूत शैली में राधा और कृष्ण की लीलायें उतनी ही सजीव और प्राणवन्त हैं जितनी कि कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा वर्णित लीलायें। दोनों में एक आश्चर्यजनक एकरूपता है; जिससे इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि ये कवि चित्रकला में भी सिद्धहस्त थे। चित्रकला में अपनी इसी प्रवीणता के कारण उन्होंने अनेक भावना-चित्रों का निर्माण किया है, जिनमें रूप-भेद, रूप की प्रतीति, चित्र के विभिन्न तत्वों में सन्तुलन और सामंजस्य, भाव-योजना, लावण्य-योजना, वर्णिका-भंग इत्यादि का सफल निर्वाह किया गया है। उनकी अनुभूति के क्षण इन चित्रों में अमर हो गये हैं। उनके संश्लिष्ट विन्यास में इन कवियों की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। उनमें रेखाओं और रंगों का संतुलित चुनाव और प्रयोग हुआ है। यद्यपि इन कवियों द्वारा संकलित रंग थोड़े ही हैं; परन्तु उनके प्रयोग में चाक्षुष चित्र-निर्माण का कौशल दिखाई देता है और ये चित्र शब्द, गंध और रस से संपुष्ट होकर बड़े सजीव बन गये हैं। रेखाओं के प्रयोग द्वारा उन्होंने अनेक गतिपूर्ण, मन्थर और स्थिर चित्रों का अंकन किया है और रेखाओं में वर्णों का स्पर्श देकर वे अपने कल्पना-चित्रों और अमूर्त भावों को प्रेषणीय बनाने में समर्थ हुए हैं। आलम्बन के आंगिक वर्ण तथा वस्त्र-आभूषणों के वर्ण यद्यपि परम्परामुक्त हैं, परन्तु उनके प्रयोग में अनुरूप वर्ण-योजना, वर्ण-मिश्रण, प्रतिरूप वर्ण-योजना, वर्ण-

परिवर्तन इत्यादि सब विधाओं के उदाहरण मिल जाते हैं। कुछ कवियों की रचनाओं में युग की बढ़ती हुई प्रदर्शन-प्रवृत्ति के फलस्वरूप अतिशय अलंकरण का दोष आ गया है, परन्तु समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि इन भक्त-कवियों की चित्र-कल्पना अपार्थिव के प्रति उनके रोमानी दृष्टिकोण को व्यक्त करने में बड़ी सहायक हुई है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के पूर्वमध्यकालीन कवियों की रचनाओं में आत्मा का परिष्करण नहीं है। 'गवाक्ष-दर्शन' में वे केवल राधा-कृष्ण की स्थूल लीलायें ही देख सके हैं इसलिए उनके चित्रों में उष्ण शृंगारिकता और स्थूल दृष्टि का प्राधान्य है। उत्तर-मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में तत्कालीन चित्रकला के सब दोष आ गये हैं। अलंकरण की अतिशयता और कृत्रिमता उनके काव्य में लक्षित चित्र-योजना के सबसे बड़े दोष हैं। रंग और आभा की असंतुलित अति ने इस काल के चित्रों को जड़ और निष्प्राण बना दिया है। सूक्ष्म पच्चीकारी के आधिक्य से ये चित्र बोझिल और कृत्रिम हो गये हैं।

भारतेन्दु और रत्नाकर की लक्षित चित्र-योजना में भक्तिकालीन और रीतिकालीन परम्पराओं का संगम है। उनके आलम्बन और अनुभाव चित्र रस-संयुक्त हैं और उनमें परिष्कृत रेखाओं का प्रयोग हुआ है। उन्होंने भक्ति-काल की संश्लिष्ट और रीतिकाल की विश्लिष्ट-शैली का समन्वित प्रयोग किया है। उनकी चित्र-योजना में दो युगों की चित्र-शैलियों के सार तत्वों का संगम है।

कृष्ण-भक्ति काव्य की पूर्ववर्ती, समकालीन तथा परवर्ती किसी भी काव्य-परम्परा में चित्रकला और काव्य-कला का इतना मधुर संगम नहीं हुआ है। छायावादी काव्य की चित्रमयता भी उसके समकक्ष नहीं रखी जा सकती; क्योंकि उसमें बौद्धिक कल्पना और प्रतीकात्मकता का प्राधान्य है। कृष्ण-भक्ति काव्य की रसनीय चित्र-योजनायें अनुपमेय हैं। भविष्य में उनके समकक्ष रखने योग्य कोई चित्र-कल्पना हिन्दी में पनप सकेगी, ऐसे लक्षण भी नहीं दिखाई देते। नई कविता के बौद्धिक रस की अभिव्यक्ति में ऐसी चित्र-कल्पना का जन्म न हो सकेगा जो अपार्थिव आलम्बन के प्रति तन्मय अनुभूतियों और रागात्मक उन्नयन द्वारा प्रतिफलित कृष्ण-भक्त कवियों की चित्र-योजना से टक्कर ले सके।

## अप्रस्तुत-योजना

लक्षित चित्र-योजना के समान ही अप्रस्तुत-योजना के क्षेत्र में भी कृष्ण-भक्त कवियों की कला अनुपमेय है। उन्होंने उसका प्रयोग अधिकतर भावों के उत्कर्ष तथा वस्तुओं के रूपानुभव, गुणानुभव और क्रियानुभव को तीव्र करने की दृष्टि से किया है। उनके अप्रस्तुतों में प्रस्तुतों के अनुरूप सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, अवसाद और खिन्नता के भाव जगाने की सामर्थ्य है। माधुर्य-भक्ति में प्रचंडता, उग्रता और भीषणता का कोई स्थान नहीं था, इसलिए इन भावों के व्यंजक उपमानों का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ है। उनके उपमानों की संख्या सीमित तथा उनका रूप अधिकतर परम्परागत है, परन्तु प्रयोग-वैविध्य द्वारा उन्होंने एक ही अप्रस्तुत को विभिन्न प्रस्तुतों के लिए प्रयुक्त किया है। उनकी सृजनात्मक कल्पना में अप्रस्तुतों में प्रसंग के अनुरूप परिवर्तन कर देने की शक्ति है।

इन भक्त कवियों ने अधिकतर सादृश्यमूलक अप्रस्तुत-योजनाओं का प्रयोग किया है। रूप-साम्य, धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य तथा काल्पनिक साम्य-विधान में लक्षणा और व्यंजना के संस्पर्श से प्राण-प्रतिष्ठा की गई है। अतिशयोक्ति-मूलक अप्रस्तुत-विधान भी प्रायः भाव की उद्दीप्ति के लिए किया गया है। अतिशयोक्ति सहजोक्ति बनकर निःसृत हुई है। विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना अधिकतर उन स्थलों पर की गई है जहां कवि को उक्ति-वैचित्र्य का विधान अभीष्ट था।

इन अप्रस्तुत-योजनाओं में अनेक स्थलों पर सजग सौन्दर्य-बोध प्रधान है।

इसी के फलस्वरूप उन्होंने प्रकृति और मानवी चेतना में साम्य की स्थापना द्वारा प्रकृति को जड़ से चेतन बना दिया है। नन्ददास और ध्रुवदास में यह सौन्दर्य-चेतना अत्यन्त जागरूक है। उनकी रचनाओं में संवेदना और चित्रात्मकता का सफल गुम्फन है। भाव और चित्र के संश्लिष्ट विन्यास में उनके व्यक्तित्व का कलाकार प्रधान हो गया है, भक्त गौण। अष्टछाप के अन्य कवियों की अप्रस्तुत-योजना का रूप अधिकतर परम्परागत है। आलम्बन के पूर्व-निर्धारित रूपों के साथ परम्परागत उपमानों का साम्य-स्थापन कर उन्होंने कवि-कर्म से मुक्ति पा ली है और इसी परिसीमा के कारण ही उन्हें एक विशेष परिधि में ही रहना पड़ा है।

अप्रस्तुत-योजना के प्रयोग का एक और उद्देश्य भी इन भक्त कवियों के सामने रहा है। उसके माध्यम से अनेक सैद्धान्तिक व्याख्यायें भी प्रस्तुत की गई हैं, परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं तथा काव्य-शिल्प की दृष्टि से इन अप्रस्तुत-योजनाओं का अधिक महत्व भी नहीं है।

पूर्व-मध्यकालीन कवियों की अप्रस्तुत-योजना का मुख्य योग भावोत्कर्ष तथा चित्रांकन के क्षेत्र में रहा है। औचित्य और सन्तुलन उनका प्रधान गुण है। मानवीकरण, मूर्त के अमूर्त-विधान तथा अमूर्त के मूर्त-विधान जैसे प्रयोग भी इनकी रचनाओं में मिलते हैं। इन कवियों के अप्रस्तुत-विधान की सबसे बड़ी परिसीमा है, उपमान-चयन का सीमित क्षेत्र। उनके अलंकरण तथा सज्जा के उपकरण अत्यन्त सीमित हैं। एक ही उपमान को सुविधा के अनुसार विविध स्थानों पर फिट कर दिया गया है। रस-तत्व की विद्यमानता के कारण उनमें विकृति नहीं आने पाई है, परन्तु एकरूपता का दोष उनमें सर्वत्र विद्यमान है।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवि इस क्षेत्र में परम्परा का अनुसरण करते रहे। युग के प्रभाव से उनके अप्रस्तुत-विधान में चमत्कार-तत्व का प्राधान्य अवश्य हो गया। इसके अतिरिक्त फारसी कविता में प्रयुक्त उपमानों के प्रयोग भी कृष्ण-भक्ति काव्य में होने लगे। नागरीदास ने समसामयिक जीवन से अनेक उपमानों को ग्रहण करके अप्रस्तुत-योजना के क्षेत्र में नये प्रयोग किये। इन समस्त कवियों ने अपनी अप्रस्तुत-योजना में सादृश्य-विधान को प्रधान स्थान दिया; केवल घनानन्द ही इस क्षेत्र में भी अपवाद हैं। उन्होंने विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना में अपनी दक्षता दिखाई है, तथा अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करके उन पर विरोधी गुणों और प्रभाव का आरोपण किया है। इन स्थलों पर वाक्-चातुरी और चमत्कार-तत्व प्रधान हैं। रूपकों के प्रयोग में भी वैचित्र्य तत्व ही अधिक है। वास्तव

में अप्रस्तुत-योजना के क्षेत्र में भी घनानन्द अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा से बिल्कुल पृथक् पड़ते हैं।

भारतेन्दुजी की अप्रस्तुत-योजना में भक्तों की ऋजु चित्रमयता और रीतिकालीन कवियों की चमत्कार-दृष्टि का संगम है। उनका रूप अधिकतर परम्परागत है। रत्नाकरजी की अप्रस्तुत-योजना में भावमय चित्रमयता के स्थान पर बुद्धिजन्य चमत्कार और वैदग्ध्य अधिक है। उनकी योजनायें विश्लेषात्मक हैं, संश्लेषात्मक नहीं। आधुनिक काल से पहले के कृष्णभक्त कवियों के उपमान-संकलन का क्षेत्र सीमित होते हुए भी सार्वभौम और व्यापक है, परन्तु रत्नाकरजी द्वारा संकलित उपमान सार्वभौम नहीं हैं। उनकी विरोधमूलक योजनाओं में रीतिकालीन कवियों की चमत्कारवादी दृष्टि का प्रभाव दिखाई देता है तथा उनकी अतिशयोक्तियाँ भी ऊहात्मक और चमत्कार-प्रधान हैं, उनमें सूर और मीरा की अतिशयोक्तियों के समान भावोत्कर्ष की सामर्थ्य नहीं है।

कृष्ण-भक्ति काव्य की अजस्र परम्परा में प्रयुक्त अप्रस्तुत-योजना माधुर्य-भक्ति जैसे कोमल प्रतिपाद्य के अनुकूल मधुर प्रभाव-व्यंजक, प्रफुल्ल, सजीव और चित्रोपम है। उसकी चित्रमयता के कारण इस काव्य को वास्तविक अर्थ में 'कल्पना और अनुभूति की भाषा' कहा जा सकता है।

### छन्द

कृष्ण-भक्त कवियों की छन्द-योजना के दो रूप हैं। मुक्तकों में प्रयुक्त प्रत्यक्ष छन्द-विधान तथा पदों की गेयात्मकता में प्रच्छन्न छन्द-विधान। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि इन कवियों ने छन्दों के नियमों की ओर ध्यान न देकर स्वतन्त्र रूप से पद-रचना की है और उनकी रचनाओं में गेय पद ही अधिक हैं। परन्तु प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों के पदों के छन्द-विधान का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो गया है कि यह विचार भ्रामक है। इन पदों में एक विशिष्ट छन्द-विधान मिलता है। विषय के अनुसार छोटे-बड़े छन्दों का प्रयोग किया गया है। माधुर्य और कोमल भाव ही इन पदों में प्रधान हैं। अतएव, इनके उपयुक्त सार, सरसी, ताटंक, रूपमाला, राधिका इत्यादि छन्दों का प्रयोग हुआ है। छन्दोमय पदों में चौपाई, चौपई, दोहा, रोला, पादाकुलक इत्यादि का प्रयोग हुआ है। ध्रुवपद शैली में गाने के लिए जो पद लिखे गए हैं उनमें कवित्त तथा सवैया छन्द के विविध रूपों का प्रयोग है। आख्यानात्मक स्थलों पर अधिकतर रोला छंद प्रयुक्त हुआ है। इन छोटे-बड़े छंदों के प्रयोग में सबसे बड़ी विशेपता है, प्रतिपाद्य की अनुकूलता। रागों में बंधे हुए हरिप्रिया, छप्पय, कुण्डलिया, कवित्त इत्यादि छंद भी इन पदों में विद्यमान हैं और उनका प्रयोग कवि ने सयत्न किया है। कृष्ण-भक्त कवियों की छंद-योजना विविध संगीत-शैलियों के आधार पर निर्मित जान पड़ती है। कीर्तन और भजन के लिये लिखे गये पदों में २० से लेकर २७-२८ मात्राओं तक के छंद प्रयुक्त हुये हैं और बड़े छंदों का प्रयोग ध्रुवपद शैली की श्वास-साधना को दृष्टि में रखकर हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि विभिन्न तालों के उपयुक्त छंद-विधान करना उनका उद्देश्य था। पूर्व-मध्यकालीन राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने

इन दो शैलियों के अतिरिक्त भजन-कीर्तन और लोकगीत-शैलियों का समावेश भी इनकी रचनाओं में हुआ है, जिसके द्वारा इनकी रचनायें सर्वसाधारण में अत्यन्त लोकप्रिय हो गईं।

संगीत-शैलियों के प्रयोग के अतिरिक्त इन कवियों ने अपने पदों में विविध राग-रागिनियों का प्रयोग किया है। ये प्रयोग विषय के अनुरूप तो हैं ही, समय और ऋतु-सिद्धांतों का निर्वाह भी उनमें प्रायः सर्वत्र ही हुआ है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में विभिन्न ललित कलाओं का विन्यास इतने संश्लिष्ट रूप में हुआ है कि उनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना कठिन हो जाता है। चित्र-कल्पना, संगीत, नृत्य, वाद्य-ध्वनि और भावों के सुगुम्फन में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि इनमें से कौन प्रधान है और कौन गौण; कौन आधेय है और कौन आधार। नृत्य-रूपों के प्रयोग का विश्लेषण करते समय ऐसा जान पड़ता है कि आलोच्य कवियों की चित्र-कल्पना की सप्राणता का बहुत-कुछ श्रेय उनके भारतीय नृत्य की परम्परागत और सामयिक शैलियों के पूर्ण ज्ञान को है। नृत्य की मुद्राओं तथा भावों के कलापूर्ण प्रदर्शन के लिए ही उन्होंने वाचिक अभिनय (शब्दों का प्रयोग) किया है। उनके द्वारा नियोजित नृत्यों के भाव-विन्यास तथा कविता के शब्द-विन्यास में पूर्ण सामंजस्य है। नृत्य की मुद्रा तथा कविता के भाव एक-दूसरे के प्रेरक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनके नृत्यों में लास्य शैली प्रधान है। ताण्डव की उग्रता के लिए इनके प्रतिपाद्य में कोई स्थान नहीं था, केवल गोवर्धन-धारण और कालिय-दमन जैसे प्रसंगों में कुछ ओजपूर्ण मुद्राओं का अंकन हुआ है, अन्यथा सर्वत्र ही लास्य नृत्य का प्रयोग किया गया है। रास-नृत्य की शृंगारिक मुद्राओं और भावों की अभिव्यक्ति के लिए इन कवियों ने प्राचीन भारतीय नृत्य-शैलियों को नहीं ग्रहण किया, बल्कि मध्यकाल की लोकप्रिय कत्थक-शैली को अपनाया। कत्थक नृत्यकारों में प्रचलित किम्वदन्तियों के आधार पर यदि हम यह स्वीकार कर लें कि कत्थक शैली के प्रवर्तक का उद्देश्य अपने नृत्यों में कृष्ण की लीलाओं की व्यंजना करना ही था, तो यह निस्संदेह स्वीकार किया जा सकता है कि मध्यकालीन कत्थक नृत्य-शैली का प्रादुर्भाव पूर्ण रूप से विदेशी स्रोतों से नहीं हुआ था। आलोच्य कवियों के लीला-गान के पदों ने चित्रकला और गायन की भांति ही नृत्यकला को भी आधारभूमि प्रदान की; और आज भी कत्थक नर्तक पहले कृष्णलीला-सम्बन्धी एक पद अथवा मुक्तक पढ़कर उसके बाद अपने नृत्य द्वारा उस पद में निहित भावों का प्रदर्शन करता है। कत्थक के अनेक बोल उनकी रचनाओं में मिलते हैं। रास-नृत्य के अनेक अवयव कत्थक शैली के आदर्शों पर ही निर्मित किये गये हैं। पूर्वमध्यकालीन कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं से यह पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ये कवि संगीत के व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनों पक्षों से पूर्ण परिचित थे और यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उनके व्यक्तित्व में निहित संगीतज्ञ और साहित्यिक एकात्म होकर एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ है।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं की भांति विभिन्न चारु कलाओं का समीकृत रूप नहीं मिलता। इस काल के कवियों ने पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों का ही पिष्ट-पेषण किया है। इसका कारण यह था कि उस समय संगीत का

उनकी भावनायें सदा के लिए अमर हो गई हैं। सूरदास से लेकर भारतेन्दु हरिश्चंद्र तक गीतिकाव्य की एक अजस्र परम्परा चलती रही। रीतिकालीन स्थूल दृष्टि के कारण उसके सूक्ष्म-तरल स्वरूप में कुछ स्थूल तत्वों का समावेश हो गया। भारतेन्दु के हाथों फिर उसका उद्धार हुआ, परन्तु उनके साथ ही ब्रजभाषा के गीतिकाव्य का इतिहास समाप्त हो गया। भारतेन्दुजी ने अन्तिम दिनों में उसकी लड़खड़ाती हुई क्षीण स्थिति को अपने स्पर्श द्वारा गौरवपूर्ण और स्थायी बना दिया। समय और युग के आग्रह से कृष्ण-काव्य परम्परा तो दूसरी परम्पराओं को स्थान प्रदान कर पीछे रह गई; परन्तु भारतेन्दु द्वारा पुनः प्रतिष्ठित शास्त्रीय संगीत और 'लोकगीतों की विविध शैलियों का समन्वित रूप आज भी जीवित है। उनके इस योग के अभाव में कदाचित् रीतिकाल में ब्रजभाषा के गीतिकाव्य की क्षीण हुई परम्परा सदा के लिए लुप्त हो गई होती।

### मुक्तक-काव्य

मुक्तक के क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों के योग के तीन सोपान हैं। पूर्वमध्यकालीन कवियों की रचनाओं में प्राप्त राग और तालबद्ध कवित्त और सवैयों में पूर्वकाल से चली आती हुई मुक्तक परम्परा का पुनःप्रतिष्ठित रूप मिलता है। बाह्य संगीत के आरोपण के कारण उनका मुक्तक-रूप गौण और गीत-रूप प्रधान हो गया है। रसखान और ध्रुवदास ने इस संगीत के आवरण को हटाकर उन्हें शुद्ध मुक्तक का रूप दिया। उनके मुक्तकों में भाव और चित्र-कल्पना के साथ उक्ति-वैदग्ध्य का सामंजस्य तो किया गया है, परन्तु उनमें उक्ति-वैचित्र्य तत्व बहुत गौण रहा है। कलात्मक परिष्कृति भी साध्य नहीं बन गई है।

रीतिकालीन प्रशस्तिप्रधान और चमत्कारवादी दृष्टि में उक्ति-विदग्धता और कलागत परिष्कृति-साध्य बन गई और कृष्ण-भक्त कवि भी अपनी सूक्ष्म पच्चीकारी के प्रदर्शन में लग गए। आधुनिककालीन मुक्तकों में परम्परा का ही अनुसरण होता रहा। भक्तिकालीन गीतों का परम्परागत रूप तो भारतेन्दुजी के साथ ही समाप्त हो गया था, परन्तु इन मुक्तकों की परिपाटी आगे भी चलती रही। छायावाद के आविर्भाव के पहले तक खड़ीबोली ब्रजभाषा के मुक्तकों में प्रयुक्त छन्दों और शैलियों को नये रूप में संवारती रही।

### प्रबन्ध-काव्य

कृष्ण-भक्त कवियों की दृष्टि बाह्यार्थ-निरूपिणी और विषयपरक नहीं थी, इसलिए उसमें प्रबन्ध-रचना के लिए अधिक अवकाश नहीं था। प्रबन्ध-काव्य में कालाश्रयी अनुभूति की अभिव्यक्ति तथा बुद्धि का गाम्भीर्य होता है, उसकी दृष्टि वस्तुनिष्ठ होती है और उसका आधार-फलक भी विशाल और विस्तृत होता है। कृष्ण-भक्त कवियों की दृष्टि आत्मकेन्द्रित और आत्मनिष्ठ थी। उनके राग में कोमलता और माधुर्य का प्राधान्य था, इसीलिए इन कवियों ने विराट् को भी कोमल स्वरों में ही बाँधा है। उनके व्यक्तिपरक, रोमानी और भावना-प्रधान प्रतिपाद्य में प्रबन्ध-कौशल के लिए अधिक अवसर नहीं था। कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा में इस काव्य-रूप के अभाव का कारण यह नहीं था कि उनमें प्रबन्ध-काव्य के विषय की व्यापकता के निर्वाह, विशद चरित्र-चित्रण और स्फीत तथा परिमार्जित शैली

# सहायक ग्रन्थों की सूची


| ग्रन्थ | लेखक |
|---|---|
| १. अरस्तू का काव्य-शास्त्र | डा० नगेन्द्र |
| २. अलंकार-पीयूष | डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' |
| ३. अलंकार-मंजरी | श्री कन्हैयालाल पोद्दार |
| ४. अष्टछाप | डा० धीरेन्द्र वर्मा |
| ५. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय | डा० दीनदयालु गुप्त |
| ६. अष्टछाप-परिचय | श्री प्रभुदयाल मित्तल |
| ७. आधुनिक काव्य में छन्द-योजना | डा० पुत्तूलाल शुक्ल |
| ८. कला और सौन्दर्य | श्री रामकृष्ण शिलीमुख |
| ९. कवि-परिपाटी | श्री दिवाकरमणि त्रिपाठी |
| १०. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध | श्री जयशंकरप्रसाद |
| ११. काव्य-कल्पद्रुम | श्री कन्हैयालाल पोद्दार |
| १२. काव्य-कला और शास्त्र | डा० रांगेय राघव |
| १३. काव्य के रूप | श्री गुलाबराय |
| १४. काव्य-दर्पण | श्री रामदहिन मिश्र |
| १५. काव्य-प्रकाश | आ० मम्मट : सम्पा० डा० सत्यव्रतसिंह |
| १६. काव्य-मीमांसा | आ० राजशेखर : सम्पा० केदारनाथ शर्मा सारस्वत |
| १७. काव्य में अप्रस्तुत-योजना | श्री रामदहिन मिश्र |
| १८. काव्य में अभिव्यंजनावाद | श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु |
| १९. काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास | डा० शकुन्तला दुबे |
| २०. काव्यादर्श | आ० दण्डी : बी० ओ० आर० आर०, पूना |
| २१. काव्यालंकार | भामह : चौखम्बा सीरीज, बनारस |
| २२. काव्यालोक : द्वितीय उद्योत | श्री रामदहिन मिश्र |
| २३. कुम्भनदास : जीवनी और पद-संग्रह | विद्या-विभाग, कांकरोली |
| २४. कृष्ण-भक्तिकालीन साहित्य में संगीत | डा० उषा गुप्ता |
| २५. गोविन्दस्वामी | विद्या-विभाग, कांकरोली |

| | |
|---|---|
| २६. घन आनन्द | श्री शम्भूनाथ बहुगुना |
| २७. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा | डा० मनोहरलाल गौड़ |
| २८. चतुर्भुजदास | विद्या-विभाग, कांकरोली |
| २९. चिन्तामणि, प्रथम भाग | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| ३०. चिन्तामणि, द्वितीय भाग | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| ३१. छन्द-प्रभाकर | श्री जगन्नाथ भानु |
| ३२. छीतस्वामी | विद्या-विभाग, कांकरोली |
| ३३. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत | श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु |
| ३४. नन्ददास-ग्रन्थावली | श्री उमाशंकर शुक्ल |
| ३५. नन्ददास-ग्रन्थावली | श्री ब्रजरत्नदास |
| ३६. नागर-समुच्चय | श्री नागरीदास |
| ३७. नागरीदास | डा० फैयाज़ अली खां |
| ३८. नागरीदास-ग्रन्थावली | नवलकिशोर प्रेस |
| ३९. निम्बार्क-माधुरी | श्री ब्रह्मचारी विहारीशरन (सम्पादक) |
| ४०. परमानन्ददास | डा० गोवर्धनलाल शुक्ल |
| ४१. परमानन्दसागर | डा० गोवर्धनलाल शुक्ल (सम्पादक) |
| ४२. ब्यालीस लीला | ध्रुवदास |
| ४३. ब्रजमाधुरी-सार | श्री वियोगी हरि |
| ४४. ब्रजभाषा | डा० धीरेन्द्र वर्मा |
| ४५. ब्रजभाषा का व्याकरण | श्री किशोरीदास वाजपेयी |
| ४६. ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली | डा० कपिलदेव सिंह |
| ४७. ब्रजभाषा-साहित्य का नायिका-भेद | श्री प्रभुदयाल मित्तल |
| ४८. ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य | श्री प्रभुदयाल मित्तल |
| ४९. ब्रजभाषा-साहित्य पर मुगल-प्रभाव | आचार्य चतुरसेन शास्त्री |
| ५०. ब्रजभाषा-साहित्य में षट्ऋतु वर्णन | श्री प्रभुदयाल मित्तल |
| ५१. ब्रजभाषा सूर-कोश, भाग १ | डा० दीनदयालु गुप्त (सम्पादक) |
| ५२. ब्रजभाषा सूर-कोश, भाग २ | डा० दीनदयालु गुप्त ,, |
| ५३. ब्रजभाषा सूर-कोश, भाग ३ | डा० दीनदयालु गुप्त ,, |
| ५४. ब्रजभाषा सूर-कोश, भाग ४ | डा० दीनदयालु गुप्त ,, |
| ५५. ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन | डा० सत्येन्द्र |
| ५६. ब्रज-विलास | ब्रजवासीदास |
| ५७. भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास | श्री नलिनीमोहन सान्याल |
| ५८. भक्ति का विकास | डा० मुंशीराम शर्मा |
| ५९. भक्ति-दर्शन | डा० सरनाम सिंह |
| ६०. भ्रमरगीत-सार | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |

६१. भागवत् दर्शन — डा० हरवंशलाल शर्मा
६१. (अ) भारत की चित्रकला — राय कृष्णदास
६२. भारत की भाषाएं — डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
६३. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका — डा० नगेन्द्र
६४. भारतीय साधना और सूर-साहित्य — डा० मुंशीराम शर्मा
६५. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि — श्री किशोरीलाल गुप्त
६६. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, भाग २ — नागरी-प्रचारिणी सभा
६७. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
६८. मध्यकालीन धर्म-साधना — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
६९. मध्यकालीन प्रेम-साधना — श्री परशुराम चतुर्वेदी
७०. मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियां — श्री परशुराम चतुर्वेदी
७१. महाकवि सूरदास — आ० नन्ददुलारे वाजपेयी
७२. मारिफ़ुन्नग़मात — राजा नवावअली : अनु० विश्वम्भरनाथ भट्ट
७३. मीरा की प्रेम-साधना — श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र
७४. मीरा, जीवन और काव्य — श्री सुधाकर पाण्डेय
७५. मीराबाई — डा० श्रीकृष्णलाल
७६. मीराबाई की पदावली — श्री परशुराम चतुर्वेदी
७७. मीरा-माधुरी — श्री ब्रजरत्नदास
७८. मीरां-स्मृति ग्रन्थावली — वंगीय हिन्दी-परिषद्
७९. मुगल बादशाहों की हिन्दी — डा० चन्द्रबली पाण्डेय
८०. रत्नाकर, भाग १ — नागरी-प्रचारिणी सभा
८१. रत्नाकर, भाग २ — नागरी-प्रचारिणी सभा
८२. रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला — डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट
८३. रत्नाकर : एक आलोचना — श्री व्यथितहृदय
८४. रसखान और उनका काव्य — श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय
८५. रसखान और घनानन्द — श्री अमीरसिंह (सम्पा०)
८६. रसखान-ग्रन्थावली — पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
८७. राग-रत्नाकर — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
८८. राजस्थान का पिंगल-साहित्य — डा० मोतीलाल मेनारिया
८९. राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य — डा० विजयेन्द्र स्नातक
९०. रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन — डा० राजेश्वरप्रसाद
९१. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना — डा० बच्चनसिंह
९२. रीतिकाव्य की भूमिका — डा० नगेन्द्र

९३. लाड़सागर — वृन्दावनदास
९४. लोकोक्तियां और मुहावरे — श्री गुलाबराय
९५. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना — श्री रामनरेश वर्मा
९६. शब्द-साधना — श्री रामचन्द्र वर्मा
९७. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त — डा० गोविन्द त्रिगुणायत
९८. श्रीमद्भागवत और सूरदास — डा० हरवंशलाल शर्मा
९९. श्रीमद्भागवत — गीता प्रेस, गोरखपुर
१००. शैली — श्री करुणापति त्रिपाठी
१०१. शैली और कौशल — श्री सीताराम चतुर्वेदी
१०२. संगीत-दर्पण — दामोदर पंडित : अनु० डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट
१०३. संगीत-रत्नाकर — श्री शार्ङ्गदेव
१०४. संगीत-राग-कल्पद्रुम, भाग १ — श्री कृष्णानन्द व्यास (सम्पादक)
१०५. संगीत-राग-कल्पद्रुम, भाग २ — श्री कृष्णानन्द व्यास (सम्पादक)
१०६. साहित्य और अध्ययन — श्री गुलाबराय
१०७. साहित्य और सौंदर्य — डा० फतेहसिंह
१०८. साहित्य का मर्म — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१०९. साहित्यदर्पण — आचार्य विश्वनाथ : सम्पादक : शालिग्राम
११०. साहित्यलहरी — सूरदास
१११. साहित्यालोचन — डा० श्यामसुन्दरदास
११२. सूर और उनका साहित्य — डा० हरवंशलाल शर्मा
११३. सूर की काव्य-कला — डा० मनमोहन गौतम
११४. सूर की झांकी — डा० सत्येन्द्र
११५. सूर की भाषा — डा० प्रेमनारायण टण्डन
११६. सूरदास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
११७. सूरदास — डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : सम्पादक : डा० भगीरथ मिश्र
११८. सूरदास — डा० ब्रजेश्वर वर्मा
११९. सूरदास जी के दृष्टकूट — नवलकिशोर प्रेस
१२०. सूर-निर्णय — श्री द्वारिकाप्रसाद पारीख तथा श्री प्रभुदयाल मित्तल
१२१. सूरसागर, भाग १ — नागरी-प्रचारिणी सभा
१२२. सूरसागर, भाग २ — नागरी-प्रचारिणी सभा
१२३. सूर-सारावली — सूरदास
१२४. सूर-साहित्य — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

| | |
|---|---|
| १२५. सूर-साहित्य-दर्पण | श्री जगन्नाथ राय |
| १२६. सूर-सौरभ, भाग १ | डा० मुंशीराम शर्मा |
| १२७. सूर-सौरभ, भाग २ | डा० मुंशीराम शर्मा |
| १२८. हित-चौरासी | हितहरिवंश |
| १२९. हिन्दी अलंकार साहित्य | डा० ओम्प्रकाश |
| १३०. हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह | श्री परशुराम चतुर्वेदी |
| १३१. हिन्दी काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति | आचार्य विश्वेश्वर |
| १३२. हिन्दी-ध्वन्यालोक | आचार्य विश्वेश्वर |
| १३३. हिन्दी-महाकाव्य का स्वरूप-विकास | डा० शम्भूनाथ सिंह |
| १३४. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित | आचार्य विश्वेश्वर |
| १३५. हिन्दी-साहित्य | डा० हजारीप्रसाद |
| १३६. हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य | डा० ओम्प्रकाश |
| १३७. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास | डा० रामकुमार वर्मा |
| १३८. हिन्दी-साहित्य की भूमिका | डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी |

## BIBLIOGRAPHY


1. Aesthetics—Benedetto Croce.
2. A Hand Book of Indian Art—E. B. Havell.
3. Akbar's Religious thoughts Reflected in Moghal Paintings —Emmy Wellesz.
4. An Anthology of Critical Statements—Amar Nath Jha.
5. Cambridge History of India, Vol. IV.
6. Classical Tradition in Poetry—Gilbert Murray.
7. Dances of India—Ragini Devi.
8. Dances in India—G. Venkatachalam
9. Fine Art—Gotshalk.
10. Form in Modern Poetry—Herbert Read
11. History of Aesthetics—Bosanquet.
12. Indian Painting—Heritage of India Series—Percy Brown.
13. Idea of great Poetry—Aber—Crombie.
14. Indian Painting in the Panjab Hills—W. G. Archer.
15. Influence of Islam on Indian Culture—Dr. Tara Chand.
16. Literary Criticism in Antiquity—Atkins.
17. Loci Critici—Edited by Saintsbury.
18. Painting and word pictures—Trivikram.
19. Poetic Diction—Owen Barfield.
20. Poetic Image—Lewis C. Day.
21. Poetic Process—George Whalley.
22. Process of Literature—Meckanze.
23. The Philosophy of Fine Arts—Hegel.
24. The Problems of Style—Middleton Murry.
25. Treatise on the Music of Hindustan—Captain Willard.
26. Treatise on the Music of North India—Bhatkhande.
27. What is Art—Tolstoy.
28. World of Imagery—J. Brown.